पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला ४०

सम्पादक :
प्रो० सागरमल जैन

2730

मूलाचार
का
समीक्षात्मक अध्ययन

—डा० फूलचन्द जैन प्रेमी

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला ४०

प्रधान सम्पादक
डॉ० सागरमल जैन

मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी
एम० ए०, जैन दर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य, पी-एच०डी०
अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड,
वाराणसी-५
फोन : ६६७६२

●

संस्करण : प्रथम १९८७

●

मूल्य : [illegible]

●

Mūlācāra Kā Samīkṣātmaka Adhyayana
By Dr. Phool Chand Jain Premi
Price Rs. 80.00
First Edition 1987

●

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

मूलाचार दिगम्बर परम्परा में मुनि आचार का प्रधान ग्रन्थ माना जाता है। डा० फूलचन्द जैन प्रेमी ने इसका समीक्षात्मक अध्ययन कर शोध प्रबन्ध लिखा था। उनकी यह कृति पाठकों को समर्पित करते हुए आज हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। डा० फूलचन्द जैन प्रेमी संस्थान के शोधछात्र रहे हैं। उन्होंने संस्थान में रहकर इस शोध प्रबन्ध को तैयार किया था और जिस पर उन्हें १९७७ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई थी। उनका अप्रकाशित रूप में ही यह शोध प्रबन्ध दिगम्बर जैन समाज के द्वारा पुरस्कृत भी हुआ। पुनः संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन की प्रेरणा से उन्होंने अपने इस शोध प्रबन्ध को पुनः चार वर्ष तक कठिन परिश्रम करके पर्याप्त रूप से परिवर्तित, परिवर्धित व परिष्कृत किया है। उससे यह ग्रन्थ एक नये रूप में हमारे सामने आ रहा है। अनेक प्रसंगों में उन्होंने श्वेताम्बर व अन्य भारतीय धर्म-परम्पराओं का तुलनात्मक अध्ययन भी इसमें जोड़ दिया है जिसके कारण तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गया है। लेखन के साथ ही साथ उन्होंने ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन का दायित्व भी स्वयं ही निर्वाह किया है। उनका संस्थान के प्रति यह सहयोग निश्चित ही सराहनीय है। हम उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं। संस्थान द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन उनके असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण का भी परिचायक है तथा इससे यह भी ज्ञात होता है कि संस्थान का उद्देश्य साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठकर शुद्ध अकादमीय दृष्टि एवं बौद्धिक ईमानदारी से कार्य करने का है। संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन ने इस ग्रन्थ में विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी अतः उसके लिए हम उनके भी आभारी हैं।

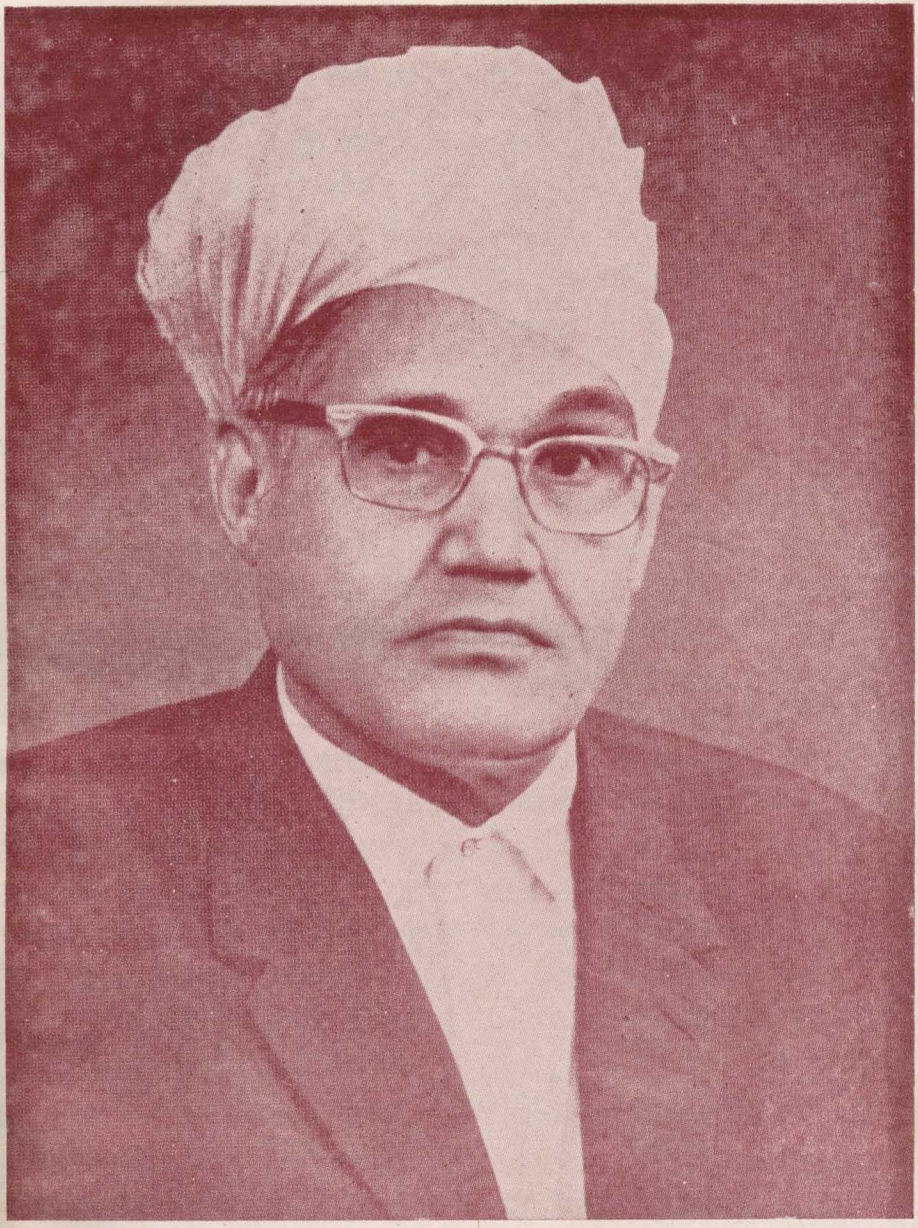
इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए हमें आदरणीय श्री सरदारमलजी कांकरिया, कलकत्ता के द्वारा उनके अग्रज श्रीपारसमलजी कांकरिया की पुण्यस्मृति में सात हजार रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ है, संस्था उनके इस सहयोग के लिए उनके प्रति अत्यन्त आभारी है और यह अपेक्षा करती है कि कांकरिया परिवार का संस्थान के प्रति इसी प्रकार का स्नेह बना रहेगा।

अन्त में ग्रन्थ के मुद्रण हेतु हम वर्द्धमान मुद्रणालय और उसके व्यवस्थापक श्री राजकुमार जैन के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने परिश्रम उठाकर समय पर इस ग्रन्थ के मुद्रण का कार्य सम्पन्न किया।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मन्त्री,
सोहनलाल जैन विद्या प्रसारक समिति, अमृतसर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्री पारसमलजो कांकरिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावकरत्न स्वर्गीय श्री पारसमल जी कांकरिया

स्वर्गीय श्री पारसमलजी कांकरिया का जन्म राजस्थान के नागौर जिले में गोगोलाव नामक स्थान में १४-१०-१९१५ को हुआ। आप सुप्रसिद्ध पटसन (जूट) उद्यमी स्वर्गीय किशनलालजी कांकरिया के ज्येष्ठ पुत्र थे एवं १५ वर्ष की अल्पायु में ही कलकत्ता आकर व्यावसायिक क्षेत्र में अग्रणी हो गये। कलकत्ता के जूट व्यवसाय की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था जूट बेलर्स एसोसियेशन के कई पदों को सुशोभित करते हुए आप अध्यक्ष भी बने। आपके द्वारा अनुमोदित कई व्यापारिक संगठन आज भी सुचारु रूप से संचालित हैं।

आप मृदुभाषी एवं अत्यन्त सरल प्रकृति तथा व्यवहार कुशल थे; आपकी प्रत्येक क्रिया विवेक एवं जागृति से परिपूर्ण होती थी। आपकी बहुमुखी प्रतिभा की अमिट छाप समाज के हर व्यक्ति पर है। धर्म और साधु-सन्तों के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा थी। एक सुश्रावक होने के नाते आचार्य श्री १००८ श्री नानालालजी महाराज साहब के दर्शन एवं सेवाभक्ति का कोई भी अवसर नहीं खोते थे। वास्तव में दानवीरता, शालीनता एवं सादगीपूर्ण जीवन का एक ऐसा उदाहरण आज की इस दुनिया में दुर्लभ है। आप श्री श्वे० स्थानकवासी जैन सभा के कई पदों पर रहते हुए अध्यक्ष भी बने एवं इसके ट्रस्टी मण्डल के अन्त तक सदस्य रहे। आप अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के संस्थापक एवं स्तम्भ सदस्यों में थे तथा ३ वर्ष तक अध्यक्ष रहकर संघ की प्रगति को गति प्रदान कर जैन समाज में जागृति लाये। आप इसके विश्वस्त मण्डल के सदस्य भी थे। आप अनेक सामाजिक संस्थाओं से संलग्न थे।

सामाजिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों में आपका सर्वदा तन-मन-धन से पूर्ण सहयोग रहा। अपने स्वर्गीय पिताश्री के नाम से नागौर में सेठ किशनलाल कांकरिया उच्चतर माध्यमिक विद्यालय की स्थापना करवाई तथा कलकत्ता के उपनगर विराटी में अपने मातुश्री के नाम से मातृ-मंगल (मेटरनिटी) हास्पीटल बनवाया। कांकरिया चेरीटेबल ट्रस्ट द्वारा संचालित गोगोलाव में एक औषधालय सफलतापूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चल रहा है। अपने जन्मभूमि के विकास में आपका अमूल्य सहयोग रहा है।

दिनांक २०-१०-८७ के मध्यरात्रि को जब संसारवासी धनतेरस का पूजन कर घोर निद्रा में सो रहे थे, आपने सन्थारा पच्छखाण कर समस्त मानव मात्र से क्षमायाचना कर इस नश्वर काया को त्यागकर हमेशा-हमेशा के लिये विदाई मांग ली।

उनके परिजनों ने उनकी स्मृत्यर्थ सत्साहित्य के प्रकाशनार्थ पार्श्वनाथ विद्याश्रम को सात हजार रुपया प्रदान किया। एतदर्थ विद्याश्रम आपके परिवार का आभारी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मति

पद्मभूषण आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय

'आचार' श्रमण संस्कृति के उद्बोधक जैनधर्म का मेरुदण्ड है। जिस प्रकार मेरुदण्ड मानवीय देह यष्टि को पुष्ट एवं सुव्यवस्थित बनाने में सर्वथा कृतकार्य है, उसी प्रकार आचार जैनधर्म को पुष्ट तथा परिनिष्ठित करने में सर्वतोभावेन समर्थ है। आचार के विषय में प्राचीनकाल से ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन तथा संवर्धन होता आया। मूलाचार इसी जैन आचार संहिता का प्राचीन, महनीय तथा प्रामाणिक ग्रन्थरत्न है। ...'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन नामक यह गवेषणात्मक प्रबन्ध डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी की कृति है जिसमें लेखक ने मूलाचार के विषय में अनेक वर्षों तक ग्रन्थ का अनुशीलन कर प्रमेय बहुल ग्रन्थरत्न की रचना की है। इसमें मूलाचार के बहिरंग एवं अन्तरंग परीक्षा के द्वारा अनेक नवीन तथा मानवीय तथ्यों को खोज निकाला है जिससे लेखक के इस अध्ययन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इस अध्ययन में साम्प्रदायिक आग्रह नहीं है प्रत्युत तुलनात्मक शैली का आश्रय कर तथ्यों का ऊहापोह किया गया है। लेखक ने श्वेताम्बरीय आचार ग्रन्थों के साथ भी इसकी तुलना कर इस प्रबन्ध को व्यापक दृष्टि से सम्पन्न बनाने का श्लाघनीय प्रयास किया है।

मेरी दृष्टि में यह अध्ययन जैन धर्म के आचारों के प्रतिपादन तथा संवर्द्धन में उपयोगी तथ्यों से परिपूर्ण होने का गौरव प्राप्त करने वाला एक विश्वसनीय विश्वकोश ही है। ऐसे उपयोगी विवेचनात्मक अध्ययन के लिए जैन समाज विद्वान् लेखक का सर्वदा ऋणी रहेगा तथा ऐसे ही गम्भीर ग्रन्थों के निर्माण के लिए प्रेरणा देता रहेगा।

गुरुपूर्णिमा, वि. सं. २०४५
दिनांक २८-७-८८

आचार्य बलदेव उपाध्याय
रवीन्द्रपुरी, वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिमत

सिद्धान्ताचार्य पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी

दिगम्बर जैन श्रमणचर्या के मूलग्रन्थ मूलाचार पर डॉ. फूलचन्द्र जैन प्रेमी का यह शोध प्रबन्ध देखकर प्रसन्नता हुई। इसमें प्रतिपादित सभी विषयों पर डॉ. प्रेमी ने अपनी पैनी दृष्टि से समीक्षात्मक व तुलनात्मक दृष्टि से जैन परंपराओं में प्रतिपादित श्रमणचर्या के भेद-प्रभेदों की विभिन्न धाराओं का निष्कर्ष प्रतिपादित किया है।

चौरासी लाख योनियों में यह जीव कर्मदण्ड के फलस्वरूप भ्रमण कर रहा है और इसी से दुःखी है। इस जाल से निकल जाय तो वही मुक्ति है। मूलाचार का मूल उद्देश्य यही है। पंच पाप का सर्वथा त्याग इसका मूल पुरुषार्थ है। पाँच समितियाँ उसकी साधक सत्प्रवृत्ति रूप हैं। पंचेन्द्रिय दमन और त्रिगुप्ति उनके साधन हैं। इनके साथ इस शरीर से ही साधना करनी पड़ती है अतः इस पर नियंत्रण करने को ही इसके शृंगार का त्याग, एक भोजन, नग्नता आदि सात गुण और भी हैं। नग्नता भेष नहीं है, वह तो जन्मजात है। उस पर आवरण आदि हम बाद में करते हैं। जो-जो करते हैं उनसे इसके भेष नाना प्रकार बनते हैं ···किन्तु सभी भेषों का उतार फेंकना ही नग्नता है। यह वस्तु स्वरूप स्वाभाविक है। कृत्रिम भेष नहीं, अकृत्रिम-स्वाभाविक है। इसे परमहंस के रूप में हिन्दू धर्म ने प्रतिष्ठा दी है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी इसे ही साधुता का श्रेष्ठ रूप माना है।

विद्वान् लेखक ने मूलाचार का आलोडन कर इसका समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए श्रमण के मूलगुण-उत्तरगुण, उनके आन्तरिक तथा व्यावहारिक आचार-विचार, व्यवहार, श्रमण-श्रमणियों के भेद-प्रभेद तथा जैन धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों का विस्तृत परिचय देकर स्तुत्य कार्य किया है।

इस श्रेष्ठ कृति के लिए विद्वान् लेखक साधुवादार्ह हैं। मेरा इन्हें शुभाशीष है कि वे जीवन के सभी क्षेत्रों में बढ़ें और स्व-पर कल्याण करने में समर्थ हों।

—जगन्मोहनलाल शास्त्री

षट्खण्डागम वाचना समारोह, दमोह
दि. १६-६-१९८८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुति

एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स।
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं॥

मूलाचार ३।१।

भारतीय संस्कृति का अनुशीलन करने के लिए श्रमण परंपरा का सम्पूर्ण अध्ययन आवश्यक है। श्रमणधारा कम से कम उतनी प्राचीन तो है ही जितनी वैदिकधारा। अब पुरातात्त्विक, भाषावैज्ञानिक एवं साहित्यिक अन्वेषणों के आधार पर अनेक विद्वान् यह भी मानने लगे हैं कि आर्यों के आगमन के पूर्व भारत में जो संस्कृति थी, वह श्रमण, निर्ग्रन्थ, व्रात्य या आर्हत् संस्कृति होनी चाहिए। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैनधर्म के आदि तीर्थंकर वृषभ या ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई। श्रमणधारा ने वैदिकधारा को और वैदिकधारा ने श्रमणधारा को प्रभावित किया है। आज भारतीय संस्कृति का जो रूप मिलता है उसमें वैदिक तथा श्रमण (जैन एवं बौद्ध) धारा रस्सी की तरह एक में बँटी हुई हैं। इन धाराओं में परस्पर बहुत आदान-प्रदान हुआ है। श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, संयम और त्याग जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण ही इस संस्कृति ने अपनी पहचान एवं अपना गौरवपूर्ण अस्तित्व अक्षुण्ण रखा।

श्रमण संस्कृति का आचार पक्ष प्रारम्भ से ही उच्च आदर्श की पराकाष्ठा का प्रतीक रहा है। यह संस्कृति पुरुषार्थ प्रधान होने से इसमें सदा से ही आचार का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वस्तुतः हमारा जीवन-व्यवहार धर्म से शासित होता है और धर्म का महत्त्व उसके आचार पर निर्भर करता है। आचार मार्ग के प्रतिपादन में ही धर्म का धर्मत्व सन्निविष्ट होता है। जैन धर्म में आचारमार्ग दो भागों में विभक्त है—श्रमणाचार और श्रावकाचार। श्रमणाचार मोक्ष का साक्षात् मार्ग है और श्रावकाचार परम्परया।

आचार के इन दोनों पक्षों से सम्बन्धित विपुल जैन वाङ्मय प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल तथा विभिन्न देशी भाषाओं में उपलब्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, जो कि सुदूर अतीत से हमारी संस्कृति का संवाहक रहा है। विविध भाषाओं में रचित इस साहित्य ने अपनी प्रवहमान संस्कारशीलता और प्राणी मात्र के पूर्ण आत्म-कल्याण की भावना के माध्यम से हमारी संस्कृति को ऋतुचक्र सी सौन्दर्यमयता प्रदान की है। किन्तु यह महत्त्वपूर्ण साहित्य तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन की दृष्टि से प्रायः उपेक्षित रहा है। इसी अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित श्रमणाचार से सम्बन्धित सर्वाधिक प्रामाणिक एवं प्राचीन प्रतिनिधि ग्रन्थ 'मूलाचार' को मैंने अपने शोध एवं समीक्षात्मक अध्ययन का विषय बनाया।

मूलाचारकार आचार्य वट्टकेर की यह एकमात्र कृति उपलब्ध है किन्तु इससे ही उनके अगाध ज्ञान, बहुमुखी प्रतिभा तथा विशुद्ध आचार-विचार के धनी होने का ज्ञान होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के छह अध्यायों में मूलाचार ग्रन्थ के उपलब्ध प्रामाणिक संस्करणों एवं प्राचीन पांडुलिपियों के आधार पर इसकी सम्पूर्ण विषय-वस्तु को अच्छे से अच्छे रूप में प्रस्तुत करने का पूरा प्रयास किया गया है। प्रास्ताविक नामक प्रथम अध्याय में मूलाचार की विषयवस्तु, कर्तृत्व तथा अन्य ग्रन्थों से तुलना आदि का विस्तार से विवेचन है। द्वितीय अध्याय में अट्ठाईस मूलगुणों का भेद-प्रभेद सहित सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में उत्तरगुणों के अन्तर्गत शील, तप, परीषह, पञ्चाचार, दस धर्म एवं अनुप्रेक्षाओं का अन्यान्य परम्पराओं के शास्त्रों के आधार पर तुलनात्मक विवेचन विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। आहार-विहार और व्यवहार नामक चतुर्थ अध्याय तथा श्रमण संघ नामक पंचम अध्याय में इन विषयों से सम्बन्धित सभी पक्षों पर शौरसेनी, अर्धमागधी, पालि और संस्कृत भाषा से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों की सामग्री का उपयोग विषय प्रतिपादन में किया गया है। आर्यिकाओं की आचार पद्धति कुछ पक्षों को छोड़कर श्रमणों के समान प्रतिपादित होने से इसका विस्तार से प्रतिपादन करने वाला दिगम्बर परम्परा में कोई स्वतन्त्र प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। यहाँ प्रस्तुत इस विषयक विषय-वस्तु के प्रस्तुतीकरण में काफी कठिनाई हुई किन्तु उपलब्ध मूल ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को संजोकर प्रस्तुत करने का यहाँ प्रथम प्रयास किया गया है ताकि आगे इसके विस्तृत एवं स्वतन्त्र अध्ययन की महत्ता का मार्ग प्रशस्त हो सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार में जहाँ श्रमणों के आचार से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रामाणिक प्रतिपादन है वहीं जैन सिद्धान्त के विविध विषयों का भी अच्छा विवेचन किया गया है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम एवं षष्ठ अध्याय में मूलाचार में प्रतिपाद्य सभी सिद्धान्तों का भी सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

मैंने मूलाचार के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर इन दोनों जैन तथा विभिन्न परम्पराओं के आचार से सम्बन्धित प्रायः सभी प्राचीन भाषाओं के साहित्य का अपने अनुसन्धान कार्य में प्रयोग करते हुए अध्ययन करने का भरपूर प्रयास किया है। इसीलिए मूलाचार पर शोध हेतु सन् १९७२ में हुए शोध पंजीयन के समय से लेकर इसके प्रकाशन की अवधि तक लगभग इन १५-१६ वर्षों में लगातार मेरे अध्ययन-अध्यापन, मनन-चिन्तन, विचार-विमर्श, तुलनात्मक विवेचन तथा लेखन आदि के सभी प्रयत्न इसी ग्रन्थ को अच्छे से अच्छा बनाने में होते रहे हैं। यही कारण है कि सन् १९७६ के टाइप किये हुए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे पी-एच. डी. हेतु स्वीकृत मूल शोध प्रबन्ध और सन् १९८८ में प्रकाशित हुए प्रस्तुत ग्रन्थ को विविध दृष्टियों से काफी विशेषताओं से युक्त बनाने का प्रयास किया है।

इस अध्ययन के दौरान मैंने यह अनुभव किया कि शौरसेनी एवं अर्ध-मागधी प्राकृत के आचार विषयक वाङ्मय का तुलनात्मक अध्ययन बहुत आवश्यक है। अतः ऐसे अध्ययन के लिए तद्विषयक सभी परम्पराओं एवं भाषाओं के साहित्य का गहराई से अध्ययन होना चाहिए तभी किसी भी ऐसे अध्ययन में पूर्णता आ सकती है।

मूलाचार के दीर्घकालीन अध्ययन एवं मनन के समय मैंने यह भी निरन्तर महसूस किया कि श्रमणाचार के विविध पक्षों का प्रतिपादन करने वाले मूलाचार का प्रत्येक अधिकार परस्पर सम्बद्ध एवं पूरक होते हुए भी वस्तुतः स्वतन्त्र ग्रन्थ के समान है चूँकि इनमें इतनी सामग्री है कि इसके प्रत्येक अधिकार पर स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध भी लिखे जा सकते हैं। यद्यपि मेरे देखने में नहीं आया किन्तु ऐसा ज्ञात हुआ है कि इसके मात्र पिण्डशुद्धि अधिकार पर ही एक बृहद् शोध प्रबन्ध जर्मन में लिखा गया है। डॉ० जगदीशचंद्र जी जैन ने अपनी प्रस्तावना में इस तरह के कुछ अध्ययनों का उल्लेख भी किया है। फिर भी भाषावैज्ञानिक, आचारशास्त्रीय, आध्यात्मिक, नैतिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं सैद्धान्तिक आदि विभिन्न दृष्टियों से इसके अलग-अलग विषयों पर स्वतन्त्र अध्ययन भी आवश्यक हैं। इतना ही नहीं अपितु प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड एवं तमिल आदि प्राचीन भाषाओं के उन प्रतिनिधि ग्रन्थों का समीक्षात्मक अध्ययन आज के युग में अति आवश्यक है जिनमें मानवीय, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का गहन विवेचन है, ताकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गिर रहे नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना हेतु मानव समाज के नव-निर्माण में उनका प्रयोग किया जा सके। इस दृष्टि से यदि प्रस्तुत अध्ययन निश्चित ही भारतीय आचारशास्त्र के विभिन्न आयाम उद्घाटित करने में उपादेय बन सका तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूंगा।

मेरी दृष्टि में श्रमणाचार से सम्बन्धित प्राकृत भाषा के किसी ग्रन्थ का राष्ट्रभाषा में यह पहला समीक्षात्मक अध्ययन है। इसमें प्राकृत, पालि, संस्कृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य भाषाओं के शताधिक मूल ग्रन्थों और उनकी टीकाओं के उन सभी विषयों का यथास्थान पूरा उपयोग किया गया है जो मूलाचार में प्रतिपाद्य विषयों से सम्बद्ध रहे हैं। मेरे द्वारा शास्त्रीय सिद्धान्तों के कथन में कोई विपर्यास न हो ऐसी पूरी सजगता रखने का प्रयास किया है। अतः मैंने प्रारम्भ से ही इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि प्रयुक्त ग्रन्थों के मूल सन्दर्भों के आधार पर ही विषय प्रतिपादन किया जाय ताकि महान् ग्रन्थकारों के हार्द को प्रगट किया जा सके। इसीलिए उन ग्रन्थों के प्रायः अत्यावश्यक मूल सन्दर्भों को यथावत् उद्धृत भी किया गया है ताकि यदि मेरी कोई चूक हुई हो तो सुधी पाठक उनके आधार पर सही आशय ग्रहणकर, उसे मुझे सूचित करने की कृपा कर सकें।

प्रकाशन हेतु प्रेस में देने से पूर्व ही इस प्रबन्ध में आवश्यक परिवर्धन संशोधन एवं परिवर्तन कर लिया था किन्तु मुझे यह भी अनुभव हुआ कि विषयों के प्रतिपादन में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर तथा अन्य परम्पराओं के उन ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का उपयोग भी आवश्यक है जिनका पहले पूरा उपयोग नहीं किया था। अतः मैंने प्रत्येक अध्याय को पुनः व्यवस्थित रूप में लिखना प्रारम्भ किया ताकि विशाल वाङ्मय में उपलब्ध सामग्री के आधार पर विषय के स्पष्ट विवेचन में कमी न रहे। जैसे-जैसे प्रत्येक अध्याय का पुनर्लेखन पूरा होता गया, उसे प्रेस में देते गये। यही कारण है कि इसके प्रकाशन में काफी समय लग गया। किन्तु दीर्घकालीन इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण कार्य में मुझे आत्मसंतोष, आनन्द एवं गौरव के साथ ही अपने इस जीवन की सार्थकता अनुभूत हुई।

यह मेरा सौभाग्य है कि प्राकृत, संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि भाषाओं के अनेक मनीषी सन्तों एवं विद्वानों ने प्रकाशन के पूर्व एवं बाद में इस ग्रन्थ का अवलोकन कर इसकी सराहना की है। वस्तुतः मूलाचार का यह गुरुतर अध्ययन प्रस्तुत करने का साहस पूज्य आचार्यों, मुनियों, विद्वानों एवं आत्मीयजनों से ही प्राप्त हुआ है।

सर्वप्रथम उन महान् पूर्वाचार्यों, वर्तमान आचार्यों, मुनियों एवं विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता एवं श्रद्धा व्यक्त करता हूँ जिनकी अमूल्य कृतियों से मैं इस अध्ययन में लाभान्वित हुआ हूँ।

परम पूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी एवं इनके विशाल संघ के प्रति अत्यन्त श्रद्धावनत हूँ, जिनके सान्निध्य, सत्परामर्श, शुभाशीष एवं प्रोत्साहन से निरन्तर लाभान्वित हुआ। दि० २-१-१९८८ को पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के स्वर्ण जयन्ती समारोह एवं अ० भा० प्राकृत एवं जैन विद्या परिषद् के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर केन्द्रीय संसदीय कार्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित के द्वारा इस ग्रन्थ के भव्य विमोचन के बाद इसकी एक प्रति आचार्यश्री के अवलोकनार्थ एवं शुभाशीष हेतु ललितपुर भेजी थी। आचार्यश्री ने कृपा करके अपने संघ के कुछ विद्वान्-मुनियों के साथ इस ग्रन्थ को कई दिनों तक गहराई से देखा और अपार प्रसन्नता व्यक्त करते हुए इसके तुलनात्मक अध्ययन, विषय प्रतिपादन आदि अनेक दृष्टियों से इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और शुभाशीष प्रदान किया। इससे मेरा उत्साह द्विगुणित हुआ और मैंने अपने श्रम की सार्थकता समझी।

परम पूज्य आचार्यश्री धर्मसागर जी, आ० श्री देशभूषण जी, आ० श्री विमल सागर जी, आ० श्री विद्यानंद जी, आ० श्री अजित सागर जी आदि तथा इनके संघस्थ मुनियों और आचार्यकल्प श्रुतसागर जी, आर्यिका रत्न ज्ञानमती माता जी, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी, सन्मति सागर जी, गुण सागर जी आदि अनेक दिगम्बर परम्परा के सन्तों एवं श्रद्धेय आचार्यश्री तुलसी जी, उपाध्याय अमर मुनि जी, युवाचार्य महाप्रज्ञ जी, मुनि श्री दुलहराज जी, मुनि श्रीचन्द्र जी कमल, मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी आदि तथा साध्वी-प्रमुखा कनकप्रभा जी आदि अनेक श्वेताम्बर परम्परा के सन्तों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साक्षात् सान्निध्य में मुझे जैन श्रमणों के आचार विचार एवं व्यवहार से सम्बन्धित विभिन्न विषयों को समझने, सीखने एवं शुभाशीष प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। साथ ही इन सबके साहित्य से भी पूरा लाभ लेने का सुअवसर प्राप्त किया। मैं सभी के प्रति पूर्ण आदर सहित कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जैन जगत् के विद्वत् शिरोमणि सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, सि. आ. पं. कैलाशचन्द जी शास्त्री एवं पं० जगन्मोहनलाल जी सिद्धान्त-शास्त्री—इन तीनों गुरुजनों के सान्निध्य में लम्बे समय तक रहकर मुझे जैन शास्त्रों के अध्ययन का सौभाग्य मिला है। इस ग्रन्थ की समृद्धि में इनके सान्निध्य, विचारों एवं प्रेरणाओं का बहुमूल्य हाथ है और प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में प्रारम्भ से अन्त तक इनका मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन प्राप्त रहा है। विषय विवेचन में जब कभी मुझे कठिनाई हुई इनसे और इनकी कृतियों से सदा उदारता पूर्वक साहाय्य मिला। मैं इन सबका बहुत उपकार मानता हूँ। श्रद्धेय स्व० पं० कैलाशचन्द जी का पुण्यस्मरण कैसे भुलाया जा सकता है जिनके विराट व्यक्तित्व और कर्तृत्व ने मुझे मूलाचार जैसे ग्रन्थ के गुरुतर अध्ययन को प्रस्तुत करने का बल प्रदान किया। शोध कार्य के समय भी टाइप कराने से पूर्व आ. पं० जी ने इसे पढ़ा था तथा अब भी प्रकाशन के समय आपने इसे देख लिया था ताकि सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई त्रुटि न रह जाए।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. उपाधि हेतु १९७६ में प्रस्तुत इस शोध-प्रबन्ध-परीक्षण के समय श्रद्धेय डॉ० नथमल जी टाटिया, लाडनूँ एवं प्रो० दलसुखभाई जी मालवणिया, अहमदाबाद ने इसका गहराई से अवलोकन कर इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। पार्श्वनाथ विद्याश्रम में जब कभी आ० प्रो० मालवणिया जी पधारे, मुझे उनसे और जैन विश्व-भारती, लाडनूँ में आ० डॉ० टाटिया जी से बराबर सत्परामर्श प्राप्त हुए, जो मेरे इस अध्ययन में बहुत सहायक सिद्ध हुए।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने तथा परिपूर्ण बनाने में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जी जैन का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने उदारता एवं आत्मीयता पूर्वक इसके प्रकाशन की स्वयं पहल करके मुझे प्रोत्साहित किया और परिवर्तन, परिवर्धन तथा पुनर्लेखन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण प्रकाशन में हुए विलम्ब को धैर्यपूर्वक सहा। साथ ही समय-समय पर इसकी पांडुलिपि को देखकर आवश्यक सुझावों के साथ ही अपने चिन्तन एवं विचारों द्वारा लाभान्वित किया।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में हमारे श्रमण विद्या संकाय के पूर्व अध्यक्ष स्व० प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय जी का मैं आजीवन ऋणी रहूँगा, जो मेरे विकास के लिए निरन्तर प्रेरणायें प्रदान करते रहे। आपने जब इस ग्रन्थ की पांडुलिपि एवं आधे से अधिक प्रकाशित अंश देखा था, तभी से इस विषय के अध्ययन की महत्ता के कारण इसके प्रकाशन की प्रगति के प्रायः रोज ही समाचार पूछ लेते थे। हमारे एवं आ० डॉ० गोकुलचन्द जी के आग्रह पर आपने इस पर विस्तृत भूमिका लिखने की सहर्ष स्वीकृति प्रदान की थी, किन्तु खेद है कि इसे वे प्रकाशित रूप में न देख सके और एक महान् चिन्तक मनीषी की महत्त्वपूर्ण भूमिका से हम वञ्चित रह गये।

इस ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना के लिए सम्मान्य डॉ० जगदीश चन्द्र जी जैन, बम्बई का अत्यन्त आभारी हूँ। आपकी गम्भीर प्रस्तावना प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रास्ताविक अध्याय की अत्यावश्यक पूरक ईकाई बन गई है। आपने अतिव्यस्तता के बावजूद इस ग्रन्थ का जिस रुचि एवं आत्मीयता के साथ अवलोकन कर अपने अगाध ज्ञान का परिचय अपनी प्रस्तावना में दिया, उनके इस सौहार्द से मुझे बहुत बल और गौरव प्राप्त हुआ है। परम-पूज्य १०८ आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज, पद्मभूषण आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय, सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री, आ० पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ को पढ़कर शुभाशीष एवं सम्मति से गौरवान्वित करने की कृपा की।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम के पूर्व निदेशक आ० डॉ० मोहनलाल जी मेहता एवं स्व० प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी (तत्कालीन दर्शन विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनके सम्यक् निर्देशन में मुझे यह शोध कार्य सम्पन्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रारम्भिक मार्गदर्शन के लिए आ० डॉ० सुदर्शनलाल जी जैन, (रीडर, संस्कृत विभाग, बी.एच.यू.) एवं श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान वाराणसी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदरणीय प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, डॉ० दरबारी लाल जी कोठिया, प्रो. बदरीनाथ शुक्ल, प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, स्व. पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, स्व० डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी, पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर, स्व. पं. अगरचन्द्र नाहटा, डॉ. लालबहादुर शास्त्री, स्व. पं. बाबूलाल जमादार, विद्वद्रत्न पं. हीरालाल कौशल, प्रो. उदयचन्द जैन, प्रो. एम. एस. ढाकी, प्रो. कमलचन्द सोगानी, प्रो. दयानन्द भार्गव, प्रो. राजाराम जैन, डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, डॉ. गोकुलचन्द्र जैन, प्रो. रामशंकर त्रिपाठी, प्रो. लक्ष्मीनारायण तिवारी श्री जमनालाल जैन, डॉ. कोमलचंद्र जैन, डॉ. भागचंद्र भास्कर, डॉ. प्रेम सुमन जैन, डॉ० सत्यप्रकाश जैन एवं स्व० श्री नाथूलाल जी जिज्ञासु आदि तथा पार्श्वनाथ विद्याश्रम के सुयोग्य मंत्री श्री भूपेन्द्रनाथ जी जैन से प्राप्त स्नेह और प्रेरणाओं के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

सम्मान्य डॉ. लालचंद्र जैन, वैशाली, डॉ. रमेशचंद्र जैन बिजनौर, डॉ. हुकमचंद्र पार्श्वनाथ संगवे, सोलापुर, डॉ. हरिहर सिंह, डॉ. अजित शुकदेव शर्मा (शान्ति निकेतन), डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा (काशी विद्यापीठ), श्री मांगीलाल जी सरोज सुजानगढ़, सुश्री बहिन वीणा जैन लाडनूं, डॉ. सुरेशचंद्र जैन, डॉ. बालशास्त्री, डॉ. कमलेश कुमार जैन, डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, डॉ. कपूरचंद्र जैन, डॉ. अशोक कुमार जैन तथा मेरे विद्यार्थी श्री मुन्नालाल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार के डॉ. शिवप्रसाद जी, डॉ. अरुण प्रताप सिंह, श्री अशोक कुमार सिंह, श्री महेश कुमार, श्री मोहनलाल जी आदि सभी की आत्मीयता एवं सौजन्य के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती मुन्नी (पुष्पा) जैन, एम. ए., प्राकृताचार्य ने पांडुलिपि करने एवं प्रूफ संशोधन में तथा पुत्र अनेकान्त कुमार और अरहंत कुमार एवं पुत्री इन्दु जैन द्वारा विविध प्रकार से जो सहयोग मिला उसे भुलाया नहीं जा सकता। मैं इनके अभ्युदय की कामना करता हूँ। यह ग्रन्थ मैंने अपने पूज्य माता-पिता को समर्पित किया है। मेरे मन में यही दृढ़ भाव है कि यह महत्-अनुष्ठान उन्हीं के शुभाशीष और प्रेरणा से सम्पन्न हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विश्व भारती, लाडनूँ के अन्तर्गत ब्राह्मी विद्यापीठ एवं पारमार्थिक शिक्षणसंस्था में लगभग चार वर्ष (सन् १९७६ से १९७९ तक) जैन विद्या एवं प्राकृत के प्राध्यापक के रूप में कार्य करने का सुअवसर मुझे इस क्षेत्र में बहुत कुछ उपलब्धियाँ कराने में वरदान सिद्ध हुआ है। अर्धमागधी तथा शौरसेनी आगम, जैन दर्शन, संस्कृत-साहित्य एवं प्राकृत भाषा आदि के अध्ययन-अध्यापन, आगम-वाचना, प्रेक्षाध्यान शिविर, सम्पादन कार्य इत्यादि प्रवृत्तियों में सम्मिलित होने के साथ ही सन्तों एवं विद्वानों के समागम का मुझे यहां पूर्ण लाभ प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है तथा यहीं रहकर मुझे 'लाडनूँ के जैन मन्दिर का कला वैभव, नामक पुस्तक लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जो कलकत्ता के स्व. श्री नथमल जी सेठी के ट्रस्ट में इसी वर्ष प्रकाशित हुई है।

वाराणसी के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय एवं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान तथा कटनी के श्री शान्ति निकेतन जैन संस्कृत विद्यालय के उपकार को कैसे भुलाया जा सकता है, जहां अनेक वर्षों तक रहकर मुझे अध्ययन, अनुसंधान एवं स्वयं के निर्माण की सभी सुविधायें प्राप्त रहीं। इन संस्थाओं के पुस्तकालयीय सहयोग के साथ ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के केन्द्रीय तथा जैन दर्शन एवं प्राकृत विभागीय पुस्तकालयों, श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान, जैन विश्वभारती, लाडनूँ जैन सिद्धान्त भवन, आरा, श्री दि० जैन मंदिर सुजानगढ़ (राज०) तथा दलपतपुर [सागर म. प्र.], दि. जैन उदासीन आश्रम ईसरी आदि के पुस्तकालयों एवं शास्त्र भण्डारों से मुझे पूरा सहयोग प्राप्त हुआ है। मैं इनके व्यवस्थापकों को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

श्री बाबूलालजी फागुल्ल, महावीर प्रेस वालों ने इसके अच्छे मुद्रण में भरपूर सहयोग दिया, अतः आपके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सजगता, आत्मसंतोष तथा तत्काल अत्यावश्यक भूल सुधार आदि हेतु प्रूफ संशोधन का दायित्व मैंने स्वयं लिया ताकि मूल सन्दर्भों, पारिभाषिक शब्दों और सैद्धान्तिक विषयों में यथासम्भव त्रुटियां न रहें। किन्तु इसके बावजूद भी प्रूफ की अशुद्धियाँ तथा कुछ कमियाँ और त्रुटियां अल्पज्ञतावश रह जाना स्वाभाविक है, अतः क्षमा करेंगे। साथ ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुधी पाठकों से यह अनुरोध है कि वे मुझे त्रुटियाँ सूचित करने की अवश्य कृपा करें ताकि आगे उनका परिमार्जन किया जा सके।

अन्त में जिन्होंने जाने-अनजाने स्नेह, सहयोग और प्रोत्साहन दिया उन सभी के प्रति अपने कृतज्ञता के भावों को व्यक्त करने के लिए सुप्रसिद्ध विद्वान् आइन्स्टीन की वसीयतनामा का निम्नलिखित अंश उद्धृत करके विराम लेना उचित समझता हूँ—

"स्वयं अपने को लेकर मैं तो प्रतिदिन यही अनुभव करता हूँ कि मेरे भीतरी और बाहरी जीवन के निर्माण में कितने अगणित व्यक्तियों के श्रम का हाथ रहा है और इस अनुभूति से उद्दीप्त मेरा अन्तःकरण कितना छटपटाता है कि मैं कम से कम इतना तो इस दुनियाँ को दे सकूँ, जितना कि मैंने उससे अभी तक लिया है।"

आष्टाह्निक पर्व
वीर निर्वाण संवत् २५१४
दि. २९-७-१९८८

डा० फूलचन्द्र जैन प्रेमी
निवास—बी ३/२ लेन नं. १३, रवीन्द्रपुरी
वाराणसी-२२१००५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

दिगम्बर परम्परा में मूलाचार और भगवती आराधना इन दोनों ग्रन्थों का बहुत महत्त्व है। इनमें दिगम्बर मुनियों के आचार, विचार, व्यवहार, गमनागमन, वर्षाकाल, विहार चर्या, वसति-स्थान, श्रमणसंघ का स्वरूप और आर्यिकाओं की आचार-पद्धति का जैसा सांगोपांग वर्णन उपलब्ध है वैसा अन्य दिगंबरीय शास्त्रों में दिखाई नहीं देता। इस दृष्टि से डा० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी' की कृति 'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन' स्वागत योग्य समझी जायेगी।

जाहिर है कि भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व जैन संघ में दिगंबर-श्वेताम्बर भेद नहीं था। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में मथुरा में पाये जाने वाले शिलालेखों से यह कथन प्रमाणित होता है। भगवान् महावीर ने जो अपने त्याग और वैराग्य से परिपूर्ण उपदेशों द्वारा संसार का त्याग कर परमपद प्राप्त करने का मार्ग दर्शाया, वह सभी को एक जैसा मान्य था। श्रुत-परंपरा में किसी प्रकार का भेद अभी तक उत्पन्न नहीं हुआ था। अतएव विषयवस्तु और उसे व्यक्त करने के माध्यमों—प्राकृत गाथाओं आदि—में भिन्नता पैदा नहीं हुई थी, कोई भी बात सर्वसामान्य प्रचलित गाथाओं आदि द्वारा व्यक्त की जाती थी। वस्तुतः मौलिक रूप में यही निर्ग्रन्थ धर्म था।

वट्टकेरि (कनडी में बेट्ट=अरण्य सहित लघुपर्वत, केरी=रास्ता या गली अर्थात् अमुक स्थान) द्वारा रचित मूलाचार, जिसे आचारांग अथवा आचार-सूत्र नाम से भी अभिहित किया गया है, उस प्राचीन काल की महत्वपूर्ण रचना है जब कि जैन संघ में दिगंबर-श्वेतांबर भेद का उदय नहीं हुआ था। इस ग्रन्थराज के अध्ययन करने से श्वेताम्बरीय प्रकीर्णकों, छेदसूत्रों (विशेषकर निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प) और मूलसूत्रों (विशेषकर उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिंडनिर्युक्ति) का स्मरण हो उठता है जिनके सांगोपांग गंभीर अध्ययन के बिना जैन श्रमणसंघ के विकास की रूपरेखा अधूरी रह जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस सन्दर्भ में डॉ फूलचन्द प्रेमी जी मूलाचार की विषयवस्तु (गाथाओं) की तुलना श्वेतांबरीय आवश्यक निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, जीवसमास और आतुर प्रत्याख्यान नामक प्रकीर्णक के साथ करने के पश्चात् जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं वह महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है: 'अर्धमागधी आगमों में श्रमणाचार के जिन नियमों और उपनियमों को निबद्ध किया गया है तथा मूलाचार में श्रमण की जो आचार संहिता निबद्ध है उसकी तात्त्विक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। अहिंसा के जिस मूल धरातल पर श्रमणाचार का महाप्रासाद इस अर्धमागधी आगम साहित्य में निर्मित किया गया है, उसी अहिंसा के मूल धरातल पर मूलाचार में श्रमणाचार का विशाल प्रासाद निर्मित हुआ है। अर्थात् दोनों की आधारभूमि एक ही है।" (पृष्ठ २४-२५)

लेकिन उक्त तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात्, पृ० २९ की अन्तिम पंक्तियों में जो निष्कर्ष निकाला गया, उसमें इस कथन का स्पष्ट रूप से समर्थन नहीं किया गया। केवल यही कहना पर्याप्त समझा गया कि इस पर अलग से विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन और अनुसन्धान की अपेक्षा है। आगे चलकर पण्डित परमानन्दजी के कथन द्वारा स्वीकार किया गया है कि वर्तमान निर्युक्तियों का निर्माण काल विक्रम की छठी शताब्दी है और मूलाचार इन निर्युक्तियों से काफी पूर्व की रचना है, साथ ही इस बात का भी उल्लेख है कि ऐसी अवस्था में आदान-प्रदान की बात समुचित नहीं जान पड़ती (पृ० ३९)।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यदि महावीर के निर्ग्रन्थ परम्परागत उपदेशों को ही मूलाचार के कर्ता और निर्युक्तिकार ने सर्वमान्य गाथाओं के रूप में अपनी-अपनी रचनाओं में समाविष्ट किया है तो तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों में अमुक रचना के पूर्व और अमुक रचना के उत्तरवर्ती होने का प्रश्न नहीं उठता। यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि यद्यपि मोटे तौर पर निर्युक्तियों का रचना-काल विक्रम की छठी शताब्दी मान्य किया गया है, फिर भी सांकेतिक एवं संक्षिप्त शैली में निर्मित इस महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना प्राचीन गुरु परम्परा से आगत पूर्व साहित्य के आधार से ही की गई है, अतएव इस साहित्य की प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। यही बात मूलाचार और भगवती आराधना जैसे दिगंबरीय साहित्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार का अध्ययन :

१. अभी कुछ वर्ष पूर्व पश्चिम जर्मनी की फ्री बर्लिन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी ने स्ट्रासबर्ग युनिवर्सिटी (Bibliotheque Nationale Et Universitaire De Strasbourg) में उपलब्ध जैन पाण्डुलिपियों का सूचीपत्र (Catalogue of the Jaina Manuscripts at Strasbourg, Leiden, 1975) नामक एक महत्त्वपूर्ण कैटलॉग प्रकाशित किया है। इस बृहदाकार कैटलॉग की प्रस्तावना में प्रोफेसर त्रिपाठी ने बताया है कि किस प्रकार जैन विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् अर्न्स्ट लॉयमान (१८५९-१९३१) ने अनेक पांडुलिपियों की सहायता से आवश्यक निर्युक्ति और इससे सम्बन्धित आवश्यक जैन ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन कर अपना महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध (Vebersicht veber die Ávasyaka Literatur (आवश्यक साहित्य का सर्वेक्षण हाम्बुर्ग, १९३४) प्रकाशित किया था।

उक्त ग्रन्थालय की पाण्डुलिपियों में वट्टकेर रचित मूलाचार की पाण्डुलिपि भी मौजूद है जिस पर आचार्य वसुनन्दी की सर्वार्थसिद्धि अपरनाम आचारवृत्ति टीका है। पुस्तक के अन्त में प्रतिलिपि करने वाले ने लिखा है: अथास्मिन् शुभसंवत्सरे श्री नृपति-विक्रमादित्यराज्ये संवत् १८९५ कार्तिककृष्णा ६ बुधवासरे तद्दिने समाप्तमिदं मूलाचार-नाम-ग्रन्थम्। मतलब यह है कि राजा विक्रमादित्य के काल में संवत् १८९५ में यह पाण्डुलिपि तैयार की गई। लॉयमान ने अपने उपरोक्त प्रबन्ध (पृष्ठ १५ आदि) में मूलाचार की चर्चा की है। उपलब्ध पांडुलिपि के आधार पर इस प्रबन्ध (पृष्ठ १६-१९) में मूलाचार के षडावश्यकाधिकार नामक सातवें अध्ययन का सम्पादन भी किया। **लॉयमान वट्टकेर को आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती मानते हैं।** (जैन पाण्डुलिपियों का कैटलॉग सीरियल, नं० ७७, पृष्ठ १३७-३८)। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन निर्ग्रन्थ परम्परा में षट् आवश्यकों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा—ये नित्य किये जाने वाले कर्म थे—ये आवश्यक क्रियानुष्ठान समझे जाते थे। इनमें अंतरंग की मनोवृत्तियों पर जोर दिया गया है, बाह्य क्रियाओं पर नहीं। यही कारण है कि वर्तमान में उपलब्ध श्वेतांबरीय ग्रन्थों में आवश्यक का काफी विस्तार है और आवश्यकसूत्र पर जितनी टीका-टिप्पणियां उपलब्ध हैं उतनी अन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी सूत्र पर नहीं। इस सम्बन्ध में विशेषकर देखिये, बर्लिन युनिवर्सिटी के प्रोफेसर क्लाउस ब्रून का महत्त्वपूर्ण लेख 'आवश्यक स्टेडीज' (पृष्ठ ११-४९), Studien zum Jainismus and Buddhismus-Gedenkschrift fuer Ludwig Alsdorf, Wiesbaden, 1981)। इस दृष्टि से मूलाचार के अन्तर्गत षडावश्यकाधिकार (१-१९३ गाथायें) का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है कि मूलाचार के कर्ता आचार्य वट्टकेर ने इस अधिकार में स्पष्ट रूप से 'आवस्सयणिज्जुत्ती' (आवश्यक नियुंक्ति) का उल्लेख किया है।

आवस्सयणिज्जुत्ती वोच्छामि जहाकमं समासेण।
आयरि परंपराए जहागदा आणुपुव्वीए ॥ २ ॥

—मैं यथाक्रम संक्षेप में आवश्यक नियुंक्ति का विवेचन करूँगा जो पूर्वाचार्य परम्परा से अनुपूर्वी से (पूर्वागमक्रमं चापरित्यज्य—टीका, अर्थात् पूर्व से आगत आगम के क्रम को बिना छोड़े) प्राप्त हुई है। आगे चलकर यही बात सामायिक नियुंक्ति (गाथा १६), चतुर्विंशतिनियुंक्ति (गाथा ४०), वंदनानियुंक्ति (गाथा ७६), प्रतिक्रमणनियुंक्ति (गाथा ११४), प्रत्याख्याननियुंक्ति (१३४), और कायोत्सर्गनियुंक्ति (१५०) के सम्बन्ध में कही गई है। अन्त में आवश्यक का अर्थ और उसकी विधि का कथन करते हुए उपसंहार में कहा गया है :

णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण
अह वित्थरपसंगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ॥ १९२ ॥

मैंने संक्षेप में निर्युक्ति की निर्युक्ति (आवश्यकचूलिका आवश्यक-निर्युक्ति—टीका) का कथन किया है, विस्तार से जानना हो तो अनियोग (आचारांगात्—टीका) से जानना चाहिये।

तत्पश्चात् अन्तिम गाथा है :

आवस्सयणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा।
जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धि जादि विसुद्धप्पा ॥ १९३ ॥

जैन साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् पंडित नाथूराम जी प्रेमी ने अपने 'वट्टकेरि का मूलाचार नामक, महत्त्वपूर्ण लेख में यह विवेचन प्रस्तुत किया है—देखिये जैन साहित्य और इतिहास; द्वितीय संस्करण, १९५६, पृष्ठ ५५१-५२)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट है कि मूलाचार के कर्ता महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा द्वारा स्वीकृत षट् आवश्यक के महत्त्व पर जोर देते हुए प्रत्येक आवश्यक का अलग-अलग कथन कर रहे हैं और लिख रहे हैं कि उन्होंने आवश्यक निर्युक्ति का यहाँ बखान किया है और जो इसका नित्य आचरण करता है, वह विशुद्ध आत्मा सिद्धि प्राप्त करता है। ऐसी हालत में 'आवश्यक-निर्युक्ति' का काल विक्रम की छठी शताब्दी बताकर, मूलाचार को उत्तर-कालीन रचना सिद्ध करने का प्रयत्न करना उचित नहीं जान पड़ता। इसके साथ ही यह भी एक शोध का विषय होगा कि नित्य कर्म के रूप में प्रतिपादित किये जाने वाले षट् आवश्यक के पालने की प्रथा दिगम्बर सम्प्रदाय में क्यों प्रचलित नहीं रह पाई, जबकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वह आज भी विद्यमान है।

२. जैन दर्शन के प्रकाण्ड पंडित प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलाल जी संघवी ने मूलाचार का अध्ययन कर उसकी गाथाओं की आवश्यकनिर्युक्ति-गाथाओं से तुलना की है। इस प्रसंग पर डॉक्टर फूलचन्दजी जैन ने उनकी 'सामायिक प्रतिक्रमणनु रहस्य' तथा 'दर्शन और चिन्तन' (खण्ड २, पृष्ठ २०३) नामक रचनाओं का उल्लेख करते हुए मूलाचार एवं आवश्यक निर्युक्ति की समान गाथाओं की सूची प्रस्तुत की है (पृ० २६)। पंडित जी ने मूलाचार को जो संग्रह ग्रन्थ स्वीकार किया है, उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि इस ग्रन्थ में महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा में प्रचलित उन गाथाओं को सम्मिलित किया गया है जो महत्त्वपूर्ण गाथायें सर्वमान्य समझी जाती थीं। इसका अर्थ यह नहीं कि 'वट्टकेर ने कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में से, आवश्यक की निर्युक्ति में से, सन्मति प्रकरण में से तथा शिवार्यकृत आराधना में से गाथायें उद्धृत की हैं' (अनेकान्त, वर्ष २, पृ० ३१९-२४, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, पृ० २६९ पर से)।

३. पंडित नाथूराम जी प्रेमी के 'वट्टकेरि का मूलाचार' नामक लेख का उल्लेख किया जा चुका है। यह लेख उन्होंने आज से लगभग ३०-३५ वर्ष पूर्व लिखा था जो उनकी सूक्ष्म अन्वेषण वृत्ति का परिचायक है। मूलाचार के अध्येता शोध-छात्रों के लिये यह आज भी मननीय है। इस लेख में उठाये हुए मुद्दों को यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) मूलाचार (१०.१८) की निम्नलिखित गाथा देखिये :

अच्चेलकुद्देसिय सेज्जाहर रायपिंड किदियम्मं ।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासणपज्जो समण कप्पो ।।

आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर-पिंड-त्याग, राजपिंड-त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास तथा पज्जोसमण (पर्युषण)—ये दस स्थिति कल्प है ।

भगवती आराधना में यह ४२१ वीं गाथा है । श्वेताम्बरीय जीतकल्प-भाष्य में यह १९७२ वीं गाथा है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्य टीका-ग्रन्थों और निर्युक्तियों में यह मिलती है । 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' के 'स्त्रीमुक्तिविचार' में प्रभाचन्द्र ने इस गाथा का उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धांत के रूप में किया है । (डाक्टर फूलचन्द्र जी जैन ने इस कथन का समर्थन करते हुए लिखा है —'मूलाचार और श्वेताम्बर परम्परा में सर्वसाधारण श्रमणों के लिए इन कल्पों का उल्लेख है, पृ० ३३७).

(२) मूलाचार की दूसरी गाथा देखिये :

सेज्जागासणिसेज्जो तदोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे ।
आहारोसववायण विकिंचणं वंदणादीहिं ।। (५.१९४)

—शय्यावकाश रूप वसति, निषद्या (आसन आदि), उपधि, प्रतिलेखना, आहार, औषध, वाचना (शास्त्र-व्याख्यान—टीका), विकिंचन (च्युत मंत्र का शोधन—टीका) और वंदना आदि द्वारा मुनि मुनियों का वैयावृत्य करे ।

भगवती आराधना (३०५) में भी यह गाथा उल्लिखित है । इस गाथा में जैन मुनि को रुग्णमुनि का औषध आदि द्वारा उपचार करने का विधान है । ज्ञातव्य है कि इस विधान के दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य न होने के कारण कवि वृन्दावनदास जी (विक्रम संवत् १८४२) को जो शंका पैदा हुई थी उसके समाधान के लिये उन्होंने दीवान अमरचन्द जी को पत्र लिखा था ।

४. डॉक्टर आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये अपने ढंग के बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं । उन्होंने दिगंबरीय ग्रन्थों का ही नहीं, श्वेताम्बर ग्रन्थों का भी पारायण किया था । रविषेणकृत बृहत्कथा कोश की अपनी विद्वत्ता-पूर्ण इण्ट्रोडक्शन में (सिंघी सीरीज, १९४३) उन्होंने शिवार्यकृत भगवती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराधना एवं वट्टकेरकृत मूलाचार जैसी महत्त्वपूर्ण रचनाओं पर अपने गंभीर विचार व्यक्त किये हैं। उनकी निम्नलिखित मान्यताओं से हमारे उपरोक्त कथन की सार्थकता सिद्ध होती है :

[क] भगवती आराधना, मूलाचार, निर्युक्ति (आवश्यक, पिंड आदि) और प्रकीर्णकों (मरण-समाधि, भक्त-परिज्ञा आदि) में जो श्रमणचर्या का एक जैसा सर्वसामान्य गाथाओं में विवेचन उपलब्ध होता है, उससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन रचनाओं का स्रोत पूर्वकालीन जैन परम्परा थी जो आगे चलकर दिगम्बर और श्वेताम्बर दो परम्पराओं में विभाजित हो गई। [इण्ट्रोडक्शन, पृ० ३४]

[ख] निर्युक्ति, प्रकीर्णक और मूलाचार आदि रचनाओं में जो सर्वसामान्य मान्यतायें एवं गाथायें पाई जाती हैं, उनसे निश्चय ही इस बात का पता लगता है कि यह सामग्री उस काल की है जबकि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं ने जन्म नहीं लिया था।

[ग] भगवती आराधना में उल्लिखित विजहना-प्रकरण में जो जैन श्रमणों की नीहरण क्रिया का विवेचन है, वह प्राचीन प्रतीत होता है, जो आगे चलकर काल दोष से लुप्त हो गया।

[इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिये देखिये इन पंक्तियों के लेखक की 'लाइफ इन ऐंशियेण्ट इंडिया ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन एण्ड कॉमेण्टरीज, पृ० २८१-३]।

इसके अतिरिक्त जर्मन विद्वान के ओकूद ने मूलाचार पर Eine Digambara-Dogmatik रचना प्रकाशित की है [Wiesbaden, 1975]। इसी प्रकार के० ओइतजेन्स [Oetjens] ने भगवती आराधना पर Śivārya's Mulārādhanā प्रकाशित की है [Hamburg, 1976]. मूलाचार का अध्ययन करने वाले शोध विद्यार्थियों को ये रचनायें अवश्य देखनी चाहिये। डॉक्टर शुब्रिंग के शिष्य डॉ० वाल्टर डेनेके [Denecke] ने १९३३ में, अपने शोध-प्रबंध 'दिगम्बर टैक्ट्स' में मूलाचार आदि दिगंबरीय रचनाओं का भाषा शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। [देखिये ए० एन० उपाध्ये, प्रवचनसार [१९३५], इंट्रोडक्शन, पृ० १२१]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार की अन्य समानान्तर गाथायें :

उपरोक्त गाथाओं के सिवाय मूलाचार में उल्लिखित और भी कतिपय गाथायें ऐसी हैं जो श्वेतांबरीय ग्रन्थों में मिलती हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा की सर्वमान्य गाथायें हैं जिनमें दिगंबरत्व अथवा श्वेताम्बरत्व देखने की आवश्यकता नहीं, अतएव इनमें आदान-प्रदान का प्रश्न भी पैदा नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि कुन्दकुन्दकृत बारस अणुवेक्खा अथवा नियमसार आदि की गाथायें मूलाचार में मिल जायें तो इससे कुन्दकुन्द का पूर्वकालीन और वट्टकेर का उत्तरकालीन होना सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार की गाथायें जैसा कहा जा चुका है, जैन परम्परा में सर्व सामान्य रूप में प्रचलित थीं जिनका उपयोग कोई भी जैन आचार्य निस्संकोच कर सकता था। कर्म साहित्य सम्बन्धी कितनी ही गाथायें ऐसी हैं जिनका समावेश दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आचार्यों ने कर्म साहित्य सम्बन्धी अपनी-अपनी रचनाओं में किया है। इसके अतिरिक्त 'श्रमण-काव्य' (ascetic poetry) सम्बन्धी कितनी ही गाथायें एवं कथा प्रसंग ऐसे हैं जो जैन, बौद्ध और ब्राह्मण परम्पराओं में समान रूप से उल्लिखित हैं; दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, धम्मपद, सुत्तनिपात, संयुत्तनिकाय, थेरगाथा, इतिवुत्तक, जातक-कथा तथा महाभारत आदि से इनकी तुलना की जा सकती है। इस सम्बन्ध की कतिपय गाथायें यहाँ उद्धृत की जाती हैं;

(क) कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि॥

—मूलाचार १०.१२१

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ॥

—मूलाचार १०.१२२

तुलनीय

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सये।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिक ४.६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सये।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ ॥

—दशवैकालिक ४.७

तुलनीय

यतं चरे यतं तिट्ठे यतं अच्छे यतं सये।
यतं सम्मिञ्जये भिक्खू यतमेनं पसारये ॥

—इतिवुत्तक १२, पृ० १०

[ख] हत्थ-पाद परिच्छिण्णं कण्णणासवियप्पियं।
अविवाससं सदिं णारिं दूरिदो परिवज्जए ॥

—१७.१०२

तुलनीय

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णणासविगप्पियं।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥

—दशवैकालिक ८.५५

(डॉक्टर ए. एम. घाटगे ने मूलाचार और दशवैकालिक निर्युक्ति की गाथाओं की तुलना की है—देखिये इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३५ में 'दशवैकालिक निर्युक्ति' नामक लेख)

[ग] कुन्दकुन्दकृत बारस-अणुवेक्खा की कितनी ही गाथायें मूलाचार के ८वें अधिकार 'द्वादशानुप्रेक्षा' से मिलती हैं, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि ये गाथायें बारस-अणुवेक्खा से मूलाचार में ली गई हैं। ये गाथायें परंपरागत गाथायें हैं जिन्हें वट्टकेर और कुन्दकुन्द दोनों ने अपनी रचनाओं में लिया है। इनमें की पाँच गाथायें अनुक्रम से पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि में भी संगृहीत हैं। [देखिये—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, प्रवचनसार इण्ट्रोडक्शन, पृ. ४०)

[घ] कुन्दकुन्द की बारस-अणुवेक्खा की भाँति उनके नियमसार की अनेक गाथायें भी समान रूप से वट्टकेर के मूलाचार में पाई जाती हैं। इस पर से डॉ. फूलचन्द जी जैन का अनुमान है कि वट्टकेर कुन्दकुन्द के पश्चात्-वर्ती थे [पृ. १७]। किन्तु जैसा कहा चुका है, इससे अमुक ग्रन्थकार का पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती होना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार में पाई जाने वाली नियमसार की इन गाथाओं को डॉक्टर ए. एन. उपाध्ये ने परंपरागत ही स्वीकार किया है अतएव अमुक आचार्य के पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती होने का प्रश्न नहीं उठता।

वट्टकेर और कुन्दकुन्द में कौन पूर्ववर्ती :

यहाँ वट्टकेर और कुन्दकुन्द में कौन पूर्ववर्ती और कौन उत्तरवर्ती ? इस सम्बन्ध में दो शब्द कह देना अनावश्यक न होगा। सर्वप्रथम यह बात ध्यान देने योग्य है कि वट्टकेर ने मूलाचार में किसी भी प्रसंग पर कुन्दकुन्द अथवा उनकी परम्परा द्वारा स्वीकृत किसी मान्यता का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उल्लेख नहीं किया, जबकि उन्होंने आवश्यक निर्युक्ति आदि सिद्धान्त ग्रन्थों तथा मान्यताओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि कुन्दकुन्द की रचनायें वट्टकेर के समक्ष नहीं थीं। लगता है कि अचेलकता एवं स्त्रीमुक्ति के प्रश्नों को लेकर दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जो तीव्र मतभेद हुआ वह वट्टकेर के काल तक नहीं हुआ था, अतएव उन्होंने इन प्रश्नों को लेकर कहीं कोई चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्त्री को दीक्षित होने तक का निषेध किया है। "वह अचेलकत्व धारण करने के अयोग्य है क्योंकि उसकी शारीरिक रचना ही इस प्रकार की है। उसकी योनि, स्तनान्तर, नाभि और कक्षप्रदेश सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति का स्थान है, उसका चित्त चंचल रहता है और उसमें अपवित्रता का वास है, उसे मासिकधर्म होता है तथा वह किसी बात पर एकाग्रता से विचार कर सकने में असमर्थ है" [सुत्त पाहुड, २२-२५)। और कहने की आवश्यकता नहीं कि अचेलकत्व को उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के लिये अनिवार्य माना है।

वट्टकेर और कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित षडावश्यकों के नाम और क्रम दोनों में जो भिन्नता है, वह भी विचारणीय है। वट्टकेर के अनुसार, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग के नाम गिनाये गये हैं, जबकि कुन्दकुन्द क्रमानुसार प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति का उल्लेख करते हैं।

कहा जा चुका है कि जर्मन विद्वान् लॉयमान ने वट्टकेर को कुन्दकुन्द का पूर्ववर्ती स्वीकार किया है। पंडित फूलचन्द जी शास्त्री ने अपनी सर्वार्थ-सिद्धि की प्रस्तावना में वट्टकेर को कुन्दकुन्द के समकालीन ही माना है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[डॉक्टर फूलचन्द जैन, मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ३५] उनके उत्तरवर्त्ती नहीं।

कर्म ग्रन्थों में मूलाचार की गाथायें :

सिद्धान्त ग्रन्थों की भाँति कर्म ग्रन्थों में भी मूलाचार की गाथायें पाई जाती हैं। वस्तुतः भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की भाँति कर्म साहित्य में भी सामान्यतया मतवैभिन्य की गुंजायश कम ही रही है। कर्मग्रन्थ सम्बन्धी रचनाओं के अनेक नाम ऐसे हैं जो दिगम्बर और श्वेतांबर आम्नाय में समान है। उदाहरणार्थ सयग [शतक], सित्तरि [सप्ततिका], जीवसमास, कसाय पाहुड [कषाय प्राभृत] पंचसंगह [पंचसंग्रह] आदि नाम दोनों सम्प्रदायों में सामान्य हैं। श्वेताम्बरीय पंचसंग्रह में सयग [शतक], सित्तरि [सप्ततिका], कसायपाहुड़ [कषाय प्राभृत], छकम्म [सत्कर्म] और कम्मपयडि [कर्म प्रकृति]—इन पाँच ग्रन्थों का समावेश किया गया है। विदित है कि आचार्य गुणधर कृत कसायपाहुड़ एक सुप्रसिद्ध दिगंबरीय रचना है। सिद्धांताचार्य पंडित कैलाशचंद्र शास्त्री जी के अनुसार, उपरोक्त पाँच ग्रन्थों में से कसायपाहुड को छोड़कर शेष चार ग्रन्थों का उल्लेख मलयगिरिकृत टीका में मिलता है [जैन साहित्य का इतिहास, १, पृ. ३५२]। दिगंबरीय पंचसंग्रह जो कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका के आधार से लिखा गया है, उसमें जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका सम्बन्धी विवेचन है। श्वेताम्बरीय सयग पर रचित लघुचूर्णी जैसी कतिपय गाथायें दिगंबरीय भगवती आराधना, पंचसंग्रह, गोम्मटसार और द्रव्यसंग्रह के समान पाई जाती हैं [जैन साहित्य का इतिहास १, पृ. ३१६-१७; देखिये जगदीशचंद्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, संशोधित संस्करण, १९८५, पृ० २९०-९२]। यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ईसा की १३वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध श्वेतांबरीय विद्वान् देवेन्द्रसूरि कृत पांच कर्म ग्रन्थों की गाथाओं में वट्टकेरकृत मूलाचार की जो समान गाथायें पाई जाती हैं, उनकी सूची प्रोफेसर हीरालाल रसिकदास कापडिया की रचना 'कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य' [मोहनलाल जैन ज्ञानभंडार, गोपीपुरा, सूरत, १९६५) में अध्याय ७, पृ. ७५-८६ पर प्रस्तुत की गई है [देखिये प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी, स्ट्रासबर्ग की जैन पांडुलिपियों का कैटलाग, सिरियल १०४, पृ. १७४]। इससे यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथायें निर्ग्रन्थ धर्म में सामान्य रूप से मान्य थीं, दिगंबरत्व अथवा श्वेतांबरत्व की छाप उन पर नहीं लगी थी।

मूलाचार—एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन कृति :

मूलाचार का अध्ययन हमें अतीत के उस छोर की ओर ले जाता है जब निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति अपने पैरों पर खड़ा होना सीख रही थी। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में श्रमणों के मूलगुण, उत्तरगुण, उनकी आहारचर्या—भिक्षाकाल, आहारार्थ गमन-विधि, आहार शुद्धि, आहार सम्बन्धी दोष, विहारचर्या—विहार-योग्य क्षेत्र, रात्रिविहार का निषेध, नदी आदि जलस्थानों की यात्रा, वसति, एकाकी विहार का निषेध, व्यवहारचर्या, श्रमणों का पारस्परिक व्यवहार, वर्षावास; श्रमणसंघ—श्रमणसंघ का स्वरूप, संघ का महत्त्व, संघ व्यवस्था, संघ के आधार, चातुर्वण्य संघ, अनगार भावना के दस सूत्र, अनगार के प्रकार; आर्यिकाओं की आचार पद्धति—चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान, आर्यिकाओं का वेष, आहारार्थ गमन-विधि, आर्यिका और श्रमण आदि विषयों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। निश्चय ही यह सब सामग्री भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ परंपरा का समाजशास्त्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन' नामक इस कृति के लेखक डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी ने मूल विषय का विवेचन करते हुए बीच-बीच में महत्त्वपूर्ण श्वेतांबरीय ग्रन्थों के तुलनात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जिससे ग्रन्थ की प्रामाणिकता बढ़ जाती है। आशा है वे भविष्य में इस प्रकार की अन्य समीक्षात्मक रचनाओं को प्रस्तुत कर जैनधर्म के प्राचीन इतिहास को उजागर करेंगे।

२८ शिवाजी पार्क, बम्बई-२८
१० जून, १९८८

प्रो० डॉ० जगदीशचन्द्र जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Preface

I have pleasure in writing a few words by way of preface to 'A critical study of the Mulācāra' in Hindi by Dr. Phool Chandra Jain. It is a Doctoral Dissertation approved for the Ph.D. Degree of Banaras Hindu University in the year 1977 and thoroughly revised by the author in the light of his study of the Jaina canonical literature during subsequent years.

According to the traditional History of Jaina Saṁgha the sacred lore prescribing the way of life and code of conduct for an ascetic was comprising of sixteen thousand padas and was known as ācārāṁga acceptable to the entire Jaina Saṁgha. It continued through oral tradition for a long time till it was reduced to writing.

In the available canonical literature of the Jainas the first ardhamāgadhī āgama known as ācārāṁga-sūtra is accepted by the Svetāmbara sect. According to Digambara tradition the sixteen thousand padas of ācārāṁga were concised and reduced to writing by vattakeri. This ācārāmga is now popularly known as the Mūlācāra . It prescribes a full code of conduct for a Jaina Śramaṇa in twelve chapters comprising of 1252 Prakrit gāthās. Each chapter in itself is as good as an independent compendium of the subject delt in it.

It is significant that Hundreds of Prakrit gāthās of this work are commonly found in many of the ardhamāgadhī and saurasenī canonical texts with some what dialectical changes. Scholars have different opinion on this issue. Late Professor A. N. Upadhye and others are of the view that these are the heritage of the undevided main stream of the Jaina tradition and have been commonly recorded by various ācāryas in their respective works. It is interesting to note that some gāthās are peculiarly found in Pali canons as well. While studying such traditional heritage scepticism, prejudices and pretentions should be avoided and thorough investigations should be made to achieve fruitful results.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

A Śramaṇa, well progressing in spiritual development becomes in a position to govern the external activities of his senses, mind and body as a whole. He may not allow his external eyes to see, let they may remain open, the ears to hear, the nose to smell and so on. He can remain without food and water as long as he so desires. He can remain without sleep. Even his body remains unaffected by weather and environment. In the coldest day, his body needs no clothing, in hotest and in rains no shelter. It is, what the Mahāśramaṇa Vardhamana Mahavira experimented for more then thirty years in his life and propounded his successful results of experiment for the welfare of humanity. He codified the Śramaṇacāra and organised the Śramaṇa-saṁgha.

The present work of Dr. Phool Chandra Jain is a welcome step in the field of study of Jaina monachism. He has elaboratly and analytically dealt with the contents of entire ancient Prakrit text of mūlācāra and thoroughly compared with other works belonging to both thc Jaina sects. Though some protions of the text have been studied by some German scholars, this is the first study of complete text. Detailed referencing from original sources, further substantiate the study and make it more authentic.

I am sure, in coutinuation to the 'History of Jaina Monachism' by Praf. S.B. Deo, this work 'Mūlācāra kā samīkṣātmaka adhayana' by Dr. Phool Chandra Jain will be considered a valuable further step in the field of the study of Indian monachism in general and Jaina monachism in particular. I sincerely congratulate him for this study and hope, he will come forward with more masterpieces in coming years.

Dr. Gokul Chandra Jain
Head, Department of Prakrit & Jaināgama
S. Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-वीथि

प्रथम अध्याय : प्रास्ताविक १–४५

१. प्रास्ताविक १
२. जैन आचार विषयक वाङ्मय २
३. मूलाचार : विषय परिचय २
४. मूलाचार पर उपलब्ध व्याख्या साहित्य ८
५. मूलाचार की गाथा संख्या १२
६. आचार्य कुन्दकुन्द और मूलाचार : समानतायें १४–१६
(क) मंगलाचरणगत समानता, (ख) विषयकथन की प्रतिज्ञा, (ग) विषयगत समानता, (घ) अन्य समानतायें, (ङ) उपसंहार विषयक समानता
७. मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में असमानता १७
८. मूलाचार और षट्खण्डागम की धवला टीका १९
९. मूलाचार और तिलोय-पण्णत्ति २०
१०. मूलाचार और भगवती आराधना २२
११. मूलाचार और सर्वार्थसिद्धि २३
१२. मूलाचार और गोम्मटसार २४
१३. मूलाचार और प्रभाचन्द्राचार्य २४
१४. मूलाचार तथा श्वेताम्बर ग्रन्थ २४–२९
(क) मूलाचार और आवश्यक निर्युक्ति, (ख) मूलाचार और पिण्ड निर्युक्ति, (ग) मूलाचार और जीवसमास, (घ) मूलाचार और आतुरप्रत्याख्यान
१५. मूलाचार का कर्तृत्व विषयक विवाद ३०–३९
(क) कुन्दकुन्दाचार्यकृत मानने वाले आचार्य और विद्वान्, (ख) मूलाचार को संग्रह ग्रन्थ मानने वाले, (ग) वट्टकेराचार्यकृत मानने वाले, (घ) समीक्षा एवं निष्कर्ष
१६. मूलाचार की मौलिकता और प्राचीनता ४०
१७. आचार्यवर्य वट्टकेर : व्यक्तित्व और कृतित्व ४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्याय : मूलगुण ४९–१५७

१. मूलगुण ४९
२. मूलगुण धारण की पृष्ठभूमि ४९
३. अट्ठाईस मूलगुण ५१
४. व्रत : पंच महाव्रत ५४–६८
१. हिंसा विरति (अहिंसा) ५५
२. सत्य महाव्रत ५८
३. अदत्त परिवर्जन (अचौर्य) ५९
४. ब्रह्मचर्य ५९
५. संग विमुक्ति (अपरिग्रह) ६१
५. पाँच महाव्रतों की भावनायें ६३–६६
६. पाँच महाव्रतों की परम्परा ६६
७. समिति : ६८–८४
१. ईर्या समिति ६९
२. भाषा समिति ७३
वचन के चार भेद ७४–८१
(क) सत्य (वचन) के दस भेद ७४
(ख) मृषा (असत्य) वचन ७७
(ग) सत्यासत्य (मिश्र) ७९
(घ) असत्यमृषा ८०
३. एषणा समिति ८१
४. आदान-निक्षेपण समिति ८२
५. उच्चारप्रस्रवण (प्रतिष्ठापनिका) समिति ८३
८. इन्द्रिय निरोध ८५–८८
९. इन्द्रिय निरोध या निग्रह ८६
१. चक्षु इन्द्रिय निरोध, २. श्रोत्रेन्द्रिय निरोध, ३. घ्राणेन्द्रिय निरोध, ४. रसनेन्द्रिय निरोध, ५. स्पर्शनेन्द्रिय निरोध
१०. आवश्यक ८८–१४०
११. आवश्यक के छह भेद ८९
१. समता (सामायिक) ९०
(क) सामायिक के छह भेद ९३
(ख) द्रव्य सामायिक के भेदों का चार्ट ९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ग) सामायिक करने की विधि और समय ९६
(छ) विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ में सामायिक तथा छेदोपस्थापना चारित्र ९७

२. स्तव (चतुर्विंशति-स्तव) ९८
(क) स्तव के भेद ९९
(ख) स्तव की विधि १००

३. वन्दना १००–११४
(क) वन्दना के भेद (ख) वन्दना का समय १०२
(ग) वन्दना के पर्यायवाची चार नाम १०२
(घ) कृतिकर्म एवं इसके नौ अधिकार १०३–१०९
(ङ) कृतिकर्म (वन्दना) में निषिद्ध बत्तीस दोष १०७
(च) विनयकर्म १०९
(छ) विनयकर्म के पाँच भेद ११०
(ज) विनयकर्म के भेद प्रभेदों का चार्ट ११४

४. प्रतिक्रमण ११५–१२१
(क) प्रतिक्रमण के अंग ११५
(ख) प्रतिक्रमण के दो भेद ११६
(ग) कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के दैवसिक आदि सात भेद ११७
(घ) प्रतिक्रमण की विधि ११८
(ङ) प्रतिक्रमण की परम्परा १२०
(च) दस मुण्ड १२१

५. प्रत्याख्यान १२१–१२७
(क) प्रत्याख्यान के तीन अंग १२२
(ख) प्रत्याख्यान के भेद १२३
(ग) मूलगुण प्रत्याख्यान १२४
(घ) उत्तरगुण प्रत्याख्यान एवं इसके भेद १२४
(ङ) आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में वर्णित प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद १२५
(च) प्रत्याख्यान के भेदों का चार्ट १२६
(छ) प्रत्याख्यान की विधि १२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. कायोत्सर्ग १२८–१४०
(क) कायोत्सर्ग के भेद १२९
(ख) कायोत्सर्ग की विधि : कायोत्सर्ग के अंग १३२
(ग) कायोत्सर्ग का कालमान १३५
(घ) कायोत्सर्ग के लाभ १३७
(ङ) कायोत्सर्ग में निषिद्ध बत्तीस दोष १३८
१२. शेष सात मूलगुण १४०–१५७
१. लोच १४१
केशलोच की विधि १४३
२. आचेलक्य १४४
३. अस्नान १४८
४. क्षितिशयन १५१
५. अदन्तघर्षण १५२
६. स्थित भोजन १५४
७. एकभक्त १५५
१३. उपसंहार १५६

तृतीय अध्याय : उत्तरगुण १६१–२३९

१. उत्तरगुण : स्वरूप १६१
२. उत्तरगुण के भेद १६२
३. शील के अट्ठारह हजार भेद १६२
४. चौरासी लाख गुणों की उत्पत्ति का कारणक्रम १६२–१६३
५. तप १६५–२१३
६. तप का स्वरूप और महत्त्व १६६
७. तप के भेद : बाह्य और आभ्यन्तर १६८
८. बाह्यतप एवं इसके छह भेद १६९
१. अनशन १७०–१७७
(क) अनशन तप के भेद १७१
(ख) इत्वरिक अनशन तप १७१
(ग) यावज्जीवन अनशन तप एवं इसके भेद १७२
(घ) भक्त प्रत्याख्यान १७३
(ङ) भक्त प्रत्याख्यान के चालीस अधिकार सूत्रपद १७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(च) इंगिनीमरण १७५
(छ) प्रायोपगमनमरण १७६
२. अवमौदर्य तप : स्वरूप और भेद १७७–१७८
३. रसपरित्याग तप १७८
४. वृत्तिपरिसंख्यान तप १७९
५. कायक्लेश तप १८०–१८३
कायक्लेश तप के भेद
(क) गमनयोग, (ख) स्थानयोग, (ग) आसनयोग,
(घ) शयनयोग, (ङ) अपरिकर्मयोग
६. विविक्तशयनासन तप १८३
९. आभ्यन्तर तप १८६–२१३
१. प्रायश्चित्त तप १८६–१९१
प्रायश्चित्त तप के दस भेद १८७
१. आलोचना एवं इसके दस दोष १८८
२ प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग
६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. परिहार १०. श्रद्धान. १९०–१९१
२. विनय तप १९१
विनय तप के पाँच भेद १९२
३. वैयावृत्त्य तप १९२
(क) वैयावृत्त्य तप के दस भेद १९३
(ख) वैयावृत्त्य के चार कारण १९६
४. स्वाध्याय तप १९६–२०१
(क) स्वाध्याय के पाँच भेद १९७
(ख) स्वाध्याय में काल एवं दिशा शुद्धि आदि का महत्त्व १९८
५. ध्यान तप २०१
(क) ध्यान के भेद २०१
(ख) अप्रशस्त ध्यान २०३
१. आर्तध्यान २०३
आर्तध्यान के चार भेद २०४
२. रौद्रध्यान एवं इसके भेद २०४–२०५
(ग) प्रशस्त ध्यान २०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. धर्मध्यान २०५
(क) धर्मध्यान के आलम्बन २०५
(ख) धर्मध्यान के भेद २०६
१. आज्ञा विचय, २. अपाय विचय,
३. विपाकविचय, ४. संस्थान विचय
(ग) संस्थान विचय के चार भेद २०७
पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत
२. शुक्ल ध्यान २०७-२१२
शुक्लध्यान के चार भेद २०८
१. पृथक्त्ववितर्क वीचार, २. एकत्ववितर्क वीचार
३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, ४. समुच्छिन्नक्रिया निवर्ति
६. व्युत्सर्ग तप २१२
व्युत्सर्ग तप के भेद २१३
१०. परीषह-क्षमण (परीषहजय) २१४
परीषह के बाईस भेद २१५
११. पञ्चाचार : आचार के भेद २१७
१. दर्शनाचार : दर्शनाचार के आठ प्रकार २१७-२२०
१. निःशंकित, २. निःकांक्षित, ३. निर्विचिकित्सा
४. अमूढ़दृष्टि, ५. उपगूहन, ६. स्थितिकरण,
७. वात्सल्य, ८. प्रभावना
२. ज्ञानाचार : ज्ञानाचार के आठ भेद २२०-२२२
१. काल, २. विनय, ३. उपध्यान, ४. बहुमान,
५. अनिह्नव, ६. व्यंजन ७. अर्थ, ८. तदुभय
३. चारित्राचार : अष्ट प्रवचनमाता २२२
तीन गुप्ति २२३
४. तपाचार : तपाचार के भेद २२३
५. वीर्याचार : (क) प्राणिसंयम, (ख) इन्द्रियसंयम २२४-२२५
१२. दस धर्म : २२५-२३०
१. क्षान्ति (क्षमा), २. मार्दव, ३. आर्जव, ४. लाघव,
५. तप, ६. संयम, ७. आकिंचन्य, ८. ब्रह्मचर्य, ९. सत्य,
१०. त्याग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. अनुप्रेक्षा : द्वादश अनुप्रेक्षायें २३०–२३७
१. अध्रुव २. अशरण ३. एकत्व ४. अन्यत्व ५. संसार
६. लोक ७. अशुचि ८. आस्रव ९. संवर १०. निर्जरा
११. धर्म १२. बोधिदुर्लभ
१४. शील : शील के अट्ठारह हजार भेद २३८–२३९

चतुर्थ अध्याय : आहार, विहार और व्यवहार : २४३–३५०

१. आहारचर्या २४४–२८२
१. आहार : स्वरूप और भेद २४५
२. आहार ग्रहण का उद्देश्य २४७
३. आहार ग्रहण और त्याग के कारण २४८
४. भिक्षा (आहार) चर्या के नाम २४९–२५२
१. उदराग्नि प्रशमन, २. अक्षमृक्षण,
३. श्वभ्रपूरण, ४. गोचरी, ५. भ्रामरी
५. आहार का समय : २५२–२५३
(क) भिक्षाकाल, (ख) बुभुक्षाकाल, (ग) अवग्रहकाल
६ आहारार्थ गमन-विधि २५४–२५६
७. संकल्प (अभिग्रह) पूर्वक गमन का विधान २५६–२५८
८. आहार ग्रहण के योग्य घर २५९
९. आहार शुद्धि २६१
१०. आहार के बत्तीस अन्तराय २६४
११. आहार ग्रहण विधि २६६
१२. आहार की मात्रा २६७
१३. आहार (पिंड) सम्बन्धी दोष २६९–२७१
१. उद्गमदोष, २, उत्पादन दोष, ३. एषणा
दोष ४. संयोजना दोष, ५. प्रमाण दोष,
६. इंगाल दोष ७. धूमदोष, ८. करण दोष
तथा अधःकर्मदोष
१४. आहार दोषों के छयालिस भेद : २७१–२८२
(क) उद्गमदोष के सोलह प्रकार २७१-२७५
(ख) उत्पादन दोष के सोलह भेद २७५–२७८
(ग) एषणा विषयक दस दोष २७८–२७९
(घ) संयोजना के चार दोष २८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. विहारचर्या २८३–२९९

१. विहार चर्या का महत्त्व २८४
२ विहारशील श्रमण के भाव और कर्त्तव्य २८५
३. विहार योग्य क्षेत्र तथा मार्ग २८६
४. गमनयोग में अपेक्षित सावधानी २८७
५. रात्रि विहार का निषेध २८८
६. नदी आदि जलस्थानों में प्रवेश तथा नाव-यात्रा २८८
७. श्रमणों के ठहरने योग्य स्थान-वसतिका २९०
८. ठहरने के अयोग्य (वर्जनीय) क्षेत्र २९१
९. वसतिका में प्रवेश और बहिर्गमन की विधि २९२
१०. एकाकी विहार और उसका निषेध २९४
११. एकाकी विहार का निषेध क्यों ? २९६
१२. एकल विहारी कौन ? २९७
१३. उपसंहार २९८

३. व्यवहार ३००–३५०

१. श्रमण का जीवन-व्यवहार ३००
२. सामान्य व्यवहार ३०२
३. सम्यक्-आचार (समाचार) : औधिक और पदविभागी ३०५
४. औधिक के दस भेद— ३०५–३११
१. इच्छाकार, २. मिथ्याकार, ३. तथाकार, ४. आसिका, ५. निषेधिका, ६. आपृच्छा, ८. छन्दन ९. निमन्त्रणा, १०. उपसंपत्
५. श्रमणों के परस्पर व्यवहार ३११
६. वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार ३१३
७. वन्दना सम्बन्धी परस्पर व्यवहार ३१४
८. वन्दना (विनय) की विधि ३१७
९. कब वन्दना न करें ? ३१९
१०. निषिद्ध व्यवहार ३२०
११. निषिद्ध वचन व्यवहार ३२१
१२. अन्य निषिद्ध व्यवहार ३२३
१३. रात्रि मौन ३२५
१४. प्रायश्चित्त सम्बन्धी व्यवहार ३२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. व्यवहार के पाँच भेद : ३२६–३३०
आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत
१६. श्रमण और गृहस्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध ३३०
१७. श्रावक द्वारा आहारदान ३३२
१८. श्रमण के स्थितिकल्प ३३४
(क) कल्प के दो भेद : १. जिनकल्प, २. स्थविरकल्प ३३५
(ख) दस स्थितिकल्प ३३७–३४४
१९. वर्षावास ३४४
(क) वर्षावास का औचित्य ३४५
(ख) वर्षायोग ग्रहण एवं उसकी समाप्ति विधि ३४६
(ग) वर्षावास का समय ३४७
(घ) वर्षावास के योग्य स्थान ३४८
(ङ) वर्षावास में भी विहार करने के कारण ३४९

पंचम अध्याय : श्रमण संघ ३५३–४३४

१. श्रमण संघ : स्वरूप ३५३
२. संघ की महत्ता ३५४
३. संघ व्यवस्था के आधार ३५५
४. संघ के आधार ३५७
५. आचार्य ३५७–३८१
(क) आचार्य का स्वरूप ३५७
(ख) आचार्य के विशिष्ट गुण ३६०
(ग) आचारवत्त्व आदि आठ गुण ३६२
(घ) आचार्य की गणि सम्पदायें ३६३
(ङ) उत्तराधिकारी आचार्य ३६५
(च) उत्तराधिकारी की नियुक्ति विधि ३६५
(छ) नवनियुक्त आचार्य को उद्‌बोधन ३६६
(ज) गण, गच्छ कुल और इनके प्रमुख ३६८–३७१
१. गण और उसके प्रमुख ३६८
२. गच्छ और उसके प्रमुख ३६९
३. कुल और उसके प्रमुख ३७०
(झ) एलाचार्य ३७१
(ञ) निर्यापकाचार्य ३७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. उपाध्याय ३७२
७. प्रवर्तक ३७४
८. स्थविर ३७४
९. गणधर ३७५
१०. चातुर्वर्ण्य संघ ३७६
(क) ऋषि, (ख) मुनि (ग) यति (घ) अनगार ३७६–३७८
११. अनगार भावना के दस सूत्र ३७९–३८४
१२. अनगार के पर्यायवाची दस नाम ३८४
१३. श्रमण ३८४
(क) श्रमण जीवन में वैराग्य की महत्ता ३८५
(ख) श्रमण के प्रकार ३८७
१४. संयत ३८८
१५. साधु ३८८
१६. वीतराग, भदन्त, दान्त ३९०
१७. भिक्षु ३९१
१८. योगी ३९२
१९. मुण्ड ३९३
२०. निर्ग्रन्थ ३९३
२१. निर्ग्रन्थ के भेद : १. पुलाक, २. बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ, ५. स्नातक ३९४
२२. आगन्तुक श्रमण : स्वरूप; उद्देश्य एवं विधि ३९५–४०२
२३. परगणस्थ श्रमण एवं आचार्य के कर्त्तव्य ३९८
२४. आगन्तुक श्रमण की परीक्षा ३९९
२५. परगण में आगन्तुक श्रमण के कर्तव्य ४०१
२६. पापश्रमण ४०२
२७. पापश्रमण के पाँच भेद : १. पार्श्वस्थ, २. कुशील, ३. संसक्त, ४. अवसन्न, ५. मृगचरित्र ४०४–४०६
२८. कल्प-परिमंथु साधु ४०६
२९. श्रमण के उपकरण ४०८–४१४
(क) संयमोपकरण (पिच्छिका) ४०९
(ख) शौचोपकरण (कमण्डलु) ४१२
(ग) ज्ञानोपकरण ४१३
(घ) अन्य उपकरण ४१३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३०. श्रमण संघ : एक पुनरावलोकन ४१४
३१. श्रमण संघ : परिवर्तन की दिशा ४१५
१. संघ, २. गण, ३. गच्छ, ४. अन्वय ४१६
आर्यिकाओं की आचार पद्धति
१. चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान ४१७
२. उपचार से महाव्रत होने के कारण तद्भव मोक्ष नहीं ४१८
३. आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द ४२१
४. आर्यिकाओं का वेष ४२१
५. वसतिका ४२४
६. समाचार : विहित एवं निषिद्ध ४२५
७. आहारार्थ गमन विधि ४२६
८. स्वाध्याय सम्बन्धी विधान ४२७
९. वंदना-विनय सम्बन्धी व्यवहार ४२७
१०. आर्यिका और श्रमण : परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा ४२८
११. आर्यिकाओं के गणधर ४३०
१२. आर्यिका संघ ४३२
१३. गणिनी (प्रधान)–आर्यिका ४३३
१४. बौद्ध भिक्षुणी संघ ४३४
षष्ठ अध्याय : जैन सिद्धान्त ४३५–५२५
१. जैन सिद्धान्त ४३५
२. लोक स्वरूप विमर्श ४३७
(क) अधोलोक ४३९
(ख) मध्यलोक ४३९
(ग) उर्ध्वलोक ४४०
३. रत्नत्रय ४४३
१. सम्यग्दर्शन ४४४
(क) सम्यग्दर्शन की महत्ता ४४५
(ख) सम्यग्दर्शन के भेद ४४६
२. सम्यग्ज्ञान ४४७
सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद ४४८–४५०
१. मतिज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान,
४. मनःपर्ययज्ञान ५. केवलज्ञान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. सम्यक्चारित्र ४५०
सम्यक्चारित्र के भेद ४५२
१. सामायिक, २. छेदोपस्थापन, ३. परिहारविशुद्धि,
४. सूक्ष्मसाम्पराय, ५. यथाख्यात
४ गुणस्थान ४५३–४६२
१. मिथ्यादृष्टि, २. सासादन सम्यग्दृष्टि, ३. मिश्र, ४, असंयत
(अविरत) सम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तसंयत, ७.
अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०.
सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशान्त-कषाय, १२. क्षीणमोह, १३.
सयोगकेवली, १४. अयोगकेवली,
५ लेश्या ४६२–४६८
(क) लेश्या का स्वरूप ४६२
(ख) लेश्या के भेद ४६३
(ग) वर्ण और रस की अपेक्षा द्रव्यलेश्या के छह भेद ४६४
(घ) भावलेश्या की दृष्टि से जीव के स्वभाव और विचार ४६५
(ङ) लेश्या-वृक्ष का उदाहरण ४६६
(च) जीवों में लेश्या का सद्भाव ४६६
(छ) लेश्या-विशुद्धि का उपक्रम ४६८
६. द्रव्यस्वरूप विमर्श ४६८–४७६
(क) द्रव्य की परिभाषा ४६८
(ख) द्रव्य के भेद ४७०
१. जीवद्रव्य, ४७१
अजीव द्रव्य ४७१
अजीव द्रव्य के भेद : रूपी, अरूपी ४७१
छह द्रव्य ४७२
२. पुद्गल द्रव्य ४७२
पुद्गल द्रव्य की पर्यायें ४७३
१. शब्द, २. बन्ध, ३. सूक्ष्मत्व, ४. स्थूलत्व, ५. संस्थान,
६. भेद, ७. तम, ८. छाया, ९. आतप, १०. उद्योत
३. धर्मद्रव्य ४७४
४. अधर्म द्रव्य ४७५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. आकाश द्रव्य ४७५
६. काल द्रव्य ४७५
(ग) द्रव्य के गुण ४७५
७. नव पदार्थ ४७६
१. जीव स्वरूप विमर्श ४७८
जीव के भेद : संसारी और मुक्त ४७९
संसारी जीव के भेद :
१. स्थावर जीव
१. पृथ्वी : पृथ्वी के छत्तीस भेद ४८०
२. जल ४८१
३. तेजस् ४८१
४. वायु ४८१
५. वनस्पति ४८२
(क) प्रत्येक-काय वनस्पति ४८२
(ख) अनन्त (साधारण) काय वनस्पति ४८२
(ग) प्रत्येक वनस्पति के दो भेद ४८३
(घ) मूलबीज आदि दस प्रकार के वनस्पति ४८५
(ङ) वनस्पति जाति के दो प्रकार ४८५
१. बीजोद्भव २. सम्मूर्छिम
(च) वनस्पति के वाचक शब्द ४८६
(छ) बादरकायिक और सूक्ष्मकायिक वनस्पति ४८६
(ज) वनस्पति काय सम्बन्धी जैन मान्यतायें और आधुनिक विज्ञान ४८७
२. त्रस जीव एवं उनका स्वरूप ४८८
त्रस जीवों के उत्पत्ति स्थान ४८९
८. निगोद ४९०
जीव द्रव्य विभाग (चार्ट) ४९२
जीवों के कुल ४९३
९. प्राण ४९३
(क) स्वरूप, (ख) प्राण के भेद ४९३
(ग) किन जीवों में कितने प्राण ४९४
(घ) प्राण और पर्याप्ति ४९४
१०. आयु : एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों की आयु का चार्ट ४९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. योनि : योनि के भेद ४९६
१२. वेद ४९७
१३. पर्याप्ति ४९७
(क) पर्याप्ति के भेद ४९८
१. आहार, २. शरीर, ३. इन्द्रिय, ४. आनप्राण ५. भाषा, ६. मनः
(ख) पर्याप्तियों के स्वामी ४९९
(ग) पर्याप्तक-अपर्याप्तक ४९९
(घ) पर्याप्तियों की पूर्णता का कालमान ४९९
१४. संस्थान : संस्थान के छह भेद ५००
१५. प्रवीचार ५०१
१६. जीवसमास ५०२
(क) जीवसमास के चौदह भेद ५०२
(ख) चतुर्गतियों में जीवसमास ५०३
(ग) लेश्याओं में जीवसमास ५०३
१७. मार्गणा ५०४
(क) मार्गणा का स्वरूप : मार्गणा के चार अधिकार ५०४
(ख) मार्गणा के चौदह भेद ५०४-५०७
१. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्य, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञी, १४ आहार
१८. अजीव ५०८
१९. पुण्य और पाप ५०८
२०. आस्रव : आस्रव के भेद ५१०
२१. बन्ध ५११
(क) बन्ध की परिभाषा ५११
(ख) बन्ध के कारण ५११
(ग) बन्ध के भेद ५१२
१. प्रकृति बन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३. अनुभाग बन्ध, ४. प्रदेशबंध
(घ) कर्म की दस अवस्थायें ५१४
(ङ) अष्टविध कर्म ५१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(च) कर्म स्वरूप विमर्श ५१६
(छ) कर्मबंध की प्रकिया ५१७
(ज) कर्म के आठ भेदों का स्वरूप ५१८-५२१
१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय
५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय,
(झ) घातिया कर्म, अघातिया कर्म ५२१
(ञ) कर्म सिद्धान्त और सृष्टि प्रक्रिया ५२२
२२. संवर ५२२
२३. निर्जरा ५२३
२४. मोक्ष ५२३
२५. उपसंहार ५२४

सहायक ग्रन्थ सूची ५२६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम अध्याय

प्रास्ताविक

श्रमण संस्कृति भारत की प्राचीनतम संस्कृतियों में से है। यह पुरूषार्थमूलक है। इसकी चिन्तन धारा मूलतः आध्यात्मिक है। आध्यात्म के धरातल पर जीवन का चरम विकास श्रमण संस्कृति का अन्तिम लक्ष्य है। जीवन का लक्ष्य सच्चे सुख की प्राप्ति है। यह सुख स्वातंत्र्य में ही सम्भव है। कर्मबन्धन युक्त संसारी जीव इसकी पहचान नहीं कर पाता। वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है। श्रमण संस्कृति व्यक्ति को इस भेद-विज्ञान का दर्शन कराकर उसे निःश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त करती है।

निःश्रेयस् की प्राप्ति रत्नत्रयात्मक मार्ग पर चलकर सम्भव है। सम्यक्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपनी समग्रता में इस रत्नत्रय मार्ग का निर्माण करते हैं। प्राचीन काल से लेकर श्रमणधारा के प्रत्येक साधक ने सर्वप्रथम स्वयं के जीवन में इस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग का अनुशरण किया और अपनी साधना की उपलब्धियों के अनन्तर इसी मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। इससे जो आचार संहिता निर्मित हुई वह श्रमण परम्परा की एक समग्र आचार संहिता बनी, जिसमें गृहस्थ के जीवन से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक की साधना और उसके उपयुक्त आचार-सम्बन्धी नियम-उपनियम आदि का विधान किया गया।

आध्यात्मिक विकास के लिए आचार की प्रथम सीढ़ी सम्मत्तं, सम्मादिट्ठि या सम्यग्दर्शन है। बिना इसके ज्ञान विकास का साधक नहीं हो सकता और साधना भी सम्यक् नहीं हो सकती। इसीलिए श्रावक और श्रमण दोनों के लिए सम्यग्दर्शन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसके बाद ज्ञान स्वतः विकासोन्मुखी हो जाता है। किन्तु ज्ञान की समग्रता साधना के बिना सम्भव नहीं। इसलिए 'णाणस्स सारं आयारो' तथा "चारित्रं खलु धम्मो" कहकर आचार या चारित्र एवं तपश्चरण को विशेष रूप से आवश्यक माना गया है। सम्यग्दृष्टि-व्यक्ति आचारमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए क्रमशः श्रावक एवं श्रमण के आचार को स्वीकार करता है अथवा सामर्थ्य के अनुसार श्रमण धर्म स्वीकार कर लेता है। श्रावक और श्रमण के आचार का स्वतन्त्र रूप से विस्तृत विवेचन करके जैन मनीषियों ने जीवन के समग्र विकास के लिए स्वतंत्र रूप से आचार संहिताओं का निर्माण कर दिया। विभिन्न युगों में देश, काल और परिस्थितियों के अनुकूल नियमोपनियमों में विकास भी हुआ है तथापि सम्यक् चारित्र का मूल लक्ष्य आध्यात्मिक विकास करते हुए मुक्ति प्राप्त करना ही रहा है।

जैन वाङ्मय की विपुलता

श्रमण संस्कृति के अमर गायक और उन्नायक जैनाचार्यों ने अपने श्रेष्ठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२ : मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन

साहित्य के माध्यम से भारतीय साहित्य एवं चिन्तन के उत्कर्ष में अभिवृद्धि कर उसे गौरव के शिखर पर बैठाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्व-पर-कल्याण हेतु संयम मार्ग पर चलते हुए उन्होंने प्रायः सभी भाषाओं एवं सभी विधाओं—जैसे उच्च-तत्त्वज्ञान, विज्ञान, धर्म-दर्शन, साहित्य, संगीत, इतिहास, पुराण, महापुरुषों के चरित्र, कला, काव्य, गणित, आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण, कोश और बहुमूल्य व्यावहारिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की पद्धतियों से सम्बन्धित विपुल वाङ्मय का सृजन करके अपने जीवन को सार्थक किया है। अपने देश के ही नहीं अपितु विश्व के वे सभी मनीषी जो इस जैन साहित्य का गहराई से अवलोकन करते हैं, वे जैनाचार्यों के इस समुज्ज्वल एवं समुन्नत ज्ञान, अद्भुत प्रतिभा के समक्ष नतमस्तक हुए बिना नहीं रहते। उनका मानना है कि सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म-दर्शन, समाज, अर्थ एवं राजनीति तथा आचार आदि विभिन्न विधाओं का सम्पूर्ण ज्ञान जैन साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा है।

विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण जैन साहित्य को चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है—१. प्रथमानुयोग के अन्तर्गत महापुरुषों के चरित्र से सम्बन्धित ग्रन्थ, २. करणानुयोग में लोक-अलोक का विभाग तथा चारों गतियों का स्वरूप आदि का प्रतिपादन करने वाले समस्त ग्रन्थों का समावेश है। ३. चरणानुयोग में देशचारित्र और सकल चारित्र अर्थात् श्रावकों एवं मुनियों के चारित्र (आचार) का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ तथा ४. द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत सात तत्त्व, पुण्य, पाप और छह द्रव्यों आदि का प्रतिपादन करने वाले आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित ग्रन्थों का समावेश है।

मूलाचार

इन चारों अनुयोगों में यहाँ चरणानुयोग के अन्तर्गत श्रमणाचार से सम्बन्धित उस 'मूलाचार' नामक अति प्राचीन ग्रन्थ का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसे दिगम्बर परम्परा में 'आचारांग' नाम से भी अभिहित किया जाता है। शौरसेनी, अर्धमागधी संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि प्राचीन भारतीय भाषाओं में आचार-विषयक काफी साहित्य उपलब्ध है। जैसे दिगम्बर परम्परा में भगवती आराधना, मूलाचार, पवयणसार, अट्ठपाहुड, रयणसार, अनगार धर्मामृत, चारित्रसार, आचारसार आदि तथा श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अनेक आचार विषयक विशिष्ट ग्रन्थ उपलब्ध हैं। दिगम्बर परम्परा के श्रीमद् वट्टकेराचार्य प्रणीत एवं जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध इस मूलाचार नामक मूल ग्रन्थ में श्रमण-निर्ग्रन्थों की आचार संहिता का अति सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन मिलता है। यहाँ विधि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निषेधपरक आचार का प्ररूपण भले ही कठोर एवं लोकोत्तर सा प्रतीत हो, किन्तु इतना व्यवस्थित, शास्त्रीय एवं सहज निर्वचन अन्य साध्वाचारपरक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता।

विषय परिचय

मूलाचार में बारह अधिकार हैं। जिनमें कुल मिलाकर १२५२ गाथाएँ हैं। इसके बारह अधिकार इस क्रम से हैं : मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान-संस्तरस्तव, संक्षेप-प्रत्याख्यान, समाचार, पंचाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगार-भावना, समयसार, शीलगुण और पर्याप्ति। प्रत्येक अधिकार के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :

१. मूलगुणाधिकार : इसमें छत्तीस गाथाएँ हैं। सर्वप्रथम मंगलाचरण पूर्वक विषय प्रतिपादन की घोषणा की गई है तथा श्रमणों के अट्ठाईस मूलगुणों का कथन किया गया है। तदनन्तर पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थित-भोजन और एकभक्त—इन अट्ठाईस मूलगुणों की सारभूत परिभाषाएँ प्रस्तुत की गईहैं। अचेलकत्व मूलगुण के अन्तर्गत शरीर ढकने के लिए वस्त्र, अजिन (चमड़ा), वल्कल, तृण, पत्ते, आभूषण आदि के धारण का निषेध करके निर्ग्रन्थ (नग्न) वेश धारण करने को अचेलकत्व कहा है। मूलगुणों के पालन से मिलने वाले मोक्षफल के कथन के बाद अधिकार की समाप्ति की गयी है।

२. वृहत्प्रत्याख्यान-संस्तरस्तव अधिकार : इसमें कुल इकहत्तर गाथाएँ हैं, जिनमें श्रमण को सभी पापों का त्यागकर मृत्यु के समय दर्शन आदि चार आराधनाओं में स्थिर रहने, क्षुधातृषा आदि परिषहों को समता भाव से सहने तथा निष्कषाय होकर प्राण त्याग करने का उपदेश है। प्रत्याख्यान विधि बताते हुए प्रत्याख्यान करने वाले के मुख से कहलाया गया है कि जो कुछ मेरी पाप-क्रिया है उस सबका मन, वचन, काय से त्याग करता हूँ और समताभाव रूप निर्विकल्प एवं निर्दोष सामायिक करता हूँ। सब तृष्णाओं को छोड़कर मैं समाधिभाव अंगीकार करता हूँ। सब जीवों के प्रति मेरा क्षमा-भाव है तथा सब जीव मेरे ऊपर क्षमाभाव करें। मेरा सब प्राणियों पर मैत्री भाव है, किसी से भी मेरा वैर नहीं है। इसके अतिरिक्त चार संज्ञाओं, तैंतीस आसादनाओं, श्रमण की मनोभावनाओं के वर्णन के साथ-साथ मरण के भेद यथा मरण-समय णमोकार मन्त्र के चिन्तन आदि के करने का भी प्रतिपादन किया गया है।

३. संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार : चौदह गाथाओं वाले इस अधिकार में व्याघ्रादि-जन्य आकस्मिक मृत्यु के उपस्थित होने पर पाँच पापों के त्याग पूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक समाधि धारण करके सर्वआहार, कषाय और ममत्व भाव के त्याग-पूर्वक शरीर त्याग की प्रेरणा दी है। प्रत्याख्यान, आराधनाफल, पंडितमरण, समाधिमरण तथा जन्म एवं मृत्यु का भय आदि विषयों का वर्णन करके अन्त में दस प्रकार के मुण्डों के उल्लेखपूर्वक अधिकार की समाप्ति की गयी है।

४. समाचाराधिकार : इसकी ७६ गाथाओं में विविध समाचार का अच्छा विवेचन है। समाचार शब्द के चार अर्थ बतायें हैं—रागद्वेष से रहित समता का भाव, अतिचाररहित मूलगुणों का अनुष्ठान, समस्त श्रमणों का समान तथा हिंसा रहित आचरण एवं सभी क्षेत्रों में हानि-लाभरहित कायोत्सर्गादि के परिणाम रूप आचरण। समाचार के लक्षण बताकर औधिक एवं पदविभागी ये दो समाचार के भेद किये हैं। औधिक समाचार के इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमन्त्रण और उपसम्पत-इन दस भेदों का तथा पदविभागी समाचार का विस्तृत वर्णन है। उच्च ज्ञान प्राप्ति के निमित्त शिष्य-श्रमण को अपने गण से दूसरे गण एवं उसके आचार्य के पास किस विधि से जाना चाहिये इसका अच्छा वर्णन करके एकाकी एवं स्वच्छन्द विहार की सम्भाव्य हानियों का वर्णन तथा निषेध किया है। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार जहाँ न हों वहाँ रहना उचित नहीं है। इसी प्रसंग में आचार्य के गुणों का भी कथन किया है। इस अधिकार का महत्त्वपूर्ण अंश परगण से स्वगण में आगन्तुक श्रमणों का किस प्रकार स्वागत उनकी परीक्षा तथा उनका सहयोग किया जाता है इन सबका बहुत ही स्पष्ट और सुन्दर चित्रण है। आर्यिकाओं का संक्षिप्त आचार, श्रमण और आर्यिकाओं के पार-स्परिक सम्बन्धों तथा आर्यिका को दीक्षा, उपदेश करने वाले अनेक गुण-धर्मों से युक्त गणधर एवं उनकी विशेषताओं का वर्णन है। आर्यिकाओं के समाचार के अन्तर्गत एक दूसरे के अनुकूल रहने, अभिरक्षण का भाव रखने, लज्जा एवं मर्यादा का पालन करने तथा माया, रोष एवं वैर जैसे भावों से मुक्त रहने का विधान किया गया है।

५. पंचाचाराधिकार : इस अधिकार की दो सौ बाईस गाथाओं में दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्य—इन पंचाचारों का भेद-प्रभेदों द्वारा विस्तृत प्रति-पादन किया गया है। दर्शनाचार के अन्तर्गत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव पदार्थों का वर्णन है। इन नव पदार्थों में जीव तत्त्व के संसारी और मुक्त ये दो भेद किये गये हैं। इनमें संसारी जीव के पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक तथा त्रस इन छह भेदों का भेदोपभेद पूर्वक विस्तृत प्रतिपादन है। जीव के बाद अजीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि पदार्थों का विशद् वर्णन किया गया है। रात्रिभोजन त्याग, पाँच समिति, गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय, आदि विषयों का विस्तृत स्वरूप कथन तथा इनका पालन करने से होने वाले लाभों का भी विवेचन है। प्रसंगवश गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली अथवा अभिन्नदशपूर्वी द्वारा कथित ग्रन्थों को सूत्र कहा है। संग्रह, आराधना निर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, प्रत्याख्यान, आवश्यक और धर्मकथा आदि जैन सूत्र ग्रन्थों तथा ऋग्वेद, सामवेद, आदि वेद शास्त्रों, कौटिल्य, आसुरक्ष, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों एवं रक्तपट, चरक, तापस, परिव्राजक आदि के नामों का उल्लेख मिलता है।

६. पिण्डशुद्धि-अधिकार : इसमें तेरासी गाथाएँ हैं। श्रमणों के पिण्डैषणा (आहार) से सम्बन्धित सभी नियमों की विशद् मीमांसा की गयी है। उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, इङ्गाल, धूम और कारण इन आठ दोषों से रहित आहार शुद्धि का, आहार त्याग के कारण, आहार ग्रहण के उद्देश्य, दाता के गुण, चौदह मल, आहार ग्रहण की विधि और मात्रा तथा आहार के अन्तराय आदि आहार चर्या से सम्बन्धित सभी विषयों का विस्तृत विवेचन है।

७. षडावश्यक-अधिकार : एक सौ तेरानवे गाथाओं के इस अधिकार को आवश्यक निर्युक्ति नाम से अभिहित किया गया है तथा इसका प्रारम्भ पंच नमस्कार मंत्र की निरुक्ति पूर्वक हुआ है। अर्हन्त, जिन, आचार्य, साधु, उत्तम आदि शब्दों की भी निरुक्ति पूर्वक व्याख्या की गई है। अर्हन्त, पद की निरुक्ति महत्त्वपूर्ण है। सर्वसाधु के विषय में कहा है कि जो सदा मोक्ष की कामना से मूलगुणों को धारण किये रहता है तथा सभी जीवों में समता भाव रखता है वह सर्वसाधु है। सामायिक, स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग-इन छह आवश्यकों का निरुक्ति एवं भेदपूर्वक विस्तृत विवेचन है। सामायिक के विवेचन के प्रसंग में कहा है : सब कामों में राग-द्वेष रहित होकर समभाव व द्वादशांग सूत्रों में श्रद्धान करना उत्तम सामायिक है। लोक, धर्म, तीर्थ, भक्ति, विनय, कृतिकर्म, अवनति, चतुर्विध आहार और आलोचना-इन सब विषयों का स्वरूप तथा भेदपूर्वक कथन, स्वाध्याय-काल, वन्दनादि कायोत्सर्ग में वर्ज्य बत्तीस दोष, आसिका, निषीधिका का विधान तथा पार्श्वस्थादि पापश्रमणों आदि का विवेचन किया गया है। इस अधिकार की ये विशेषतायें हैं कि इसमें सामायिक संयम और छेदोपस्थापना संयम के विषय में उन मतों का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव एवं अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तथा मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के परम्परा-भेद से है। नित्य प्रतिक्रमण और नैमित्तिक प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में भी इसी तरह के मतों का उल्लेख है। इन्हीं मतों का उल्लेख अन्यान्य दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में भी देखने को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलता है। प्राचीनता की दृष्टि से इन उल्लेखों को काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी अधिकार में निर्युक्ति द्वारा पदों की व्याख्या करने की प्राचीन प्रणाली सुरक्षित है। इस दृष्टिसे चतुर्विन्शतिस्तव नामक द्वितीय आवश्यक की निम्न-लिखित गाथा महत्त्वपूर्ण है—

लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहि मम दिसंतु ॥४२॥

इस गाथा के प्रत्येक पदों की निर्युक्ति गाथा संख्या ४३ से ६९ तक सत्ताईस गाथाओं में की गई है। उपर्युक्त गाथा कुन्दकुन्दाचार्यकृत तीर्थङ्कर भक्ति की दूसरी गाथा से तथा श्वेताम्बर परम्परा के 'लोगस्स' पाठ से तुलना योग्य है। द्वितीय आवश्यक के प्राचीन एवं मौलिक पाठ तथा स्वरूप की यह गाथा परिचायक है। मूलाचारकार ने इस अधिकार को आरम्भ में 'आवश्यक निर्युक्ति' नाम से भी उल्लिखित किया है जो श्वेताम्बर परम्परा के 'आवश्यक निर्युक्ति' नामक ग्रन्थ से भी अधिकार तुलना योग्य है।

८. द्वादशानुप्रेक्षाधिकार : इस अधिकार की ७६ गाथाओं में अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ और धर्मस्वाख्यात-इन बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का वैराग्यवर्धक सूक्ष्म विवेचन है। इसमें बताया है : राग, द्वेष, क्रोधादि आश्रव हैं, जिनसे कर्मों का आगमन होता है। ये कुमार्गों पर ले जाने वाली अति बलवान शक्तियाँ हैं। शांति, दया, क्षमा, वैराग्य आदि जैसे-जैसे बढ़ते हैं, जीव वैसे-वैसे मोक्ष के निकट बढ़ता जाता है। चार प्रकार के संसार का स्वरूप तथा अन्त में अनुप्रेक्षाओं की भावना से कर्मक्षय और परिणामशुद्धि का विवेचन है।

९. अनगारभावनाधिकार : सवा सौ गाथाओं के इस अधिकार में अनगार का स्वरूप तथा लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, शरीर-संस्कारत्याग, वाक्य, तप और ध्यान इन दस शुद्धियों को अनगार के सूत्र बताये हैं। अनगार तथा उनके सत्वगुणों, अनगार के पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया गया है। वाक्यशुद्धि के प्रसंग में स्त्री, अर्थ, भक्त, खेट, कर्वट, राज, चोर, जनपद, नगर और आकर इन कथाओं का स्वरूप तथा रूपक द्वारा प्राणि-संयम और इन्द्रियसंयम रूपी आरक्षकों द्वारा तपरूपी नगर तथा ध्यानरूपी रथ के रक्षण की बात कही गयी है। यथार्थ अनगारों का विवेचन तथा अभ्रावकाश आदि योगों का स्वरूप कथन भी किया गया है।

१०. समयसाराधिकार : इस अधिकार में एक सौ चौबीस गाथाएँ हैं। इसमें वैराग्य की समयसारता, चारित्राचरण आदि का कथन करते हुए श्रमण को लौकिक व्यवहार से दूर रहने को कहा है। चारित्रसंयम और तप से रहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानादि की निरर्थकता और प्रतिलेखन तथा इसके साधनभूत पिच्छिका की विशेषताएँ आदि इस अधिकार के प्रारम्भिक प्रतिपाद्य विषय हैं। इसमें श्रमण के लिए कहा गया है कि यदि वह सम्यक्चारित्र का पालन करना चाहता है तो भिक्षाटन द्वारा आहार ग्रहण करे, वन में रहकर सुख-दुःख सहे तथा मैत्रीभावना का चिन्तन करे। शुद्धि-योग, आहारशुद्धि, जुगुप्सा के भेद-प्रभेद, श्रमणों के ठहरने योग्य तथा वर्जनीय स्थान का वर्णन पापश्रमणादि विषयों का स्वरूप बताते हुए दुष्ट मुनियों के संसर्ग से उत्पन्न दोषों का वर्णन किया गया है। आर्यिकाओं के आवास पर श्रमणों के गमन तथा स्वाध्याय आदि कार्य करने का निषेध किया गया है। पंचेन्द्रिय विषयों एवं काष्ठादि में चित्रित स्त्रियों तक से दूर रहने के कथन प्रसंग में ही अब्रह्म के दस कारण तथा पंचसूना आदि विविध विषयों का अच्छा विवेचन है। इसी अधिकार में आचेलक्य, औद्देशिक शय्यागृहत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मासस्थितिकल्प, एवं पर्यास्थितिकल्प—इन दस स्थितिकल्पों का नामोल्लेख है। अधिकार के अन्त में शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चारित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा है। श्रमणों के यत्नाचारपूर्वक दैनन्दिन सभी क्रियाएँ करते हुए सम्यक्चारित्र के पालन का भी उपदेश है।

११. शीलगुणाधिकार : इसमें मात्र छब्बीस गाथायें हैं। इस अधिकार में तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, दस काम, दस श्रमणधर्म इन्हीं सबका परस्पर गुणा करने पर शील के अठारह हजार भेदों का कथन किया गया है। इन्हीं शीलों के उत्पत्ति-क्रम के अनुसार मनोगुप्ति युक्त अशुभ मनःप्रवृत्ति रहित, शुद्धभाव युक्त, आहार संज्ञा रहित स्पर्श-इन्द्रिय संवृत, पृथ्वीसंयम एवं क्षमा गुण से संयुक्त, शुद्ध चारित्र वाले मुनि श्रेष्ठों का प्रथमशील विशुद्ध रूप में स्थिर होता है। इसी तरह क्रमशः अठारह हजार शील स्थिर होते हैं। इसी अधिकार में गुणों अर्थात् उत्तरगुणों के भेद-प्रभेदों की चौरासी लाख संख्या का कथन किया है। हिंसादि २१, अतिक्रमणादि चार, काय के सौ, अब्रह्म के दस, आलोचना के दस दोष और प्रायश्चित्त (शुद्धि) के आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इन दस भेदों के दस दोष तथा इन सब दोषों का परस्पर गुणा करने पर चौरासी लाख दोष बताये हैं तथा इनसे विपरीत चौरासी लाख शीलगुण सिद्ध किये हैं।

१२. पर्याप्त्यधिकार : इसमें दो सौ छह गाथाएँ हैं। इसमें पर्याप्ति, देह, संस्थान, काय-इन्द्रिय, योनि, आयु, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रविचार, उपपाद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्वर्तन, स्थान, कुल, अल्पबहुत्व और प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबंध इत्यादि विषयक सूत्र पदों द्वारा इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। जीवों के अन्तर्गत वनस्पतिकाय जीवों का अद्भुत सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसी अधिकार में विवेचित गति-आगति का कथन 'सारसमय' नामक ग्रन्थ में स्वयं के द्वारा कहने का उल्लेख किया है। पर यह ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है। वृत्तिकार ने इसकी पहचान व्याख्याप्रज्ञप्ति से की है[1]। जिस विषय के कथन का उल्लेख मूलाचार में है वह विषय श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति में नहीं है। इससे लगता है कि उस समय दिगम्बर परम्परा में वट्टकेर का 'सार-समय' ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध रहा होगा। इसके प्रमाण रूप धवलाटीका में भी इसका उल्लेख मिलता है। षट्खण्डागम के जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड की गतिआगति नाम की नवमी चूलिका व्याख्याप्रज्ञप्ति से निकली है[2]। इन सब उल्लेखों के अतिरिक्त गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा, स्वर्ग, नरक, मनुष्य तिर्यञ्च गतियों तथा इनके जीवों आदि का विस्तृत विवेचन इस अधिकार में किया गया है। ग्रन्थकार ने इस अधिकार का नाम 'पर्याप्ति संग्रहिणी' कहा है।

मूलाचार पर उपलब्ध व्याख्या साहित्य :

मूलाचार श्रमणाचार विषयक एक प्राचीन एवं प्रामाणिक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। दिगम्बर परम्परा के तद्विषयक प्रायः सभी परवर्ती ग्रन्थ इससे प्रभावित अथवा इसके आधार पर लिखे गये दृष्टिगोचर होते है। मूलाचार पर अनेक टीकाएँ तो लिखी ही गईं साथ ही इसको मूल आधार बनाकर जिन ग्रन्थों की स्वतंत्र रचना हुई उनमें अनगार धर्मामृत, आचारसार, चारित्रसार, मूलाचार प्रदीप, आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं, जिन पर मूलाचार का स्पष्ट प्रभाव है।

आचार्य वसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती की मूलाचार पर 'आचारवृत्ति' नामक सर्वार्थसिद्धि टीका संस्कृत भाषा में लिखी गई उपलब्ध है। आ० वसुनन्दि का दूसरा महत्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ वसुनन्दि श्रावकाचार सुप्रसिद्ध ही है। वस्तुतः मूलाचार के विषय को हृदयंगम करने वालों में इनका अग्रणी स्थान है। इनकी आचारवृत्ति इतनी प्रसिद्ध और सरल है कि सामान्य जन भी इसका सुगमता से अध्ययन कर लेते हैं। गूढ़ विषय को स्पष्ट करते हुए चलना और अपनी सहज एवं सरल भाषा में ग्रन्थकार के भावों को प्रकट कर देना यह वसुनन्दि की मुख्य विशेषता है।

---

१. सारसमये व्याख्याप्रज्ञप्त्यां सिद्धान्ते तस्माद्वा भणिते गत्यागतीगतिश्च आगतिश्च भणिता मया किंचित् स्तोकरूपेण। मूलाचार वृत्ति-१२।१४३।

२. षट्खण्डागम–संशोधित संस्करण, १९७३, खंड १, भाग १, पुस्तक १, प्रस्तावना पृष्ठ ६६ का चार्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुनन्दि श्रावकाचार ग्रंथ के अन्त में दी गई प्रशस्ति के आधार पर ही आचार्य वसुनन्दि के विषय में मुख्यतः जानकारी मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा में श्रीनन्दि नामक आचार्य हुए हैं।[1] उनके शिष्य नयनन्दि और उनके शिष्य नेमिचन्द के प्रसाद से वसुनन्दि के इस ग्रन्थ की रचना की। प्रशस्ति में ग्रंथ-रचना का समय नहीं दिया। किन्तु वसुनन्दि के दादा गुरू (नयनन्दि) ने वि० सं० ११०० में सुदंसण चरिउ (सुदर्शन चरित) नामक ग्रंथ अपभ्रंश में लिखा। इस आधार पर कुछ विद्वान् आचार्य वसुनन्दि का समय १२वीं शती का पूर्वार्द्ध अथवा ११वीं का अन्तिम भाग मानते हैं। किन्तु इनके ग्रन्थों की भाषा, शैली और विषय प्रतिपादन आदि के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये इस काल से भी पूर्व के आचार्य थे। इनके समय-निर्धारण की दिशा में शोध की आवश्यकता है। मूलाचार की इनकी इस वृत्ति के प्रारम्भ में उल्लेख है कि आचारांग की पदसंख्या अठारह हजार प्रमाण थी, उसका संक्षेप आचार्य वट्टकेर ने किया और उस पर इन्होंने बारह हजार श्लोक प्रमाण आचारवृत्ति लिखी। इनके नाम से प्रकाश में आने वाले ग्रन्थों में मूलाचार वृत्ति के अतिरिक्त आप्तमीमांसा वृत्ति, जिनशतकटीका, प्रतिष्ठासारसंग्रह, उपासकाध्ययन (वसुनन्दि श्रावकाचार) आदि प्रसिद्ध हैं।

मूलाचार के एक और व्याख्याता आचार्य सकलकीर्ति हैं। इन्होंने इसके आधार पर 'मूलाचार-प्रदीप' नामक संस्कृत भाषा में विस्तृत ग्रंथ लिखा[2]। इनका समय विक्रम की १५वीं शती माना जाता है। डा० विन्टरनिट्ज़ ने इनका स्वर्गारोहण लगभग १४६४ ई० माना है।[3] ज्ञानार्णव की प्रशस्ति के अनुसार इन्होंने अपनी लीला मात्र से शास्त्रसमुद्र को भली प्रकार बढ़ाया।[4] वैसे १९वीं शती में सकलकीर्ति नामक एक दूसरे भट्टारक विद्वान् भी हुए हैं। किन्तु १५वीं शती के उपर्युक्त भट्टारक सकलकीर्ति अद्भुत प्रतिभा के धनी और बहुशास्त्रवेत्ता थे। ज्ञानार्णव की ही प्रशस्ति के अनुसार आप भट्टारक पद पर आरूढ़ होते ही बड़ी आसानी से जैन साहित्य भंडार की श्रीवृद्धि में लग गये थे।[5] इनकी लेखनी बहुमुखी रही है, अतः इन्होंने प्रायः सभी विषयों पर

१. वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रशस्ति, गाथा ५४०-५४४

२. प्रकाशक, आचार्य श्री विमलसागर संघ, c/० रायसाहब नेमीचन्द्र जैन, बनारसी प्रेस, जलेसर (एटा) उ० प्र०, वि० सं० २०१८

३. ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, पृ० ५९२

४. प्रशस्ति संग्रह—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, जैन सिद्धान्त भवन आरा, १९४२, पृष्ठ ११९,१९६,१९७

५. ज्ञानार्णव, प्रशस्ति पाठ १४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ रचना की। संस्कृत, प्राकृत और राजस्थानी भाषा पर इनका समान अधिकार था। गुजरात और बागड़ आदि क्षेत्रों में जैनधर्म का काफी प्रचार प्रसार भी इन्होंने किया।

आचार्य सकलकीर्ति की संस्कृत और राजस्थानी भाषा में निम्नलिखित रचनाएँ प्राप्त होती हैं—

संस्कृत भाषा में रचित साहित्य—मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तरोपासकाचार, आदिपुराण, उत्तर पुराण, शान्तिनाथ चरित्र, वर्द्धमान चरित्र, मल्लिनाथ चरित्र यशोधर चरित्र, धन्यकुमार चरित्र, सुकुमाल चरित्र, सुदर्शन चरित्र, सद्भाषितावली, पार्श्वनाथ चरित्र, व्रतकथा कोष, नेमिजिन चरित्र, कर्मविपाक, तत्त्वार्थसारदीपक, सिद्धान्तसारदीपक, आगमसार, परमात्मराज स्तोत्र, सारचतुर्विंशतिका, श्रीपाल चरित्र, जम्बूस्वामी चरित्र, द्वादशानुप्रेक्षा। **पूजाग्रन्थ**—अष्टान्हिका पूजा, सोलहकारण पूजा, गणधर वलय पूजा। **राजस्थानी कृतियाँ**—आराधना प्रतिबोधसार, नेमीश्वर गीत, मुक्तावलि गीत, णमोकारफल गीत, सोलहकारण रास, सारसिखामणि रास, शांतिनाथ फागु।

आचार्य सकलकीर्ति ने अपने मूलाचार प्रदीप में प्रायः उन सभी विषयों का विस्तृत वर्णन किया है, जिनका प्रतिपादन आचार्य वट्टकेर ने अपने मूलाचार में किया। मूलाचार के आधार पर लिखे जाने पर भी आचार्य सकलकीर्ति का तीन हजार से भी अधिक संस्कृत पद्यों से युक्त यह ग्रन्थ स्वतन्त्र कृति जैसा लगता है। इसमें कहा है कि मैं (आचार्य सकलकीर्ति) इष्ट देवों को नमन करके, शुभ और श्रेष्ठ अर्थों को जानकर मूलाचार आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों में कहे हुए आचारों में प्रवृत्ति हेतु तथा स्वयं का और मुनियों का हित करने के लिए शुद्धाचार स्वरूप का प्ररूपक मूलाचार प्रदीप नामक महाग्रन्थ की रचना करता हूँ।[1]

मूलाचार प्रदीप बारह अधिकारों में विभक्त है, इनका विषय परिचय इस प्रकार है—

प्रथम अधिकार में मूलगुणों का स्वरूप, भेद तथा पाँच महाव्रतों का स्वरूप।

द्वितीय अधिकार में पाँच समितियों का विवेचन किया गया है।

---

१. इष्टदेवान् प्रणम्येति विज्ञायार्थान् परान् शुभान्।
मूलाचारादि सद्ग्रंथानामाचार प्रवर्तये।।
महाग्रंथं करिष्येऽहं श्री मूलाचार दीपकम्।
हिताय मे यतिनां च शुद्धाचारार्थदेशकम्।।–मूलाचार प्रदीप १।३७, ३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अधिकार में पंचेन्द्रिय निरोध, कृतिकर्म, चितिकर्म, विनयकर्म आदि का विस्तृत विवेचन तथा मुनियों की वन्दना, पार्श्वस्थादि मुनियों का स्वरूप प्रतिपादित है।

चतुर्थ अधिकार में षडावश्यकों का स्वरूप, केशलुञ्च, आसिका, निषिद्धिका आदि विषयों का विवेचन है।

पंचम अधिकार में सम्यग्दर्शन तथा उसके अंगों का विवेचन है।

षष्ठ अधिकार में आचार के पाँच भेद, तप, गुप्ति आदि विषयों का भेदोपभेद पूर्वक कथन किया गया है।

सप्तम अधिकार में मुनियों एवं आर्यिकाओं की समाचार नीति का भेद-प्रभेद पूर्वक वर्णन तथा एकल विहार के दोषों का कथन है।

अष्टम अधिकार में अनगार की दस भावनाओं रूप शुद्धियों का विवेचन है।

नवम अधिकार में आहार शुद्धि, आहार के दोष, पिच्छी का स्वरूप, समाधि-मरण की विधि आदि विषयों का प्रतिपादन है।

दशम अधिकार में समाधिमरण की विस्तृत विधि तथा मरण के अन्यान्य भेदों का प्रतिपादन है।

एकादश अधिकार में उत्तरगुणों एवं शीलों के भेदोपभेद पूर्वक उनका स्वरूप प्रतिपादित है।

बारहवें अन्तिम अधिकार में अनुप्रेक्षा, परिषहजय और ऋद्धियों का भेदोपभेद पूर्वक स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि मूलाचार के पर्याप्ति नामक बारहवें अधिकार के विषयों का मूलाचार प्रदीप में विवेचन नहीं किया गया।

मूलाचार के तीसरे व्याख्याकार आचार्य मेघचन्द्र हैं। इन्होंने इस पर कर्नाटक 'मूलाचारसद्वृत्ति' की रचना की।

चतुर्थ कर्नाटक टीका 'मुनिजन चिन्तामणि' नाम से मिलती है, इसमें मूलाचार को कुन्दकुन्दाचार्य की रचना बताया है।

एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल (कलकत्ता) से अपने पुस्तकालय के हस्तलिखित ग्रन्थों की "लिस्ट आफ जैना एम० एस० एस०" को (ग्रन्थ क्रमाङ्क १५२१) देखने से ज्ञात होता है कि मेधावी कवि द्वारा रचित भी एक अन्य 'मूलाचार टीका' है। वैसे १६ वीं शती के मेधावी कवि द्वारा लिखित धर्मसंग्रह–श्रावकाचार प्रसिद्ध ही है। इन्हीं कवि का उक्त टीका ग्रन्थ भी सम्भव है। पर इसके विषय में अन्यत्र कहीं भी अभी तक उल्लेख देखने में नहीं आया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त टीकाओं के अतिरिक्त वीरनन्दि ने मूलाचार के आधार पर 'आचारसार' ग्रन्थ की रचना की है। पं० आशाधर ने 'अनगार धर्मामृत' नामक ग्रन्थ की रचना में इसी का आधार लिया है। इस प्रकार अन्यान्य अनेक ग्रन्थ मूलाचार के आधार पर लिखे गये, जिनमें आज कुछ प्रकाशित हैं तो अनेक अप्रकाशित तथा अनुपलब्ध भी हैं।

मूलाचार की गाथा संख्या

प्रस्तुत अध्ययन में मूलाचार की दो मुद्रित प्रतियों का विशेष उपयोग किया गया है। प्रथम दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों से मूलाचार की तुलना के लिए प्रास्ताविक में अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला गिरगाँव, बम्बई से वी० नि० सं० २४४६ में प्रकाशित मूलाचार का उपयोग किया गया है। इसमें ग्रन्थकार का नाम आचार्य वट्टकेर उल्लिखित है। इसमें प्रत्येक अधिकारों की गाथा संख्या अलग-अलग न देकर बारहों अधिकारों की संख्या क्रमशः दी गई है, जिनमें कुल १२४३ गाथाएँ हैं।

मूलाचार की द्वितीय मुद्रित प्रति माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई से वि० सं० १९७७ एवं १९८० में दो भागों में अलग-अलग प्रकाशित हैं। विषयगत अध्ययन में इनका ही विशेष उपयोग किया गया है। इसमें कुल १२५२ गाथाएँ हैं। प्रथम चार अधिकारों को छोड़ शेष आठ अधिकारों की गाथाएँ प्रत्येक में अलग-अलग संख्या में दी गई हैं। प्रथम चार अधिकारों की गाथाएँ क्रमशः एक साथ दी गई हैं। इस ग्रन्थ के आरम्भ में एवं कुछ अधिकारों के अन्त में ग्रन्थकर्ता का नाम आचार्य वट्टकेर उल्लिखित है। वृत्ति की अन्तिम प्रशस्ति के बाद एक पुष्पिका द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द विरचित भी सूचित किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द मानी जाने वाली मूलाचार की तृतीय मुद्रितप्रति का भी यत्र-तत्र उपयोग किया गया है। इसके आरम्भ में और ग्रन्थ समाप्ति में कर्ता का नाम आचार्य कुन्दकुन्द दिया गया है। वी० नि० सं० २४८४ में आचार्य शान्तिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था एवं ग्रन्थ प्रकाशन समिति फलटण से यह प्रकाशित किया गया है। इसका भाषानुवाद पं० जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले ने किया है जो कि आचार्य वसुनन्दि की वृत्ति के आधार पर किया गया मालूम पड़ता है। इस मूलाचार तथा उपर्युक्त मूलाचार के प्रतिपाद्य विषय समान हैं। अधिकारों के नाम और संख्या सब समान हैं। किन्तु अधिकारों के क्रम में थोड़ा अन्तर है। साथ ही इसमें गाथाएँ भी कुछ अधिक हैं। दोनों प्रकार की प्रतियों का अधिकार-क्रम और गाथा संख्या निम्नलिखित है :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार		आचार्य कुन्दकुन्दकृत माना जाने वाला मूलाचार	
अधिकार	**गाथा संख्या**	**अधिकार**	**गाथा संख्या**
१. मूलगुण	३६	मूलगुण	४५
२. वृहत् प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव	७१	वृहत् प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव	१०२
३. संक्षेपप्रत्याख्यान	१४	संक्षेपप्रत्याख्यान	१३
४. समाचार	७६	समाचार	७७
५. पंचाचार	२२२	पंचाचार	२५१
६. पिण्डशुद्धि	८२	पिण्डशुद्धि	७८
७. षडावश्यक	१९३	षडावश्यक	२१८
८. द्वादशानुप्रेक्षा	७६	अनगारभावना	१२८
९. अनगारभावना	१२५	द्वादशानुप्रेक्षा	७८
१०. समयसार	१२४	समयसार	१६०
११. शीलगुण	२६	पर्याप्ति	२३७
२२. पर्याप्ति	२०६	शीलगुण	२७

इस तरह दोनों प्रकार की प्रतियों की गाथा संख्या में अन्तर तो है ही, अधिकारों के क्रम में भी अन्तर स्पष्ट हैं। वट्टकेरकृत मूलाचार की अपेक्षा कुन्द-कुन्दकृत कहे जाने वाले इस मूलाचार में निम्नलिखित गाथाएँ अधिक हैं : प्रथम अधिकार में गाथाओं की संख्या कुन्द० मूलाचार में अधिक दृष्टिगोचर होती है किन्तु १८, ३९, ४०, एवं ४३ वीं गाथाओं के अतिरिक्त अन्य गाथाएँ वट्ट० मूला-चार के पिण्डशुद्धि अधिकार में आ गई हैं। कुन्द० मूलाचार के द्वितीय अधिकार में १९, २०, २१, २२, २३, २४, ५५, ६०, ६३, ७०, ८८, ८९ एवं ९६ वीं गाथाएँ अधिक हैं। इसी तरह तृतीय अधिकार में ५, १२, १३ वीं गाथाएँ, चतुर्थ में ६५ एवं ७४ वीं गाथाएँ, पंचम में १९, २२, २३, २४, २५, ४१, ४२, ४३, ४४, ६१, ६२, ८३, ९०, १०१, १०७, १२०, १७१, १९९, २०६, २३९, २४३, २४७, २४८, २४९' २५० वीं गाथाएँ अधिक हैं। पिण्ड-शुद्धि नामक षष्ठ अध्याय में गाथाएँ इसलिए कम हैं क्योंकि इसकी कुछ गाथाएँ प्रथम अधिकार में ग्रहण की गई हैं। कुन्द० मूलाचार के सप्तम अधिकार में १४, १६, ५४, १०४, १०७, १२२, १२३, १४६, १९१ वीं गाथाएँ अधिक हैं। इसी का आठवाँ अनगारभावना अधिकार है जबकि वट्ट० मूलाचार का नवम अधिकार है। इसकी तीन गाथाएँ अधिक हैं। कुन्द० मूलाचार का नवम द्वादशानुप्रेक्षाधिकार है जबकि वट्ट० मूलाचार के इसी अधिकार का क्रम आठवाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसमें २ और १२६ वीं गाथा अधिक है। दशम अधिकार में ३६, ११६, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४५, १४६, १४७, १४८, २४९, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८वीं गाथाएँ अधिक हैं। इसका ग्यारहवां पर्याप्ति अधिकार है जब कि वट्ट० मूलाचार का यह बारहवाँ अधिकार है। इसमें ४, ८२, ९६, १२४, १५६, १५७, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६६, १६७, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, २२५ वीं गाथाएँ अधिक हैं। कुन्द० मूलाचार का बारहवां जो कि वट्ट० मूलाचार का ग्यारहवाँ शील गुणाधिकार है। इसमें २७ वीं गाथा अधिक है।

गाथा संख्या ८।४०, ५।१८४, १२।१९८ वट्टकेरकृत मूलाचार की गाथाएँ कुन्द० मूलाचार में नहीं पायी जातीं।

वट्ट० मूलाचार में २।४१, ४।१८०, ५।२४, ४।२५, ५।२६, ५।२७, ५।२९ तवं ८।६२ वीं गाथाएँ क्रमशः ३।१०९, १०।६१, १२।१६६, १२।१६७, १२।१६८, १२।१६९, १०।६३ एवं ११।५ संख्या पर पुनरावृत्ति मिलती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द और मूलाचार

आचार्य कुन्दकुन्द श्रमण परम्परा के प्रवर्तक ही नहीं अपितु अध्यात्म विद्या की उस अविच्छिन्न धारा के जनक भी हैं, जिनके कारण भारतीय श्रमण-परम्परा का यश सारे लोक में विश्रुत हुआ। ये मूलसंघ के प्रधान आचार्य हैं। समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय—(नाटकत्रयी) नियमसार, अष्ट-पाहुड, द्वादशानुप्रेक्षा सिद्धयभक्त्यादि संग्रह, रयणसार एवं कुरलकाव्य आदि आपकी सुप्रसिद्ध कृतियाँ हैं। जहाँ एक ओर मूलाचार और आचार्य कुन्दकुन्द की इन कृतियों की कुछ गाथाओं में समानता हैं। तो वहीं दूसरी ओर कुछ विषयों में भिन्नता भी है। जैसे[1] –

आ० कुन्दकुन्द के ग्रन्थ	गाथासंख्या	मूलाचार गाथासंख्या[2]
नियमसार	६२,६५,९९,१००,१०१	१२,१५,४५,४६,४७,
	१०२,१०३,१०४,१०५	४८,३९,४२,१०४,३३२,
	६९,७०,१४२,१२६,९	३३३,५२५,५२६,२०२

१. अनेकान्त, वर्ष १२, अंक १२, मई १९५४, पृ० ३६२

२. मूलाचार, अनन्त कीर्ति ग्रन्थमाला, गिरगाँव, बम्बई वी. नि. सं. २४४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रपाहुड	७	२०१
समयसार	१३	२०३
वा० अणु०	३५,१४,२,२३,३६ १,२,२२ ।	२२६,६९९,७०१,७०२, ७०९,६९१,६९२ ।
पंचास्तिकाय	७५,१४८	२३१,९६६ ।
दर्शन पाहुड	१७	८४१
बोधपाहुड	३५,३३	११९१,११९७ ।

उपर्युक्त गाथाओं के अतिरिक्त यत्र-तत्र अनेक समानताएँ दोनों में पाई जाती हैं, जैसे--

मंगलाचरणगत समानता : दोनों में इस विषय में कई समानताएँ हैं। दोनों ही अधिकारों के प्रारम्भ में निम्नलिखित रूप में मंगलाचरण करते हैं--

मूलाचार—एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥३।१।
द० पा०—काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।१।
मूलाचार—काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।७।१।
लि० पा०—काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।१।
मूलाचार—सिद्धे णमंसिदूण य झाणुत्तमखविददीह संसारे ।
दह दह दो य जिणे दह दो अणुपेहणं बोच्छं ॥८।१।
वा० अणु०—णमिऊण सव्वसिद्धे झाणुत्तमखविददीहसंसारे ।
दस दस दो दो य जिणे दस दो अणुपेहणं बोच्छे ॥१।

विषय कथन की प्रतिज्ञा : मूलाचार के प्रत्येक अधिकारों के आरम्भ में विषय प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की गई है। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने ग्रन्थों में विषय प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की है, जैसे--

मूलाचार—इहपरलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि ।१।
चा० पा०—मुक्खाराहणहेऊं चारित्तं पाहुडं बोच्छे ।२।
मूलाचार—पणमिय सिरसा वोच्छं समासदो पिंडसुद्धी दु ।६।१।
पं०—एसो पणमिय सिरसा समयमियं सुणह बोच्छामि ।२।

विषयगत समानता : मूलाचार में पाँच व्रतों की पाँच-पाँच भावनाओं का विवेचन किया गया है। उसी तरह चारित्र पाहुड में भी कुछ परिवर्तन के साथ पाई जाती है, जैसे--

मूलाचार—महिलालोयण-पुव्वरदिसरण संसत्तवसधि-विकहाहिं ।
पणिदरसेहिं य विरदी य भावणा पंच बह्माह्मि ॥५।१४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चा० पा०—महिलालोयण पुव्वरइसरण–संसत्तवसहि–विकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओभावणा पंचावि तुरियम्मि ।।३५।।

अन्य समानताएँ :

मूलाचार—मग्गो मग्गफलं तिय दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं ।।५।५।
नियमसार—मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवायो तस्सफलं होइ णिव्वाणं ।।२।
मूलाचार—रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ।।५।५०।
समयसार—रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।।१५०।

उपसंहार विषयक समानता :

मूलाचार—एवं मए अभिथुदा अणगारा गारवेहिं उम्मुक्का ।
धरणिधरेहिं य महिया देंतु समाधिं च बोधिं च ।।९।१२५।
योगिभक्ति—एवं मएअभित्थुया अणयारा रागदोसपरिसुद्धा ।
संघस्स वरसमाहिं मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु ।।२२।
मूलाचार—तह सव्वलोगणाहा विमलगदिगदा पसीदंतु ।।८।७६।।
श्रुतभक्ति—सिग्घं मे सुदलाहं जिणवर वसहा पयच्छंतु ।।११।।

उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त मूलाचार की सबसे अधिक समानता नियमसार से है । जैसे मूलाचार के प्रथम अधिकार की गाथा संख्या ५ से १५ और नियमसार की गाथा संख्या ५६ से ६५ तक समान हैं । मूलाचार के षडावश्यक अधिकार की गाथा संख्या २३ से ३२ तक नियमसार की गाथा संख्या १२५ से १३३ तक प्रायः समान है । अन्तर केवल इतना है कि इन गाथाओं का उत्तरार्द्ध एक सा होने से मूलाचार में दो गाथाओं के पश्चात् नहीं दिया गया । जबकि नियमसार की प्रत्येक गाथा में वह दिया हुआ है । आचार्य कुन्दकुन्द के एक ग्रन्थ की कोई-कोई ऐसी भी गाथाएँ हैं जो कि मूलाचार में भी उपलब्ध हैं तथा वे ही कुन्दकुन्द के अन्य दूसरे ग्रन्थों में भी पाई जाती हैं । जैसे—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणसमद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।

यह गाथा प्रवचनसार २।८०, नियमसार ४६ और भावपाहुड ६४ में पाई जाती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में असमानता :

उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि मूलाचार और कुन्दकुन्द द्वारा रचित ग्रन्थों में कुछ समानतायें अवश्य हैं किन्तु मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के गहन अध्येता विद्वान् मूलाचार को कुन्दकुन्द द्वारा रचित नहीं कह सकते। वैसे कुन्दकुन्द उसी मूलसंघ के प्रधान आचार्य थे जिस परम्परा में इनके पश्चात् आचार्य वट्टकेर हुए जिन्होंने उसी परम्परा के पोषक श्रमणों के लिए आचार-व्यवहार का एक सच्चा एवं सुव्यवस्थित संविधान के रूप में मूलाचार लिपिबद्ध किया, और मूलसंघ की अविच्छिन्न तथा उच्च परम्परा का साक्षात् दर्शन कराने वाले अपने ग्रन्थ का नाम मूलाचार रखा। वट्टकेर कुन्दकुन्द के पश्चात्वर्ती थे और दोनों एक ही परम्परा के पोषक रहे हैं। अतः मूलाचार में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का प्रभाव कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। और यह भी तथ्य है कि परम्परा से कुछ ऐसी श्रुत-सम्पदा विद्यमान थी जिसे बाद के प्रायः सभी आचार्यों ने यथायोग्य ग्रहण की होगी अतः कुछ साम्यता के आधार पर एक दूसरे के कर्तृत्व का खण्डन करना या किसी ग्रन्थ को संग्रह ग्रन्थ कहना योग्य नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं और मूलाचार के अध्ययन से दोनों में निम्न-लिखित अन्तर स्पष्ट दिखलाई देते हैं। जैसे—

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा में जहाँ प्रांजलता प्रौढ़ता और प्रवाह का दर्शन होता है वहाँ मूलाचार में कुन्दकुन्दाचार्य जैसी भाषा का प्रयोग कहीं-कहीं ही दिखाई देता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय उच्च आध्यात्मिकता है। भेद-प्रभेदों की विस्तृत गणना, स्वर्ग-नरक का विस्तृत वर्णन, आयु आदि अर्थात् प्रथमानुयोग, करणानुयोग के विषयों के दर्शन शायद ही कहीं दिखाई दें। किन्तु मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार में इन्हीं सबका विस्तृत वर्णन है।

मूलाचार के समयसाराधिकार की आचार्य कुन्दकुन्द विरचित समयसार में छाया तक दिखाई नहीं पड़ती। दोनों के प्रतिपाद्य विषय बहुत कुछ भिन्न हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के सूत्रप्राभृत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने स्त्रीदीक्षा का स्पष्ट समर्थन नहीं किया अपितु यही कहा है कि उनके शरीरावयवों में कुछ ऐसे दोष होते हैं जिनके कारण उनको दीक्षा नहीं दी जा सकती।[1] जबकि मूलाचार में आर्यिकाओं की आचार-पद्धति का अच्छा विवेचन

१. लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहि कक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा ।।—लिंग पाहुड २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया गया है। आर्यिका के लिए 'विरती' तथा मुनि के लिए 'विरत' शब्द का भी प्रयोग किया है।[१] मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविक रूप चतुर्विध संघ का उल्लेख है।[२] इसमें आर्यिका संघ का भी स्पष्ट उल्लेख है। आर्यिकाओं के अनेक गुणों से संपन्न गणधरों आदि का वर्णन है जो आर्यिकाओं को दीक्षा और उपदेश देते थे। इस प्रकार इसमें स्त्री दीक्षा का मात्र समर्थन ही नहीं अपितु उनके आचार का प्रतिपादन भी मिलता है। जो दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता।

कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार के तृतीय चारित्राधिकार में श्रमणाचार विषयक संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण विवेचन किया ही है अतः पुनः अपनी धारा को मोड़ देकर मूलाचार की अलग से रचना की संभावना भी उचित नहीं जान पड़ती। क्योंकि मूलाचार के कुछ स्थलों पर कुन्दकुन्द सम्मत विषय नहीं मिलते। जैसे—मूलाचारकार ने एषणा, निक्षेपादान, ईर्या—ये तीन समितियाँ तथा मनोगुप्ति और आलोक्यभोजन—ये पाँच अहिंसा महाव्रत की भावनायें मानी हैं।[३] जबकि कुन्दकुन्द ने चारित्रपाहुड में वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या, आदान-निक्षेपण एवं एषणा समिति—ये पाँच भावनायें मानी हैं।[४] इसमें वचन-गुप्ति भी स्वीकृत की है तथा आलोक्य भोजन को ही एषणा समिति का अंग माना गया है। जबकि मूलाचार में वचनगुप्ति स्वीकृत नहीं की तथा एषणा समिति और आलोक्यभोजन को अलग-अलग माना है। अन्य महाव्रतों की भावनाओं में भी अल्पाधिक अन्तर है।

इस प्रकार दोनों में अन्यत्र भी अल्पाधिक अन्तर दिखाई देता है। वैसे ये अन्तर सैद्धान्तिक मतभेद में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। फिर भी कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य एक ही विषय को दो जगह भिन्न-भिन्न क्यों कहेंगे? अतः उपर्युक्त असमानताओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूलाचार कुन्दकुन्द की रचना नहीं हो सकती।

---

१. णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चिट्ठेदुं—मूलाचार ४.१८०, १०.६१
२. वही ५.६६
३. एषणाणिक्खेवादा णिरिया समिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणंपि य अहिंसाए भावणा पंच ।।—मूलाचार ५।१४०
४. वयगुत्ती मणगुत्ती इरिया समिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होंति ।।—चारित्त पाहुड ३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार और षट्खण्डागम की धवला टीका :

आचार्य पुष्पदन्त और भूतबली (ई० प्रथम शती) कृत षट्खण्डागम-सूत्र शौरसेनी जैनागम का महत्त्वपूर्ण महान् ग्रन्थ है। इस पर आचार्य वीरसेन (ई० की ९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) कृत धवला टीका का जैनसाहित्य में अद्वितीय स्थान है। यह धवला टीका सोलह खण्डों में प्रकाशित हो चुकी है। आचार्य वीरसेन ने अपनी धवली टीका में मूल ग्रन्थ के विषय कथन का विस्तृत और स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। इस टीका की अनेक विशेषताओं में एक यह भी है कि आचार्य वीरसेन ने मूलग्रन्थ के विषय प्रतिपादन हेतु अपने से पूर्व अनेक आचार्यों और उनके ग्रन्थों के तद्विषयक गाथाओं आदि प्रमाणों को 'भणितं' 'उक्तं च' आदि शब्दों के उपयोग द्वारा तथा कहीं-कहीं ग्रन्थनामोल्लेख पूर्वक उद्धृत किया है। यह उनकी साहित्यिक सच्चाई तथा पक्षपात रहित गहन एवं विशाल अध्ययन-मनन का परिचायक है। इसके आधार पर जहाँ जैन साहित्य के अनेक आचार्यों तथा उनके उपलब्ध-अनुपलब्ध साहित्य का परिचय प्राप्त हुआ है वहाँ इतिहास की दृष्टि से उनके समयादि निर्धारण की अनेक गुत्थियाँ भी सुलझी हैं।

आचार्य वीरसेन ने धवला टीका में प्रमाण के रूप में तद्विषयक मूलाचार की अनेक गाथायें उसी रूप में अथवा कुछ शब्दान्तरों में 'उक्तं च' शब्द द्वारा तथा मूलाचार को आचाराङ्ग नाम से अभिहित कर उद्धृत की हैं।[1] इनमें से कुछ गाथाओं का विवरण प्रस्तुत है—

मूलाचार		धवला टीका खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, जीवस्थान सत्प्ररूपणा[2]	
अध्याय	गाथा संख्या	गाथा संख्या	पृष्ठ
८	१५	१८	३५
४	५८	३१	५०
३	१	६५	७४
१०	१२१	७०	१००
१०	१२२	७१	१००
१२	५०	१३४	२३७

१. षट्खण्डागम धवलाटीका पुस्तक ४ पृष्ठ ३१६।

२. षट्खण्डागम धवला टीका, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से प्रकाशित संशोधित संस्करण, सन् १९७३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५	२३ (कुन्द० मूला०)	१४६	२७२
१२	१६३	१४७	२७३
५	९-१२	१४९	२७४
५	१३	१५०	२७५
५	१४	१५१	,,
५	१५	१५२	,,
५	१६	१५३	,,
	पुस्तक ४ जीवस्थान कालानुगम निर्देश प्ररूपणा[1]		
५	२०२	६	३१६
	पुस्तक ९ वेदनाखण्ड कृति अनुयोगद्वार[2]		
७	१३	१	४
१२	१०९	८	२५
१२	११०	९	२५
१२	१०७	१०	२६
७	१०४	६४	१८९
१०	१२१, १२२	७०, ७१	१९७
४	१७१	११५	२५९
५	८९	११६	,,
१२	७९	१२७	३००
	पुस्तक १२ वेदना खण्ड वेदनावेदन विधान[3]		
११	२३.	२	३१९
	पुस्तक १४ वर्गणा खण्ड बंधन अनुयोगद्वार[4]		
५	१३१	३	९१
५	१३२	४	,,

मूलाचार और तिलोय-पण्णत्ती

आचार्य यतिवृषभ द्वारा रचित तिलोय-पण्णत्ती (त्रिलोक-प्रज्ञप्ति) लोकज्ञान-सिद्धान्त विषयक प्राकृत भाषा में निबद्ध एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ

---

१. षट्खण्डागम धवलाटीका १.५.१ पुस्तक ४, प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचंद जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती सन् १९४२

२. वही ४.१.२ पुस्तक ९.

३. वही ४.२.१० पुस्तक १२.

४. वही ५.६.९३ पुस्तक १४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। पं० नाथूराम प्रेमी ने इसका समय वि० सं० ५३५ और ६६६ (ई० सन् ४७८-६०९) माना है। क्योंकि जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने अपने विशेषावश्यक-भाष्य में जो कि वि० सं० ६६६ की रचना है, आदेश-कषाय का स्वरूप बताकर आचार्य यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र-निर्दिष्ट स्वरूप का 'केचित्' कहकर उल्लेख किया है।[1]

मूलाचार की प्राचीनता सिद्ध करने में तिलोय-पण्णत्ती भी एक महत्त्वपूर्ण आधार है। इसमें "मूलाआरे इरिया एवं निउणं णिरूवेंति"—यह कहकर मूलाचार ग्रन्थ के मत का स्पष्ट उल्लेख किया है।[2] यहाँ आचार्य यतिवृषभ ने सौधर्म और ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर तथा लांतव और कापिष्ठ इन चार युगलों की इन्द्र-देवियों की आयु तथा इससे आगे आरण युगल तक की देवियों की आयु के प्रमाण स्वरूप मूलाचार का जो उल्लेख किया है वह विषय मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार में स्पष्ट आया है।[3] इसी अधिकार में पर्याप्ति, चतुर्गति के जीवों का विविध वर्णन, योग, वेद, बंध, द्वीप, समुद्र, योनि आदि लगभग बीस विषयों का वर्णन है। इन विषयों में बन्धादि विषयों को छोड़कर प्रायः सभी विषय तिलोय-पण्णत्ति में यथास्थान उल्लिखित हैं। इतना ही नहीं, अपितु कितनी ही गाथायें दोनों में साधारण शब्द परिवर्तन के साथ ज्यों की त्यों पायी जाती हैं।[4] उदाहरणस्वरूप दोनों की कुछ गाथायें प्रस्तुत हैं।

मूलाचार	केसणहमंसुलोमा चम्मवसारुहिरमुत्तपुरिसं वा।
	णेवट्ठी णेव सिरा देवाण सरीरसंठाणे ॥१२।११॥
ति० प०	अट्ठिसिरारुहिरवसामुत्तपुरीसाणि केसलोमाइं।
	चम्मडमंसप्पहुदी ण होई देवाण संघडणे ॥३।२०८॥

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १०।

२. आरणदुगपरियंतं वड्ढंते पंचपल्लाइं।
'मूलाआरे इरिया' एवं णिउणं णिरूवेंति॥ तिलोय-पण्णत्ति, भाग २, ८।५३२, पृ० ८८३

३. पलिदोवमाणि पंचयसत्तारसपंचवीस पणतीसं।
चउसु जुगलेसु आऊ णादव्वा इंददेवीणं॥—वही, ८।५३१
पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्णपण्णाओ॥—मूलाचार १२।८०

४. इन गाथाओं की सूची के लिए देखिए—तिलोय पण्णत्ति की प्रस्तावना, भाग २, पृ० ४२-४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार	वालेसु य दाढीसु य पक्खीसु य जलचरेसु उववण्णा । संखेज्जआउठिदिया पुणेवि णिरयावहा होंति ।।१२।११५।।
ति० प०	वालेसुं दाढीसुं पक्खीसुं जलचरेसु जाऊणं । संखेज्जाउगजुत्ता तेई णिरएसु वच्चंति ।।२।२९०।।
मूलाचार	आईसाणा देवा चएत्तु एइंदिएत्त णे भज्जा । तिरियत्तमाणुसत्ते भयणिज्जा जाव सहसारा ।।१२।१३६।।
ति० प०	आईसाणा देवा जणणा एइंदिएसु भजिदव्वा । उवरि सहसरंतं ते भज्जा सण्णितिरियमणुवत्ते ।।८।६८०।।
मूलाचार	तत्तो परं तु णियमा देवावि अणंतरे भवे सव्वे । उववज्जंति मणुस्से ण तेसिं तिरिएसु उववादो ।।१२।१३७।।
ति० प०	तत्तो उवरिमदेवा सव्वे सुक्काभिधानलेस्साए । उप्पज्जंति मणुस्से णत्थि तिरिक्खेसु उववादो ।।८।६८१।।

इसी प्रकार मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार की कुछ और भी गाथायें तिलोय-पण्णत्ती की गाथाओं से मिलती हैं।[1] पर्याप्ति अधिकार के अतिरिक्त अन्य अधिकारों की भी गाथायें कुछ परिवर्तन के साथ तिलोयपण्णत्ति में उपलब्ध हैं।[2]

मूलाचार और भगवती आराधना

आचार्य शिवार्य (प्रथम शती) द्वारा प्रणीत यह एक मुनि-आचार विषयक महत्त्वपूर्ण एवं महान् ग्रन्थ है। भगवती आराधना जैन परम्परा के अन्तर्गत यापनीय संघ का ग्रन्थ कहा जाता है। मूलाचार और भगवती आराधना में अनेक गाथायें ज्यों की त्यों उपलब्ध हैं, जैसे मूलाचार में उल्लिखित गाथा संख्या ५६, ११९, १६३, १६४, २३७, २३९, २४५, २४६, २६९, २७७, २९५, २९६, २९९, ३००, ३०२, ३०७, ३०८, ३१४, ३१५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३३, ३३४, ३३६, ३३७, ३३८, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४६, ३५३, ३५६, ३५८, ३६५, ३६९, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६ ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३९१, ३९२, ३९६, ४००, ४०१, ६९२, ७०२, ९००, ९०७, ९०८, ९४०, ९६९, १०३० ये गाथायें क्रमशः भगवती आराधना में निम्न क्रम में उल्लिखित हैं : ५४७,

१. मूलाचार की गाथा संख्या १२।१०, १२।९०, १३४, १३५ एवं तिलोय-पण्णत्ति की गाथा सं० ३।१२५, २०९, ८।५६५, ५६०, ५६१ प्रायः समान हैं।

२. मूलाचार ८।९-१२ तथा तिलोय पण्णत्ति २।११-१४ एवं मूलाचार ८।२२-२३ तथा तिलोय पण्णत्ति १।१३३-१३४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६६९, ४११, ४१२, १८२५, १८३५, १८४७, १८४८, २६०, ३४, ११८५, ११८६, ११७, ११८, ११९१, ११९२, ११९३, ११९४, ११९५, १२००, १२०१, १२०२, १२०३, ११४८, ११८८, ११८९, १२०५, १२०६, १२०७, १२१०, १२११, ७७०, १२१३, २०८, २१३, २१४, २३६, ११४, ११५, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२८, १२९, १३०, १३१, ३०५, ३०६, १७०३, १७१२, १७१३, १७१५, १६७०, ७७०, २८९, ८०, ७०, १०४, ५६२ ।

इस प्रकार मूलाचार और भगवती आराधना की अनेक गाथाएँ परस्पर ज्यों की त्यों मिलती हैं । किन्तु कई ऐसी भी गाथाएं हैं जो बहुत कम पाठभेद के साथ हैं । यथा—

मूलाचार अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिण्ड किरियम्मं ।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥१०।१८॥

भ० आ० आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किरियम्मे ।
वद जेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो ॥४२१॥

मूलाचार एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि ।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च ॥५।२०१।

भ० आ० एयग्गेण मणं रुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झादि ।
आणापायविवागं विचयं संठाणविचयं च ॥१७०८॥

इस प्रकार और भी अनेक गाथाएँ थोड़े बहुत पाठभेद के साथ दोनों ग्रन्थों में पाई जाती हैं । अन्य समान गाथाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

मूलाचार—११८, १६०, ३१६, ३१८, ३२५, ३३०, ३५२, ३७०, ३७१, ३८४, ३९४, ३९५, ३९७, ३९९, ६१८, ९७० । ये गाथायें भगवती-आराधना में क्रमशः निम्नलिखित गाथाओं के समान हैं—६८२, ४१०, ११९६, ११९७, ११९९, १२०४, २१५, ११६, ११७, १२७, ११८४, १७०२, १७०४, १७११, ५६१, १०७ ।

मूलाचार और सर्वार्थसिद्धि

आचार्य देवनन्दि-पूज्यपाद (ईसाकी छठी शती) ने अपने सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थ के अध्याय २ सूत्र ३२ पृष्ठ ३२४ एवं अध्याय २ सूत्र ३ पृष्ठ ७३६ में मूलाचार के पाँचवें अधिकार की गाथा संख्या क्रमशः २९ एवं ४७ उद्धृत की हैं ।[1]

१. सर्वार्थसिद्धि : द्वितीय-संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सम्पादक एवं अनुवादक पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार और गोम्मटसार

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (१०-११ वीं शती) द्वारा रचित गोम्मटसार जीवकाण्ड[1] में भी मूलाचार की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों मिलती हैं। यथा—२२१, २२३, २२६, ३२८, ३१५, ३१६, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३९, १०४०, ११०२, ११०३, ११४८, ११५१ ये मूलाचार की गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्ड में क्रमशः ११३, ११४, ८९, २२१, २२४, २२५, २५, ३६, ३७, ३८, ४०, ४१, ४२, ८१, ८२, ४२९, ४२६, पाई जाती हैं।

मूलाचार का गति-अगति विषयक वर्णन अमृतचन्द्राचार्य (१० वीं शती के उत्तरार्द्ध) विरचित तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ में अर्थतः ज्यों का त्यों पाया जाता है। यथा—मूलाचार की गाथा संख्या ११६४ एवं ११६५ की छायारूप तत्त्वार्थसार के २।१५४, २।१५७ में पाई जाती हैं।

मूलाचार और प्रभाचन्द्राचार्य

प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि महान् ग्रन्थों के लेखक प्रभाचन्द्राचार्य (११ वीं शती) ने अपने तत्त्वार्थवृत्तिपद विवरण (सर्वार्थसिद्धि व्याख्या) में मूलाचार के बारहवें पर्याप्ति अधिकार की ९३, १०७ तथा १११ वीं गाथायें उद्धृत की हैं।[2]

इसी प्रकार मूलाचार तथा उसकी गाथाओं का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में अन्यान्य ग्रन्थों में देखने को मिलता है।

मूलाचार तथा श्वेताम्बर ग्रन्थ

जैसा कि पहले कहा गया कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में श्रमणाचार विषयक विपुल साहित्य है। वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी भाषा के आगम साहित्य को तथा शौरसेनी प्राकृत भाषा के मूलाचार को स्पष्ट रूप में जैन धर्म की दोनों परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करने वाला माना है। अर्धमागधी आगमों में श्रमणाचार के जिन नियमों और उपनियमों को निबद्ध किया गया है तथा मूलाचार में श्रमण की जो आचार संहिता निबद्ध है उसकी तात्त्विक और आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। अहिंसा के जिस मूल धरातल पर श्रमणाचार का महाप्रासाद इस अर्धमागधी आगम साहित्य में निर्मित किया गया है, उसी अहिंसा के मूल धरातल पर मूलाचार में

१. अनेकान्त, वर्ष ३, किरण ४, पृष्ठ ३०१ (फरवरी १९४०)।

२. सर्वार्थसिद्धि : द्वितीय संस्करण परिशिष्ट संख्या–२. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित एवं पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणाचार का विशाल प्रासाद निर्मित हुआ है। अर्थात् दोनों की आधार भूमि एक ही है। मूलाचार की कई गाथाएँ उसी रूप में अथवा थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ श्वेताम्बर परम्परा के भी कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में पाई जाती हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अन्तिम रूप से यह कहना कठिन होगा कि अन्य ग्रन्थकारों ने मूलाचार की गाथाएँ अपने ग्रन्थों में समाविष्ट की हैं या मूलाचारकार ने अन्य ग्रन्थों से कुछ गाथाएँ लेकर अपने ग्रन्थ में समाविष्ट की हैं। किन्तु यह तथ्य है कि भगवान् महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा जब दो भागों में विभक्त हुई, तब परम्परा-भेद के पूर्व का समागत श्रुत दोनों परम्पराओं के आचार्यों मुनियों को कंठस्थ था। अतः उन्होंने सर्वमान्य प्रचलित गाथाओं आदि का अपने-अपने अभीष्ट विषय विवेचन के प्रसंग में उसका यथायोग्य स्थानों पर उपयोग किया। इससे मूलाचार की मौलिकता पर कोई असर नहीं पड़ता। यहाँ श्वेताम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों से मूलाचार की समानता प्रस्तुत है—

मूलाचार और आवश्यकनिर्युक्ति

श्वेताम्बर परम्परा के कुछ आगम ग्रन्थों पर आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ बनाईं। इन्हीं निर्युक्तियों में से आवश्यक निर्युक्ति और मूलाचार के षडावश्यकाधिकार में कई समान गाथाएँ पाई जाती हैं।[1] उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

मूलाचार	रागद्दोसकसाये य इंदियाणि य पंच य। परीसहे उवसग्गे णासयंतो णमोऽरिहा ।।७।३।।
आव० नि०	रागद्दोसकसाए इंदिआणि आ पच वि। परीसहे उवसग्गे नासयंतो नमोऽरिहा ।।९१८।।
मूलाचार	दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठ कम्महिं। सिदे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ ।।७।६।।
आव० नि०	दीहकालरयं जंतू कम्मंसेसियमट्ठहा। सिअधंतंति सिद्धस्स सिद्धत्तमुपजायइ ।।९५३।।
मूलाचार	बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे। उपदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि ।। ७।१०।।
आव० नि०	बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहेहिं। तं उवइसंति जम्हा उवझाया तेण वुच्चंति ।।९९७।

---

१. अनेकान्त, वर्ष २, किरण, ५, १ मार्च १९३९, पृ० ३२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी तरह मूलाचार की ५१२, ५१७, १२५, ५१४, ५२५, ५२६, ५३०, ५३१, वीं गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति में क्रमशः १००२, ८७, ६६६, ९२६, ७९७, ७९८, ७९९, ८०१ पर समान या कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। किन्तु मूलाचार की गाथा संख्या ७।२५ का उत्तरार्ध आवश्यक निर्युक्ति की गाथा संख्या ७९८ के उत्तरार्ध से नहीं मिलता, क्योंकि यह कुन्दकुन्द के नियमसार गाथा संख्या १२८ के पूर्वार्ध के समान है। मूलाचार की ७।२४,२५ वीं गाथाएँ नियमसार में १२७-१२६ पर हैं। पं० सुखलाल जी सघवी ने 'सामायिक प्रतिक्रमणनुं रहस्य' नामक अपनी पुस्तक में तथा दर्शन और चिन्तन ग्रन्थ के खण्ड २ पृष्ठ २०३ में मूलाचार के षडावश्यकाधिकार तथा आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं की परस्पर में समानता की सूची इस प्रकार दी है—

मूलाचार—५०५, ५२४, ५३८, ५१०, ५६०, ५६१, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७६, ५७७, ५७८, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५३९, ५४०, ५४१, ५४४, ५४६, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५९९, ६००, ६०१, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६१०, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१७, ६२१, ६२६, ६३२, ६३३, ६४४, ६४१, ६४२, ६४३, ६४५, ६४८, ६५६, ६६८, ६६९, ६७१, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७।

आवश्यकनिर्युक्ति—९२१, (१४९ भाष्य), ९५४, १०६९, १०७६, १०७७, १०६९, १०९३, १०९४, १०९५, १०९६, १०९७, ११०२, ११०३, १२१७, ११०५, ११०७, ११९१, ११०६, ११९३, ११९८, (लोगस्स १,७) १०५८, १०५७, १९५, १९७, १९९, २०१, २०२, १०५९, १०६०, १०६२, १०६१, १०६३, १०६४, १०६५, १०६६, १२००, १२०१, १२०२, १२०७, १२०८, १२०९, १२१०, १२११, १२१२, १२२५, १२३३, १२४७, १२३१, १२३२, १२५०, १२४३, १२४४, (२६३ भाष्य), १५१५ (२४८-२४९ भाष्य), २५०, २५१, १५८९, १४४७, १३५८, १५४६, १५४७, १५४१, १४७९, १४९८, १४९०, १४९२।

मूलाचार और पिण्डनिर्युक्ति

आवश्यकनिर्युक्ति के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति (आ० भद्रबाहु विरचित) और मूलाचार में परस्पर कुछ समान गाथायें थोड़े-बहुत पाठ-भेद के साथ पाई जाती हैं। जैसे—

मूलाचार

घादीदूदणिमित्ते आजीवे वणिवगे य तेगिछे।
कोधी माणी मायी लोही य हवंति दस एदे ।।६।२६।।
पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ।।६।२७।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्ति धाईदूयणिमित्ते आजीववणीमगे तिगिच्छा य ।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥४०८॥
पुव्वि पच्छा संथव विज्जामंते य चुन्न जोगे य ।
उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥४४६॥

मूलाचार आदंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीओ ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहारवोच्छेदो ॥६।६१॥
उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च ।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु ॥६।२॥

पिण्डनिर्युक्ति आयंके उवसग्गे तिरिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।
पाणिदया तवहेउं सरीरवोच्छेण णट्ठाए ॥
पिंडे उग्गमउप्पायणेसणा जोयणा पमाणं च ।
इंगालधूमकारणं अट्ठविहा पिण्डणिज्जुत्ती ॥६६६,१॥

उपर्युक्त गाथाओं के अतिरिक्त मूलाचार की गाथा संख्या ४२२, ४२३, ४८७, ३५०, ४७९, ४६२, पिण्डनिर्युक्ति में क्रमशः ९२, ९३, १०७, ६९२, ६६२, ५३०, गाथाएँ थोड़े-बहुत शब्द परिवर्तन के साथ समान मिलती हैं ।

कुछ निर्युक्तियों के साथ ही श्वेताम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में भी मूलाचार के समान गाथाएँ पाई जाती हैं । जीवसमास और आतुरप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में भी ऐसी ही कुछ समान गाथाएँ उपलब्ध हैं ।

मूलाचार और जीवसमास

जीवसमास नामक ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में निबद्ध है ।[1] इसके कर्ता अज्ञात हैं । इसमें २८६ गाथाएँ हैं । मूलाचार और जीवसमास दोनों की बहुत सी गाथाएँ समान हैं । भाषा आदि की दृष्टि से अल्पाधिक अन्तर के साथ निम्न गाथाएँ एक जैसी मिलती हैं ।

मूलाचार (पंचम पंचाचाराधिकार)—९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २१, २२, २४, २५, २६, २७, २८ ये गाथाएँ जीवसमास में क्रमशः २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९ ४०, ४१, ४२, ४३, ४४ संख्या में समान रूप से मिलती हैं । जैसे—

मूलाचार पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य ।
अय तंव तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥५।९॥

---

१. पंचाशकादि संग्रह—श्रीऋषभदेव केशरीमल जैन श्वे० संस्था रतलाम, १९२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवसमास	पुढवी य सक्करा वालुया य उवले सिला य सोणूसे । अयतंबतउयसीसय रुप्पसुवण्णे य वइरे य ॥२७॥
मूलाचार	कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुप्फफलं । गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य ॥५।१७॥
जीवसमास	कंदा मूला छल्ली कट्ठा पत्ता पवाल पुप्फफला । गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्वया चेव ॥३५॥
मूलाचार	एया य कोडिकोडी णवणवदीकोडिसदसहस्साइं । पण्णासं च सहस्सा संवग्गीणं कुलाण कोडीओ ॥५।२८॥
जीवसमास	एगा कोडाकोडी सत्ताणउई भवे सयसहस्सा । पन्नासं च सहस्सा कुलकोडीओ मुणेयव्वा ॥४४॥

उपर्युक्त गाथाओं में से मूलाचार की ५।१७ वीं गाथा में खंधं पाठ के स्थान पर जीवसमास में 'कट्ठा' पाठ है। मूलाचार की २४ वीं गाथा में 'बावीस' की जगह जीवसमास में 'बारस' पाठ है। मूलाचार की ५।२७ वीं गाथा में मनुष्यों के चौदह लाख करोड़ भेद की जगह जीवसमास गाथा ४३ में मनुष्यों के कुल भेद १२ लाख करोड़ निर्दिष्ट हैं। इसी से उनकी समस्त संख्या में भेद है। इसी प्रकार मूलाचार की २८ वीं गाथा में सभी कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी निन्यानवे लाख पचास हजार की जगह जीवसमास गाथा संख्या ४४ में एक कोड़ाकोड़ी सन्तानवे लाख पचास हजार की संख्या का उल्लेख है। इस प्रकार मूलाचार की उपर्युक्त अठारह गाथाओं में पृथ्वी, अप, तेज, वायु आदि का जो वर्णन किया है वह जीवसमास में भी प्रायः उसी क्रम से उपलब्ध होता है। दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है किन्तु जीवसमास की ३०, ३६ एवं ६५ आदि गाथाओं में पृथ्वीकाय आदि का जो विषय विवेचन मिलता है वह उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों में दिखाई नहीं पड़ता।[1]

मूलाचार और आतुरप्रत्याख्यान

श्वेताम्बर परम्परा के प्रकीर्णक ग्रन्थों में वीरभद्र महामुनि प्रणीत (संकलित) आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान) पयन्ना[2] में जीवन के अन्तिम भाग को सुधारने तथा आगे सद्गति प्राप्त करने की विधि का सुन्दर प्रतिपादन है। इसमें ७० गाथायें हैं। दस गाथाओं के बाद का कुछ भाग गद्य में है। आतुरप्रत्याख्यान की ७० गाथाओं में से ६० गाथायें मूलाचार के बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव नामक द्वितीय अधिकार से बिलकुल समान या अल्पाधिक अन्तर के साथ मिलती हैं। **जैसे—**

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग—४ पृष्ठ १६५.

२. देखिए, आराधनासार में संकलित आउरपच्चक्खाण पइण्णा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार द्वितीय अधिकार—३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५२, ५१; ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७८, ७९, ८०, ८२, ८३, ८५, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०४, १०५, १०६, तृतीय अधिकार—१०८, १०९, ११०, १११, ११२, ये गाथाएँ आतुरप्रत्याख्यान में क्रमशः गाथा संख्या १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ११, १२, १३, १४, १५ प्रायः समान पाई जाती हैं।

आतुरप्रत्याख्यान की गाथा संख्या १२, १४, १६, १७, १८, २०, २२, २४, २७-३३, ३५-३८, ४०-४५, ४७, ४९-५८, ६१-६३, ६५, ६६, ६८, ६९ लगभग ये ४५ गाथाएँ तो मूलाचार की गाथाओं से बिना किसी अन्तर के समान मिलती हैं। शेष गाथाओंमें अवश्य अल्पाधिक अन्तर है जैसे—

मूलाचार	बज्झंब्भंतरमुवहिं सरीराइं च भोयणं। मणेण वचि कायेण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥२।४०।
आतु० प्र०	बज्झं अब्भितरं उवहिं सरीराइ सभोयणं। मणसा वयकाएहिं सव्वभावेण वोसिरे ॥१९॥
मूलाचार	कंदप्पमाभिजोग्गं किब्विस सम्मोहमासुरत्तं च ।२।६३।
आतु० प्र०	कंदप्पदेवकिब्विसअभियोगा आसुरी य संमोहा ॥३९।
मूलाचार	वीरो जरमरणरिउ वीरो विण्णाणणाणसंपण्णो। लोगस्सुज्जोययरो जिणवरचंदो दिसदु बोधिं ॥२ १०६।
आतु० प्र०	धीरो जरमरणविऊ वीरो विन्नाणनाणसंपन्नो। लोग्गस्सुज्जोयगरो दिसउ खयं सव्व दुक्खाणं ॥७०।
मूलाचार	उड्ढमधो तिरियम्हिदुकदाणि-बालमरणाणि बहुगाणि ।२।७५।
आतु० प्र०	उड्ढमहे विरियंमिवि मयाणि जीवेण बालमरणाणि ॥४६।

श्वेताम्बर परम्परा के इन ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थों में मूलाचार के समान गाथायें, विषय, परम्परायें, शब्दावली तथा आचार, विचार और व्यवहार आदि का वर्णन मिलता है, जिन पर अलग से विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन और अनुसंधान अपेक्षित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार का कर्तृत्वविषयक विवाद :

प्राचीनकाल में साहित्य का सृजन लोकोपकार की भावना से प्रेरित होकर किया जाता था, अतः आत्मश्लाघा के भय से कुछ ग्रन्थकर्ता अपना पूरा परिचय देना उचित नहीं मानते थे। यही कारण है जैन साहित्य ही क्या अन्य भारतीय साहित्य जगत् में आज भी अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनका कर्तृत्वविषयक मतभेद आज भी विद्यमान है। जैन साहित्य जगत् में भी ऐसे ग्रन्थों की कमी नहीं है। मूलाचार इसका एक महान् उदाहरण भी है। इसके कर्तृत्व के विषय में विविध विद्वानों के मध्य अनेक मतभेद हैं। कुछ विद्वान् मूलाचार को वट्टकेराचार्यकृत मानते हैं तो कुछ कुन्दकुन्दाचार्यकृत और कुछ तो इसे संग्रहग्रन्थ ही मानते रहे। इस विषय में विभिन्न प्राचीन आचार्यों और आधुनिक विद्वानों के विभिन्न मतों को सुविधा की दृष्टि से तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। १—कुन्दकुन्दाचार्यकृत मानने वाले, २—संग्रहग्रन्थ मानने वाले, ३—वट्टकेराचार्यकृत मानने वाले।

कुन्दकुन्दाचार्यकृत मानने वाले आचार्य और विद्वान् : मूलाचार की कुछ टीकाओं पर आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित होने का उल्लेख किया गया है। तथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों की बहुत गाथायें मूलाचार में पाये जाने के कारण कुछ आचार्य और विद्वान् इसे कुन्दकुन्दाचार्यकृत ही मानने लगे हैं। मूलाचार की आचारवृत्ति समाप्ति की घोषणा के बाद भी एक पुष्पिका[1] द्वारा इसे कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत होने की सूचना के कारण भ्रमवश कुछ विद्वानों का झुकाव भी आचार्य कुन्दकुन्दकृत होने की ओर हो गया।

मूलाचार सद्वृत्ति नामक कर्नाटक टीका में मेघचन्द्राचार्य तथा मुनिजन चिन्तामणि नामक एक अन्य कर्नाटक टीका में इसे आचार्य कुन्दकुन्द की रचना होने का उल्लेख किया गया है।[2]

मूडबिद्री स्थित पं० लोकनाथ शास्त्री सरस्वती भण्डार (जैनमठ) की मूलाचार की ताड़पत्रीय प्रतिसंख्या ५६ के अन्त में आचार्य वसुनन्दी की टीका की समाप्ति में एक प्रशस्ति पद्य किया गया है जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द रचित होने

---

१. इति मूलाचारविवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।। मूलाचार भाग २, पृ० ३२४

२. कुन्दकुन्द मूलाचार (हिन्दी अनुवाद) की प्रस्तावना, पृ० १४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सूचना है।[1] इस पद्य के चतुर्थ चरण का आधा भाग त्रुटित है एवं दो-एक स्थल संदिग्ध हैं, तथापि इतना तो स्पष्ट लिखा है कि 'यह मूलाचार नामक शास्त्र आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ द्वारा उपदिष्ट है और वह परम्परा-प्रवाह से आकर आचार्य कुन्दकुन्द को प्राप्त हुआ। उसे दिव्यचारण ऋद्धि धारकों में अन्तिम आचार्य कुन्दकुन्द ने रचा। उसकी व्याख्या आचार्य वसुनन्दि ने की, उसमें प्रमाद-जन्य भूलों को शास्त्रवेत्ता संशोधन करके पढ़ें'।[2] इस पद्य के आशय से स्पष्ट है कि यह पद्य आचार्य वसुनन्दि का भी नहीं है अपितु किसी लिपिकार का प्रशस्तिपद्य है।

आधुनिक विद्वानों में स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तार[3], पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, क्षुल्लक सिद्धिसागर, क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी प्रभृति विद्वानोंने आचार्य कुन्दकुन्द अथवा एलाचार्य को ही वृत्तिकार—वट्टकेराचार्य माना है। इनके नाम के आधार पर प्राकृत व्याकरणादि से सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि कुन्दकुन्दाचार्य ने खण्डागम के तीन खण्डों पर 'परिकर्म वृत्ति' लिखी है। अतः वृत्तिकार से 'वट्टकेर' ऐसा नाम प्रचलन में आया। क्षुल्लक सिद्धिसागर ने लिखा है 'वट्टक या वट्ट' का अर्थ ज्येष्ठ, प्रधान या वृहद् होता है। अतः वृहद्-एलाचार्य, ज्येष्ठ एलाचार्य या प्रधान एलारिय को वट्टकेराचार्य का नामान्तर समझना चाहिए।[4]

क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी ने लिखा है[5]—'मूलाचार' नाम के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—एक में रचयिता का नाम आचार्य वट्टकेर दिया है[6] तथा दूसरे में कुन्द-

---

१. मूलाचाराख्यशास्त्रं वृषभजिनवरोपज्ञमर्हत्प्रवाहा-
दायातं कुन्दकुन्दाह्वयचरमलसच्चारणेस्सु प्रणीतम्॥
तद्व्याख्यां वासुनन्दीमबुध विलिखनावाचनानायामा सभक्त्या,
·····संशोध्याघ्यैतुमहमिकृतयति कृति·····॥२०५॥
अनेकान्त वर्ष १३, किरण १, पृ० १८, जुलाई १९५४। पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री के लेख से उद्धृत

२. वही

३. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, प्रथमखण्ड, पृष्ठ ९९-१०१

४ अनेकान्त, वर्ष १२, किरण १२, पृ० ३७२

५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० १२७ तथा भाग ३, पृ० ३३०

६. माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला से वि० सं० १९७७ तथा १९८० में दो भागों में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दाचार्य।[1] दोनों ग्रन्थों में कुछ मात्र गाथाओं को छोड़कर शेष समान हैं। पर वट्टकेराचार्य व कुन्दकुन्दाचार्य एक ही व्यक्ति थे।

पं० परमानन्द शास्त्री ने मूलाचार को पहले कुन्दकुन्दाचार्य कृत[2] इसके बाद संग्रह ग्रन्थ[3] तथा पुनः मूलाचार की मौलिकता सिद्ध करते हुए इसे कुन्द-कुन्दाचार्य कृत बताया।[4] इन मतों के बाद भी अभी कुछ समय पूर्व प्रकाशित अपने एक लेख द्वारा इन्होंने अपनी पूर्व मान्यताओं का खण्डन करके पं० नाथूराम जी प्रेमी की मान्यता का समर्थन किया और इसे वट्टकेराचार्य विरचित बताया।[5]

पं० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्री फड़कुले ने मूलाचार की भाषानुवाद की प्रस्तावना में इसे कुन्दकुन्दाचार्यकृत मानकर तथा मूलाचार के रचयिता के स्थान पर कुन्दकुन्दाचार्य का ही नाम देकर, इसे वट्टकेराचार्य कृत होने का खंडन किया है। इसी प्रस्तावना में कुछ कन्नडी प्रतिलिपियों आदि के भी प्रमाण दिये हैं।

मूलाचार को संग्रह ग्रन्थ मानने वाले : मूलाचार को अनेक विद्वान् मौलिक कृति न मानकर एक संग्रह ग्रन्थ मानते हैं। पं० परमानन्द जी ने मूला-चार में दिगम्बर—श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों की अनेक गाथाओं की समानता के आधार पर इसे संग्रह ग्रन्थ माना था।[6] किन्तु ये अपनी इस पूर्व मान्यता का खण्डन करके इसे मौलिक एवं वट्टकेराचार्य की कृति सिद्ध कर चुके हैं।[7]

मुनि श्री दर्शनविजय जी ने अन्य ग्रन्थों की गाथाओं की समानता के आधार पर मूलाचार को उपलब्ध जिनागम और श्वेताम्बर जैनग्रन्थों से ही

---

१. मूलाचार, पं० जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्री फड़कुले कृत भाषानुवाद प्रकाशक—आचार्य शान्तिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटन, वी० नि० २४८४।
२. अनेकान्त, वर्ष २, किरण ३, पृ० २२१-२२४।
३. वही, वर्ष २, किरण ५, (१९४०) पृ० ३१९-३२४।
४. वही, वर्ष १२, किरण, ११, पृ० ३५५-३५९।
५. वीर निर्वाण स्मारिका, जयपुर (१९७५), पृ० २।६५-६७।
६. अनेकान्त, वर्ष २, किरण ५, पृ० ३१९-३२४।
७. वीर निर्वाण स्मारिका, जयपुर, १९७५, पृ० २।६५-६७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मित बताया है। इन्होंने श्वेताम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों से मूलाचार की कुछ गाथाओं का मिलान भी किया है।[1]

पं० सुखलाल संघवी ने मूलाचार को संग्रहग्रन्थ माना है। इन्होंने अंतिम भद्रबाहु द्वारा संकलित निर्युक्तिसंग्रह की अनेक गाथायें मूलाचार में संग्रहीत बताते हुए आचार्य वट्टकेर को विक्रम की छठी सदी के बाद का माना है।[2]

पं० नरोत्तमशास्त्री ने मूलाचार को एक संपादित ग्रन्थ मानते हुए लिखा है कि इसका सम्पादन काल तीसरी सदी के बाद का नहीं हो सकता।[3]

वट्टकेराचार्यकृत मानने वाले : आचार्य वसुनन्दि विक्रम की ११-१२वीं शती के आचार्य हैं। इन्होंने अपनी आचारवृत्ति में अनेक स्थानों पर मूलाचार के कर्ता के रूप में वट्टकेर का नामोल्लेख किया है। मूलाचारवृत्ति के प्रारम्भ के इस कथन का आशय यह है कि बल, बुद्धि और आयु में अल्प शिष्यजनों के लिए वट्टकेराचार्य ने अट्ठारह हजार पद प्रमाण आचारांग को संक्षिप्त करके मूलाचार को बारह अधिकारों में प्रस्तुत किया है।[4] अपनी वृत्ति के अन्त में भी वट्टकेर को ही इसका कर्ता उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, वसुनन्दि ने मूलाचार के सातवें से अन्तिम अधिकार तक के सभी अधिकारों के अन्त में मूलाचार को आचार्यवर्य वट्टकेरकृत होने का उल्लेख किया है।[5]

मूलाचार के द्वितीय भाग के अन्त में दिये गये पं० मेधावि कवि द्वारा लिखित प्रशस्ति पाठ में भी इसे वट्टकेराचार्यकृत कहा गया है।[6]

आदरणीय पं० नाथूराम प्रेमी ने "मूलाचार के कर्ता वट्टकेरि" नामक लेख में इसे वट्टकेराचार्यकृत मानते हुए लिखा है—"दक्षिण भारत में गांवों के नाम व्यक्ति के नाम से पहले लिखने की पद्धति बहुत समय से है। जैसे सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन—यहाँ "सर्वपल्ली" शब्द उनके गाँव का ही सूचक है। 'कोण्डकुण्ड' गाँव के रहने वाले आचार्य कुन्दकुन्द तथा तुम्बुलूर ग्राम के रहने के कारण

---

१. श्री जैनसत्यप्रकाश (मासिक पत्रिका) वर्ष ६, अंक १, क्रमांक ६१, पृ० ७.
२. सन्मति प्रकरण—प्रस्तावना, पृ० ४८.
३. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ० ३८४.
४. मूलाचारवृत्ति मूलगुणाधिकार, भाग १, पृ० २.
५. इतिश्रीमदाचार्यवर्यवट्टकेरिप्रणीतमूलाचारे श्रीवसुनन्दिप्रणीतटीकासहिते द्वादशोऽधिकारः। मूलाचार भाग २, १२।२०६, पृ० ३२४.
६. श्रीमद्वट्टेरकाचार्यकृत सूत्रस्य सद्विधेः।
मूलाचारस्य सद्वृत्तेर्दातुर्नामावली ब्रुवे॥
—मूलाचार भाग २, प्रशस्ति पाठ ५, पृ० ३२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम्बलूराचार्य कहलाये, वैसे ही मूलाचार के कर्ता वट्टेगेरी या वेट्टेकेरी ग्राम के ही रहने वाले होंगे अतः वट्टकेरि कहलाने लगे। वट्टकेरि नाम उनके गाँव का बोधक होना चाहिए। कन्नड़ भाषा के बेट्टगेरि कृष्णशर्मा नाम के एक सुप्रसिद्ध कवि भी हैं। जो गदग (धारवाड़) के पास बेट्टगेरि या वट्टकेरी ग्राम के रहने वाले हैं। अतः मूलाचार के कर्ता का मूलनाम क्या था यह भूल गये, मात्र वट्टकेरि इतना नामांश बचा रहा। दक्षिण में बेट्ट का अर्थ छोटी पहाड़ी या पर्वत तथा 'गेरी या केरी' का अर्थ गली या मुहल्ला तथा केरे तालाब के अर्थ में प्रयुक्त होता है। बेलगाँव और धारवाड़ जिले में इस नाम के अब भी गाँव मौजूद हैं। श्रवणबेलगोल में एक मुहल्ले का नाम बेट्टगेरि है। कारकल के हिरयंगडि वसति के पद्मावतीदेवी मंदिर के एक स्तम्भ पर शक संवत् १३९७ (वि०सं० १५३२) का एक कन्नडी शिलालेख भी है।[1] इसमें बेट्टकेरि गाँव का दो बार नामोल्लेख है।[2] यह कारकल के आसपास ही कहीं होना चाहिए। अतः मेरा अनुमान है कि मूलाचार के कर्ता वट्टकेरि गाँव के निवासी होने के कारण वट्टकेर कहलाने लगे और इनका मूलनाम क्या था, यह लोग भूल गये।[3]

आदरणीय प्रेमीजी ने इसी लेख को आगे बढ़ाते हुए "जैन साहित्य और इतिहास" में लिखा है कि मूलाचार की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत लिखा हुआ मिल जाने से वट्टकेरि को कुन्दकुन्दाचार्य का विशेषण-सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया—वट्टक-वर्तक-प्रवर्तक, इरा-गिरा-वाणी आदि।[4] परन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये के शब्दों में—"यह सब तर्क और शब्द कौशल मात्र है। वट्टकेरि शब्द संस्कृत है या नहीं, जब इसी में सन्देह है तब उसकी संस्कृत व्युत्पत्ति देकर वृत्तिकार से वट्टकेर सिद्ध करना केवल आग्रह मात्र है।[5]

पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री ने लिखा है—यदि मूलाचार के टीकाकार आचार्य वसुनन्दि ने अपनी टीका में उसके रचयिता का नाम वट्टकेराचार्य न दिया होता तो मूलाचार को कुन्दकुन्दकृत मानने में शायद कोई विवाद पैदा न हुआ होता।

---

१. साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, जिल्द, ७.

२. पुलिसेटिबलिय बेट्टकेरिय ललितंण्णभागे····।
····बागिसेटियबलिय बेट्टकेरि य देवरू भागे··· ।।
—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४९ से उद्धृत।

३. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १२, किरण, १, जुलाई १९४५.
तथा जैन साहित्य और इतिहास—पृ० ५४९.

४. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५४९-५५०.

५. पुरातनवाक्य सूची, पृ० १८-१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु दूसरे नाम के रहते हुए सबल प्रमाणों के बिना मूलाचार को कुन्दकुन्द का नहीं कहा जा सकता[1]। आपने एक लेख में भी लिखा है कि इतना तो सुनिश्चित रीति से कहा जा सकता है कि यह आचार्य कुन्कुन्द की कृति नहीं हो सकती[2]।

आदरणीय प्रेमीजी ने लिखा है—कुछ विद्वानों ने एक कदम और आगे बढ़ कर मूलाचार और कुन्दकुन्द की बहुत सी गाथाओं को एक सी बतलाकर और दूसरे अनेक विषयों की समानता खोजकर दोनों को एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया, किन्तु मेरी समझ में यह प्रयत्न भी गलत दिशा में हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द का तो नहीं ही है, उनकी विचार परम्परा का भी नहीं है, बल्कि यह उस परम्परा का जान पड़ता है जिसमें शिवार्य और अपराजित हुए हैं[3]।

आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि की प्रस्तावना में सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द जी शास्त्री ने श्रुत परम्परा के सम्बन्ध में लिखा है कि जैन परम्परा में रचना की दृष्टि से जिस श्रुत की सर्वप्रथम गणना की जा सकती है उसका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है[4]—

ग्रन्थनाम	कर्त्ता	रचनाकाल
षट्खण्डागम	आचार्य पुष्पदन्त भूतवलि	विक्रम की दूसरी शताब्दी या इसके पूर्व
कषायप्राभृत	आचार्य गुणधर	विक्रम की दूसरी शताब्दी या समकालीन
कषायप्राभृत चूर्णि	आचार्य यतिवृषभ	आचार्य गुणधर के कुछ काल बाद
समयप्राभृत, प्रवचनसार पञ्चास्तिकाय व अष्टप्राभृत	आचार्य कुन्दकुन्द	विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दि
मूलाचार (आचारांग)	आचार्य वट्टकेर	आचार्य कुन्दकुन्द के समकालीन
मूलाराधना (भगवती आराधना)	आचार्य शिवार्य	,,
तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य गृद्धपिच्छ	आचार्य कुन्दकुन्द के समलीन या कुछ काल बाद

---

१. कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह-प्रस्तावना, पृ० ४६.
२. आचार्य शान्तिसागर जन्मशताब्दि स्मृति ग्रन्थ पृ० ७२.
३. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५५०.
४. सर्वार्थसिद्धिः प्रस्तावना पृष्ठ १८-१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विवरण में मूलाचार को वट्टकेर कृत बतलाते हुए उन्हें कुन्दकुन्दाचार्य के समकालीन माना है।

डॉ० नेमिचन्द शास्त्री ने मूलाचार को वट्टकेराचार्य की रचना बतलाते हुए लिखा है : मूलाचार का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वट्टकेर एक स्वतन्त्र आचार्य हैं और ये कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न हैं[1]।

समीक्षा एवं निष्कर्ष : मूलाचार के कर्ता से सम्बन्धित मान्यताओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह एक समस्यामूलक ग्रन्थ रहा है किन्तु अब दिगम्बर परम्परा का मूल प्राचीन साहित्य जैसे-जैसे सामने आ रहा है तथा उसका तुलनात्मक अध्ययन हो रहा है वैसे-वैसे मूलाचार की मौलिकता और प्राचीनता के काफी प्रमाण सामने आ रहे हैं। अन्वेषण के दौरान इस विषय में ऐसे तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनके आधार पर यह कृति आचार्यवर्य वट्टकेर की ही सिद्ध होती है। यहाँ उपर्युक्त सभी मतभेदों की समीक्षापूर्वक विवेचना प्रस्तुत है।

मूलाचार को कुन्दकुन्दाचार्य कृत मानने का प्रारम्भ वसुनन्दि कृत वृत्ति के अन्त में उल्लिखित पुष्पिका से होता है। कन्नड़ भाषा की टीकाओं पर भी कुन्दकुन्दाचार्य कृत होने का उल्लेख आ गया। इन प्रमाणों तथा कुन्दकुन्दाचार्य की कुछ गाथाओं से मूलाचार की गाथाएँ समान होने के आधार पर आधुनिक विद्वानों में श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार, जिनदास पार्श्वनाथ शास्त्री आदि उल्लिखित विद्वानों ने वट्टकेराचार्य एवं कुन्दकुन्दाचार्य को एक माना है। किन्तु इन विद्वानों को वस्तुस्थिति तक पहुँचने के लिए विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं हो पाये। क्योंकि उस समय तक न तो अन्वेषण के क्षेत्र का उतना विकास हो पाया था और न इस परम्परा विषयक उतना साहित्य ही प्रकाश में आ पाया था।

यहाँ एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि मूलाचार की आचारवृत्ति के अन्त में पुष्पिका के अन्तर्गत आचार्य कुन्दकुन्द का नाम कैसे आया ? यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार वृत्तिकार वसुनन्दि ही अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में और अन्त में मूलाचार को वट्टकेराचार्य की रचना होने का उल्लेख करते हैं। तब ये ही अन्त की पुष्पिका में मूलाचार को कुन्दकुन्दाचार्यकृत होने का उल्लेख कैसे करेंगे ? स्पष्ट है कि वसुनन्दि जैसे प्रामाणिक आचार्य एक ग्रन्थ को दो आचार्यों का कर्तृत्व नहीं कह सकते हैं। तथ्य यह है कि कुन्दकुन्दाचार्य

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ० ११९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कृति कहने वाली पुष्पिका वसुनन्दि की नहीं अपितु प्रसिद्ध करने की दृष्टि से लिपिकार द्वारा पुष्पिका में ऐसा उल्लेख किया गया लगता है। यह भी सम्भव है कि मूलाचार जैसी उच्च कृति पर कृतिकार का वट्टकेर यह अधूरा सा नाम देखकर इसे कुन्दकुन्दाचार्य कृत ही लिपिकार ने समझ लिया हो और सम्भवतः इन्हीं सब आधारों पर कर्नाटक टीकाकारों द्वारा भी मूलाचार को कुन्दकुन्दाचार्य की कृति जानकर प्रसिद्ध करने की दृष्टि से वट्टकेर की अपेक्षा कुन्दकुन्द का नामोल्लेख किया गया है। इसके सम्बन्ध में पं० नाथूराम जी प्रेमी का यह कथन उद्धृत करना ही पर्याप्त है कि जब वृत्तिकार दो-दो स्थानों पर आचार्य वट्टकेर को ग्रन्थकर्ता बतलाते हैं, तब लिपिकर्ता का लिखा हुआ कुन्दकुन्दाचार्य कैसे माना जा सकता है[1]।

कुछ विद्वानों ने कुन्दकुन्दाचार्य को षट्खण्डागम के तीन खण्डों पर परिकर्म नामक वृत्ति का रचयिता मानकर उन्हें वृत्तिकार बनाया, और वृत्तिकार से वट्टकेर प्रचलित होने तथा वट्टक-वर्तक-प्रवर्तक, इरा-गिरा, वाणी आदि रूप से वट्टकेर को वृत्तिकार कुन्दकुन्दाचार्य और वट्टकेर शब्द में आइरिय शब्द और जोड़कर वर्तक + एला + आचार्य = वर्तक-एलाचार्य अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्द का अपरनाम एलाचार्य अर्थ निकाला। किन्तु यह सब शब्द चातुर्य मात्र प्रतीत होता है। क्योंकि वट्टकेर शब्द अपने आप में न तो संस्कृत भाषा का है जिसके आधार पर वृत्तिकार से वट्टकेर बना लें और न प्राकृत भाषा का शब्द है। वस्तुतः यह कन्नड़ भाषा का शब्द है जो कि किसी नगर विशेष के नाम का सूचक है। प्रेमी जी तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये की भी यही मान्यता है[2]। दक्षिण भारत में अपने नाम के आगे गाँव या नगर का नाम लिखने की पद्धति भी बहुत प्राचीन है ही।

मूलाचार तथा कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों की कुछ गाथायें समान होने का जहाँ तक प्रश्न है वह केवल इस बात का भी द्योतक हो सकता है कि वट्टकेर कुन्दकुन्दाचार्य के परवर्ती हैं। वट्टकेर द्वारा परम्परा से प्राप्त कुछ गाथाओं को अपने ग्रन्थ में समावेश करने से वह दूसरे का ग्रन्थ नहीं हो जाता। वह तो केवल अपना कथन या संदर्भ पुष्ट करने के लिए होता है। यह भी हो सकता है कि वे गाथायें पूर्व-प्रचलित ही हों, जिन्हें दोनों आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में प्रसंगानुसार अपनाया हो। डॉ० हीरालाल जी ने वट्टकेर को कुन्दकुन्द से भिन्न

---

१. जैन साहित्य और इतहास पृष्ठ ५५३.

२. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ५५०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार करते हुए लिखा है—वट्टकेर स्वामीकृत मूलाचार को कहीं-कहीं कुन्द-कुन्दाचार्यकृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नहीं होती, तथापि उससे इस ग्रन्थ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है।[1] नाथूराम जी प्रेमी ने तो अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि मूलाचार कुन्दकुन्द परम्परा का ग्रन्थ नहीं मालूम होता। विद्वानों से निवेदन है कि वे वट्टकेरि को कुन्दकुन्द बनाने का प्रयास न करके इस ग्रन्थ का जरा और गहराई से अध्ययन करके यथार्थ स्थिति को समझने की चेष्टा करें।[2]

वस्तुतः मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की तुलना करने से भी मूलाचार कुन्दकुन्द की कृति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि दोनों की कथन शैली, मान्यतायें, भाषा और विषय में भिन्नता है। पं० कैलाशचन्द शास्त्री ने इस विषय में लिखा है कि इसमें सन्देह नहीं कि मूलाचार कुन्दकुन्द का ऋणी है किन्तु कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता। कुन्दकुन्द रचित नियमसार, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थों में जो रचना वैशिष्ट्य, निरूपण की प्रांजलता तथा अध्यात्म का पुट है वह मूलाचार में नहीं। प्रवचनसार के अन्त में आगत मुनिधर्म के संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण वर्णन से मूलाचार के किन्हीं वर्णनों में उनके साथ एकरूपता भी नहीं है। मूलाचार के समयसाराधिकार में कुन्दकुन्द के समयसार ग्रन्थ की छाया भी नहीं'।[3] इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मूलाचार कुन्दकुन्द कृत नहीं है।

मूलाचार को संग्रह-ग्रन्थ मानने वाले विद्वानों के समर्थन का आधार मूलाचार में पायी जाने वाली कुछ गाथाओं से अन्य ग्रन्थों की गाथाओं में परस्पर समानता है वैसे पूर्वोक्त कुछ विद्वान् जिन-जिन ग्रन्थों की गाथाओं को मूलाचार में संग्रहीत किये जाने की बात कहते हैं, किन्तु अभी उनके ठोस प्रमाण उपस्थित नहीं हैं। जहाँ तक पं० सुखलाल जी संघवी के अनुसार[4] सिद्ध-सेन दिवाकर प्रणीत 'सन्मति-प्रकरण' की चार गाथाओं को मूलाचार में लिये जाने के कथन का प्रश्न है, उसका भी अभी पूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि तिलोयपण्णत्ति में मूलाचार के स्पष्ट उल्लेख पाये जाने के कारण मूलाचार

---

१. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १०५.
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५५२-५५३.
३. आ० शांतिसागर जन्मशताब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृ० ७७-७८.
४. सन्मति प्रकरण २।४०-४३ ये गाथाएँ मूलाचार में १०।८७-९० में संग्रहीत की गई हैं—सन्मति प्रकरण, प्रस्तावना पृ० ४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिलोयपण्णत्ति से पूर्व का सिद्ध हो जाता है, जबकि सन्मति प्रकरण और तिलोयपण्णत्ति लगभग समकालीन रचनाएँ हैं। अतः सन्मति प्रकरण की गाथाओं को मूलाचार में लिए जाने की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता।

आवश्यकनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति की कुछ गाथाएँ मूलाचार की गाथाओं के समान होने से भी इन गाथाओं को मूलाचार में संग्रहीत किये जाने की बात पर पं० परमानन्द जी ने लिखा है कि—यह सुनिश्चित है कि वर्तमान निर्युक्तियों का निर्माण विक्रम की छठी शताब्दी में हुआ है। उनके कर्ता द्वितीय भद्रबाहु हैं जो वराहमिहिर के भाई थे। इससे स्पष्ट है कि मूलाचार उन निर्युक्तियों से काफी पूर्व की रचना है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है भ० महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा जब दो भागों में विभक्त हुई, अतः उस समय समागत श्रुत (आगम) दोनों परम्पराओं के आचार्यों एवं साधुओं को कंठस्थ था। अतः दोनों परम्पराओं में प्रसंगानुसार उसका उपयोग अपनी-अपनी रचनाओं में किया। ऐसी अवस्था में आदान-प्रदान की बात समुचित नहीं जान पड़ती।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त समीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलाचार न तो कुन्दकुन्दाचार्य की कृति ही सिद्ध होता है और न संग्रह ग्रन्थ, अपितु यह वट्टकेराचार्य की एक मौलिक एवं प्राचीन कृति है। हाँ, वट्टकेर यह नाम केवल उनके जन्मभूमि वाले नगर का सूचक होने से दक्षिण की परम्परानुसार ही नाम के रूप में प्रसिद्ध हो गया और बाकी नाम आज भी विस्मृत है। वट्टकेराचार्य का उल्लेख किन्ही अन्य गुर्वावलियों, अभिलेखों या ग्रन्थ प्रशस्तियों में मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। फिर भी वट्टकेराचार्य का वृत्तान्त, उनकी गुरु परम्परा तथा उनके व्यक्तित्व और कृतित्व विषयक विवरण अत्यन्त गहन अन्वेषणों की अपेक्षा रखते हैं। वैसे मूलाचार की कुछ गाथाओं को लेकर विभिन्न विद्वानों ने गुत्थियाँ निर्मित की हैं। इनमें ज्यादा उलझने की अपेक्षा उपलब्ध सूत्रों के आधार पर उस परम्परा का प्राचीनतम स्रोत खोजने का प्रयत्न किया जाना अपेक्षित है जो तीर्थंकर महावीर की साधना और उनके श्रमण संघ की आचार संहिता से सीधा जुड़ सके। कर्तृत्व आदि के विषय में तो जैसे-जैसे प्राचीन साहित्य, अभिलेख आदि स्रोतों के गहन अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ेगी वैसे-वैसे तथ्य सामने आते जायेंगे।

---

१. वीर निर्वाण स्मारिका, जयपुर, १९७५, पृ० २।६६-६७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार की मौलिकता और प्राचीनता : आज से कुछ दशाब्धि पूर्व तक मूलाचार की मौलिकता में संदिग्धता का प्रमुख कारण दिगम्बर जैन साहित्य के प्रमुख षट्खण्डागम, कसाय पाहुड आदि जैसे प्राचीन और प्रामाणिक सैद्धान्तिक ग्रन्थों एवं उनकी टीकाओं का पूर्ण प्रकाश में न आना था, किन्तु जैसे-जैसे महत्त्व-पूर्ण और प्राचीन प्रमुख ग्रन्थ तथा उनमें उल्लिखित प्रमाण प्रकाश में आये तथा आते जा रहे हैं वैसे-वैसे मूलाचार की प्राचीनता और मौलिकता के प्रति मनीषियों की आस्था में वृद्धि होती जा रही है। कुछ विद्वानों ने मूलाचार के विषय में खोज-पूर्ण निबन्ध भी प्रकाशित किये हैं जिनमें मूलाचार की मौलिकता और प्राचीनता का समर्थन करते हुए उसे आचार्य वट्टकेर रचित ग्रन्थ सिद्ध किया है। विशेष उल्लेखनीय यह भी है कि कुछ विद्वान् पहले इसे संग्रहग्रन्थ या आचार्य कुन्दकुन्द की कृति होने की बात अपने लेखों में लिखते थे। किन्तु वे ही विद्वान् अब सिद्धान्त तथा अन्य ग्रन्थों में मूलाचार को आचाराङ्ग जैसे महत्त्वपूर्ण उल्लेखों एवं मान्यताओं तथा अन्यान्य तथ्यों को देखने के बाद अपनी धारणायें बदल कर मूलाचार को मौलिक ग्रन्थ मानने लगे हैं। इस सन्दर्भ में पं० परमानन्द जी ने "मूलाचार संग्रह ग्रन्थ न होकर आचाराङ्ग के रूप में मौलिक ग्रन्थ है" नामक विस्तृत लेख में मूलाचार को संग्रह ग्रन्थ के रूप में अपनी पूर्व मान्यता का खण्डन करते हुए लिखा है कि मैंने "मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है" लेख लिखा था। उस समय मूलाचार की कुछ गाथायें आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होने से मैंने समझ लिया था कि ये गाथायें उन्होंने संग्रहीत की हैं। साथ ही मूलाचार के बारहवें पर्याप्ति अधिकार को असम्बद्ध भी लिख दिया था। किन्तु तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मैंने मूलाचार और उसकी टीका "आचारवृत्ति" का गहरा मनन किया और अधिक वाचन-चिन्तन के फलस्वरूप मेरा यह मत स्थिर नहीं रहा। अब मेरा दृढ़ निश्चय हो गया है कि मूलाचार संग्रह ग्रन्थ न होकर एक व्यवस्थित प्राचीन मौलिक ग्रन्थ है[1]।

इस प्रकार प्रमुख सैद्धान्तिक ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं में मूलाचार की विविध गाथाएँ प्रमाण-स्वरूप उद्धृत होने से एवं विद्वानों के समक्ष तथ्य उपस्थित होने पर मूलाचार को मौलिक ग्रन्थ स्वीकृत किया है।

आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम की धवला टीका (८१६ई०) में मूलाचार को

---

१. अनेकान्त वर्ष १२ किरण ११, अप्रेल १९५४, पृष्ठ ३५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग के नाम से उल्लिखत करते हुए मूलाचार के पंचम अधिकार की गाथा संख्या २०२ इस प्रकार उद्धृत की है—[1]

तह आयारंग वि वुत्तं—

पंचत्थिकाय छज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ।।६।।

मूलाचार के पंचाचाराधिकार की इस गाथा के उल्लेख से ज्ञात होता है कि आ० वीरसेन (ई० ८-९ वीं शती) के समय मूलाचार आचारांग नाम से प्रसिद्ध था इससे मूलाचार की प्राचीनता और प्रामाणिकता स्वयं प्रमाणित हो जाती है। आचारांग नाम से मूलाचार के नामोल्लेख द्वारा यह भी सिद्ध है कि उस समय मूलाचार का पठन-पाठन काफी प्रचलित था। आचारांग के इस उल्लेख से यह प्रश्न उठ सकता हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित आचारांग ही वह हो किन्तु ऐसी बात नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थवार्तिक में भी आचारांग के स्वरूप कथन तथा प्रश्नोत्तर रूप में (कधं चरे कधं चिट्ठे०.....। जदं चरे जधं चिट्ठे०..... मूलाचार १०।१२१-२२) जो गाथाएँ आयी हैं वे श्वेताम्बर परम्परा के आचारांग में नहीं किन्तु दशवैकालिक में मिलती हैं। इससे भी सिद्ध होता है है कि दिगम्बर परम्परा में आचारांग के नामोल्लेख से तात्पर्य प्रस्तुत मूलाचार ही है। आचार्य वसुनन्दि ने इसके मंगलाचरण की वृत्ति में तथा आचार्य सकलकीर्ति ने अपने 'मूलाचार प्रदीप' ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह उल्लेख किया है कि आचारांग ग्रन्थ का उद्धार कर प्रस्तुत मूलाचार ग्रन्थ की रचना की गई है।

मूलाचार में एषणा समिति के स्वरूप कथन में एषणा को केवल आहार शुद्धि के लिए प्रयोग किया है। उसमें कहा है जो साधु उद्गमादि ४६ दोषों से शुद्ध, कारण सहित, नवकोटि से विशुद्ध, शीतोष्णादि भक्ष्य पदार्थों में राग-द्वेषादि रहित, समभावपूर्वक भोजन व आहार ग्रहण करना अत्यन्त निर्मल एषणा समिति है।[2] यह इसका प्राचीन और मूलस्वरूप है जो कि बाद में विकृत हो गया और कुछ परम्पराओं में पिण्डैषणा के साथ वस्त्र, पात्र आदि को भी सम्मिलित कर लिया।

---

१. षट्खण्डागम धवला टीका जीवस्थान कालानुगमनिर्देश प्ररूपणा १.५.१ पुस्तक ४. पृ० ३१६. सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, प्रका०—श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचंद जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती १९४२.

२. मूलाचार १।१३. नियमसार—६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छठीं-सातवीं शती के आचार्य यतिवृषभ ने भी तिलोयपण्णत्ति में मूलाचार का उल्लेख किया है[1]। उन्होंने इसके आठवें अधिकार में जिन देवियों की आयु विषयक मतभेदों का उल्लेख किया है उनके उल्लेख पर टिप्पणी करते हुए पं० हीरालालजी सि० शा० ने लिखा है[2] कि देवियों की आयु से संबंधित मतों में जहां मूलाचारकार ने केवल दो मतों का उल्लेख किया है वहीं तिलोयपण्णत्तिकार ने चार मतों का उल्लेख किया है इससे सिद्ध होता है कि तिलोयपण्णत्ति के रचना-काल से मूलाचार का रचनाकाल इतना प्राचीन है कि मूलाचार की रचना होने के पश्चात् और तिलोयपण्णत्ति की रचना होने के पूर्व तक के बीच के काल में अन्य और भी दो मतभेद उठ खड़े हुए थे, जिनका संग्रह करना तिलोयपण्णत्तिकार ने आवश्यक समझा।

पं० आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत टीका (वि० सं० १३००) में 'उक्तं च मूलाचारे'—इस वाक्य से मूलाचार की निम्न गाथा (७।१८) उद्धृत की है—

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणं॥ अनगार धर्मामृत ६०५।

मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य एवं पुत्र आ० वीरनन्दि (वि० १२ वीं शती) ने अपने ग्रन्थ आचारसार में मूलाचार की गाथाओं का प्रायः अर्थशः पद्यानुवाद करके प्रस्तुत किया है। भट्टारक सकलकीर्ति (वि० १५ शती) ने अपने मूलाचार-प्रदीप में मूलाचार की ही गाथाओं को आधार बनाकर संस्कृत में श्लोकबद्ध रूप में श्रमणाचार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया।

इन सब प्रमाणपूर्ण तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मूलाचार एक मौलिक, प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ है जो कि दिगम्बर परम्परा में आचारांग सूत्र के रूप में मान्य है। श्रमण एवं श्रावक समाज में यह ग्रंथ सदा ही अत्यन्त पूज्य माना जाता रहा है। इसका एक उदाहरण भी प्राप्त होता है। वि० सं० १४९३ में दिल्ली के साहू फेरू की धर्मपत्नी ने अपने स्वामी से अनुरोध किया कि श्रुत पञ्चमी का उद्यापन कराया जाये। यह सुनकर फेरू अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने मूलाचार नामक ग्रन्थ श्रुत पञ्चमी के निमित्त लिखवाकर मुनि धर्मकीर्ति के लिए अर्पित किया। धर्मकीर्ति के स्वर्ग चले जाने पर उक्त ग्रन्थ यम-नियमों में निरत तपस्वी मलयकीर्ति को सम्मानपूर्वक अर्पित किया गया। मलयकीर्ति ने इस प्रति में उपर्युक्त विवरण-विषयक प्रशस्ति भी लिखी।[3]

---

१. मूलाचारे इरिया एवं निउणं णिरूवेन्ति।
२. अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ११.
३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—भाग ३. पृ० ४२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार कवि वृन्दावनदास (वि० सं० १८४२) को मूलाचार के पंचम अधिकार की वैयावृत्ति संबंधी एक गाथा[1] के विषय में शंका हुई थी, जिसका समाधान करने के लिए उन्होंने दीवान अमरचन्द जी को जयपुर पत्र लिखा था।[2]

मूलाचार के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पांचवे श्रुतकेवली आ० भद्रबाहु के समय जो दुर्भिक्ष पड़ा था, उसके प्रभाव से साधुओं के आचार-विचार में जो शिथिलता आयी, उसे देखकर ही मानो आ० वट्टकेर ने श्रमणों को अपने आचार-विचार एवं व्यवहार आदि की विशुद्धता का समग्र एवं व्यवस्थित ज्ञान कराने हेतु बारह अंग-ग्रन्थों में अपने सामने उपस्थित प्रथम अंग ग्रन्थ-रूप मूल आचारांग का उद्धारकर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। जैसाकि आ० वसुनन्दि ने भी इसकी आचारवृत्ति तथा आ० सकलकीर्ति ने मूलाचार प्रदीप नामक ग्रन्थ के प्रारम्भिक मंगलाचरण की भूमिका में भी सूचित किया है।[3] आ० वीरसेन रचित षट्खण्डागम की धवला टीका में भी मूलाचार को आचारांग नाम से उल्लिखित किया ही है। इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम मूलाचार पड़ा और तदनुसार श्रमणसंघ का प्रवर्तन कराने से उनके संघ का नाम भी मूलसंघ प्रचलित ज्ञात होता है क्योंकि शिथिलाचार वृत्ति को रोकने हेतु ग्रन्थकार ने पदे-पदे श्रमणों को सावधान किया है तथा वैयावृत्य के प्रसंग में उक्त दुर्भिक्ष का संकेत भी किया है जिसमें कहा है कि दुर्भिक्षादि से प्रभावित और पीड़ित श्रमणों की वैयावृत्य करना चाहिए[4]। ग्रन्थकार ने एकाकी विहार का दृढ़ता से निषेध करते हुए कहाकि मेरा शत्रु भी हो तो वह भी एकाकी विहारी न बने[5]। वस्तुतः दुर्भिक्ष के समय संघ टूटकर यत्र-तत्र बिखर रहा था अतः ग्रन्थकार को कड़े शब्दों में एकाकी विहार का निषेध करना पड़ा। वैसे भी एकाकी विहार में प्रत्येक समय संयम विराधना की सम्भावना बनी रहती है। यदि दुर्भिक्ष के कारण बढ़ रहे शिथिलाचार को लक्ष्य कर मूलाचारकार ने श्रमणों को अपने संयम में दृढ रहने का उपदेश दिया है तो इस आधार पर भी मूलाचार की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है क्योंकि पंचम श्रुतकेवली

---

१. सेज्जोग्गासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणादि उवग्गहिदे।
आहरोसहवायण विकिंचणं वंदणादीहिं ।। मूलाचार ५।१९४.

२. जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५५१.

३. देखिए—मूलाचार (मूलगुणाधिकार) के आरम्भ में वृत्तिकार की भूमिका.

४. अद्धाणतेणसावद रायणदीरोधणासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं वुत्तं संगहसारक्खणोवेदं ।। मूलाचार ५।१९५.

५. वही, १०।६८-६९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भद्रबाहु प्रथम का समय ईसा पूर्व ४ थी शती के मध्य का है। मूलाचार में कौटिल्य, आसुरक्ष, महाभारत, रामायण, रक्तपट (बौद्ध), चरक, तापस, परिव्राजक आदि के नामोल्लेख मिलते हैं।[1] किन्तु इन सबके बाद में विकसित शाखाओं-प्रशाखाओं आदि के नामोल्लेख नहीं मिलते। इससे लगता है कौटिल्य महाभारत, रामायण आदि का उस समय विशेष पठन-पाठन प्रचलित था। इनमें कौटिल्य तो ३२१ से ३०० वर्ष ईसा पूर्व के बीच हुए हैं। बौद्ध परम्परा को रक्तपट से ही सूचित किया है। इस मत की बाद में विकसित अनेक शाखाओं का उल्लेख न होने से लगता है कि मूलाचारकार के समय में इन सबका उदय नहीं हुआ होगा। यदि उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर लिखे गए अन्य ग्रन्थ तथा शाखाओं आदि का सद्भाव उस समय रहता तो मूलाचारकार इनका भी उल्लेख अवश्य करते।

जैन लक्षणावली भाग २ की ग्रन्थकारानुक्रमणिका में वट्टकेर का समय विक्रम की दूसरी शती माना है। अन्य प्रमाणों का उल्लेख तो मूलाचार के कर्ता विषयक विवाद एवं उसकी समीक्षा के अन्तर्गत किया जा चुका है। इस प्रकार मूलाचार की मौलिकता और प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

आचार्यवर्य वट्टकेर : व्यक्तित्व और कृतित्व : उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के प्रसंग में मूलाचार तथा इसके रचयिता आचार्य वट्टकेर पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वस्तुतः मूलाचार अपने विषय का एक अप्रतिम ग्रन्थ है। इसके रचयिता को वसुनन्दि ने आचार्यवर्य कहा है।[2] वर्तमान में इनकी यही एक मात्र कृति उपलब्ध है। पर मूलाचार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'सारसमय' नामक ग्रन्थ भी इनकी अन्य कृति भी हो सकती है। जिसका मूलाचार में भी इन्होंने उल्लेख किया है[3]। पर यह अभी तक अनुपलब्ध है। मूलाचार के अतिरिक्त सारसमय ग्रन्थ का अन्यत्र उल्लेख नहीं पाया जाता इससे प्रतीत होता है कि सारसमय ग्रन्थ भी आ० वट्टकेर की रचना हो सकती है। वैसे वृत्तिकार आ० वसुनन्दि ने इसकी पहचान व्याख्याप्रज्ञप्ति से की है। पर गति-अगति नामक जिस विषय के लिए वट्टकेर ने सारसमय ग्रन्थ को स्वयं की रचना से उल्लिखित किया है वह विषय पंचम अंगरूप श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित व्याख्या-प्रज्ञप्ति

---

१. वही, ५।६०,६२.

२. इतिश्रीमदाचार्यवर्यवट्टकेरिप्रणीतमूलाचारे श्रीवसुनंदिप्रणीतटीकासहिते द्वादशाधिकारः। —मूलाचार भाग २ ,१२।२०६, पृ० २२४.

३. एवं तु सारसमए भणिदा दु गदीगदी मया किंचि।
णियमादु मणुसगदिए णिव्वुदिगमणं अणुण्णादे ।। मूलाचार १२।१४३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में नहीं मिलता। इससे यही सिद्ध होता है कि सारसमय नामक कृति थी, जिसमें उन्होंने "एवं सु सारसमए भणिदा दु गदीगदी मया किंचि"—अर्थात् इसी प्रकार का गति-अगति का कुछ वर्णन मेरे (वट्टकेर के द्वारा) सारसमय नामक ग्रन्थ में किया गया है। इस तरह आचार्य वट्टकेर ने इसी विषय के कथन का संकेत अपने सारसमय नामक ग्रन्थ में करके उसका मूलाचार में उल्लेख किया।

मूलाचार के गहन अध्ययन से आचार्य वट्टकेर का बहुश्रुत व्यक्तित्व प्रतिभा-सम्पन्न एवं उत्कृष्ट चारित्रधारी आचार्य के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। ग्रन्थ का अध्ययन करते-करते ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वट्टकेर मूल-संघ की परम्पराओं के पोषक एक महान् दिगम्बर आचार्य थे जिन्होंने अपने अपूर्व संयमी और दीर्घ तपस्वी जीवन की सम्पूर्ण अनुभूतियों का यत्र-तत्र सचित्र चित्रण किया है। इनके नाम आदि के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ये दक्षिण भारत (बेट्टकेरी स्थान) के निवासी थे। मूलाचार नाम से भी सिद्ध होता है कि ये दिगम्बर परम्परा के मूलसंघ में महान् एवं प्रमुख आचार्य थे। इस संघ के प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द और इनके बाद आचार्य वट्टकेर हुए। इसी मूलसंघ के श्रमणों के आचार का प्रतिपादक होने से इस ग्रन्थ का नाम मूलाचार और उनके संघ का नाम मूलसंघ प्रचलित हुआ।

मूलाचार अपनी विषय-वस्तु और भाषा आदि की दृष्टि से तृतीय शती के आसपास का सिद्ध होता है। अतः आचार्य वट्टकेर का समय भी यही माना जा सकता है। इन्होंने मूलाचार का प्रणयन एक निश्चित रूपरेखा को दृष्टि में रख कर किया। इस एक कृति ने ही उन्हें अमर बना दिया क्योंकि सैकड़ों, हजारों वर्षों से आज तक समस्त श्रमणों को यह ग्रन्थ दीपक का कार्य करता आ रहा है। यह एक श्रमणाचार विषयक ऐसा संविधान है जिसमें सच्चे श्रामण्य की सर्वांगपूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। इसके आधार पर श्रमण रत्नत्रय पाकर मोक्ष लक्ष्मी का वरण कर सकता है।

■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय अध्याय

मूलगुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलगुण

स्वरूपतः मनुष्य दुखों से सदा के लिए मुक्त होने तथा शाश्वत सुख का अभिलाषी होता है इसके लिए आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। आचार की शुद्धता के बिना यह सम्भव नहीं है। दुःख, मोह, क्षोभ, शोक आदि से सन्तप्त आत्मा का उद्धार कर परमात्मपद प्राप्ति के सही मार्ग का प्रतिपादन और तदनुसार स्वयं उस मार्ग का अनुसरण कर उस लक्ष्य को प्राप्त करना जैन तीर्थंकरों का स्व-पर के लिए महान् पुरुषार्थ है। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है, वह अप्रकट रूप में परमात्मा है। काषायिक वासना ने ही इसे संसारबद्ध कर रखा है। स्वरूपतः वह स्वतंत्र है। स्वतन्त्रता रूप स्वरूप की उपलब्धि के लिए "आचार मार्ग" का अनुसरण अनिवार्य है। आचार मार्ग के जैनधर्म में दो विभाग हैं। प्रथम गृहस्थाश्रम में रहकर अहिंसा आदि व्रतों को अणुरूप में पालन करना श्रावकाचार है। जो मुमुक्षु चाहते हुए भी मुनि-धर्म के पालन में अपने को असमर्थ पाता है अथवा मुनिधर्म में आरूढ़ होने का अभ्यास तथा क्षमता उत्पन्न करने के दृष्टि से व्रतादि रूप आचार का एकदेश पालन करना चाहता है उन्हें देश, काल और शक्ति आदि की परिस्थितियों के अनुसार पालन करने योग्य श्रावकाचार है। परन्तु यह साक्षात् मुक्ति का मार्ग न होकर क्रमशः मुक्ति का सहायक कारण है। द्वितीय श्रमणाचार या साध्वाचार है। जिसे साक्षात् मुक्ति का कारण माना जाता है। इसमें मुमुक्षु को दीक्षा के समय जिन महाव्रतादि गुणों को अखण्ड रूप में धारण और उनका सर्वदेश पालन करना अनिवार्य होता हैं वे मूलगुण कहे जाते हैं।

मूलगुण धारण की पृष्ठभूमि :

श्रमणधर्म कषायों का उपशमन, राग-द्वेष की निवृत्ति तथा शान्ति और समतारूप है जब श्रमणधर्म धारण का इच्छुक सांसारिक सुखों से पूर्णतः विरक्त तथा आत्मकल्याण की भावना से युक्त होकर इस धर्म के धारण और पालन की पूर्ण क्षमता अपने में अनुभव कर लेता है, उस समय गृहत्याग एवं श्रमणधर्म धारण करने के लिए सर्वप्रथम वह बंधुवर्ग से पूछकर विदा माँगता है। तब बड़ों से, पुत्र और स्त्री से विमुक्त होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य-इन पाँच आचारों को अंगीकार करके उस गणी (आचार्य) के पास (दीक्षार्थ) पहुँचता है। जो श्रमण हो, श्रामण्य का आचार करने एवं कराने में गुणाढ्य,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक गुणों से युक्त हो, कुल, रूप एवं अवस्था में विशिष्ट हो तथा अन्य सभी श्रमण जिसे अत्यन्त चाहते हों—इन विशेषताओं से युक्त गणी को प्रणत होता हुआ वह कहे—प्रभो ! मुझे अंगीकार कीजिए। यह कहकर वह उन गणी के द्वारा अनुग्रहीत हो अपनी भावना इस प्रकार प्रकट करे कि मैं दूसरों का नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं। इस लोक में भी मेरा कुछ नहीं है—ऐसा निश्चयवान् और जितेन्द्रिय होता हुआ वह यथाजात (नग्न) वेष धारण करता है।[1]

ऐसा भव्य जीव सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त अपरिग्रही बनकर स्नेह से रहित, शरीर संस्कार का सर्वथा के लिए त्यागकर आचार्य द्वारा यथाजात (नग्न) रूप धारणकर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को अपने साथ लेकर चलता है।[2] अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग—श्रमण को ये दोनों ही चिह्न (लिङ्ग) धारण करना अनिवार्य है। अर्थात् जन्म के समय (यथाजात अथवा सद्योजात बालक) जैसा रूपवाला, शिर और दाढ़ी-मूँछ के केशों का लोच किया हुआ, शुद्ध अर्थात् अकिंचन और निर्विकार होता हुआ, हिंसादि पापों तथा प्रतिकर्म अर्थात् शारीरिक शृंगार रहित ऐसा बाह्यलिङ्ग और मूर्च्छा (आसक्ति) और आरम्भ रहित, उपयोग एवं योग की शुद्धि से युक्त, परापेक्षा रहित यह जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित श्रामण्य का अन्तरङ्ग लिङ्ग है जो कि अपुनर्भव (मोक्ष) का कारण है।[3]

ऐसा श्रामण्यार्थी परमगुरु के द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त दोनों प्रकार के लिङ्ग धारणकर, गुरु को नमन करता है। व्रत सहित आचार पद्धति सुनता है और

---

१. आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्त तववीरियायारं॥
समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो॥
णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो॥
—प्रवचनसार गाथा २०२,२०३,२०४.

२. ते सव्वगंथमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्ठचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति॥ मूलाचार ९।१५.

३. जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंग॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥ प्रवचनसार गाथा २०५, २०६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपस्थित (आत्मा के समीप स्थित) होता हुआ श्रामण्य की सामग्री पर्याप्त (परिपूर्ण) होने से साक्षात् श्रमण होता है ।[1] जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों में एक ही साथ आरूढ है, एकाग्रता (समस्त परद्रव्य से निवृत्ति) को प्राप्त उस का श्रामण्य परिपूर्ण है ।[2] इस प्रकार जो श्रमण सदा ज्ञान एवं दर्शनादि में प्रतिबद्ध तथा मूलगुणों में प्रयत्नपूर्वक विचरण करता है वह परिपूर्ण श्रामण्यवान् है ।[3]

अट्ठाईस मूलगुण :

मुनि जिन मूलगुणों[4] को धारणकर श्रमणधर्म में दीक्षित होता हैं, उनकी निर्धारित अट्ठाईस संख्या इस प्रकार है—

पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा ।
पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो ॥
अच्चेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव ।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥[5]

१. पांच महाव्रतः—हिंसाविरति (अहिंसा), सत्य, अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह)[6]

२. पांच समितिः—ईर्या, भाषा, एषणा, निक्षेपादान और प्रतिष्ठापनिका[7]

३. पांच इन्द्रियनिग्रहः—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन—इनका निग्रह[8]

४. छह आवश्यकः—समता (सामायिक), स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और विसर्ग (कायोत्सर्ग)[9]

---

१. आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥ प्रवचनसार २०७.

२. वही २४२. ३. वही २१४.

४. वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥ वही २०८.

५. मूलाचार १।२-३.

६. हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च ।
संगविमुत्ति य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ॥ वही १।४.

७. इरिया भासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ ।
पदिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहो ॥ १।१०.

८. चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच ।
सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणा ॥ वही १।१६.

९. समदा थवो य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं ।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥ वही १।२२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. सात अन्य मूलगुण:—लोच (केशलोच), आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधर्षण, स्थितभोजन और एकभक्त ।

श्रमणाचार का प्रारम्भ उपर्युक्त मूलगुणों से होता है । ये श्रमणधर्म की आधारशिला हैं । पंचाध्यायी में कहा है—सम्पूर्ण मुनिधर्म इन समस्त मूलगुणों से सिद्ध होता है ।[1] वृक्षमूल के समान मुनि के ये अट्ठाईस मूलगुण हैं । कभी भी इनमें न तो कोई न्यूनता होती है और न अधिकता[2] । इनमें लेशमात्र की न्यूनता साधक को श्रमणधर्म से च्युत कर देती है । वस्तुत: श्रमणधर्म का पालन अपने आप में महान् साहस और दृढ़ता का प्रतीक है जो साधारण व्यक्तियों द्वारा साध्य नहीं है । इसमें मुनि को अपनी मन, वचन और काय की अन्यथा प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करते हुए अपने स्वरूप में मग्न रहकर आत्मोत्कर्ष हेतु निरन्तर पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है । वैषयिक तृष्णा का दमन और आत्मशक्ति का जागरण ही विकृति से प्रकृति की ओर आने में प्रमुख सहायक है । इस प्रकार के साधनामय जीवन का पथिक यही दृढ़ इच्छाशक्ति लेकर आगे बढ़ता है कि शरीर चला जाए पर साधना या संयमाचरण में किंचित भी आँच नहीं आना चाहिए । जीवन के जिस क्षण श्रमणधर्म स्वीकार किया जाता है, उस क्षण 'सावज्जकरणजोगं सव्वं तिविहेणतियकरणविसुद्धं वज्जंति'[3] अर्थात् सभी प्रकार के सावद्य (हिंसादि दोष युक्त) क्रियारूप योगों का मन, वचन, काय तथा कृत (करने), कारित (कराने) और अनुमोदन से सदा के लिए त्याग कर देते हैं । जो श्रमण इन मूलगुणों का छेदकर (उल्लंघन कर) 'वृक्षमूल' आदि बाह्ययोग करता है, मूलगुण विहीन उस साधु के सभी योग किसी काम के नहीं । क्योंकि मात्र बाह्ययोगों से कर्मों का क्षय सम्भव नहीं होता[4] । ऐसा मुनि कभी सिद्धि सुख को नहीं पाता, अपितु वह तो निरन्तर जिनलिङ्ग की विराधना करने वाला माना जाता है[5] । मूलगुणों के अनन्तर पालन करने योग्य उत्तरगुणों

---

१. सर्वैरेभि. समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्—पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ७४४.

२. यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरो: ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ता: कदाचन ।। पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ७४३.

३. मूलाचार ९।३४.

४. मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं ।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूरस्स किं करिस्संति ।। वही १०।२७.

५. मोक्खपाहुड ९८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दृढ़ता इन्ही मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है। अतः इन मूलगुणों को छोड़कर शेष उत्तरगुणों के परिपालन में प्रयत्नशील एवं पूजा-प्रतिष्ठा आदि की निरन्तर इच्छा करने वाले श्रमण का प्रयत्न मूलघातक होता है[1]।

श्वेताम्बर परंपरा में मूलगुणों की संख्या इस प्रकार निर्धारित नहीं है। इस परम्परा के समवायांगसूत्र में अनगार के सत्ताईस गुणों का उल्लेख आया है—(१) प्राणातिपात विरमण, (२) मृषावाद विरमण, (३) अदत्तादान विरमण, (४) मैथुन विरमण, (५) परिग्रह विरमण, (ये पाँच महाव्रत हैं), (६) श्रोत, (७) चक्षु, (८) घ्राण, (९) रसना, (१०) स्पर्श—इन पाँच इन्द्रियों का निग्रह, (११) क्रोधत्याग, (१२) मानत्याग, (१३) माया त्याग, (१४) लोभत्याग, (१५) भाव-सत्य (आन्तरिक पवित्रता), (१६) करण-सत्य (उपधि की पवित्रता), (१७) योग-सत्य, (१८) क्षमा, (१९) विरागता, (२०) मन-समाधारणता, (२१) वचन-समाधारणता, (२२) काय-समाधारणता, (२३) ज्ञान-सम्पन्नता, (२४) दर्शन-सम्पन्नता, (२५) चारित्र-सम्पन्नता, (२६) वेदना-अधिसहन और (२७) मरणान्तिक-अधिसहन।[2]

श्री शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति में भी अनगार के सत्ताईस गुणों का उल्लेख है।[3] किन्तु यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ—इनका त्याग, योग-सत्य, ज्ञान-दर्शन और चारित्र सम्पन्नता—समवायांग में स्वीकृत इन आठ गुणों की गणना न करके रात्रिभोजन-त्याग, पृथ्वी-अप्-तेजस्-वायु-वनस्पति-त्रस—इन षट्कायिक जीवों का संयम और योग-युक्तता—ये आठ गुण स्वीकृत किये हैं। शेष समवायांग जैसे ही गुणों का उल्लेख है।

परम्परा भेद के अनुसार दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रचलित मूलगुणों में अन्तर स्पष्ट है। फिर भी दोनों परम्पराओं में पाँच महाव्रत और पाँच इन्द्रिय-निग्रह इनका समान विधान हैं। केशलोच, अस्नान, अदन्त-

---

१. पद्मनंदि पंचविंशतिका १, ४०।

२. समवायांग समवाय २७।१.

३. वयछक्कमिंदियाणं च, निग्गहो भाव करणसच्चं च।
खमया विरागयावियं, मणमाईणं निरोहो य॥
कायाणछक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया।
तह मारणंतियऽहियासणया एएऽणगारगुणा॥
—उत्तराध्ययन ३१।१८ वृहद्वृत्ति पत्र ६१६
(उत्तरज्झयणाणि भाग—२ टिप्पण पृष्ठ २९९ से उद्धृत)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घर्षण, नग्नता, स्थितभोजन और एकभक्त—इनका मूलगुणों के रूप में उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में न होते हुए भी इस परम्परा के श्रमण केशलोच, अस्नान, अदन्त-घर्षण आदि गुणों का पालन समान रूप से ही करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के कुछ गुण पुनरुक्त जैसे मालूम पड़ते हैं यथा—क्षमा और क्रोधत्याग। सामान्यतया दोनों समान हैं और सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों में अन्तर भी कह सकते हैं क्योंकि क्रोध न होने देना क्षमा तथा पैदा हुए क्रोध को रोकना क्रोध-त्याग है। योगसत्य, भावसत्य और करणसत्य, चारों कषायों और तीन योगों का समावेश पाँच समितियों में हो जाता है। दर्शन-सम्पन्नता को सामायिक आवश्यक के अन्तर्गत मान सकते हैं। ज्ञान सम्पन्नता और चारित्र सम्पन्नता को विशिष्ट गुण मान सकते हैं। वेदना और मरणांत-कष्ट सहिष्णुता को मूलगुणों में न मानकर परिषहजय के अन्तर्गत माना है। मूलाचार में प्रतिपादित उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

व्रत

श्रम, तप और त्याग प्रधान श्रमण संस्कृति में आध्यात्मिक मूल्यों की गहरी प्रतिष्ठा है। आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए व्रत, नियम आदि के पालन और मर्यादा से अपने आचार को संवारना आवश्यक है। व्रत, ग्रहण के पहले व्यक्ति को तदनुकूल भूमिका बनाकर उनके पालन की सामर्थ्य प्राप्त करना परम आवश्यक है। क्योंकि व्रत बीज की तरह हैं। व्रत रूपी बीजों को फलित करने के लिए अपने हृदय रूपी भूमि को उर्वरा बनाना आवश्यक है, अन्यथा व्रत फलीभूत नहीं होंगे।

व्रत से तात्पर्य है हिंसा, अनृत (झूठ) स्तेय (चोरी), अब्रह्म (मैथुन या कुशील) तथा परिग्रह—इनसे विरति (निवृति) होना।[1] विरति अर्थात् जानकर और प्राप्त करके इन कार्यों को न करना।[2] प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह भी व्रत है। अथवा यह करने योग्य हैं और यह नहीं करने योग्य है—इस प्रकार नियम करना भी व्रत है।[3] इस प्रकार हिंसा आदि पाँच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग या इनसे विरति को प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति—ये सभी एक ही अर्थ के वाचक हैं।[4]

१. हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्—तत्त्वार्थसूत्र ७-१.
२. विरतिर्नाम ज्ञात्वाभ्युपेत्याकरणम्—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ७-१.
३. व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति
—सर्वार्थसिद्धि ७-१-६६४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिंसा आदि उपर्युक्त पाँच असत्प्रवृत्तियों का त्याग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार तो कर सकता है किन्तु सभी प्राणी इनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एक समान नहीं कर सकते। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एकदेश निवृत्ति को अणुव्रत तथा सर्वदेश निवृत्ति को महाव्रत कहा जाता है। जिन व्रतों में जाति, देश, काल आदि का अपवाद नहीं रहता वे महाव्रत हैं। वस्तुतः व्रत अपने आप में अणु या महत् नहीं होते, यह विभाजन और ये विशेषण तो व्रत के साथ पालन करने वाले की क्षमता या सामर्थ्य पर आश्रित है। जब साधक अपने आत्मबल से सर्वदेश रूप में व्रतों के धारण और निरतिचार पालन में पूर्ण समर्थ हो जाता है तब उसके व्रत महाव्रत एवं वह महाव्रती-श्रमण कहा जाता है। हिंसाविरति, सत्य, अदत्तपरिवर्जन, ब्रह्मचर्य और संगविमुक्ति (अपरिग्रह)—ये पाँच महाव्रत हैं।[1] मूलाचारकार ने प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन तथा परिग्रह—इन पाँच (पापों) से विरत होने को पाँच प्रकार का चारित्राचार भी कहा है।[2] मूलगुणों के अन्तर्गत पाँच महाव्रत श्रमणाचार के आधारभूत गुण हैं। आचार-विचार एवं व्यवहार आदि विषयक विभिन्न नियमों-उपनियमों तथा कार्यों का प्रणयन इन्हीं के अन्तर्गत होता है। मूलाचार में महाव्रत उन्हें कहा है जिनसे महार्थ रूप मोक्ष की सिद्धि होती है। इसीलिए तीर्थंकरादि महापुरुषों ने इनका पालन किया है। महाव्रत में सभी पाप योगों का सर्वथा त्याग किया जाता है अतः वे स्वतः पूज्य हैं।[3]

पाँच महाव्रत

१. हिंसाविरति (अहिंसा)—हिंसाविरति रूप इस प्रथम महाव्रत का अधिक प्राचीन रूप 'पाणातिपातवेरमण' है।[4] इसका स्वरूप 'अहिंसा' शब्द द्वारा अभिहित हुआ है। अहिंसा से तात्पर्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—ये छह-कायिक जीव, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि—इनमें

---

१. मूलाचार १।४.

२. पाणिवहमुसावाद अदत्तमेहुण परिग्गहा विरदी।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो॥ वही ५।९१.

३. साहंति जं महत्थं आचरिदाणी य जं महल्लेहिं।
जं च महल्लाणि तदो महव्वयाइं भवे ताइं॥
वही ५।९७, भगवती आराधना—११८४.

४. पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं।—दशवैकालिक ४-११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब जीवों को जानकर उठने-बैठने, कायोत्सर्ग आदि सभी क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है।[1]

अहिंसा हिंसा का निषेधात्मक रूप है। 'हिंसा' शब्द हिंस धातु से बना है, जिसका अर्थ है—वध करना, घायल करना, आताप पहुँचाना या दुःख देना। कषाय की भावना के वशीभूत होकर मन, वचन, और कायरूप योग से किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन करना, कष्ट पहुँचाना हिंसा है। हिंसा के दो रूप हैं—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। एक जीव की किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति से दूसरे प्राणी को कष्ट पहुँचा तब उस प्रवृत्ति का जो स्थूल फल सामने आता है वह द्रव्यहिंसा है तथा उस प्रवृत्ति को करनेवाले व्यक्ति की आत्मा में जो परिणाम थे, जिनकी प्रेरणा पाकर वह वैसी प्रवृत्ति करने को प्रवृत्त हुआ या न कर पाने पर मात्र वैसे परिणाम मन में आये—ऐसे ही परिणामों का नाम भावहिंसा है। इस तरह बहिरंग में प्राणियों के इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छवास रूपी द्रव्य प्राणों की हिंसा से तथा अन्तरंग में राग-द्वेषादि रूप भाव-हिंसा से सर्वथा विरत रहना अहिंसा महाव्रत है।

मूलाचारकार ने पृथ्वी आदि षट्कायिक हिंसा के त्याग की बात इसलिए कही, क्योंकि इनमें सम्पूर्ण जीवों का समावेश हो जाता है। अहिंसा के चित्त का निर्माण इन्हीं की हिंसा के त्याग द्वारा सम्भव है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पृथ्वी आदि में से किसी एक निकाय की हिंसा का विधान हो तथा अन्य का निषेध। क्योंकि जो किसी एक की हिंसा करता है वह अन्य किसी भी निकाय की हिंसा कर सकता है, और उसके मन में अन्य निकाय के जीवों के प्रति मैत्री-भाव बन नहीं सकता है। आचारांग में कहा भी है—इस जगत में जो मनुष्य प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन जीव-वध करते हैं वे इन छह जीव-निकायों में से किसी भी जीव का वध कर देते हैं।[2] इसलिए षट्कायिक जीवों की मन, वचन, काय तथा कृत कारित और अनुमोदन से हिंसा के सर्वथा त्याग को अहिंसा महाव्रत कहा गया है। मूलाचारकार ने पाँच पापों से डरने वाले साधु को मन, वचन, और काय से सर्वत्र सर्वकाल में एकेन्द्रियादि किसी भी जीव का घात न करने की बात कही।[3] भगवती आराधना में कहा है—जैसे तुझे दुःख प्रिय

१. कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य ठाणादिसु हिंसादिविवज्जणमहिंसा॥ मूलाचार १-५.

२. आवंती केआवंती लोयंसि विप्परामुसंति, अट्ठाए अणट्ठाए वा, एएसु चेव विप्परामुसंति —आचारांग ५।१।१.

३. मूलाचार ५।९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं हैं वैसे ही उन जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं हैं, ऐसा जानकर सदा अपनी ही तरह सभी जीवों के प्रति व्यवहार करना चाहिए।[1] तथा भूख, प्यास, रोग, शीत तथा आतप से पीड़ित होने पर भी अन्य प्राणियों का घात करके अपनी भूख, प्यास आदि के प्रतिकार की बात तक मन में नहीं लाना चाहिए।[2]

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा न तो जड़ में होती है और न ही जड़ वस्तु के कारण ही। उनकी उत्पत्ति-स्थान व कारण दोनों ही चेतन हैं अतः हिंसा-अहिंसा का संबंध दूसरे प्राणियों के जीवन-मरण, सुख-दुःख मात्र से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से भी है। क्योंकि किसी जीव की हिंसा हो जाने पर प्रत्येक को कर्म का बंध एक जैसा नहीं होता, किन्तु उस व्यक्ति की कषाय की तीव्रता-मन्दता और भावधारा के अनुरूप ही कर्मबंध होता है। प्रवचनसार में कहा है—जीव मरे या जीये, इससे हिंसा का कोई संबंध नहीं है। यत्नाचार विहीन प्रमत्त पुरुष निश्चित रूप से हिंसक है और जो प्रयत्नवान् एवं अप्रमत्त, समिति-परायण है उनको किसी जीव की हिंसा मात्र से कर्मबंध नहीं होता[3], क्योंकि प्रयत्नवान् श्रमण के मन में किसी जीव की हिंसा का भाव यदि नहीं है और कदाचित् अनजाने में किसी जीव को उसके द्वारा कष्ट पहुँचे या मर जाये तो भी परिणामों में मारने का भाव न होने के कारण द्रव्य-हिंसा होते हुए भी उन्हें कर्म का बन्ध नहीं होता। इसीलिए कहा है—रागद्वेषादि अशुभ परिणामों का मन में उत्पन्न न होना ही अहिंसा तथा इन परिणामों की उत्पत्ति ही हिंसा है।[4]

इस प्रकार अहिंसा की साधना करने वाला साधक राग-द्वेष को कर्मों का बीज मानकर समभाव रखता है। समभाव को आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र कहा है।[5] इस प्रकार के समभाव से युक्त श्रमण इस पृथ्वी पर विहार करते हुए किसी

---

१. जह ते ण पियं दुक्खं तहेव तेसिंपि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पोवमिवो जीवेसु होदि सदा॥ भगवती आराधना ७७७.

२. वही ७७८.

३. मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥ प्रवचनसार २१७.

४. आप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ पुरुषार्थसिद्धयुपाय ४४.

५. चारित्तं समभावो—पंचास्तिकाय १०७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्राणी को कभी भी पीड़ा नहीं पहुँचाते। वे सभी जीवों के प्रति वैसे ही दया से परिपूर्ण होते हैं, जैसे माता अपने पुत्रादिक पर वात्सल्य रखती है।[1]

इस महाव्रत की प्रशंसा में कहा है कि इस जगत में अणु से छोटी और आकाश से बड़ी कोई दूसरी वस्तु नहीं, वैसे ही अहिंसा व्रत से बड़ा और कोई अन्य व्रत नहीं। यह सर्व आश्रमों का हृदय, सर्वशास्त्रों का गर्भ और सभी व्रतों का निचोड़ है।[2] जैसे धान्य के खेत की रक्षार्थ चारों ओर काँटों की बाड़ी होती है उसी तरह सत्य, अस्तेय आदि महाव्रत भी अहिंसा की रक्षा के लिए हैं।[3] अतः श्रमण को चाहिए कि जगत में जितने प्राणी हैं उनको जाने या अनजाने में हिंसा न करे, न करावे और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करे।[4]

२ सत्य महाव्रत—राग, द्वेष, क्रोध, भय, और मोह आदि दोषों से युक्त असत्यवचन, परसन्तापकारी सत्यवचन तथा सूत्रार्थ (द्वादशांग के अर्थ) के विकथन में अपरमार्थवचन—इन सबका परित्याग करना सत्य महाव्रत है।[5] परसंतापकारी वचन जैसे—हास्य, भय, क्रोध, तथा लोभवश विश्वासघातक झूठ वचनों का सर्वथा त्याग सत्यमहाव्रत है।[6] निशीथचूर्णि में मन, वचन और कर्म—इन तीनों की एकरूपता को सत्य तथा इसके अभाव को मृषावाद कहा है।[7] प्रकारान्तर से मृषावाद (असत्य) चार प्रकार का होता है।[8] १. विद्यमान वस्तु का निषेध करना। जीवादि तत्त्वों की विद्यमानता को नकारना कि जीव (आत्मा), पुण्य-पाप आदि नहीं हैं। २. असद्भाव-उद्भावन—जो नहीं है उसके विषय में कहना कि यह है। जैसे आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा कहना या श्यामाक तन्दुल सदृश कहना। ३. अर्थान्तर—एक वस्तु को दूसरी वस्तु कह देना। जैसे जीव को अजीव अथवा गाय को घोड़ा कह देना आदि। ४. गर्हा—

---

१. वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥ मूलाचार ९।३२.

२. णत्थि अणूदो अप्पं आयासादो अणूणयं णत्थि।
जह जह जाण महल्लं ण वयमहिंसासमं अत्थि ॥ भगवती आराधना ७८४.

३. सर्वार्थसिद्धि ७।१ पृ० ३४३. ४. दशवैकालिक ६।१०.

५. रागादीहिं असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्ति।
सुत्तत्थाणविकहणे अयधावणुज्झणं सच्चं ॥मूलाचार १।६

६. मूलाचार ५।९३. ७. निशीथ चूर्णि पृ० ३९८८.

८. दशवैकालिक ४।१२. जिनदासकृत चूर्णि पृ० १४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोष प्रकट करके किसी को पीड़ाकारी वचन कहना। जैसे अन्धे को अन्धा या काने को काना कहना आदि। सत्य महाव्रत के अन्तर्गत इन चारों का सर्वथा त्याग होता है।

भाषा के सत्य, असत्य, मिश्र और व्यावहारिक—ये चार भेद हैं। इनमें श्रमण के लिए असत्य एवं मिश्र भाषा का प्रयोग वर्जित है। सत्य और व्यावहारिक भाषा भी हिंसादि अभिप्राययुक्त होगी तो उसका भी निषेध किया है। अतः श्रमण को केवल अहिंसापूर्ण निर्दोष, सत्य तथा व्यावहारिक भाषा बोलने का विधान है।[1]

३. **अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य) महाव्रत**—यह तीसरा महाव्रत है। इसे अस्तेय या अचौर्य भी कहा जाता है। मूलाचारकार ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है—ग्राम, नगर, जंगल आदि स्थानों में पड़ी हुई, भूली या रखी हुई, अल्प या स्थूल अथवा पर-संग्रहीत वस्तुओं को बिना दिये ग्रहण न करना अदत्तपरिवर्जन महाव्रत है।[2] श्रमण को अपनी तपस्या, वाणी, रूप, आचार और भाव की भी चोरी का निषेध किया है।[3] वस्तुतः अदत्तादान में प्रवृत्ति लोभवश ही होती है।[4] अतः सचेतन अथवा अचेतन, अल्प या बहुत यहाँ तक कि दांत साफ करने की सींक भी विना दिये ग्रहण करने का निषेध किया गया है।[5]

४. **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्म शब्द जीव (आत्मा) का बोधक है। 'बृह' धातु से ब्रह्म शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है बढ़ना। ज्ञान, दर्शन आदि रूप से बढ़ने को ब्रह्म कहते हैं। जो बढ़ता है वह ब्रह्म जीव है, उस ब्रह्म में ही चर्या ब्रह्मचर्य है। पराये शरीर सम्बन्धी व्यापार (स्त्री रमणादि) से विरत श्रमण का अनन्त पर्यात्मक जीव-स्वरूप का ही अवलोकन करते हुए उसी में रमण करना ब्रह्म-

---

१. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ९१.
२. गामादिसु पडिदाइं अप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्त परिवज्जणं तं तु॥ मूलाचार १।७, ५।९४.
और भी देखिए—आचारांग २।१५।१।१, दशवैकालिक ४।१३.
३. दशवैकालिक ५।२।४६.
४. प्रश्न व्याकरण १।३.
५. दशवैकालिक ६।१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्य है।[1] जो श्रमण अपनी इन्द्रियों और मन को वश में कर लेता है वह आत्मा में ही रमण करेगा अन्यत्र नहीं।

इस महाव्रत की महत्ता और स्वरूप के विषय में कहा है—वृद्धा, बालिका और यौवना स्त्री को अथवा इन तीनों के प्रतिरूपों को देखकर उन्हें माता, पुत्री और बहन के समान मानना तथा स्त्री-कथा के अनुराग से निवृत्त होना, त्रैलोक्य-पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[2] देव, मनुष्य, तिर्यंच जाति की सचेतन एवं चित्रादि रूप अचेतन—इन चार प्रकार की स्त्रियों का मन, वचन और काय से सेवन न करना और सदा प्रयत्न-मन रहना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।[3] दीघनिकाय के महालिसुत्त में भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मचर्य का वास्तविक उद्देश्य चित्त विकर्षक तत्त्वों पर विजय पाकर पूर्ण एकाग्रता प्राप्त करना तथा "भव-संयोजनों" को क्षीण करके परम-मुक्ति-निर्वाण को साक्षात्कार करना बतलाया है।[4] दशवैकालिक में ब्रह्मचर्यव्रत-धारी को मनोज्ञ विषयों में राग-भाव का निषेध है।[5] इस प्रकार स्त्रियों का रूप देखकर उनके प्रति आकांक्षा की निवृत्ति अर्थात् मैथुन-संज्ञा रहित परिणाम को ब्रह्मचर्य कहा है।[6]

भगवती आराधना में ब्रह्मचर्य से विपरीत अब्रह्म के दश भेद इस प्रकार बताये हैं—[7] (१) स्त्री संबंधी इन्द्रिय-विषयों की अभिलाषा। (२) वत्थिवि-मोक्खो—लिंगेन्द्रिय में विकार होना, (३) प्रणीतरससेवन—धातु, बल, वीर्य की वृद्धि हेतु पौष्टिक आहार ग्रहण, (४) संसक्तद्रव्यसेवा—शय्यादि का सेवन, (५) तदिन्द्रियालोचन—स्त्रियों के सुन्दर शरीर का अवलोकन (६) सत्कार—स्त्रियों का सम्मान करना, (७) संस्कार—स्त्रियों के देह पर प्रेम रखकर वस्त्र, माला आदि पदार्थों से उन्हें आभूषित करना (८) अतीत-स्मरण, (९) अनागता भिलाषा तथा (१०) इष्टविषयसेवा। मन, वचन और काय से परशरीर संबंधी प्रवृत्ति का जिसने त्याग किया है, वह श्रमण दस प्रकार के अब्रह्म का त्याग करता

---

१. जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंभचरं विमुक्कपरदेहतत्तिस्स ॥ भगवती आराधना ८७८.
२. मादुसुदाभगिणीवय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ॥मूलाचार १।८.
३. वही-५।९५. ४. दीघनिकायपालि. (१. सीलक्खन्धवग्गो) आमुख पृ० ८.
५. दशवैकालिक ८।५८. ६. नियमसार ५९.
७. भगवती आराधना ८७९-८८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, तब वह दस प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन कर पाता है। मूलाचारकार ने शीलगुणाधिकार में अब्रह्म (शील विराधना) के दस कारण बतायें हैं—स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गंधमाल्यसंस्पर्श, शयनासन, वस्त्राभूषण, गीतवादित्र, अर्थ-संप्रयोग (सुवर्णादिक धन की अभिलाषा), कुशील संसर्ग, राजसेवा और रात्रिसंचरण।[1] इन सबके सर्वथा त्याग से ही विशुद्ध ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन हो सकता है। क्योंकि साधन शुद्धि के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती।

५. **संग-विमुक्ति (अपरिग्रह)**—लोभ कषाय के उदय से विषयों का संग परिग्रह है।[2] संग-विमुक्ति से तात्पर्य बाह्य और आभ्यान्तर परिग्रह का त्याग, परिग्रह के प्रति आसक्ति का अभाव[3]। जीवों के आश्रित मिथ्यात्वादि अथवा दासी-दास, पशु आदि रूप परिग्रह एवं अनाश्रित (अप्रतिबद्ध) धन-धान्यादि रूप परिग्रह एवं जीवों से उत्पन्न शंख, शुक्ति, चर्म, कम्बलादि रूप परिग्रह—इन सबका सर्वथा त्याग करना अन्य संयम एवं ज्ञानोपकरणों के प्रति निर्मम भाव रखना संग-विमुक्ति (अपरिग्रह) महाव्रत है[4]। श्रमण को जो अनिवार्य हैं, असंयमी जनों द्वारा अप्रार्थनीय है तथा ममत्व आदि पैदा न करने वाली वस्तु ही उपादेय है। इससे विपरीत अल्पतम परिग्रह भी उसके लिए ग्राह्य नहीं है[5]। क्योंकि पापरूप उपकरणों के ग्रहण की आकांक्षा परिग्रह है[6]।

मुमुक्षु तो अपने शरीर को भी परिग्रह मानता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा (आसक्ति) रखने वाला भले ही सम्पूर्ण आगमों का धारी (ज्ञाता) हो तथापि सिद्धि प्राप्त नहीं करता[7]। वस्तुतः धन-वैभव आदि का सदा के लिए त्याग करके ही श्रमणधर्म में दीक्षित होता है। किन्तु परिग्रह त्याग के बाद भी उसके प्रति ममत्व रूप विकल्प की मन में गाँठ बनी रहना ही मूर्च्छा है, जो श्रमण को अपनी साधना में कभी सफल नहीं होने देती। क्योंकि जैसे सांसारिक व्यक्ति के मन में परिग्रह की सुरक्षा का भय बना रहता है, वैसे ही वस्तु के प्रति मूर्च्छा रखने वाले श्रमण के

---

१. मूलाचार ११।१३-१४.
२. लोभकषायोदयाद्विसयेषु संगः परिग्रहः—सर्वार्थसिद्धि ४।२१.
३. मूलाचारवृत्ति १।४.
४. जीव णिबद्धा बद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो ।। मूलाचार १।९.
५. प्रवचनसार ३।२३.
६. परिग्रहः पापादानोपकरणकांक्षा—मूलाचार वृत्ति ११।९.
७. प्रवचनसार २२४, २३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन में उसकी सुरक्षा का भय बना रहता है। और निर्भय बने बिना श्रमण कभी सच्चा साधक नहीं बन सकता। अतः जो निर्ग्रन्थ श्रमण परिग्रह का संग्रह, चिन्तन और प्रयत्नपूर्वक रक्षण रूप आर्तध्यान करते हैं उसको तो आचार्यों ने पापमोहित बुद्धि वाला पशु कहा है, श्रमण नहीं[1]। इस तरह श्रमण को ऋद्धि, सत्कार, पूजा की भावना तथा जीवन की अभिलाषा से भी रहित होना[2] तथा परिग्रह को मूर्च्छा रूप जानते हुए[3] लेशमात्र भी उसका संग्रह नहीं करना चाहिए। अपितु पक्षी की तरह संग्रह से निरपेक्ष रहते हुए अनासक्त भाव से संयमोपकरण मात्र के साथ विचरण करना चाहिए[4]। प्रवचनसार में तो यहाँ तक कहा है कि काय चेष्टापूर्वक अर्थात् (प्रमाद एवं अप्रमाद की अवस्था में) शरीर की हलन-चलन आदिरूप क्रियाओं द्वारा पर-प्राणों के घात से बन्ध होता भी है अथवा नहीं भी होता है किन्तु उपधि अर्थात् परिग्रह से तो निश्चित ही बन्ध होता है इसीलिए श्रमण अन्तरंग तथा बहिरंग-सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ देते हैं[5]। क्योंकि उपधि के सद्भाव में उस श्रमण के मूर्च्छा, आरम्भ या असंयम न हो यह कैसे हो सकता है? तथा जो परद्रव्य में रत हो वह आत्मा को कैसे साध सकता है[6]? आचारांग में कहा है जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है वही परिग्रह को त्याग सकता है[7]।

मूलतः परिग्रह के अन्तरंग और बाह्य—ये दो भेद हैं। इनमें अन्तरंग परिग्रह के १४ भेद हैं—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ। बाह्य परिग्रह के १० भेद हैं—क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनासन, कुप्य (वस्त्र) और भाण्ड (पात्र)—इस तरह परिग्रह के कुल चौबीस भेद हैं[8]। इन सबका मन, वचन और काय पूर्वक त्याग से ही यह महाव्रत सिद्ध होता है।

---

१. लिंग पाहुड ५.
२. दशवैकालिक १०।१७.
३. तत्त्वार्थसूत्र ७।१७, दशवैकालिक ६।२१.
४. उत्तराध्ययन ६।१६.
५. हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं॥ प्रवचनसार २१९.
६. वही २२१.
७. जे ममाइयं-मति जहाति, से जहाति ममाइयं—आचारांग २।६।१५६.
८. मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा॥
खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति॥
—मूलाचार ५।२१०-२११, भगवती आराधना १११८-१११९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच महाव्रतों की भावनायें :

जाने हुए अर्थ का पुनः पुनः चिन्तन भावना है[1]। अथवा आत्मा के द्वारा जो भायीं जाती हैं—उनका बार-बार अनुशीलन करना भावना है[2]। अर्थात् जिन चेष्टाओं और संकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों को भावित या वासित किया जाता है उसे भावना कहते हैं[3]। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और भक्ति आदि जिस रूप चेष्टायें व अभ्यास हैं, उनसे मानस को भावित किया जाता है। इस तरह—महाव्रतों को शुद्ध रखने के लिए मन, वचन और काय की शुद्ध प्रवृत्ति ही भावना है। इन भावनाओं से महाव्रतों का पालन अधिकाधिक शुद्ध होता है। अतः ये भावनायें महाव्रतों की स्थिरता के लिए है[4]। प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनायें इस प्रकार हैं[5]—

१. हिंसा-विरत महाव्रत की भावनायें[6] : (१) एषणा समिति—भिक्षाचर्या विषयक विवेक या यत्नाचार, (२) निक्षेप-आदान समिति—वस्तुओं को उठाने-रखने में विवेक, (३) ईर्या समिति—यत्नाचारपूर्वक गमनागमन करना, (४) मनोगुप्ति—मन की प्रवृत्ति का संयमन, (५) आलोक्यभोजन—देख-शोधकर दिन के प्रकाश में योग्य समय पर आहार करना।

उपर्युक्त भावनाओं का पालन जीवों की रक्षा और अहिंसा महाव्रत की पूर्णता हेतु किया जाता है[7]। आचारांग और समवायांग सूत्र तथा चारित्त-पाहुड ग्रन्थों में उल्लिखित इस व्रत की भावनाओं में एषणा समिति के स्थान पर वचन-गुप्ति का उल्लेख है[8]। जबकि प्रश्नव्याकरण में आलोक्य भोजन का उल्लेख नहीं है, इसमें अपाप-वचन (वचन समिति) भावना को स्वीकृत किया है[9]।

---

१. ज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना—पंचाध्यायी तात्पर्यवृत्ति पृ० ८६.

२. तत्त्वार्थवार्तिक ७।३, पृ० ५३५.

३. भाविज्जइ वासिज्जइ जीए जीवो विसुद्ध चेट्ठाए सा भावणत्ति वुच्चइ।
—पासणाह चरियं पृ० ४६०.

४. तत्त्वार्थसूत्र ७।३.

५. मूलाचार ५।१४०-१४४, मूलाचार वृत्ति ५।१४५, उत्तराध्ययन ३१।१७.

६. एसणाणिक्खवादाणिरिया समिदी तहा मणोगुत्ती।
आलोयभोयणंपि य अहिंसाए भावणा पंच ॥मूलाचार ५।१४०.
—आचारचूला १५।४४, प्रश्नव्याकरण संवरद्वार १.

७. मूलाचार वृत्ति ५।१४०.

८. आचारांग २।३।१५, समवायांग २५, चारित्त पाहुड ३१.

९. प्रश्नव्याकरण, प्रथम संवरद्वार षष्ठ अध्ययन.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. सत्य-महाव्रत की भावनायें—(१) क्रोध, (२) भय, (३) लोभ, (४) हास्य इनका प्रत्याख्यान या त्याग तथा (५) अनुवीचि-भाषण अर्थात् विचारपूर्वक सूत्र (आगम) के अनुसार बोलना[1]।

आचारांग, समवायांग तथा प्रश्नव्याकरण—इन ग्रन्थों में मूलाचार के ही समान इस महाव्रत की पाँच भावनाओं का प्रतिपादन है[2]। किन्तु चारित्तपाहुड में पंचम अनुवीचि-भाषण के स्थान पर अमोह-भावना का उल्लेख आया है[3]। पर इनके टीकाकार ने एक गाथा उद्धृत करके 'अमोह' का अर्थ 'अनुवीचि-भाषण-कुशलता' ही किया है[4]।

३ अदत्तपरिवर्जन (अचौर्य) महाव्रत की भावनायें[5]: (१) याच्चा प्रतिसेवी—पुस्तक आसनादि का याचनापूर्वक ग्रहण, (२) समनुज्ञापना-प्रतिसेवी—परोक्ष में गृहीत वस्तु के ग्रहण की सूचना देना, (३) अनन्यभाव-प्रतिसेवी—पर वस्तु का अनात्म भाव से सेवन, (४) त्यक्त-प्रतिसेवी (विमोचितावास)—जिसकी अन्य किसी को आवश्यकता नहीं है, ऐसा छोड़ा हुआ गृहादि श्रामण्ययोग्य वस्तु का सेवन, (५) साधर्मोपकरण अनुवीचि—साधार्मिक श्रमण के शास्त्र, कमंडलु आदि का आगमानुकूल सेवन।

चारित्त-पाहुड में इस महाव्रत की निम्न भावनाओं का उल्लेख किया है, जो मूलाचारोल्लिखित भावनाओं से भिन्न हैं—शून्यागार निवास, विमोचितावास, परोपरोध न करना, एषणा शुद्धि तथा साधर्मि-सह-अविसंवाद अर्थात् साधर्मिक के साथ विसंवाद न करना[6]। आचारांग में इस महाव्रत की भावनायें इस प्रकार हैं[7]—(१) अनुवीचि-मितावग्रह—याचन विचारपूर्वक आगमानुसार आवश्यक स्थान या अल्प पदार्थों की याचना, (२) अनुज्ञापित-पानभोजन—विधिपूर्वक

---

१. कोहभयलोहहासपइणा अणुवीचि भासणं चेव।
बिदियस्स भावणाओ वदस्स पंचेव ता होंति ॥ मूलाचार ५।१४१.

२. आचारांग २।३।१५, समवायांग २५, प्रश्नव्याकरण द्वितीय संवरद्वार सप्तम अध्ययन.

३. कोहभय हास लोहा मोहा विवरीय भावणा चेव—चारित्त पाहुड ३३.

४. अकोहणो अलोहो य भवहस्स विवज्जिदो।
अणुवीचि भास कुसलो विदियं वदमस्सिदो ॥ चारित्त पाहुड टीका ३३.

५. जायणसमणुण्णमणा अणण्णभावोवि चत्तपडिसेवी।
साधम्मिओवकरणस्सणुवीचीसेवणं चावि ॥ मूलाचार ५।१४२.

६. चारित्त पाहुड ३४, तत्त्वार्थसूत्र ७।६. ७. आचारांग २।३।१५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्न-पानादि लाने के बाद गुरु आज्ञापूर्वक ही उनका प्रयोग करना, (३) अवग्रह का अवधारण—क्षेत्र तथा काल की मर्यादापूर्वक वस्तु आदि माँगते समय ही अवग्रह का परिमाण निश्चित कर लेना। (४) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन—बार-बार आज्ञा-ग्रहणपूर्वक स्थान या वस्तु ग्रहण की याचना, (५) साधर्मिक के पास से अवग्रह-याचन—अर्थात् उससे आज्ञापूर्वक स्थान या वस्तु ग्रहण करना। प्रश्न-व्याकरण में (१) विविक्त-वासवसति (२) अभीक्ष्ण-अवग्रह-याचन, (३) शय्या-समिति (४) साधारण पिण्ड-पात्रलाभ और (५) विनय-प्रयोग—इन पाँच भावनाओं का उल्लेख है[1]।

४. **ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनायें**[2] : (१) महिलालोकन-विरति—स्त्रियों पर कुदृष्टि न रखना, (२) पूर्वरति-स्मरण-विरति—पूर्वभुक्त रति का स्मरण न करना, (३) संसक्तवसति विरति—संसक्त द्रव्ययुक्त अथवा सराग वसति का त्याग, (५) विकथा-विरति—स्त्री, चोर आदि विषयक कथा का त्याग, (५) प्रणीतरस विरति—समीहित रसों से विरति।

इस महाव्रत की प्रायः इसी के आशय की भावनाओं का उल्लेख अन्यान्य जैन ग्रन्थों में मिलता है[3]।

५. **संगविमुक्ति महाव्रत की भावनायें** : (१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रस, (४) रूप, (५) गंध—पंचेन्द्रिय संबंधित इन पांच विषयों में मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप में राग-द्वेष का वर्जन ही पंचम महाव्रत की पाँच भावनायें हैं।[4] चारित्त पाहुड, आचारांग तथा प्रश्नव्याकरण में भी इन्हीं पाँच भावनाओं का उल्लेख है।[5] समवायांग में श्रोत्रेन्द्रिय रागोपरति, चक्षु-इन्द्रिय रागोपरति, घ्राणेन्द्रिय रागोपरति, रसनेन्द्रिय रागोपरति और स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति—ये पाँच भावनायें वर्णित हैं।[6]

---

१. प्रश्नव्याकरण—तृतीय संवर द्वार, अष्टम अध्ययन.

२. *महिलालोयण पुव्वरदिसरणसंसत्त वसधिविकहाहिं।*
पणिदरसेहिं य विरदी य भावणा पंच बम्हाह्मि ॥
—मूलाचार ५।१४३, चारित्त पाहुड ३५.

३. आचारांग सूत्र २।३।१५, समवायांग २५.

४. अपरिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फरिसरसरूवगंधेसु।
रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा पंच ॥ —मूलाचार ५।१४४,

५. चारित्त पाहुड ३६, आचारांग २।१५. प्रश्नव्याकरण पंचम संवरद्वार, दशम अध्ययन.

६. समवायांग समवाय २५. (अंगसुत्ताणि भाग १. पृष्ठ ८६३.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच महाव्रतों की ये पच्चीस भावनायें हैं। मूलाचार में इनके माहात्म्य में लिखा है कि जो श्रमण इन भावनाओं को सदा भाता है, गाढ़ निद्रा में भी वह पांच महाव्रतों की किंचित् भी विराधना नहीं कर सकता, तब फिर जाग्रत श्रमण की तो बात ही और है। अतः श्रमणों को इनका अप्रमत्त रूप से मनन करना चाहिए। तभी सम्पूर्ण व्रतों का अखण्ड और निर्दोष पालन किया जा सकता है।[1]

उपर्युक्त पाँच महाव्रतों का प्रचलन भगवान् महावीर की परम्परा से माना जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में चातुर्याम धर्म की मान्यता थी। इस परम्परा में ब्रह्मचर्य की स्वतन्त्र महाव्रत के रूप में गणना नहीं थी अपितु इसे अपरिग्रह के ही अन्तर्गत माना था। पूर्व-प्रचलित चातुर्याम में भगवान् महावीर ने स्वतंत्र रूप से ब्रह्मचर्य को पंचम महाव्रत के रूप में प्रचलित किया और तब से जैनधर्म पञ्चयाम धर्म बना।[2] बौद्ध पिटकों के अन्तर्गत दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भ० पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का उल्लेख भ्रमवश निग्गंथनातपुत्त (भगवान् महावीर) के नाम से किया गया मिलता है[3] भगवान् महावीर को पाँचवें ब्रह्मचर्य महाव्रत का भी इसलिए अलग से स्पष्ट प्रतिपादन करना आवश्यक हो गया क्योंकि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समकालीन साधु सरल तथा अल्पबुद्धि थे। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के समकालीन मुनि वक्र और मन्दबुद्धि थे तथा मध्यवर्ती बाईस तीथकरों के साधु सरल और प्राज्ञ थे।[4] प्रथम तीर्थंकर के समय तो मानव सभ्यता का उदयकाल था अतः बाह्याडम्बरों से ज्यादा परिचय भी नहीं था। किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधुओं के समक्ष संयमधर्म का मार्ग स्पष्ट था। अपरिग्रह महाव्रत के स्वरूप के ही अनुसार वे अन्तर्बाह्य सभी प्रकार के परिग्रहों का मन, वचन और काय से ग्रहण करना अनुचित एवं अधर्म समझते थे। जैसे-जैसे मनुष्यों की प्रकृति में परिवर्तन आया और ब्रह्मचर्य पालन का स्पष्ट निर्देश न होने से इसकी अवहेलना की अधिक सम्भावनायें सामने आने लगीं तब भगवान् महावीर को इसके स्वतंत्र

---

१. मूलाचार ५।१४५-१४६.

२. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥ उत्तराध्ययन २३।२३.

३. दीघनिकाय—सामञ्ञफलसुत्त.

४. पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ तेन धम्मे दुहा कए॥—उत्तराध्ययन २३। २५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महत्व प्रतिपादन की आवश्यकता महसूस हुई और तदनुसार उसका प्रतिपादन किया।

ब्रह्मचर्य महाव्रत के स्वरूप तथा उद्देश्यों का जब हम अध्ययन करते हैं तब पाते हैं कि यह महाव्रत एक जीवनव्यापी साधना है जो किसी भी काल या स्तर में सीमित नहीं है। यह ऐसा चिंतन है जिसके पालन से सभी प्राणियों के प्रति वह समदृष्टि जाग्रत होती है जो आध्यात्मिक ही नहीं अपितु सांसारिक जीवन के लिए भी बहुत आवश्यक है। वैसे सांसारिक विविध कामभोग आदि विषयों का सदा को त्याग कम-दुष्कर कार्य नहीं है, किन्तु जिसका उद्देश्य साधना के मार्ग पर चलते हुए आत्मविकासकर मुक्ति प्राप्त करना है, उसे तो इन सबका सर्वथा त्याग प्रथम अनिवार्य कर्तव्य है अन्यथा इनके रहते व्यक्ति को भौतिक सुखों की प्राप्ति हेतु परिग्रह का सहारा लेना पड़ता है और परिग्रह की प्राप्ति हेतु हिंसा, झूठ, चोरी जैसे अनेक पापों को साधन बनाना पड़ता है। इसलिए किसी भी साधक को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आगे बढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य को अपने सम्पूर्ण जीवन में चरितार्थ करना आवश्यक है।

पाँच महाव्रतों की परम्परा दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में समान है। किन्तु आगे चलकर अर्धमागधी आगम परम्परा के कुछ ग्रन्थों में इन पाँच महाव्रतों के साथ छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत भी जुड़ गया।[1] मूलाचारकार ने रात्रिभोजनत्याग को अहिंसा महाव्रत में अन्तर्निहित मानकर इसे अलग से मूलगुण नहीं माना। अहिंसा महाव्रत की "आलोक्य-पान-भोजन" नामक भावना में रात्रिभोजन त्याग गर्भित है। एकभक्त नामक मूलगुण का विधान होने से भी रात्रिभोजन त्याग को मूलगुणों में गणना का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। जैन परम्परा में रात्रिभोजन के त्याग का विधान श्रावकों तक के लिए है तब श्रमणों को इसका विधान तो अपने आप ही सिद्ध है। इस संबंध में मूलाचारकार ने चारित्राचार के विवेचन प्रसंग में अहिंसा महाव्रत की रक्षार्थ रात्रिभोजन त्याग को प्रथम कर्तव्य कहा है। तथा रात्रिभोजन से उत्पन्न दोषों का भी वहाँ संक्षिप्त में अच्छा विवेचन किया गया है।[2]

---

१. अहावरे छट्ठे भंते। वए राईभोयणाओ वेरमणं। दशवैकालिक ४।१६.

२. तेसिं चेव वदाणं रक्खट्ठं रादि भोयणणियत्ती।
अट्ठय पवयणमादा य भावणाओ य सव्वाओ॥
तेसिं पंचण्हंपि यान्हयाणमावज्जणं च संका वा।
आदविवत्ती अ हवे रादीभत्तप्पसंगेण॥ मूलाचार ५।९८, ९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार पाँच महाव्रतों के विवेचन में श्रमणधर्म के प्राणस्वरूप अहिंसा महाव्रत का प्राधान्य ही दृष्टिगोचर होता है। इसी की विशुद्धि के लिए प्रायः सम्पूर्ण आचार-विचार का प्रतिपादन भी हुआ है। श्रमण की प्रत्येक आचारमूलक क्रिया अहिंसापरक होती है।

अहिंसा आदि पाँच महाव्रत एक दूसरे के पूरक और सहयोगी हैं क्योंकि इनके विपरीत पाँच अव्रतों में से किसी एक का भी आचरण करने वाला शेष अव्रतों के आचरण से बच नहीं सकता। परिग्रह रखने वाला हिंसा से नहीं बच सकता और न हिंसा करने वाला परिग्रह से। वस्तुतः इन सबके मूल में राग और द्वेष—ये दो विकारी प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। हिंसा आदि तो उनके पर्याय हैं। इन्हीं दोनों से प्रेरित होकर जो पुरुष परिग्रह की आकांक्षा करता है वह हिंसादि सभी अव्रतों का भी स्पर्श करता है। अमृतचंद्रसूरि ने कहा है— रागभाव हिंसा हैं, अतः असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह भी रागादिभाव रूप होने से हिंसा ही है। पाँच पाप (अव्रत) रूप कथन तो मात्र समझाने के लिए किया गया है।[1] पाँच महाव्रतों की प्राप्ति तथा उनका पालन एक साथ होता है अलग अलग नहीं। इस तरह ये महाव्रत एक साथ ही घटित होते हैं तथा एकसाथ भंग भी होते हैं। अतः सभी महाव्रतों के परिपालन में ही श्रमणाचार की पूर्णता देखी जा सकती है।

समिति :

श्रमण धर्म निवृत्ति प्रधान है। फिर भी जीवन चर्या के निर्विघ्न संचालन हेतु नित्य के कार्यों में प्रवृत्ति का आश्रय भी आवश्यक होता है। क्योंकि श्रमण को चलना, फिरना, उठना, बैठना, बोलना, आहार लेना, कमण्डलु, आदि उठाना-रखना, तथा मल-मूत्र विसर्जन आदि क्रियायें भी करनी पड़ती हैं। अतः इन प्रवृत्तियों को प्रमाद रहित यत्नाचार पूर्वक सम्पन्न करना ही समिति है।

अहिंसा आदि महाव्रतों को स्थित करने के उद्देश्य से इन क्रियाओं में विवेकपूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति द्वारा जीवों की रक्षा करना तथा प्रयत्नपूर्वक सदा जीवों के रक्षण की भावना रखना 'समिति' है। वस्तुतः जबतक इस संसार में रहना है—इन क्रियाओं के बिना जीवन संभव नहीं। इन क्रियाओं में जीव-हिंसा भी हो सकती है। पर अयत्नाचार का शमन तथा विशुद्ध प्रवृत्तियों के आचरण से ही श्रमण अपने अहिंसा आदि महाव्रतों की रक्षा और उनका पोषण कर सकता है। इस दृष्टि से मन की एकाग्रता, विशुद्धता, संयम की दृढ़ता एवं चारित्रिक विकास हेतु समितियों का आचरण आवश्यक है। कहा भी है जीव

१. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरे या जीये, अयत्नाचारी प्रमत्तपुरुष को निश्चितरूप से हिंसा का दोष लगता हैं। किन्तु जो प्रयत्नवान् अप्रमत्त एवं समिति परायण है उसको किसी की हिंसा मात्र से कर्मबन्ध नहीं होता।[1]

समितियाँ प्रवृत्तिपरक होती हैं। इन समितियों में प्रवृत्ति से सर्वत्र एवं सर्वदा गुणों की प्राप्ति तथा हिंसा आदि पापों से निवृत्ति होती है। आस्रव का निरोध तथा पुराने कर्मों की निर्जरा होती है।[2] अनन्त जीवों से भरे इस संसार में जीवों की हिंसा से श्रमण उसी तरह लिप्त नहीं होता जैसे स्नेहगुणयुक्त कमल-पत्र पानी से लिप्त नहीं होता। और जैसे लोहे का कवच धारण करने वाला योद्धा युद्ध में वाणों की वर्षा होने पर भी वह वाणों से बिद्ध नहीं होता। संसार में अज्ञानी के सदृश ज्ञानी भी प्रवृत्ति करते हैं किन्तु अज्ञानी कर्मों से बँधता रहता है पर ज्ञानी उनसे मुक्त रहता है। उसी तरह समिति-पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले जीव की स्थिति है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने इस समितियों को 'संयम शुद्धि में निमित्तभूत' कहा है।[4]

चारित्र एवं संयम की प्रवृत्ति के लिए समिति के पाँच भेद हैं—(१) ईर्या (२) भाषा (३) एषणा (४) निक्षेपणादान एवं (५) उच्चारप्रस्रवण (प्रतिष्ठापनिका)।[5] इन समितियों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

(१) **ईर्या-समितिः**—इसका सामान्य अर्थ है—गमनागमन विषयक यत्नाचार अर्थात् क्षुद्र जीव भी पैरों के नीचे आकर मर न जाए, ऐसा प्रयत्नमन रहना। कार्यवश दिन के समय अर्थात् सूर्य के प्रकाश में प्रासुक-मार्ग से चार हाथ परिमाण भूमि को आगे देखते हुए, जीवों की विराधना बचाते हुए संयम-पूर्वक गमन करना ईर्या समिति है।[6] मार्ग-शुद्धि (जीवादि रहित मार्गशुद्धि), उद्योत-शुद्धि (सूर्य का प्रकाश), उपयोग शुद्धि (इन्द्रिय विषयों की चेष्टा रहित तथा

---

१. प्रवचनसार २१७।

२. मूलाचार ५।१३३.

३. वही ५।१२९-१३२.

४. संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंचसमिदीओ। चारित्तपाहुड ३७.

५. इरियाभासा एसण णिक्खेवादाणमेव समिदीओ।
पादिठावणिया य तहा उच्चारादीण पंचविहा।। मूलाचार १।१०, ५।१०४.

६. फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतूणि परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं।। मूलाचार १।११, नियमसार ६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग सहित) और आलंबन-शुद्धि (देव, गुरू, तीर्थ वंदना आदि आलम्बन अर्थात् प्रयोजन)—इन चार शुद्धियों के आश्रयपूर्वक श्रमणों की गमन रूप प्रवृत्ति को ईर्यासमिति कहा है।[1] अर्थात् इसके अन्तर्गत ईर्या-पथ पर युगप्रमाण (चार हाथ) सामने सावधानी से देखते हुए सदा अप्रमत्तभाव से गमन करने का विधान है।[2] इस तरह जब सूर्य के प्रकाश से समस्त दिशायें प्रकाशमान हो जायें और मार्ग स्पष्ट दिखाई देने लगें तब स्वाध्याय, प्रतिक्रमण देववन्दन आदि नित्यकर्म करे, फिर अपने सम्मुख चार हाथ प्रमाण भूमि को अच्छी तरह से देखते हुए विशुद्ध मन, वचन और काय से सावधानी पूर्वक शास्त्र में उपयोग रखते हुए देव, गुरु और धर्मादि रूप आलम्बन के उद्देश्य से प्रासुक मार्ग (ईर्यापथ) पर गमन करना ईर्यासमिति है।[3]

मूलाचार में प्रासुक मार्ग (ईर्यापथ) के लक्षणों के विषय में लिखा है—'जिस मार्ग पर बैलगाड़ी, यान, युग्य (हाथी, घोड़ा तथा मनुष्यादि के द्वारा खींचा या ढोया जाने वाला), रथ आदि वाहन तथा हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट, गाय, भैंस, गवेलका (बकरा), स्त्री, पुरुष आदि का निरन्तर आवागमन हो, साथ ही वह मार्ग सूर्य-प्रकाश-युक्त तथा कृषीकृत हो वह प्रासुक मार्ग है[4]। श्रमणों को ऐसे ही मार्ग पर चलने का विधान है।

सामने की युग-प्रमाण भूमि देखकर गमन विषयक विधान के सम्बन्ध में विचार आवश्यक है। क्योंकि अनेक शास्त्रों में इसका उल्लेख है।[5] मूलाचार वृत्तिकार वसुनन्दि ने युग-प्रमाण का अर्थ 'चार हाथ प्रमाण' किया

---

१. मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ।। मूलाचार ५।१०५,
भगवती आराधना ११९१.

२. इरियावहपडिवण्णेणवलोगंतेद होदि गंतव्वं।
पुरदो जुगप्पमाणं सयापमत्तेण संतेण ।। वही ५।१०६.

३. मूलाचारवृत्ति ५।१०५,१०६.

४. मूलाचार ५।१०७-१०९, स्थानांग ५।३, उत्तराध्ययन २५.

५. (क) जुगंतरप्पेहिणा····मूलाचार १.११.
(ख) पुरदो जुगप्पमाणं····वही ५।१०६.
(ग) जुगमित्तं····उत्तराध्ययन २४।७.
(घ) पुरओ जुगमायाए····दशवैकालिक ५।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है[1]। शान्त्याचार्य ने भी यही अर्थ किया है।[2] बौद्ध परम्परा के विशुद्धिमग्ग में[3] तथा आयुर्वेद के अष्टांगहृदय[4] में भी इसी आशय का उल्लेख है। जिनदास महत्तर ने युग का शरीर' अर्थ किया है।[5] इसका आशय बताया है कि मुनि को अपने शरीर-प्रमाण आगे देखकर चलना चाहिए। गाड़ी से सम्बन्धित युग का यह अर्थ है कि जैसे गाड़ी के सामने आगे का भाग कम चौड़ा और उसके बाद क्रमशः अधिक विस्तृत होता जाता है इसी प्रकार श्रमण की दृष्टि भी होनी चाहिए।[6] युग का ही लौकिक अर्थ गाड़ी (बैलगाड़ी आदि) का जुआ भी होता है। इस दृष्टि से गाड़ी के जुए की लम्बाई के बराबर आगे के मार्ग को देखकर चलना चाहिए। दशवैकालिकचूर्णि में कहा है—यदि चलते समय दृष्टि को बहुत दूर डाला जाए तो सूक्ष्म जीव देखे नहीं जा सकते और उसे अत्यन्त निकट रखा जाए तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों को टाला नहीं जा सकता, इसलिए शरीर-प्रमाण क्षेत्र देखकर चलने का विधान है।[7]

उत्तराध्ययन में ईर्यासमिति के चार कारण बताये हैं—१. आलम्बन, २. काल, ३. मार्ग तथा ४. यतना। संयत को इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या समिति पूर्वक विचरण करना चाहिए[8]। इनमें १. ईर्या समिति का आलम्बन ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। इनका आलम्बन लेकर ही गमन करना चाहिए, अन्य प्रयोजन से नहीं। २. काल—ईर्या समिति का काल दिवस है। अर्थात् दिन में ही गमन करना चाहिए, रात में नहीं। ३. मार्ग—साधु को उत्पथ

---

१. (क) युगमात्रं हस्तचतुष्टय प्रमाणम्--मूलाचार वृत्ति ५।१०६.
(ख) युगान्तरं चतुर्हस्तप्रमाणं प्रेक्षते पश्यतीति युगान्तरपेक्षी तेन युगान्तर-प्रेक्षिणा—वही १।११.

२. युगमात्रं च चतुर्हस्तप्रमाणं प्रस्तावत्क्षेत्रं प्रेक्षेत—उत्तराध्ययन (२४।७) बृहद्वृत्ति पत्र ५१५.

३. ....युगमत्तदस्सी—विसुद्धिमग्ग १।२.

४. विचरेद् युगमात्रदृक्—अष्टांगहृदय सूत्रस्थान २।३२.

५. जुगं सरीरं भण्णइ—दशवैकालिक (५।१।३) जिनदासचूर्णि पृष्ठ १६८.

६. तावमेत्तं पुरओ अंतो संकुडाए बाहि वित्थडाए सगडुद्धियाए दिट्ठीए —दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ० १६८.

७. दशवैकालिक (५।१३) जिनदासचूर्णि पृ० १६८ तथा अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ० ९९.

८. आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य।
चउकारणपरिसुद्धं संजए इरियं रिए॥ उत्तराध्ययन २४।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(कुमार्ग) का वर्जन करके प्रासुक मार्ग पर ही गमन करना चाहिए। ४. यतना—द्रव्य (आँखों से देखकर), क्षेत्र (युग प्रमाण भूमि को देखकर), काल (जबतक चले तबतक देखे) और भाव (उपयोग पूर्वक)—यतना के इन चार प्रकारों का ध्यान रखकर सावधानी पूर्वक गमन करना चाहिए। साथ ही इन्द्रिय-विषयों और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का कार्य छोड़कर मात्र गमन-क्रिया में ही तन्मय हो, उसी को प्रमुख महत्त्व देकर उपयोगपूर्वक चले।[1]

चलते समय बातचीत, अध्ययन, चिन्तन आदि कार्यों का भी निषेध है। क्योंकि इन कार्यों को करते हुए चलने पर न तो गमन ही सावधानी पूर्वक होगा और न ये कार्य। श्रमण को धीमे, उद्वेग-रहित होकर तथा चित्त की आकुलता मिटाकर चलना चाहिए।[2]

इस प्रकार श्रमण को गमन के समय जिन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए वे इस तरह हैं—(१) सावधानी पूर्वक सामने की चार हाथ भूमि देखते हुए चलना, (२) हाथ-पैरों को आपस में टकराकर नहीं चलना, (३) भय और विस्मय का त्याग करके चलना, (४) कूदकर, भागकर नहीं, अपितु मध्यम गति से चलना चाहिए, (५) हरी वनस्पति, त्रण-पल्लव आदि से एक हाथ दूर रहकर चलना, (६) वनस्पति, जलकायिक आदि जीवों की हिंसा की सम्भावना से युक्त छोटे रास्ते से नहीं जाकर इनसे रहित लम्बे रास्ते से ही गमन करना, (७) वर्षा के कारण मार्ग में उत्पन्न छोटे-छोटे जीव-जन्तु और अंकुरित वनस्पति जानकर चातुर्मास प्रारंभ कर देना चाहिए, (८) वर्षा ऋतु के पश्चात् भी मार्ग जीव-जन्तु और वनस्पति से रहित न हो तो मुनि भ्रमण न करे, (९) जिन मार्गों में चोर, म्लेच्छ एवं अनार्य लोगों के भय की सम्भावना हो अथवा जिस मार्ग में युद्धस्थल पड़ता हो तो उन्हें छोड़कर निरापद मार्गों से ही गमनागमन करना चाहिए। (१०) प्रसंगवशात् मार्ग में सिंह आदि हिंसक पशु आदि दिखाई दें तो पेड़ों पर न चढ़े, न पानी में कूदे और न उन्हें मारने के लिए शस्त्र आदि की मन में इच्छा ही करे, अपितु शान्तिपूर्वक निर्भय होकर गमन करते रहना चाहिए। (११) मूलाचार के अनुसार गमन काल में जब धूप से छाया में या छाया से धूप में जाये, तब प्रथमतः अपने शरीर का मयूर-पिच्छि से प्रमार्जन अवश्य कर लेना चाहिए।[3] गमन के समय इन सब विधानों का प्रयोजन प्राणि-हिंसा निरोध ही है।

---

१. उत्तराध्ययन २४।५-८. २. दशवैकालिक ५।१।२.
३. कुन्द० मूलाचार ५।१२४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. भाषा समिति :—भाषा विषयक संयम को भाषा समिति कहते हैं। अर्थात् किसी को मेरे वचनों से किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचे इस उद्देश्य से पैशून्य (मिथ्यारोपण)हास्य, कर्कश,पर-निन्दा, आत्मप्रशंसा तथा राग-द्वेष-वर्धक विकथाओं आदि का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलना भाषा समिति है।[1] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत्यवचन तथा सामान्यवचन (असत्यमृषा)—इन वचनों को मृषावादादि दोष एवं हिंसादि पापरहित सूत्रानुसार बोलना शुद्ध भाषा-समिति है।[2] भाषा समिति युक्त वाणी को वचन सुप्रणिधान कहा है तथा वाणी का दुरुपयोग, कटु शब्दों का उच्चारण वचन-दुष्प्रणिधान कहा है। उत्तराध्ययन में कहा है—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता और विकथा—इन आठ दोषों से रहित समयानुकूल परिमित एवं निर्दोष भाषा का व्यवहार ही भाषा समिति है।[3] श्रमण को वैसी कोई भी भाषा नहीं बोलना चाहिए जो पाप प्रवृत्ति युक्त (सावद्य), निन्दाजनक, कर्कश, धमकीयुक्त, गुप्त मर्म को खोलने वाली हो, चाहे ये भले ही सत्य क्यों न हों।[4] भगवद्गीता में तो उद्वेग पैदा न करने वाले, सत्य, प्रिय, हित वचन बोलने तथा स्वाध्याय का अभ्यास करने को वाणी का तप कहा है।[5] सत्पुरुष श्रमण को विनय रहित कठोर भाषा तथा धर्म विरुद्ध वचनों का प्रयोग वर्जनीय है। वे नेत्रों से योग्य-अयोग्य सब देखते हैं, कानों से सब तरह के शब्द सुनते हैं, परन्तु वे मूक की तरह रहते हैं। लौकिक कथा भी नहीं करते, अपितु वे निर्विकार, उद्धृत चेष्टा रहित, समुद्र के सदृश निश्चल एवं गम्भीर होकर रहते हैं।[6] अतः ऐसे पापभीरू और गुणाकांक्षी मुनि

---

१. पेसुण्णहासकक्कस परणिंदाप्पप्पसंसाविकहादी।
वज्जित्ता सपरहियं भाससमिदी हवे कहणं॥
—मूलाचार १।१२, नियमसार ६२, दशवैकालिक २४।९-१०।

२. सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भाससमिदी हवे सुद्धा॥
—मूलाचार ५।११०, भगवती आराधना ११९२।

३. उत्तराध्ययन २४।९-१०, योगशास्त्र १।३७.

४. आचारांग २।४।१, बृहत्कल्पभाष्य उ० ६.

५. अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तव उच्यते॥ भगवद्गीता १७।१५.

६. मूलाचार ९।८७, ८८, ९३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि मौन न रह सके तब उसे हिंसादि पाप तथा अयोग्य वचनों से रहित योग्य वचन बोलना चाहिए।[1]

वचन (भाषा) के चार भेद हैं—सत्य, मृषा (असत्य), ३. सत्यासत्य (मिश्र) एवं ४. असत्यमृषा।[2] इनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

१. सत्यवचन : वचन के उपर्युक्त चार भेदों में प्रथम सत्य (सत्य वचन या भाषा) के दस भेद इस प्रकार हैं—(१) जनपद, (२) सम्मत, (३) स्थापना, (४) नाम, (५) रूप, (६) प्रतीत्य, (७) सम्भावना, (८) व्यवहार, (९) भाव तथा (१०) उपमा।[3]

(१) जनपदसत्य—जनपद का अर्थ देश है अतः इसे देशसत्य भी कहते हैं। देश विशेष की अपेक्षा से शब्दों का व्यवहार करना जनपद सत्य है। विभिन्न देशवासियों के व्यवहार में जो शब्द अपने किसी विशिष्ट अर्थ में रूढ़ हो गये हों—जैसे 'ओदन' (भात) शब्द। इस शब्द को द्रविड़ में 'चौर' कहते हैं। कन्नड़ भाषा में 'कूल' और गौड़ी भाषा में 'भक्त कहा जाता है। इसी तरह चौर, कूल, भक्त आदि विभिन्न देशों की भाषाओं के ये शब्द ओदन अर्थ में रूढ़ हैं। किन्तु एक देश का रूढ़ शब्द दूसरे देश में असत्य भी कहा जा सकता है।[4] फिर भी किसी एक देश की अपेक्षा से कोई इसका प्रयोग करे तो वह सत्य ही है।

---

१. मूलाचार ५।१२०.

२. (अ) वही ५।११०. तथा,
तव्विवरीदं मोसं तं उभयं जत्था सच्चमोसं तं।
तव्विवरीदाभासा असच्चमोसा हवदि दिट्ठा॥
—मूलाचार ५।११७, भगवती आराधना ११९४.
(आ) चतुर्विधा वाक्—सत्य, मृषा, सत्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति।
—भगवती आराधना विजयोदया टीका ११९२.

३. जणवदसम्मदठवणा णामे रूवे पडुच्चसच्चे य।
संभावणववहारे भावे ओपम्म सच्चे य॥ मूलाचार ५।१११.
भगवती आराधना ११९३, गोम्मटसार जीवकाण्ड २२२.

४. जनपदसच्चं जध ओदणादियवुच्चदि य सव्वभासाए।
बहुजणसम्मदमवि होदि जं तु लोए जहा देवी॥ मूलाचार सवृत्ति ५।११२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **सम्मतसत्य**—प्राचीन विद्वानों, आचार्यों या बहुजन द्वारा मान्य किये गए अर्थ में शब्दों का प्रयोग करना सम्मत सत्य है। बहुजन सम्मत शब्द जब सर्वसाधारण अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं तब वे सम्मत सत्य बन जाते हैं। जैसे राजा की स्त्री मनुष्य जाति की स्त्री होते हुए भी 'महादेवी' शब्द से रूढ़ है।[1] इसी तरह पङ्कज शब्द का यौगिक अर्थ "कीचड़ में उत्पन्न होने वाला" है, किन्तु लोक में यह "कमल" अर्थ में मान्य है। अतः पङ्कज का अर्थ कीचड़ में उत्पन्न होने वाले "मेंढक" आदि नहीं करके "कमल" अर्थ ही करना सम्मत सत्य है।

३. **स्थापनासत्य**—समान आकार या भिन्न आकार वाली वस्तु में किसी व्यक्ति विशेष की स्थापना करके उसे उसी रूप में मानना अर्थात् किसी वस्तु में उससे भिन्न गुणों का समारोप करके उसे तद्रूप मानना स्थापना सत्य है। जैसे पत्थर की प्रतिमा में अर्हन्तादि की स्थापना करके उसे तद्रूप मानकर आदर,पूजन आदि करना।[2] इसी तरह शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि मानना तथा नामों से सम्बोधित करना। यद्यपि ये मोहरे न तो उन रूपों से युक्त हैं और न वैसे गुणों से युक्त, किन्तु उनमें उस प्रकार की स्थापना कर लेने से इन्हें हाथी, घोड़ा आदि मानते हैं।

४. **नाम-सत्य**—गुणों की अपेक्षा न करके व्यवहार के लिए देवदत्त आदि नाम रखना। चूँकि वह देवों द्वारा प्रदत्त नहीं है किन्तु व्यवहार के लिए उसे 'देवदत्त' कहना नाम-सत्य है।[3] अर्थात् वैसे गुण न होने पर भी व्यक्ति विशेष का या वस्तु विशेष का वैसा नाम रखकर उसे उस नाम से सम्बोधित करना।

५. **रूप-सत्य**—रूप विशेष की प्रधानता के कारण किसी व्यक्ति या द्रव्य को काला, सफेद आदि वर्ण वाला कहना रूप सत्य है। जैसे बगुला पक्षी कई वर्णों के होते हैं किन्तु श्वेत वर्ण की प्रधानता के कारण उन्हें श्वेत कह दिया जाता है।[4]

६. **प्रतीत्य-सत्य**—इसे आपेक्षिक सत्य भी कहते हैं। अपेक्षा विशेष से वस्तु को छोटी-बड़ी कहना प्रतीत्य सत्य है। विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना—जैसे छोटे या पतले पदार्थ की अपेक्षा से अन्य

---

१. मूलाचार ५।११२.

२-४. ठवणा ठविदं जह देवदादि णामं च देवदत्तादि।
उक्कडदरोत्ति वण्णे रूवे सेओ जध बलाया॥
—मूलाचार वृत्ति सहित ५।११३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों को लम्बा या स्थूल कहना ।[1] जैसे मध्यमा अँगुली की अपेक्षा अनामिका को छोटी एवं कनिष्ठा अंगुली की अपेक्षा बड़ी कहना ।

७. **व्यवहार-सत्य**—नैगम, संग्रह आदि नयों की प्रधानता से जो वचन बोला जाय वह व्यवहार सत्य है । जैसे चावल पकाने की तैयारी में संलग्न व्यक्ति से पूछने पर कि क्या कर रहे हो ? वह उत्तर दे कि 'मैं भात पका रहा हूँ' । चूंकि भात तो स्वयं पके हुए चावल हैं तब चावल पकायेगा, न कि भात । फिर भी व्यवहार से ऐसे कथन सत्य मान लिये जाते हैं ।[2] इसी तरह जब कोई पथिक पूछता है कि यह रास्ता कहाँ जाता है ? तब इसके उत्तर में कह दिया जाता है कि अमुक नगर को । वस्तुतः रास्ता वहीं रहता है, जाता तो व्यक्ति है किन्तु लोक व्यवहार में उक्त कथन सत्य होने से इसे व्यवहार सत्य कहा जाता है ।

८. **सम्भावना-सत्य**—असम्भवता का निराकरण करते हुए वस्तु के किसी धर्म का निरूपण करना सम्भावना सत्य हैं । जैसे यह कहना कि—यदि इन्द्र चाहे तो पृथ्वी को पलट सकता है ।[3]

९. **भाव-सत्य**—सत्य वचन भी यदि हिंसादि दोष सहित हों तो उन वचनों को भी नहीं बोलना अर्थात् हिंसा आदि-दोष रहित योग्य वचन बोलना भाव-सत्य है ।[4] जैसे किसी कसाई द्वारा पूछने पर कि 'इधर से गाय को जाते हुए देखा है ? इसका उत्तर—मैंने नहीं देखा'—कह देना भाव-सत्य के अन्तर्गत है ।[5]

१०. **उपमा-सत्य**—किसी एक अंश की भी समानता को लेकर एक वस्तु की दूसरी वस्तु से तुलना करना उपमा सत्य है । जैसे पूजन-कार्य में प्रयुक्त पीले चावलों को सादृश्य के कारण पुष्प कह देना । इसी तरह किसी स्त्री को चंद्रमुखी कहना । पल्योपम, सागरोपम आदि भी उपमा-सत्य के उदाहरण हैं ।[6]

उपमा के चार भेद हैं[7]—१. सत् की सत् से उपमा अर्थात् विद्यमान पदार्थ को विद्यमान पदार्थ से ही उपमित करना । जैसे नेत्र कमल के समान विकसित

१-२. मूलाचार ५।११४. ३. वही ५।११५.

४. सत्यमपि हिंसादि दोषसहितं न वाच्यमिति भावसत्यम् ।
मूलाचार वृत्ति ५।११६.

५-६. हिंसादि दोसविजुदं सच्चमकप्पियमवि भावदो भावं ।
ओवम्मेण दु सच्चं जाणसु पलिदोवमादीया ॥ वही ५।११६.

७. अनुयोगद्वार २३१-२३२ पृ० २३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। २. सत् की असत् से उपमा--जैसे यह कहना कि इन्द्र में इतना बल है कि वह मेरुपर्वत को दण्ड और पृथ्वी को छत्र बना सकता है किन्तु ऐसा करता नहीं है। ३. असत् की सत् से उपमा। ४. असत् की असत् से उपमा—जैसे यह कहना कि चन्दन का पुष्प आकाश पुष्प की तरह है। इसमें उपमा-उपमेय दोनों असत् हैं।

सत्य के पूर्वोक्त दस भेदों का विवेचन अनेक जैन शास्त्रों में उपलब्ध है। कुछ में सत्य के इन भेदों के नाम आदि में अल्पाधिक अन्तर भी है, जैसे—स्थानांगसूत्र में नवम योग-सत्य माना है[1] जिसका अर्थ है—क्रियाविशेष के सम्बन्ध से व्यक्ति को सम्बोधित करना। जैसे—किसी दण्डधारी व्यक्ति को "दण्डी" कहकर बुलाने पर वह आ जाता है। क्योंकि उसके पास दण्ड होने से वह अपने आप को दण्डी समझता है, दूसरे भी उसे दण्डी समझते हैं। आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक में सत्य के दस भेद इस प्रकार बताये है—नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृत्ति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय।[2] इनमें सम्मतसत्य को संवृत्तिसत्य नाम से उल्लिखित किया है। अन्य भेदों में संयोजनासत्य का अर्थ है—धूप, उबटन आदि में या कमल, मगर, हंस, सर्वतोभद्र आदि में सचेतन, अचेतन द्रव्यों के भाव, विधि, आकार आदि की योजना करने वाला वचन। देश सत्य से तात्पर्य है—ग्राम, नगर, राज्य, गण, मत, जाति, कुल आदि धर्मों के उपदेशक वचन। आगमों में वर्णित पदार्थों का यथार्थ निरूपण करने वाला वचन समयसत्य है। अन्य भेद मूलाचार के सदृश ही हैं।

२. **मृषा (असत्यवचन)** : वचन के पूर्वोक्त चार भेदों में द्वितीय मृषा (असत्य) वचन है। इसके अनेक भेद हो सकते हैं। स्थानांगसूत्र में असत्य बोलने के कारणों की दृष्टि से मृषा के भी भेद किये हैं[3] १. क्रोध, २. मान, ३. माया. ४. लोभ, ५. प्रेम, ६. द्वेष, ७. हास्य, ८. भय, ९. आख्यायिका, और १०. उपघात। इन कारणों के आश्रित होकर व्यक्ति असत्य बोलता है।

---

१. जणवय सम्मय ठवणा, णामे रूवे पडुच्चसच्चे य।
ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्म सच्चे य॥ स्थानांग १०।८९.

२. दशविधः सत्यसद्भावः—नाम-रूप-स्थल-स्थापना-प्रतीत्य-संवृत्ति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समयसत्यभेदेन। तत्त्वार्थवार्तिक १.२०.१२. पृ० ७५.

३. दसविधे मोसे पण्णत्ते, तं जहा—
कोधे माणे माया, लोभे पिज्जे तहेव दोसे य।
हास भए अक्खाइय, उवघात णिस्सिते दसमे॥ स्थानांग १०.९०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. क्रोध के वशीभूत होकर भी व्यक्ति असत्य बोलते हैं। जैसे—क्रोध में ही मित्र को शत्रु आदि कह देना क्रोधाश्रित असत्यवचन है।

२. मान के आश्रित होकर असत्य कह देना। जैसे निर्धन या बुद्धिहीन होते हुए भी झूठी प्रशंसा के लिए अपने को बड़ा धनवान् या बुद्धिमान् बता देना। मानाश्रित असत्य वचन है।

३. धोखा देकर दूसरों को ठगने के उद्देश्य से झूठ बोलना मायाश्रित असत्य वचन है।

४. लोभवश अपनी अल्पमूल्य वस्तु को बहुमूल्य बताना लोभाश्रित असत्यवचन है।

५. प्रेम के वशीभूत होकर कह देना कि "मैं तो आपका दास हूँ।" प्रेमाश्रित असत्यवचन है।

६. द्वेषवश नीचा दिखाने के उद्देश्य से गुणी को निर्गुण, विद्वान् को मूर्ख तथा धनवान को दरिद्र कह देना द्वेषाश्रित असत्यवचन है।

७. हँसी-मजाक आदि के उद्देश्य से किसी की कोई वस्तु उठा लेना और पूछने पर मना कर देना हास्याश्रित असत्य वचन है।

८. दण्ड एवं अपमान आदि के भय से झूठ बोलना भयाश्रित असत्य वचन है।

९. आख्यायिका में अयथार्थ का गुंफनकर सरसता के सहारे असत् को सत् रूप में प्रस्तुत करना आख्यायिका असत्यवचन है।

१०. दूसरों को पीड़ा देने की भावना से उपघातकारक वचन बोलना उपघाताश्रित असत्यवचन है।

दशवैकालिक की अगस्त्य चूर्णि[1] में मृषावाद (असत्यवचन) के चार भेद बताये हैं।

१. सद्भाव प्रतिषेध—विद्यमान वस्तु का निषेध करना। जैसे जीव, पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि नहीं है।

२ असद्भाव-उद्भावन:—असद् वस्तु का अस्तित्व बताना। जैसे आत्मा सर्वगत सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा अथवा अणुमात्र कहना।

३. अर्थान्तर—एक वस्तु को दूसरी वस्तु कहना जैसे गाय को घोड़ा आदि कहना।

४. गर्हा—दोष प्रगट करके किसी को कष्टकारी वचन बोलना, जैसे अन्धे को अन्धा या काने को काना कहना।

---

१. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह कृत चूर्णि पृ० १४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **सत्यासत्य (मिश्र)**--वचन का तृतीय भेद सत्यासत्य (सत्यमृषा) तदुभय रूप है। इसके शब्द वाक्य या वचन में सत्यता और असत्यता-दोनों का समावेश रहता है। स्थानांगसूत्र में इसके दस भेद बताये हैं[1]—उत्पन्नमिश्रक, विगत-मिश्रक, उत्पन्नविगतमिश्रक, जीवमिश्रक, अजीवमिश्रक, जीव-अजीवमिश्रक, अनन्तमिश्रक, परीतमिश्रक, अद्धा (काल) मिश्रक और अद्धा-अद्धा (कालांश) मिश्रक।

(१) **उत्पन्नमिश्रक**—उत्पत्ति की अपेक्षा मिश्रभाषा बोलना, जैसे—आज सौ बालक पैदा हुए हैं—ऐसा कहना। यदि पूरे सौ बालक उत्पन्न हुए हों तो यह भाषा सत्य है किन्तु न्यूनाधिक उत्पन्न हुए हों तो मिश्र भाषा कही जायेगी।

(२) **विगतमिश्रक**—मृतकों की अपेक्षा से कहना कि आज सौ व्यक्तियों का निधन हुआ।

(३) **उत्पन्नविगतमिश्रक**—जन्म और मरण दोनों के विषय में कहना कि आज इतने जन्मे और इतने मृत हुये।

(४) **जीवमिश्रक**—अधिकांश जीवित शङ्ख आदि का ढेर देखकर कह देना कि यह जीवों का ढेर है। अन्दर कई मृत भी हो सकते हैं।

(५) **अजीवमिश्रक**—अधिकांश मृतक जीवों का ढेर देखकर अयथार्थ रूप से यह कह देना कि यह मृत जीवों का पिण्ड है।

(६) **जीव-अजीवमिश्रक**—जीवित एवं मृत जीवों का मिश्रित ढेर देखकर अयथार्थ रूप से यह कह देना कि इसमें इतने जीवित एवं मृतक हैं।

(७) **अनन्तमिश्रक**—गाजर-मूली आदि अनन्तकाय का ढेर देखकर कह देना कि यह अनन्तकाय का ढेर है। मूली आदि के पत्ते प्रत्येककाय होने से यह मिश्र भाषा हो जाती है।

(८) **परीतमिश्रक**—गेहूँ-बाजरा आदि प्रत्येकवनस्पति का खेत देखकर कह देना कि यह सब प्रत्येककाय है। प्रत्येकवनस्पति उगते समय अनन्तकाय होने से उस खेत में नये पौधों की अपेक्षा से अनन्तकाय का होना सम्भव है अतः यह भी मिश्रभाषा है।

(९) **अद्धामिश्रक**—अद्धा अर्थात् काल। दिन-रात आदि काल के विषय में मिश्रित भाषा बोलना। जैसे—कभी-कभी शीघ्रता वश सूर्य निकलने के पूर्व ही कह देना कि उठो! सूर्य निकल आया।

(१०) **अद्धा-अद्धामिश्रक**—दिन-रात के एक भाग को अद्धा-अद्धा कहते हैं।

१. स्थानांगसूत्र १०.९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके सम्बन्ध में मिश्रभाषा बोलना जैसे—शीघ्रतावश दिन-रात के प्रारम्भ में ही कह देना कि दिन का दो पहर हो गया या आधी रात बीत गई।[1]

४. **असत्यमृषा (असच्चमोसा)**—जो वचन न सत्य होता है और न असत्य अर्थात् जिसमें सत्यता, असत्यता इन दोनों का अभाव हो ऐसे अनुभय रूप पदार्थ के जानने की शक्ति रूप भावमन को चतुर्थ असत्यमृषा या सामान्य वचन कहते हैं। असत्यमृषा वचन के नौ भेद हैं[2] :

(१) **आमंत्रणी (सम्बोधन युक्त भाषा)**—किसी व्यक्ति को कार्य में लगाने से पूर्व उसे बुलाने के लिए प्रयुक्त वचन जैसे—हे देवदत्त यहाँ आओ। इसमें देवदत्त शब्द का संकेत जिसने ग्रहण किया उसकी अपेक्षा से यह वचन सत्य है, जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसकी अपेक्षा असत्य भी है।

(२) **आज्ञापनी (आज्ञायुक्त वचन)**—जैसे स्वाध्याय करो। किसी को यह आज्ञा देने पर क्रिया करने से सत्यता, न करने से असत्यता है। अतः इसे एकान्ततः सत्य और असत्य दोनों नहीं कह सकते।

(३) **याचनी**—जिस भाषा के द्वारा किसी से वस्तु की याचना की जाय। यदि दाता ने वह वस्तु दे दी तो सत्य, न देने पर असत्य। अतः सर्वथा सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं।

(४) **पृच्छनी**—यह क्या है? इत्यादि रूप प्रश्नसूचक वचन पृच्छनी भाषा है।

(५) **प्रज्ञापनी**—प्ररूपणा करना या किसी को अपना अभिप्राय जिन सूचना-वाक्यों से प्रकट किया जाय। यह भाषा अनेक लोगों को लक्ष्य करके कही जाती है। कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं, इसकी अपेक्षा इसे असत्यमृषा कहते हैं।

(६) **प्रत्याख्यानी**—पच्चक्खाण करना अर्थात् मैं इस वस्तु का त्याग करता हूँ अथवा मैं यह कार्य नही करूँगा—इस तरह के त्यागपूर्ण वचन प्रत्याख्यानी भाषा है।

---

१. चारित्र प्रकाश, दूसरा पुञ्ज प्रश्न ४ पृ० २४-२५.

२. आमंतणि आणवणी जायणिसंपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा छट्ठी इच्छाणुलोमा य॥ मूलाचार ५।११८.
संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा।
णवमी अणक्खरगया असच्चमोसा हवदि दिट्ठा॥
—मूलाचार सवृत्ति ५।११९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(७) **इच्छानुलोमा**—पूछनेवाले की इच्छा का अनुमोदन करना अर्थात् इसके अनुकूल अपनी इच्छा या अनुमोदन प्रगट करना। यथा—जैसा आप चाहते हैं वैसा ही मैं करता हूँ।

(८) **संशय**—अव्यक्त या संशय युक्त वचन। जैसे 'दन्तरहिता' शब्द कहने से दो-तीन माह की बच्ची का ग्रहण भी हो सकता है और वृद्धा का भी। अतः अभिप्राय की उभयात्मकता के कारण ऐसा वचन असत्यमृषा है।

(९) **अनक्षरगता**—द्वीन्द्रिय आदि तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की चकार, मकरादि अक्षरों से रहित भाषा अनक्षरगता है। अस्पष्ट आवाज, चुटकी, अंगुलि आदि के संकेत भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।[1] जैसे जिस पुरुष ने अंगुलि चटकाने आदि के शब्द या संकेत ग्रहण किये, उसे तो ध्वनि से प्रतीति होती है, दूसरे को नहीं होती। इस तरह यह वचन उभयरूप है।

प्रज्ञापनासूत्र में चतुर्थ असत्यामृषा को व्यवहार भाषा कहा है तथा इसके बारह भेद इस प्रकार बताये हैं[2]—आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, पृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुलोमा, अनभिगृहीता, अभिगृहीता, संशयकारिणी, व्याकृत तथा अव्याकृत। इनमें अनिभिगृहीता से तात्पर्य अर्थ पर ध्यान न देकर डित्थ-डवित्थादि शब्द बोलना। अभिगृहीता अर्थात् अर्थ का अभिग्रहण करके घट-पट आदि शब्दों का उच्चारण करना। व्याकृत से तात्पर्य विस्तार रहित बोलना, जिसमें साफ-साफ समझ में आ जाए। अव्याकृत अर्थात् अतिगम्भीरतायुक्त बोलना जिसे समझना कठिन हो जाए।

इस प्रकार भाषा समिति के प्रसंग में वचन (भाषा) के भेद-प्रभेदों के सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात होता है कि मुनि को भाषा या वचन-प्रयोग में कितना सावधान रहना पड़ता है।

३. **एषणासमितिः**—आहार या भिक्षा-चर्या विषयक विवेक। आहार से सम्बन्धित उद्गम-दोष, उत्पादन-दोष तथा आहार ग्रहण में होने वाला अशन-दोष—इनसे रहित भोजन, उपधि और शय्या (वसतिका) की शुद्धि करने वाले श्रमण को एषणा-समिति होती है।[3] अर्थात् आहार से संबंधित उद्गम

---

१. मूलाचार वृत्ति ५।११८,११९.

२. प्रज्ञापना, पद, ११.

३. उग्गम उप्पादणएसणेहिं पिंडं च उविधि सेज्जं च।
सोधंतस्स य मुणिणो परिसुज्झइ एसणासमिदी॥ मूलाचार ५।१२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि छयालीस दोषों से रहित, असाताकर्म के उदय से उत्पन्न बुभुक्षा के प्रतिकारार्थ तथा वैय्यावृत्त्यादि धर्मसाधन सहित, मन, वचन, काय एवं कृत, कारित, अनुमोदना आदि नौ विकल्पों से रहित ठंडे-गरम आदि रूप, राग-द्वेष रहित, समभाव पूर्वक विशुद्ध आहार ग्रहण करना, एषणा समिति है।[1] यह भोजन संबंधी वस्तुओं को निर्दोष रूप में ग्रहण करने की विधि है। क्योंकि श्रमण न तो बल या आयु बढ़ाने के उद्देश्य से आहार करते हैं न स्वाद के लिए और न शरीर उपचय या तेजवृद्धि के लिए ही। वे तो ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि के लिए ही आहार करते हैं।[2]

उत्तराध्ययन में एषणा के तीन भेद बताये हैं—१. गवेषणा—उद्गम और उत्पादन दोषों के शोधन पूर्वक आहार की गवेषणा करना। २. ग्रहणैषणा—शंकित आदि एषणा के दस दोषों का शोधन कर आहार ग्रहण करना। ३. परिभोगैषणा—इसके अनुसार आहार में संयोजना, अप्रमाण, अंगार-धूम और कारण—इन चार दोषों का शोधन करना चाहिए।[3]

उद्गमादि दोषयुक्त आहार लेना, मन, वचन से आहार की स्वयं सम्मति देना, उसकी प्रशंसा करना, प्रशंसा करने वालों के साथ रहना, प्रशंसा में दूसरों को प्रवृत करना—ये एषणा-समिति के अतिचार हैं।[4]

४. **आदान-निक्षेपण समिति** : शास्त्र आदि रूप ज्ञानोपधि, पिच्छिका रूप संयमोपधि, शुद्धता हेतु कमण्डलु रूप उपधि तथा इसी तरह की अन्य संस्तर आदि उपधि को ग्रहण करते या रखते समय प्रयत्न, और उपयोग पूर्वक अपने नेत्रों से स्थान एवं द्रव्य को अच्छी तरह देखकर पिच्छिका से उनका प्रमार्जन करना ताकि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों का भी घात न हो—ऐसा सोचकर उक्त उपकरणों का उपयोग करना आदान निक्षेपण समिति है[5]।

---

१. छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी।
सीदादीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणासमिदी॥ मूलाचार १।१३, नियमसार ६३.

२. मूलाचार ६।६२. ३. उत्तराध्ययन २४।११।१२.

४. भगवती आराधना विजयोदया टीका १६।६२।७.

५. णाणुवहि संजमुवहि सउचुवहि अण्णमप्पउवहि वा।
पयदं गहणिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा॥ मूलाचार सवृत्ति १।१४.
— आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्ज।
दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीय सो भिक्खू॥ वही ५।१२२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यतः वस्तुओं को उठाने-रखने में चार दोषों की संभावना रहती है[1]—(१) सहसा दोष,—बिना देखे सहसा कोई पुस्तक आदि उठाना-रखना, (२) अनाभोगित दोष—अस्थिर चित्तवृत्ति से बिना देखे वस्तुयें उठाना-रखना, (३) दुष्प्रमार्जित दोष—पुस्तकादि को पिच्छिका से असावधानी पूर्वक प्रमार्जन करना, (४) अप्रत्यवेक्षण—वस्तुओं को बिना देखे रखकर या ग्रहण करके कुछ काल बाद प्रमार्जनार्थ देखना।—इन चारों दोषों के परिहारपूर्वक वस्तुओं को ग्रहण या निक्षेपण करना चाहिए। तभी इस समिति का परिपूर्ण पालन किया जा सकता है। इन चार दोषों को इस समिति के अतिचार भी मान सकते हैं।

५. **उच्चारप्रस्रवण (प्रतिष्ठापनिका) समिति**—इसका अर्थ है मल-मूत्र आदि के विसर्जन में निर्जन्तुक तथा निर्जन स्थान का ध्यान रखना। श्रमण के निर्दोष एवं विवेकपूर्ण जीवन में समस्त विशुद्ध चर्याओं का ही विधान है। इस समिति का विधान भी मल-मूत्रादि को यत्र-तत्र त्याग का निषेध, लोकापवाद से रक्षा तथा अहिंसादि महाव्रतों की रक्षार्थ किया गया है। श्रमण को मल-मूत्र का विसर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ एकान्त हो, हरित वनस्पति तथा त्रस जीवों से रहित, और गाँव आदि से दूर हो। जहाँ कोई देख न सके, कोई विरोध न करे, ऐसे विस्तीर्ण क्षेत्र में मल-मूत्रादि का त्याग करना पंचम प्रतिष्ठापनिका या उत्सर्ग समिति है।[2]

मल-मूत्रादि त्याग के योग्य कुछ स्थानों का मूलाचारकार ने उल्लेख भी किया है, जैसे—वनदाहकृत, कृषिकृत, मषिकृत, स्थंडिल भूमि (शौचयोग्य रेगिस्तानी या ऊषरभूमि) तथा अनुपरोध्य (लोगों के द्वारा वर्जित न हो), विस्तृत, निर्जन्तुक एवं विविक्त प्रदेश (स्थल) विशेष। ऐसी ही अचित्त भूमि को पिच्छिका द्वारा प्रमार्जन करके मल-मूत्रादि का त्याग करना चाहिए ताकि जीव हिंसा की सम्भावना न हो।[3] यदि रात्रि में शौचादिक त्याग की आवश्यकता महसूस हो तो आचार्य

---

१. सहसाणाभोइयदुप्पमज्जिद अप्पच्चुवेक्खणा दोसा।
परिहरमाणस्स हवे समिति आदाणणिक्खेवा॥ मूलाचार ५।१२३.

२. एगंते अच्चित्ते दूरे गूढ़े विसालमविरोहे।
उच्चारादिच्चाओ, पदिठावणिया हवे समिदी॥ मूलाचार १।१५.

३. वणदाहकिसिमसिकदे थंडिल्लेणुप्पोध वित्थिण्णे।
अवगदजंतु विवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो॥
उच्चारं पस्सवणं खेलं सिंघाणयादियं दव्वं।
अच्चित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो॥ मूलाचार ५।१२४-१२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा नियत निर्जन्तुक-भूमि प्रदेश को पिच्छी द्वारा प्रमार्जित करके प्रयोग करना चाहिए। वहाँ जीवों के होने की आशंका हो तो प्रज्ञावान् श्रमण को विपरीत करतल से मृदुतापूर्वक स्पर्श करके उस स्थान को देख लेना चाहिए ताकि जीवों की हिंसा न हो। ऐसा जानकर ही उस स्थान का प्रयोग करना चाहिए।[1] यदि उस प्रथम स्थान पर जीव हों अर्थात् वह स्थान अशुद्ध हो तो आचार्य द्वितीय स्थान पर शौचादि करने की अनुमति देते हैं। द्वितीय स्थान के परीक्षण से भी वह अशुद्ध हो तो तृतीय स्थान की अनुमति देते हैं। फिर भी यदि शीघ्रतावश अनिच्छा से अशुद्ध स्थान पर शौचादि का त्याग हो जाय तो आचार्य द्वारा उस श्रमण को गुरु-प्रायश्चित नहीं देना चाहिए।[2] इस प्रकार निर्जन्तुक (शुद्ध) भूमि-प्रदेश (स्थंडिल) में मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापनिका समिति है।[3]

उपर्युक्त समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए प्रतिपादित हैं। इन पाँच समितियों में मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तीन गुप्तियाँ मिलकर 'अष्ट-प्रवचनमाता' नाम से प्रतिपादित हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में जहाँ समितियों के उपर्युक्त पाँच भेदों का वर्णन है[4] वहीं इन अष्टप्रवचनमाता को ही समितियों के आठ भेद भी कहा है। जिनमें जिनेन्द्र कथित द्वादशांग रूप समग्र प्रवचन अन्तर्भूत माना है।[5] वस्तुतः महाव्रतमूलक सम्पूर्ण श्रमणाचार का व्यवहार उपर्युक्त पांच समितियों के द्वारा संचालित होता है। इनके आधार पर महाव्रतों का निर्विघ्न रूप से पालन किया जाता है। ये समितियाँ महाव्रतों तथा सम्पूर्ण आचार की परिपोषक प्रणालियाँ हैं। महाव्रतों की रक्षार्थ गमनागमन, भाषण, भिक्षादि ग्रहण, वस्तुओं के आदान-प्रदान तथा मलमूत्रादि विसर्जन—इन पांच क्रियाओं में प्रमाद रहित सम्यक्-प्रवृत्ति को समिति कहा गया है।

---

१. रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे।
आसंकविसुद्धीए अपहत्थगफासणं कुज्जा॥ मूलाचार ५।१२६.

२. जदि तं हवे असुद्धं विदियं अणुण्णए साहू।
लहुए अणिच्छयारे ण देज्ज साधम्मिए गुरूए॥ वही ५।१२७.

३. वही, ५।१२८.

४. एयाओ पंच समिईओ.....उत्तराध्ययन २४।१९,२६.

५. एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया।
दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं॥ उत्तराध्ययन २४।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय निरोध :

इन्द्र शब्द आत्मा का पर्यायवाची है। आत्मा के चिह्न अर्थात् आत्मा के सद्भाव की सिद्धि में कारणभूत अथवा जो जीव के अर्थ (पदार्थ)-ज्ञान में निमित्त बने उसे इन्द्रिय कहते हैं।[१] प्रत्यक्ष में जो अपने-अपने विषय का स्वतंत्र आधिपत्य करती हैं उन्हें भी इन्द्रिय कहते हैं।[२] द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय—ये इन्द्रिय के दो भेद हैं।[३] द्रव्येन्द्रिय के—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—ये पाँच भेद हैं।[४] मूलाचारकार ने इनके आकारों का उल्लेख किया है, जैसे—जिह्वेन्द्रिय का आकार अर्धचन्द्र अथवा खुरपा के समान, घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक-(तिल) पुष्प के समान, चक्षु-इन्द्रिय मसूर के सदृश, श्रोत्रेन्द्रिय का आकार जव की नली के समान तथा स्पर्शनेन्द्रिय के अनेक आकार हैं।[५]

उपर्युक्त पाँचों इन्द्रियाँ नामों के अनुसार अपने-अपने बिषयों में प्रवृत्ति करती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श द्वारा पदार्थ को जानती है। इसी तरह रसनेन्द्रिय का विषय स्वाद, घ्राण का विषय गन्ध, चक्षु का विषय देखना तथा श्रोत्र का विषय सुनना है।[६] इन्द्रियों के इन पाँच विषयों को दो भोगों में विभाजित किया जा सकता है—(१) काम रूप विषय, (२) भोग रूप विषय। रस और स्पर्श विषय कामरूप हैं। गन्ध, रूप और शब्द विषय भोगरूप हैं।[७] ये पाँचों ही इन्द्रियाँ मूर्तिक पदार्थों को विषय करती हैं।[८]

---

१. सर्वार्थसिद्धि १।१४.
२. प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि....इन्द्रनादधिपत्यादिन्द्रियाणिः—धवला १।१।१।४.
३. मूलाचार वृत्ति १।१६, सर्वार्थसिद्धि २।१६.
४. चक्खू सोदं घाणं जिब्भा फासं च इंदिया पंच।
सगसगविसएहिंतोणिरोहियव्वा सया मुणिणा ।। मूलाचार १।१६.
५. जवणालिया मसूरिय अतिमुत्तयचंदए खुरप्पे य।
इंदिय संठाणा खलु फासस्य अणेयसंठाणं ।। मूलाचार १२।५०,
—धवला १।१।१।३३, गोम्मटसार जीवकाण्ड १७१.
६. मूलाचार ५।१०२, तत्त्वार्थ सूत्र २।२०.
७. कामा दुवे तऊ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता।
कामो रसो य फासो सेसा भोगेति आहीया ।। मूलाचार १२।९७.
८. पंचाध्यायी पूर्वार्ध ७१५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय निरोध या निग्रह:—स्वच्छन्द प्रवृत्ति का अवरोध निग्रह या निरोध है।[1] ये इन्द्रियां अपनी विषय प्रवृत्ति द्वारा आत्मा को राग-द्वेष युक्त करती हैं। इनको अपने-अपने विषयों की प्रवृत्ति से रोकना इन्द्रिय निग्रह है।[2] जैसे उन्मार्गगामी दुष्ट घोड़ों का लगाम के द्वारा निग्रह किया जाता है वैसे ही तत्व-ज्ञान की भावना (तप, ज्ञान और विनय) के द्वारा इन्द्रिय रूपी अश्वों का विषय-रूपी उन्मार्ग से निग्रह किया जाता है।[3]

मूलाचारकार ने कहा है—इन्द्रियरूपी ये घोड़े स्वभावतः राग-द्वेष से प्रेरित होकर (धर्मध्यान रूप) रथ को उन्मार्ग की ओर ले जाते हैं, अतः मन रूपी लगाम से उसे दृढ़ करना चाहिए। क्योंकि राग, द्वेष और मोह को धीर पुरुषों ने वृत्ति (रत्नत्रय की दृढ़ भावना) के द्वारा सम्यक्रूप से जीता तथा पंचेन्द्रियों को व्रत और उपवासों के प्रहारों से वश में किया है। इन्द्रियों को वश में करनेवाले वे महर्षि राग और द्वेष का क्षय करके निर्मल ध्यानरूप शुद्धोपयोग में युक्त होते हैं और मोह का विनाश करके सम्पूर्ण कर्मों का नाश करते हैं।[4]

मनुस्मृति में भी कहा है—"विद्वान् को चाहिए कि आकर्षण करने वाले विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को संयत रखने का यत्न करे, जिस प्रकार सारथी घोड़ों को संयत करने में यत्न करता है।[5]

जो श्रमण जल से भिन्न कमल के सदृश इन्द्रिय-विषयों की प्रवृत्ति में लिप्त नहीं होता वह संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।[6]

१. चक्षु इन्द्रिय निरोध:—चेतन-अचेतन पदार्थों के व्यवहार, संस्थान (आकृति) और वर्ण में राग-द्वेष तथा अभिलाषा का अभाव चक्षुरिन्द्रिय निरोध है।[7] चक्षु रूप का ग्रहण करता है। वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है

---

१. स्वेच्छा प्रवृत्तिः निर्वर्तनं निग्रहः—सर्वार्थसिद्धि ९।४.
२. सगसगविसएहिंतो णिरोहियव्वा सया मुणिणो ॥ मूलाचार १।१६.
३. भगवती आराधना १८३७. ४. मूलाचार, ९।११३-११५.
५. इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ मनुस्मृति २।८८.
६. उत्तराध्ययन ३२।९९.
७. सच्चित्ताचित्ताणं किरियासंठाणवण्णभेएसु।
रागादिसंगहरणं चक्खुणिरोहो हवे मुणिणो ॥ मूलाचार १।१७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और असुन्दर है तो द्वेष का हेतु। जो उस रूप में राग और द्वेष नहीं करके समभाव रखता है वही वीतराग है।[1]

२. **श्रोत्रेन्द्रिय निरोध**:—जिसके द्वारा सुना जाता है वह श्रोत्र इन्द्रिय है।[2] षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद—इन सप्त स्वरों[3] तथा वीणा आदि के चेतन-अचेतन, प्रिय-अप्रिय शब्द सुनने से हृदय में उत्पन्न राग-द्वेषादि का मन, वचन और काय से निरोध करना श्रोत्रेन्द्रिय निरोध है।[4] भगवतीसूत्र में भी कहा है—श्रोत्र इन्द्रिय को विषयों की ओर दौड़ने से रोकना, तथा श्रोत्रगत विषयों में राग-द्वेष न करना श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह है।[5] जो श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह नहीं करते वे शब्दों के विषय में मूर्च्छित होकर अपने प्राणों को भी संकट में डाल देते हैं। जैसे मृग शब्दों में गृद्ध होकर अतृप्ति के साथ मृत्यु के मुख में चला जाता है।[6]

३. **घ्राणेन्द्रिय निरोध** : जिसके द्वारा गन्ध का ज्ञान हो वह घ्राणेन्द्रिय है। पदार्थ स्वभावतः मनोज्ञ या अमनोज्ञ गन्धयुक्त होते हैं तथा कुछ पदार्थों में अन्य पदार्थों के संयोग से गन्ध उत्पन्न होती है। अतः सुगन्ध में राग और दुर्गन्ध में द्वेष तथा इनमें सुख-दुख का अनुभव न करना घ्राणेन्द्रिय निरोध है।[7]

४. **रसनेन्द्रिय निरोध**—जिसके द्वारा स्वादानुभव किया जाय वह रसनेन्द्रिय है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—रूप चार प्रकार के आहार तथा तिक्त कटु, कषायला, अम्ल और मधुर ये पांच रस—इनको सम्मूर्च्छनादि जीव रहित प्रासुक आहार दिये जाने पर उनमें गृद्धि न करना रसनेन्द्रिय निग्रह है।[8]

---

१. उत्तराध्ययन ३२।२२.
२. श्रूयतेऽनेनेति श्रोतम्-सर्वार्थसिद्धि २।१९.
३. मूलाचारवृत्ति १।१८, नारदशिक्षा १।२।४, नाट्यशास्त्र ६।२७, —पिंगलसूत्र ३।६४.
४. सद्गादि जीवसद्दे वीणादिअजीवसंभवे सद्दे।
रागादीण णिमित्ते तदकरणं सोदरोधो दु।। मूलाचार १।१८.
५. भगवती सूत्र २५।७. ६. उत्तराध्ययन ३२।३७.
७. पयडी वासणगंधे जीवाजीवाप्पगे सुहे असुहे।
रागद्देसाकरणं घाणणिरोहो मुणिवरस्स।। मूलाचार १।१९.
८. असणादिचदुवियप्पे पंचरसे फासुगम्हि णिरवज्जे।
इट्ठाणिट्ठाहारे दत्ते जिब्भाजओऽगिद्धी।। मूलाचार १।२०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **स्पर्शनेन्द्रिय निरोध :** चेतन-अचेतन पदार्थों से उत्पन्न कठोर, मृदु, स्निग्ध, रूक्ष, हलके, भारी, शीतल, उष्ण—इत्यादि के सुख-दुःख रूप स्पर्श का निरोध करना स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह है।[१] स्पर्श की आसक्ति में उलझा जीव विविध चराचर-त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है अतः स्पर्श से विरक्त मनुष्य संसार में रहता हुआ भी जलाशय में कमल के पत्ते के सदृश लिप्त नहीं होता।[२]

इस तरह जैसे कछुवा संकट की स्थिति में अपने अंगों का समाहरण कर लेता है, वैसे ही श्रमण को भी संयम द्वारा इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति का संयमन कर लेना चाहिए।[३] वस्तुतः इन्द्रिय निरोध का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ग्रहण-शक्ति समाप्त कर दें या रोक दें अपितु मन में इन्द्रिय विषयों के प्रति उत्पन्न राग-द्वेष युक्त भाव का नियमन करना इन्द्रिय निरोध है। अर्थात् इन्द्रियों के शब्दादि जितने विषय हैं सभी में अनासक्त रहना अथवा मन में उन विषयों के प्रति मनोज्ञता-अमनोज्ञता उत्पन्न न करना। मूलाचारकार ने इन्द्रियों की निन्दा करते हुए कहा है—उन इन्द्रियों को धिक्कार हो जिनके वश होकर जीव पापों का संग्रह करता है और चतुर्गतियों में उनका फल भोगता हुआ अनन्त दुखों को प्राप्त करता है।[४] यह निन्दा इन इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति के आधार पर की गई है। वस्तुतः विषयों के प्रति अनासक्ति और तटस्थता ही इन्द्रिय निरोध है। जिनकी इन्द्रियों की प्रवृत्ति सांसारिक क्षणिक विषयों की ओर है, वह आत्मतत्व रूप अमृत कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जो सारी इन्द्रियों की शक्ति को आत्मतत्त्व रूप अमृत के दर्शन में लगा देता है वह सच्चे अर्थों में अमृतमय तथा इन्द्रियजयी बन जाता है।

आवश्यक:

नित्य के अवश्यकरणीय क्रियानुष्ठान रूप कर्त्तव्यों को आवस्सय या आवश्यक कहते हैं। सामान्यतः 'अवश' का अर्थ अकाम, अनिच्छु, स्वाधीन, स्वतन्त्र,[५]

---

१. जीवाजीवसमुत्थे कक्कसमउगादिअट्ठभेदजुदे।
फासे सुहे य असुहे फासणिरोहो असंमोहो ।। मूलाचार १।२१.
२. उत्तराध्ययन ३२।७९,८६.
३. सूत्रकृतांग १।८।१।१६, संयुक्त निकाय १।२।७.
४. धित्तोसिमिंदियाणं जेसिं वसदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंतं भवगदिसु ।। मूलाचार ८।४३.
५. पाइअसद्दमहण्णवो पृष्ठ ८३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग-द्वेषादि से रहित तथा इन्द्रियों की आधीनता से रहित होता है। तथा इन गुणों से युक्त अर्थात् जितेन्द्रिय व्यक्ति की अवश्यकरणीय क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं। मूलाचारकार ने कहा है—जो राग-द्वेषादि के वश नहीं होता वह अवश है तथा उस (अवश) का आचरण या कर्त्तव्य आवश्यक कहलाता है।[१] जिसे श्रमणादिक को दोनों समय अवश्य करना चाहिए।[२] कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार जो अन्य के वश नहीं है वह अवश, उस अवश का कार्य आवश्यक है। जो कर्मों का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग है।[३]

वे क्रियायें आवश्यक हैं जो आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराती हैं[४] अथवा जिस क्रिया या विधि को श्रमण और श्रावक अहर्निश अवश्यकरणीय समझते हैं, वह आवश्यक है।[५] विशेषावश्यकभाष्य में कहा है—अवश्य करने योग्य वह क्रिया जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों के अधीन करे तथा आत्मा को ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रादि गुणों से आवासित, अनुरंजित अथवा आच्छादित करे वह आवश्यक है।[६] इसी ग्रन्थ में आवश्यक के इन दस नामों का उल्लेख है—आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुव, निग्रह, विशुद्धि, षडध्ययन, वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।[७]

भेद :

जैनाचार में श्रमण और श्रावक[८] दोनों के लिए ही अवश्यकरणीय छह क्रियायें बतलायी हैं। मूलाचार तथा आचार विषयक अन्यान्य सभी जैन ग्रन्थों में

---

१. ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासगं त्ति बोधव्वा—मूलाचार ७।१४.
२. अवश्यं कर्त्तव्यं आवश्यकं, श्रमणादिभिरवश्यं उभयकालं क्रियते।
—मलयगिरिकृत आवश्यक टीका पृ० ८६.
३. जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति णिज्जुत्तो ॥ नियमसार १४१.
४. आवासयन्ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यकाः—भगवतीआराधना वि०टी० ११६.
५. समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवति जम्हा।
अंतो अहो-निसिस्स उ तम्हा आवस्सयं नाम ॥ अनुयोगद्वार सूत्र २९, गाथा ३, विशेषावश्यक भाष्य ८७६.
६. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ८७० टीका सहित।
७. आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयणछक्कवग्गो नाओ आराहणा मग्गो ॥ विशेषावश्यक भाष्य ८७२.
८. मूलाचार ७।३३-३५, अमितगति श्रावकाचार ८।२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक के छः भेद इस प्रकार बताये हैं—(१) समता (सामायिक), (२) स्तव (चतुर्विंशतिस्तव), (३) वंदना, (४) प्रतिक्रमण, (५) प्रत्याख्यान और (६) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग)—ये श्रमण के छह अहोरात्रिक अवश्यकरणीय आवश्यक हैं।[1] श्वेताम्बर परम्परा में आवश्यक के इन छह भेदों का क्रम प्रायः इस प्रकार मिलता है[2]—१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वंदन, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग तथा ६. प्रत्याख्यान।

१. समता (सामायिक)

प्रथम आवश्यक को मूलाचारकार ने समता (समदा) और सामायिक (सामाइय) इन दोनों नामों से उल्लिखित किया है।[3] जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में राग-द्वेष न करके समभाव रखना समता है। इस प्रकार के भाव को सामायिक कहते हैं।[4] अपराजितसूरि ने कहा है—जिसका मन सम है वह समण तथा समण का भाव 'सामण्ण' (श्रामण्य) है। किसी भी वस्तु में राग-द्वेष का अभाव रूप समता 'सामण्ण' शब्द से कही जाती है। अथवा सामण्ण को समता कहते हैं।[5] वही सामायिक है। वस्तुतः सावद्ययोग से निवृत्ति को सामायिक कहते हैं। सामायिक की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए केशववर्णी ने लिखा है 'सम' अर्थात् एकत्वरूप से आत्मा में 'आय' अर्थात् आगमन को समाय कहते हैं। इस दृष्टि से परद्रव्यों से निवृत्त होकर आत्मा में प्रवृत्ति का नाम समाय है। अथवा 'सं' अर्थात् सम—राग-द्वेष से

---

१. क—समदा थओ य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो करणीयावासया छप्पि ॥ मूलाचार १।२२.
ख—सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काउस्सग्गो हवदि छट्ठो ॥ वही ७.१५.

२. देखिए—उत्तराध्ययनसूत्र का २९वां अध्ययन तथा आवश्यकसूत्र आदि ग्रन्थ।

३. मूलाचार १।२२, ७।१५.

४. (क) जीविदमरणे लाभालाभे संजोयविप्पओगे य।
बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम ॥ मूलाचार १।२३.
(ख) 'समदा' समभावः जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगसुखदुःखादिषु रागद्वेषयोरकरणं—भगवती आराधना वि० टीका गाथा ७०

५. समणो समानमणो समणस्स भावो सामण्णं क्वचिदप्यननुगतरागद्वेषता समता सामण्णशब्देनोच्यते। अथवा सामण्णं समता। वही गाथा ७१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवाधित मध्यस्थ आत्मा में 'आय' उपयोग की प्रवृत्ति समाय है। वह प्रयोजन जिसका है वह सामायिक है।[1] इसी प्रकार अनगारधर्मामृत में भी कहा है—समाये भवः सामायिकम्—अर्थात् सम—रागद्वेष-जनित इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से रहित जो 'आय' अर्थात् ज्ञान है वह समाय है उस समाय में होनेवाला भाव सामायिक है।[2] ये सामायिक शब्द के निरुक्तार्थ हैं तथा समता में परिणत होना वाच्यार्थ है। मूलाचारकार के अनुसार सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप—इनके द्वारा प्रशस्त रूप से आत्मा के साथ समगमन अर्थात् ऐक्य का नाम समय है। इसी समय को सामायिक कहते हैं।[3] अर्थात् इन क्रियाओं से परिणत आत्मा ही सामायिक है।

इस प्रकार जब साधक सावद्ययोग से विरत होकर षट्काय के जीवों के प्रति संयत होता है, मन-वचन-काय को एकाग्र करता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त है, यतना में विचरण करता है उस आत्मा का नाम सामायिक है।[4] उत्तराध्ययन के एक प्रश्नोत्तर में कहा है—जीव को सामायिक से क्या प्राप्त होता है? इसके उत्तर में कहा है—सामायिक से जीव सावद्य योगों (असत् प्रवृत्तियों) से विरति को प्राप्त होता है।[5]

मूलाचारकार ने सामायिक के स्वरूप की सार्वभौमिकता को ध्यान में रखते हुए इसकी व्याख्यायें इस प्रकार प्रस्तुत की है (१)—जो स्व तथा अन्य आत्माओं में सम है, सम्पूर्ण स्त्रियों में जिसकी मातृवत् दृष्टि है, प्रिय-अप्रिय मान आदि में भी सम है उस श्रमण को सामायिक अवस्था प्राप्त होती है।[6] (२) उपसर्ग और परीषह को जीतने वाला, समिति और पच्चीस भावनाओं में उपयुक्त, नियम के पालन में उद्यतबुद्धि वाला जीव (आत्मा) सामायिक में परिणत होता है।[7]

---

१. तत्र समं एकत्वेन आत्मनि आयः आगमनं परद्रव्येभ्यो निवृत्य उपयोगस्य आत्मनि प्रवृत्तिः समायः। अथवा सं समे रागद्वेषाभ्यामनुपहते मध्यस्थे आत्मनि आयः उपयोगस्य प्रवृत्तिः समायः स प्रयोजनमस्येति सामायिकम् —गोम्मटसार जीवकाण्ड जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका गाथा ३६८.

२. अनगारधर्मामृत टीका—१८।१९.

३. सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेय सामाइयं जाणं॥ मूलाचार ७।१८.

४. आवश्यक निर्युक्ति १४९. ५. उत्तराध्ययन २९।८.

६. मूलाचार ७।२०, २६. ७. वही ७।१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जिसकी आत्मा संयम, नियम, तथा तप में सन्निहित है वही आत्मा सामायिक में स्थित रहता है।[1] (३) क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों को जो जीत लेता है वह सामायिक में स्थित होता है।[2] (४) रसना और स्पर्श—इन दो कर्मेन्द्रियों के विषय, क्रमशः कटु, तिक्त आदि पाँच रसों और मृदु, कठोर आदि आठ स्पर्शों तथा नेत्र, घ्राण एवं कर्ण—इन भोगेन्द्रियों के विषय क्रमशः रूप, गन्ध और शब्द इन सबका सर्वथा त्याग करना सामायिक है।[3] (५) आहारादि चार संज्ञायें तथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत और पद्म—ये पाँच लेश्यायें जिसमें विकार उत्पन्न नहीं करतीं उसे सामायिक होता है।[4] (६) जो आर्त और रौद्र ध्यान से विरत तथा धर्म एवं शुक्ल ध्यान में लीन रहता है वह सदा सामायिक में स्थित होता है।[5] (७) सर्व सावद्यों (पापों) से रहित मन-वचन और काय रूप तीन गुप्तियों का पालन तथा पंचेन्द्रिय विषयों को जीतने वाला जीव सामायिक संयम या इन दोनों का अभेद रूप उत्तम-स्थान प्राप्त करता है।[6] राग-द्वेष का निरोध करके सर्व कार्यों में समता भाव रखने वाला, द्वादशांग एवं चतुर्दश पूर्व रूप सूत्रों में श्रद्धायुक्त आत्मा को उत्तम सामायिक होता है।[7] क्योंकि सादृश्य अथवा स्वरूप से द्रव्य, गुण और पर्याय—इनकी सत्ता तथा इन्हें स्वतःसिद्ध जानना उत्तम सामायिक है।[8]

आत्मोत्कर्ष जैसे उत्तम उद्देश्य की प्राप्ति हेतु समभाव की अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्योंकि समभाव का अभ्यास किये बिना ध्यान नहीं होता, ध्यान के बिना निश्चल समत्व की प्राप्ति नहीं होती, अतः समभाव और ध्यान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक भी हैं और घटक भी।[9] जिस प्रकार चन्दन अपने काटनेवाले कुल्हाड़े को भी सुगन्धित कर देता हैं, उसी तरह विरोधी के प्रति भी समभाव की सुगन्ध अर्पित करने वाले महात्माओं को तो सामायिक मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट अंग है।[10] कहा है त्रस व

१. मूलाचार ७।२४. तथा आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७९८.
२. मूलाचार ७।२७.
३. वही ७।२९, ३०.
४. वही ७।२८
५. वही ७।३१-३२.
६. वही ७।२३.
७. वही ७।२२.
८. जो जाणइ समवायं दव्वाणं गुणाण पज्जयाणं च।
सब्भावं तं सिद्धं सामाइयमुत्तमं जाणे ॥ मूलाचार ७।२१.
९. न साम्येन बिना ध्यानं न ध्यानेन बिना च तत्।
निष्कम्प जायते तस्माद् द्वयमन्योन्यकारणम् ॥
—योगशास्त्र (आ० हेमचन्द्र कृत) ४।११४.
१०. अष्टक प्रकरण (आ० हरिभद्र) २९।१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थावर आदि सभी प्राणियों में जो समभाव युक्त हैं।[1] राग और द्वेष जिसके मन में विकार उत्पन्न नहीं करते, जिसने क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों आदि को सम्पूर्ण रूप में जीत लिया है उसके स्थायी सामायिक होता है। ऐसा केवली जिनेन्द्र भगवान् के शासन में कहा गया है।[2] इसीलिए सावद्ययोग (असत्प्रवृत्ति) का वर्जन करने के उद्देश्य से भगवान् ने सामायिक को प्रशस्त उपाय बताया है।[3]

सामायिक के भेद—आगमों में किसी भी विषय या वस्तु के विवेचन का निक्षेप पूर्वक कथन करने का विधान है। इससे अप्रकृत का निराकरण हो कर प्रकृत का निरूपण होता है। इस दृष्टि से नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ये निक्षेप दृष्टि से सामायिक के छः भेद हैं।[4] क्योंकि सामायिक के विषय में इन छह का आलम्बन किया जाता है। जयधवला में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार भेदों का उल्लेख है।[5] भगवती आराधना विजयोदया टीका में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार भेदों का उल्लेख है।[6] इसी टीका में मन वचन और काय—इन तीन योगों की दृष्टि से सामायिक के तीन भेद किये गये हैं।[7] १. मन से सर्व सावद्य योगों का त्याग करना मनःसामायिक है। २. सर्व सावद्य-योगों का मैं त्याग करता हूँ—इस प्रकार के वचनों का उच्चारण करना वचन सामायिक है। ३. शरीर से सर्व सावद्य क्रियाओं का त्याग करना कायकृत सामायिक है।

सामायिक के पूर्वोक्त छह भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **नाम सामायिक**—शुभ, अशुभ नाम सुनकर राग-द्वेष न करना नाम सामायिक है।[8] सामायिक में स्थित श्रमण को चिन्तन करना चाहिए कि कोई

---

१. जो समो सव्वभूदेसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे॥ मूलाचार ७।२५.
२. वही ७।२६, २७.
३. सावज्जजोगपरिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं—मूलाचार ७।३३.
४. णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भाव य।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विओ णेओ॥ वही ७।१७.
५. कसायपाहुड, जयधवला १।१।१ पृ० ८१.
६. भगवती आराधना विजयोदया टीका गा० ११६, पृ० २७४.
७. वही, गाथा ५०९ पृ० ७२८. ८. मूलाचार वृत्ति ७।१७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरे विषय में शुभाशुभ शब्दों का प्रयोग करता है तो उसमें रति-अरति करने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि शब्द मेरा स्वरूप नहीं है।[1]

(२) **स्थापना सामायिक**—शुभ-अशुभ आकारयुक्त प्रमाण-अप्रमाण युक्त अवयवों से पूर्ण-अपूर्ण, तदाकार-अतदाकार स्थापित मूर्तियों में राग-द्वेष न करना स्थापना सामायिक है।[2]

(३) **द्रव्य सामायिक**—सोना, चांदी, मोती, माणिक, मिट्टी, लकड़ी, लोहा, कांटे, पत्थर तथा अन्यान्य सचित्त और अचित्त द्रव्यों के प्रति समदृष्टि होना अर्थात् राग-द्वेष न करना द्रव्य सामायिक है।[3] आचार्य वसुनन्दि ने द्रव्य सामायिक के निम्नलिखित भेदों का उल्लेख किया है।[4]

प्रथमतः द्रव्य सामायिक के दो भेद हैं—१. आगम द्रव्य सामायिक—जैसे कोई व्यक्ति सामायिक का स्वरूप कहने वाले शास्त्र का जानने वाला हो किंतु वह वर्तमान काल में उस शास्त्र में उपयोग नहीं रख रहा हो वह आगम-द्रव्य-सामायिक है।

२. नोआगम द्रव्यसामायिक—इसके तीन भेद हैं ज्ञायकशरीर, भावी और तद् व्यतिरिक्त। इनमें सामायिक के स्वरूप को जानने वाले के शरीर को ज्ञायकशरीर कहते हैं। इसके भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन भेद हैं। इनमें प्रथम भूतज्ञायक शरीर च्युत, च्यावित और त्यक्त रूप में तीन प्रकार का है। अर्थात् १—च्युत भूतज्ञायक शरीर से तात्पर्य जो सामायिकशास्त्र के ज्ञाता का भूत शरीर दूसरे किसी कारण के बिना केवल आयु के पूर्ण होने पर नष्ट हुआ हो। जैसे पके हुए फल का गिरना। २—च्यावित—जिस ज्ञायक का भूत शरीर कदलीघात की तरह किसी बाह्य निमित्त से नष्ट हो गया हो किन्तु सन्यास विधि से रहित हो उसे च्यावित कहते हैं। ३. त्यक्त शरीर से तात्पर्य जिस शरीर को कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना सन्यासरूप परिणामों से छोड़ दिया हो। त्यक्त शरीर के भी भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी, और प्रायोग्य (प्रायोपगमन) ये तीन भेद हैं।

१. भक्त प्रत्याख्यान का अर्थ है भोजन न लेने की प्रतिज्ञा लेकर सन्यास-मरण पूर्वक शरीर का छोड़ा जाना। इसमें भी उत्तम भक्तप्रत्याख्यान का समय बारह वर्ष, जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा दोनों के मध्य का काल मध्यम-भक्त-प्रत्याख्यान का समय है।

२. इंगिनीमरण का अर्थ है अपने शरीर की टहल आप ही अपने अंगों से करे किसी दूसरे से रोगादिक का उपचार न करावे—इस विधान से जो सन्यास धारण करके मरण को प्राप्त हो।

---

१. अनगार धर्मामृत ८।२१. २.-४. मूलाचार वृत्ति ७।१७.

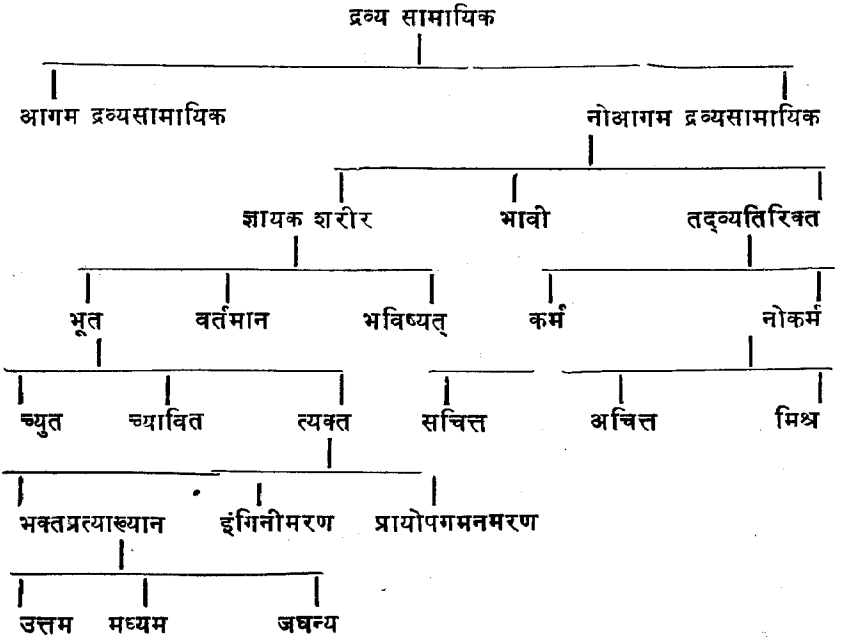
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. प्रायोपगमन मरण—जिसमें अपने तथा दूसरों के द्वारा भी उपचार न हो अर्थात् अपनी टहल न तो आप करे न दूसरों से करावे, ऐसे सन्यासमरण को प्रायोपगमनमरण कहते हैं।

ज्ञायक शरीर के द्वितीय भेद भविष्यतज्ञायक शरीर का अर्थ है सामायिक शास्त्र का ज्ञाता जिस शरीर को आगामी काल में धारण करेगा तथा वर्तमान ज्ञायक शरीर से तात्पर्य जिस शरीर को वह धारण किये हुए हो।

नोआगम द्रव्यसामायिक के ही अन्तर्गत जो सामायिक शास्त्र का जानने वाला आगे होगा वह द्वितीय भेद भावी नोआगम द्रव्यसामायिक है। तथा नोआगम द्रव्यसामायिक का तृतीय भेद 'तद्व्यतिरिक्त' के भी दो भेद हैं—कर्म और नोकर्म। इनमें ज्ञानावरणादि मूलप्रकृति रूप अथवा मतिज्ञानावरणादि उत्तरप्रकृति स्वरूप परिणमता हुआ कार्माण वर्गणा रूप पुद्गलद्रव्य कर्म-तद्व्यतिरेक नोआगम द्रव्यसामायिक है। तथा कर्म-स्वरूप द्रव्य से भिन्न जो पुद्गल द्रव्य (शरीरादि) है, वह नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यसामायिक है। इसके भी तीन भेद हैं १. सचित्त (उपाध्यायादि), २. अचित्त (पुस्तकादि) और ३. मिश्र-(उभयरूप)।

द्रव्य सामायिक के उपर्युक्त भेद-प्रभेदों को निम्नलिखित चार्ट द्वारा समझा जा सकता है—



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) **क्षेत्र सामायिक**—रम्य क्षेत्र जैसे बगीचा, नगर, नदी, कूप, बावड़ी, तालाब, ग्राम, जनपद, नगर, देश आदि में राग और रूक्ष एवं कंटकयुक्त आदि विषम कारणों में द्वेष न करना क्षेत्र सामायिक है।[१]

(५) **काल सामायिक**—पावस, वर्षा, हेमन्त, शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म इन छह ऋतुओं, रात-दिन, कृष्ण-शुक्ल पक्ष आदि काल विशेषों में राग-द्वेष रहित होना काल सामायिक है।[२]

(६) **भाव सामायिक**—समस्त जीवों के प्रति अशुभ-परिणामों का त्याग एवं मैत्री भाव-धारण करना भाव सामायिक है।[३] सम्पूर्ण कषायों का निरोध तथा मिथ्यात्व को दूरकर छह द्रव्य विषयक निर्बाध, अस्खलित ज्ञान को भी भाव सामायिक कहते हैं।

उत्तम सामायिक और प्रशस्त सामायिक का भी मूलाचारकार ने विवेचन किया है।[४]

सामायिक करने की विधि और समय:—मूलाचारकार ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शुद्धिपूर्वक अंजुलि को मुकुलित करके (अंजुलिपूर्वक हाथ जोड़कर) स्वस्थ बुद्धि से स्थित होकर अथवा एकाग्रमनपूर्वक आकुलता अर्थात् उलझन रूप विकार रहित मन से आगमानुसार क्रम से भिक्षु को सामायिक करने का निर्देश है।[५] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक सामायिक में बैठना चाहिए। पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न इन तीन कालों में छह-छह घड़ी सामायिक करना चाहिए।[६] जयधवला के अनुसार तीनों ही सन्ध्याओं का पक्ष और मास के सन्धि दिनों में या अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरंग सभी कषायों का निरोध करके सामायिक करना चाहिए।[७]

श्वेताम्बर परम्परा के "आवश्यक मूलसूत्र" में कहा गया है कि—"मैं सामायिक करता हूँ, यावज्जीवन सब प्रकार के सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता हूँ, उससे निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, अपने आपका त्याग

१-३. मूलाचारवृत्ति १।१७.

४. वही, ७।२१, २२,२३ तथा ३३.

५. पडिलिहियअंजलिकरो उपजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥ मूलाचार ७।३९.

६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३५२, ३५४.

७. कसाय पाहुड जयधवला १।१।१।८१, पृष्ठ ९८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता हूँ। मैंने दिन भर में यदि व्रतों में अतिचार लगाया हो, सूत्र अथवा मार्ग के विरुद्ध आचरण किया हो, दुर्ध्यान किया हो, श्रमणधर्म की विराधना की हो तो वह सब मिथ्या हो। जब तक मैं अर्हन्त भगवान् के नमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर कायोत्सर्ग न करूँ, तब तक मैं अपनी काया को एक स्थान पर रखूंगा, मौन रहूँगा, ध्यान में स्थित रहूँगा।"[1]

इस प्रकार सावद्ययोग के वर्जन हेतु सामायिक प्रशस्त उपाय एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया है।[2] मूलाचारकार ने लिखा है **एकाग्र मन से सामायिक करने वाला श्रावक भी श्रमण सदृश होता है,** अतः श्रमणों को और भी स्थिरतापूर्वक अतिशय सामायिक करना चाहिए।[3] हिंसा आदि दोषयुक्त गृहस्थधर्म को जघन्य अर्थात् संसार का कारण समझकर बुद्धिमान् को आत्महितकारी इस प्रशस्त उपायरूप सामायिक का पालन करना चाहिए।[4] एक कथानक द्वारा ग्रन्थकार ने सामायिक की महत्ता इस प्रकार बताई है—किसी वन में सामायिक करते हुए एक श्रावक के पास बाण से विद्ध (आहत) हिरण आया तथा थोड़ी ही देर बाद वह वहीं मर गया, किन्तु वह श्रावक भी संसारदोष दर्शन के बावजूद सामायिक संयम से विचलित नहीं हुआ। इस कारण श्रावक की अपेक्षा मुनि को और भी तत्परता से सामायिक करना चाहिए।[5]

उपर्युक्त उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन काल में श्रावकों को सामायिक मुनियों की तरह आवश्यक कर्म के रूप में नित्य प्रति करने का विधान रहा है। यह मात्र श्रमणों की आवश्यक क्रिया नहीं थी।

विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ में सामायिक तथा छेदोपस्थापना चारित्र (संयम) :

चारित्र के पाँच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात। इनमें से प्रारम्भ के दो भेदों को लेकर विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ में सामान्य भेद है। वस्तुतः अभेद रूप से सम्पूर्ण सावद्ययोग

---

१. आवश्यक सूत्र प्रथम सामायिक अध्ययन तथा जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग २ पृ० १७४.

२. सावज्जजोग परिवज्जणट्ठं सामाइयं केवलिहिं पसत्थं—मूलाचार ७।३३.

३. सामाइयम्हि दु कदे समणो किर सावओ हवदि जम्हा।
एदेण कारणेणं दु बहुसो सामाइयं कुज्जा॥ मूलाचार ७।३४.

४. गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णच्चा कुज्जा बुधो अप्पहियं पसत्थं —मूलाचार ७।३३.

५. सामाइए कदे सावएण विद्धो गओ अरणह्मि।
सो य मओ उद्धादो ण य सो सामाइयं फिडिओ॥ मूलाचार ७।३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के त्याग पूर्वक अवधृत-नियत काल में होने वाला सामायिक चारित्र है। इसे स्वीकार करते समय सर्वसावद्य का त्याग किया जाता है, सावद्ययोग का विभागशः त्याग नहीं किया जाता। इसमें पाँच महाव्रत आदि रूप से भेद की विवक्षा नहीं होती। अपितु इसकी स्वीकृति से सर्व सावद्य-सदोष-हिंसादि प्रवृत्ति का पूर्णतः त्याग हो जाता है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के अतिरिक्त मध्य के बाईस तीर्थंकरों ने इसी का ही उपदेश किया।

छेदोपस्थापना चारित्र में विभागशः त्याग किया जाता है। हिंसादि पाँच सावद्यों का पृथक्-पृथक् त्याग किया जाता है। निरवद्य क्रियाओं में प्रमादवश दोष लगने पर उसका सम्यक् प्रतिकार करना छेदोपस्थापना है। आचार्य वीरनंदि ने कहा है व्रत समिति और गुप्तिरूप तेरह प्रकार के चारित्र में भेद अथवा दोष लगने पर उन दोषों का छेद (नाश) करना और फिर अपने आत्मस्वरूप चारित्र को अपने आत्मा में ही स्थिर रखना छेदोपस्थापना है।[1] पूज्यवाद ने कहा है—इन तेरह भेद वाले चारित्र का निरूपण भगवान् महावीर ने किया था। उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों ने ऐसे विभागात्मक चारित्र का निरूपण नहीं किया।[2]

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों द्वारा छेदोपस्थापना चारित्र (संयम) के प्रतिपादन का कारण बताते हुए लिखा है[3] कि—कथन (परोपदेश) करने में, पृथक्-पृथक् भावित करने में और समझने में सुगमता हो इसीलिए पाँच महाव्रतों का वर्णन किया। प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ में शिष्य मुश्किल से शुद्ध किये जाते थे। क्योंकि वे अतिशय सरल स्वभाव होते थे। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के तीर्थ में शिष्यजनों से व्रतों का पालन कराना कठिन रहा है। क्योंकि वे अधिक वक्र स्वभाव के थे। साथ ही दोनों तीर्थों के

---

१. आचारसार ५।६-७.
२. चारित्रभक्ति ७.
३. बाबीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य॥
आचक्खिदु विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंचपण्णत्ता॥
आदीए दुव्विसोधण णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु कप्पाकप्पं ण जाणंति॥
—मूलाचार ७।३६, ३७, ३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिष्य स्पष्ट रूप से योग्य-अयोग्य को नहीं जानते थे। इसीलिए आदि और अन्त के तीर्थंकरों ने अपने तीर्थ में छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है।[१]

२. स्तव (चतुर्विंशति-स्तव) :

ऋषभ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों के नाम निरुक्ति के अनुसार अर्थ करके उनके असाधारण गुणों का कीर्तन—अर्थात् गुणग्रहण पूर्वक नाम लेकर तथा पूजनकर, मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक नमन करना द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव (थवो) आवश्यक है।[२] जिनवरों की भक्ति से जीव पूर्व संचित कर्मों का क्षय[३] और सम्यक्त्व की विशुद्धि कर लेता है। अर्हत्परमेष्ठी वंदना-नमस्कार, पूजा-सत्कार तथा सिद्धिगमन के योग्य पात्र होने से उन्हें अर्हन्त कहते हैं।[४] इस तरह लोक को ज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकाशित करने वाले चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है।[५]

स्तव के भेद—मूलाचार के अनुसार निक्षेप दृष्टि से स्तव के छह भेद हैं।[६] जयधवला में इसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद किये गये हैं।[७] अपराजितसूरि ने मन, वचन, और काय इन तीन योगों के सम्बन्ध से स्तव के तीन भेद किये हैं।[८] १. मन से चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना मनस्तव है। २. वचन से 'लोगुज्जोययरे'—इत्यादि गाथा[९] में कही गयी तीर्थंकरों की स्तुति बोलना वचनकृत स्तव है। ३. ललाट पर हाथ जोड़कर जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार करना कायकृतस्तव है।

निक्षेप दृष्टि से स्तव के छह भेद—[१०]

---

१. उसहादि जिणवराणं णामणिरुत्ति गुणाणुकित्ति च।
काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपरिणामो थवो णेओ ॥—मूलाचार १।२४
२. भत्तीइ जिणवराणं खिज्जंति पुव्वसंचिया कम्मा।
—वही ७।७२, आवश्यक निर्युक्ति ११०४.
३. चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ
—उत्तराध्ययन ३१।९, चतुःशरण सूत्र ३.
४. मूलाचार ७।६५. ५. आवश्यक सूत्र २।१.
६. मूलाचार ७।४१. ७. कसाय पाहुड जयधवला—१।८५ पृ० ११९.
८. भगवती आराधना विजयोदया टीका ५०९. पृष्ठ ७२८.
९. मूलाचार ७।४२. १०. मूलाचार सवृत्ति ७।४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. नाम : चौबीस तीर्थंकरों के गुणों के अनुसार उनके १००८ नामों का उच्चारण करना नामस्तव है।

२. स्थापना : तीर्थंकरों के गुणों की धारक तद्रूप स्थापित जिन प्रतिमाओं की स्तुति करना स्थापना स्तव है।

३. द्रव्य : परमौदारिक शरीर के धारक तीर्थंकरों का वर्ण, उनके शरीर की ऊँचाई, उनके माता-पिता आदि का वर्णन द्रव्यस्तव है।

४. क्षेत्र : तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण इन पांच कल्याणकों द्वारा पवित्र नगर, वन, पर्वत आदि क्षेत्रों का वर्णन करना क्षेत्र-स्तव है।

५. काल : गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और मोक्ष—इन पाँच समयों के कल्याणकों की स्तुति करना कालस्तव है।

६. भाव : तीर्थंकरों के अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, क्षायिकसम्यक्त्व, अव्याबाध और विरागता आदि गुणों का वर्णन एवं स्तवन करना भावस्तव है।

स्तव की विधि : शरीर, भूमि और चित्त की शुद्धिपूर्वक दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद खड़े होकर अंजुली जोड़कर सौम्यभाव से स्तवन करना चाहिए।[1] तथा यह चिन्तन करना चाहिए कि अर्हत्-परमेष्ठी जगत् को प्रकाशित करने वाले, उत्तम-क्षमादि धर्मतीर्थ के कर्ता होने से तीर्थंकर, जिनवर, कीर्तनीय और केवली जैसे विशेषणों से विशिष्ट उत्तमबोधि देने वाले हैं।[2]

३. वंदना :

वन्दना नामक तृतीय आवश्यक मन, वचन और काय की वह प्रशस्त वृत्ति है जिससे साधक तीर्थंकरादि के प्रति तथा शिक्षा, दीक्षा एवं तप आदि में ज्येष्ठ आचार्यों एवं गुरुओं के प्रति श्रद्धा और बहुमान प्रगट करता है। मूलाचार में कहा है—अरहंत, सिद्ध की प्रतिमा, तप, श्रुत तथा गुणों में ज्येष्ठ शिक्षा तथा दीक्षा-गुरुओं को मन, वचन, और काय की शुद्धि से कृतिकर्म, सिद्ध-भक्ति, श्रुत भक्ति और गुरु भक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि से विनय करना वन्दना (वंदण) आवश्यक

---

१. चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो।
अव्वाखित्तो वत्तो कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू ॥ मूलाचार ७।७६.

२. लोगुज्जोययरे धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥ वही ७।४२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ।[1] जयधवला के अनुसार एक तीर्थंकर को नमस्कार करना वन्दना है[2] धवला में भी कहा है ऋषभादि तीर्थंकर, केवली, आचार्य तथा चैत्यालय—इनके गुण-समूहों के भेदपूर्वक शब्द-कलाप रूप गुणानुवादयुक्त नमस्कार वंदना है ।[3] उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है वन्दना से जीव नीचगोत्र का क्षय तथा उच्च गोत्र का बन्ध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है। सर्वत्र आज्ञा-फल तथा दाक्षिण्य अनुकूलता मिलती है ।[4] अर्थात् जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है। मूलाचारकार के अनुसार चारित्रादि अनुष्ठान, ध्यान, अध्ययन में तत्पर क्षमादि गुण तथा महाव्रतधारी, असंयम से ग्लानि करने वाले और धैर्यवान् श्रमण वन्दना के योग्य होते हैं ।[5] ऐसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मुनि, आचार्यादि वन्दनीय होते हैं । अनादृत, स्तब्ध आदि बत्तीस दोषों से रहित वन्दना ही शुद्ध वन्दना है तथा यही विपुल निर्जरा का कारण भी है ।

वंदना की विधि यह है कि—सर्वप्रथम जिस आचार्यादि ज्येष्ठ श्रमणों की वन्दना की जाती है तो उनमें तथा वन्दनकर्ता के मध्य एक हाथ अन्तराल रखकर फिर अपने शरीरादि के स्पर्श से देव का स्पर्श या गुरू को बाधा न करते हुए अपने कटि आदि अंगों का पिच्छिका से प्रतिलेखन करे तब वन्दना की इस प्रकार याचना (विज्ञापना) करे कि "मैं वन्दना करता हूँ" । उनकी स्वीकृति लेकर इच्छाकार पूर्वक वन्दना करना चाहिए ।[6]

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दना करने वाले को न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही बल्कि असंयम आदि दोषों के समर्थन द्वारा कर्मबन्ध ही होता है ।[7] इतना ही नहीं अपितु गुणो पुरुषों के द्वारा अवन्दनीय अपनी वन्दना कराने रूप असंयम की वृद्धि द्वारा अवंदनीय की आत्मा का अधःपतन होता है ।[8]

---

१. अरहंतसिद्धपडिमातवसुदगुणगुरुगुरुणरादीणं ।
किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो ॥ मूलाचार १।२५.

२. एयरस तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम
—कसाय पाहुड जयधवला ८६, १।१-१।८६, पृ० १११.

३. धवला ८।३।४१।८४।३. ४. उत्तराध्ययन २९।११.

५. मूलाचार ७।९८.

६. हत्थंतरेण बाधे संफासमप्पज्जणं पउज्जंतो ।
जाएंतो वेदणयं इच्छाकारं कुणदि भिक्खू ॥ मूलाचार, सवृत्ति ७।११२.

७. आवश्यक निर्युक्ति ११०८. ८. आवश्यक निर्युक्ति १११०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दना के भेद : निक्षेप दृष्टि से इसके निम्नलिखित छह भेद हैं।[1] १—जाति, द्रव्य, क्रिया निरपेक्ष वन्दना की शब्द-संज्ञा नाम वन्दना है। अथवा एक तीर्थंकर, सिद्ध और आचार्यादि के नाम का उच्चारण नाम वन्दना है। २—वन्दना योग्य महापुरुष की प्रतिकृति अथवा एक तीर्थंकर आचार्य आदि के प्रतिबिम्ब का स्तवन करना स्थापना वन्दना है। ३—इसी तरह एक तीर्थंकर, सिद्ध तथा आचार्यादि के शरीर की वन्दना करना द्रव्यवन्दना है। द्रव्य सामायिक की तरह द्रव्य वन्दना के भी भेदों को समझना चाहिए। ४—जिस क्षेत्र में इन्होंने निवास किया हो उसकी वन्दना करना क्षेत्र वन्दना है। ५—जिस काल में ये रहे हों उस काल की वन्दना करना काल वन्दना है। तथा ६—शुद्ध परिणामों से उनके गुणों का स्तवन एवं वन्दना करना भाव वन्दना है।

वन्दना का समय : आलोचना, प्रश्न, पूजा, स्वाध्याय आदि के समय तथा क्रोध आदि अपराध हो जाने पर आचार्य, उपाध्याय आदि की वन्दना की जाती है।[2] पूर्वाह्न, मध्याह्न, और अपराह्न इन तीन सन्ध्याकालों में वन्दना का समय छह-छह घड़ी है। अर्थात् सूर्योदय के तीन घड़ी पूर्व से तीन घड़ी पश्चात् तक पूर्वाह्न वन्दना। मध्याह्न के तीन घड़ी पूर्व से तीन घड़ी पश्चात् तक मध्याह्न वन्दना। सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व से तीन घड़ी पश्चात् तक अपराह्न वन्दना होती है।[3] आचार्य आदि एकान्तभूमि में पद्मासनादि से स्वस्थचित्त बैठे हों। तब उनकी विज्ञप्ति लेकर वन्दना करनी चाहिए।[4] व्याकुलचित्त, निद्रा, विकथा आदि प्रमत्तावस्था तथा आहार-नीहार में युक्त या मल-मूत्रादि उत्सर्ग के समय आचार्यादि की वन्दना नहीं करनी चाहिए।[5]

वन्दना के पर्यायवाची अन्य नाम—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म—ये वन्दना के चार नामान्तर हैं।[6] वन्दना के ही अन्य नाम होने से इन्हें नाम वंदना भी कह सकते हैं। १. कृतिकर्म—जिससे पूर्वकृत अष्टकर्मों का नाश हो। २. चितिकर्म—जिससे तीर्थंकरत्वादि पुण्यकर्म का संचय होता है। ३. पूजाकर्म—जिससे पूजा की जाये अर्थात् अर्हदादि का बहुवचन युक्त शब्दोच्चारण एवं चंदनादि अर्पण करना। तथा ४. विनयकर्म—जिससे सेवा सुश्रुषा की जावे। इस प्रकार जिस अक्षरोच्चारणरूप वाचनिक क्रिया, परिणामों की

---

१. मूलाचार वृत्तिसहित ७।७८.
२. वही ७।१०२.
३. अनगार धर्मामृत ८।७९.
४. मूलाचार ७।१०१.
५. वही ७।१००.
६. किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च—मूलाचार ७।७९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशुद्धिरूप मानसिक क्रिया और नमस्कार आदि रूप कायिक क्रिया करने से ज्ञानावरणादि अष्टविधकर्मों का 'कृत्यते छिद्यते' छेद होता है उसे कृतिकर्म कहा जाता है । यह पुण्यसंचय का कारण है, अतः इसे चितिकर्म भी कहते हैं । इसमें चतुर्विंशति तीर्थंकरों और पञ्चपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) आदि की पूजा की जाती है, अतः इसे पूजाकर्म भी कहते हैं । इसके द्वारा उत्कृष्ट विनय प्रकाशित होती है अतः इसे विनय कर्म भी कहते हैं । इनमें कृतिकर्म और विनयकर्म इन दो का क्रमशः विशेष विवेचन प्रस्तुत है—

कृतिकर्म—कृतिकर्म पापों के विनाश का उपाय है ।[1] सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त की जाने वाली विधि को कृतिकर्म कहते हैं । ग्रन्थकार ने कृतिकर्म को क्रियाकर्म भी कहा हैं । जिनदेव, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय की वन्दना करते समय जो क्रिया की जाती है, उसे कृतिकर्म कहते है[2] आचार्य वसुनन्दि ने कहा है—सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तव पर्यन्त जो विधि है उसे कृतिकर्म कहते हैं ।[3] मूलाचारकार ने कृतिकर्म-प्रयोग की विधि बतलाते हुए कहा है कि—यथाजात (नग्न) मुद्राधारी साधु मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक दो प्रणाम, बारहआवर्त और चार शिरोनति सहित कृतिकर्म करे ।[4]

मूलाचारकार ने कृतिकर्म के नौ अधिकार बताये हैं अर्थात् कृतिकर्म का नौ द्वारों से विचार किया है ।[5] (१) कृतिकर्म कौन करे ? (२) किसका करे ? (३) किस विधि से करे ? (४) किस अवस्था में करे ? (५) कितनी बार करे ? (६) कितनी अवनतियों से करे अर्थात् कृतिकर्म करते समय कितने बार झुकना चाहिए ? (७) कितने बार मस्तक पर हाथ रखकर करे ? । (८) कितने आवर्तों से शुद्ध होता है ? (९) वह कृतिकर्म कितने दोष रहित करे ?—इन नौ अधिकार रूप नौ प्रश्नों का समाधान इस तरह है ।

---

१. कृतिकर्म पापविनाशनोपायः । मूलाचार वृत्ति ७।७९.

२. जिण-सिद्धाइरिय-बहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदिकम्मं णाम ।
—जयधवला १।१।९१, पृ० १०७.

३. सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतितीर्थकरस्तवपर्यन्तः कृतिकर्मेत्युच्यते—
—मूलाचारवृत्ति ७।१०३.

४. दोणदं तु जधाजादं वारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ।। मूलाचार ७।१०४.

५. कदि ओणदं कदि सिरं कदि आवत्तगेहिं परिसुद्धं ।
कदिदोसविप्पमुक्कं किदियम्मं होदि कादव्वं ।। मूलाचार ७।८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **कृतिकर्म कौन करे ? (स्वामित्व)**—पंचमहाव्रतों के आचरण में लीन धर्म में उत्साहित, उद्यमी, मान-कषाय से रहित, निर्जरा का इच्छुक और दीक्षा में लघु ऐसा संयमी श्रमण कृतिकर्म करता है।[१]

(२) **कृतिकर्म किसका करे ?** :—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर आदि की वन्दना (कृतिकर्म) अपने कर्मों की निर्जरा के लिए करना चाहिए।[२] किन्तु संयत मुनि को असंयत माता-पिता, गुरू, राजा, देशविरत श्रावक तथा पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञ, मृगचरित्र और अन्य तीर्थ के साधुओं की वन्दना नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा धर्म-तीर्थ आदि में श्रद्धा और हर्ष रहित होते हैं। ऐसे साधु तो रत्नत्रय, तप और विनय से सर्वथा परे रहकर गुणधर (मूलगुण-उत्तरगुण के धारक) मुनियों के छिद्रान्वेषी होते हैं।[३]

(३) **कृतिकर्म किस विधि से करे ?** : पर्यंकासन तथा कायोत्सर्ग इन दो आसनों में से किसी एक आसन पूर्वक कृतिकर्म करना चाहिए।[४] क्योंकि ये दो आसन सुखासन कहलाते हैं। इनमें भी पर्यंकासन अधिक सुखकर हैं, बाकी के सब आसन विषम अर्थात् व्याकुलता उत्पन्न करने वाले हैं।[५] जो महाशक्तिशाली हैं उन्हें सभी आसनों का प्रयोग करके[६] मन, वचन और काय की विशुद्धिपूर्वक मदरहित होकर क्रमों का उल्लंघन न करके कृतिकर्म करना चाहिए।[७]

कृतिकर्म के लिए योग्य स्थान भी अपेक्षित है अतः विनय की वृद्धि हेतु साधुओं को तृणमय, शिलामय या काष्ठमय आसन पर बैठना चाहिए जिसमें क्षुद्र जीव न हों, या उस आसन से चरचर की आवाज न आती हो, आसन को छिद्र, कील या काँटे रहित, सुखकर तथा निश्चल होना चाहिए।[८]

(४) **कृतिकर्म किस अवस्था में करे ?** : जो आचार्य-मुनि पर्यंकासन पूर्वक आसन पर बैठा हो, ध्यान आदि कार्य में उस समय उपयुक्त न हो, ऐसे शान्तचित्त मुनि को—हे प्रभो ? मैं वन्दना करता हूं—इस तरह से मेधावी मुनि को

---

१. मूलाचार ७।९३.
२. वही ७।९४.
३. वही ७।९५-९७, अनगार धर्मामृत ७।४२,
४. दुविहठाण पुणरुक्तं—मूलाचार ७।१०५.
५. महापुराण २१।७१-७२, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३५५, अनगार धर्मामृत ८।८४.
६. महापुराण २१।७३.
७. मूलाचार ७।१०५.
८. अनगार धर्मामृत ८।८२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बोधनपूर्वक तथा प्रार्थनापूर्वक कृतिकर्म करना चाहिए।[1] जो ध्यानादि में एकाग्रचित्त है, कृतिकर्म करने वाले की ओर पीठ किए बैठा है। प्रमत्त, निन्दित अवस्था अथवा विकथा आदि तथा आहार, नीहार आदि क्रियाओं में संलग्न है, ऐसे संयमी मुनि की भी वन्दना नहीं करना चाहिए।[2] इन सबके साथ अवसर विशेष का भी ध्यान रखना चाहिए। यथा आलोचना, सामायिकादि षडावश्यक, प्रश्न पूछने के पूर्व, पूजन, स्वाध्याय, क्रोधादि अपराध के समय आचार्य, उपाध्यायादि गुरूओं की वंदना करनी चाहिए।[3]

(५) **कृतिकर्म कितने बार करे ?** : पूर्वाह्न और अपराह्न दोनों कालों के सात-सात अर्थात् कुल चौदह कृतिकर्म करना चाहिए। सात कृतिकर्म ये हैं— १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. वीर, ४. चतुर्विंशति तीर्थंकर—ये चार भक्ति प्रतिक्रमण काल के कृतिकर्म हैं, तथा ५. श्रुतभक्ति, ६. आचार्य भक्ति, ७. स्वाध्याय उपसंहार—ये तीन स्वाध्याय काल के कृतिकर्म हैं।[4] अनगार धर्मामृत में यही विभाजन विशेष स्पष्टीकरण के साथ इस तरह है[5]—

समय	क्रिया
१—सूर्योदय से लेकर दो घड़ी तक	—देववंदन, आचार्यवंदन तथा नमन
२—सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् से मध्याह्न की दो घड़ी पहले तक	—पूर्वाह्निक स्वाध्याय
३—मध्याह्न के दो घड़ी पूर्व से दो घड़ी पश्चात् तक	—आहारचर्या (यदि उपवास युक्त है तो क्रम से आचार्य, देव-वंदन व मनन)
४—आहार से लौटने पर	—मंगलगोचर प्रत्याख्यान
५—मध्याह्न के दो घड़ी पश्चात् से सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व तक	—अपराह्निक स्वाध्याय

१. आसणे आसणत्थं च उवसंतं च उवट्ठिदं।
अणुविण्णय मेधावी किदियम्मं पउंजदे॥ मूलाचार ७।१०१.

२. वही ७।१००.

३. आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूजणे य सज्झाए।
अवराधे य गुरूणं वंदणभेदेसु ठाणेसु॥ मूलाचार ७।१०२.

४. चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति॥ मूलाचार ७.१०३.

५. अनगार धर्मामृत ९.१-१३,३४-३५ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० १३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६—सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व से सूर्यास्त तक	—दैवसिक प्रतिक्रमण व रात्रियोग धारण
७—सूर्यास्त से लेकर उसके दो घड़ी पश्चात तक	—आचार्यदेव वन्दन तथा मनन
८—सूर्यास्त के दो घड़ी पश्चात् से अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व तक	—पूर्वरात्रिक स्वाध्याय
९—अर्धरात्रि के दो घड़ी पूर्व से उसके दो घड़ी पश्चात् तक	—चार घड़ी निद्रा
१०—अर्धरात्रि के दो घड़ी पश्चात् से सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व तक	—वैरात्रिक स्वाध्याय
११—सूर्योदय के दो घड़ी पूर्व से सूर्योदय तक	—रात्रिक प्रतिक्रमण

षट्खण्डागम में कहा है कि कृतिकर्म तीनों सन्ध्या कालों में करना चाहिए। इसी की धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने तो यहाँ तक कहा है कि कृतिकर्म तीन बार ही करना चाहिए ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं हैं। अधिक बार भी किया जा सकता है पर तीन बार अवश्य करना चाहिए।[1] तीनों कालों में किये जाने वाले कृतिकर्म में सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दन—इन तीनों आवश्यकों की मुख्यता होती है। तीनों सन्ध्याकालों में किया जाने वाला कृतिकर्म मुनि और श्रावक दोनों को एक समान है। अन्तर केवल इतना है कि साधु अपरिग्रही होने से कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि द्रव्य का उपयोग नहीं करते जबकि गृहस्थ उनका उपयोग कर भी सकते हैं।[2]

इस प्रकार कृतिकर्म श्रमणाचार और श्रावकाचार दोनों में मुख्य आचार के रूप में प्रतिपादित है। वैसे मुनि सांसारिक कार्यों से मुक्त होते हैं फिर भी उनका मन लौकिक यश, समृद्धि तथा अपनी प्रतिष्ठा की ओर भूलकर भी आकर्षित न हो और गमनागमन, आहार ग्रहण आदि प्रवृत्ति करते समय लगे हुए दोषों का परिमार्जन होता रहे, अतः मुनि कृतिकर्म को स्वीकार करता है। गृहस्थ की जीवनचर्या ही ऐसी होती है जिसके कारण उसकी प्रवृत्ति निरन्तर सदोष बनी रहती है अतः उसे भी कृतिकर्म करने का उपदेश दिया गया है।[3] क्योंकि कृतिकर्म का मुख्य उद्देश्य आत्मशुद्धि है।

---

१. षट्खण्डागम, कर्म अनुयोद्वार सूत्र २८, धवला टीका सहित।
२. ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, प्रास्ताविक पृष्ठ २१,२२ (द्वितीय संस्करण)
३. वही, पृष्ठ २०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६—**कृतिकर्म कितनी अवनतियों से करें ?** : अवनति से तात्पर्य है भूमि पर बैठकर भूमि स्पर्श पूर्वक नमन।[1] क्रोध, मान, माया, लोभ एवं परिग्रह इनसे रहित मन, वचन, और काय की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म में दो अवनति करना चाहिए।[2]

७—**कितने बार शिरोनति (मस्तक पर हाथ जोड़कर) कृतिकर्म करे ?** अवनति की तरह मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक चार बार सिर से नमन (चतुः शिरोनति) करके कृतिकर्म करना चाहिए।[3] अर्थात् सामायिक के प्रारम्भ और अन्त में तथा थोस्सामि दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में—इस तरह चार बार शिरोनति विधि की जाती है।

८—**कृतिकर्म कितने आवर्तों से शुद्ध होता है ?** : प्रशस्त योग को एक अवस्था से हटाकर दूसरी अवस्था में ले जाने का नाम परावर्तन या आवर्त है। मन, वचन और काय की अपेक्षा आवर्त के ये तीन भेद। इसके बारह भेद हैं—सामायिक के प्रारम्भ में तीन और अन्त में तीन, चतुर्विंशतिस्तव के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन—कुल मिलाकर बारह आवर्तों से कृतिकर्म शुद्ध होता है। अतः जो मुमुक्षु साधु वंदना के लिए उद्यत हैं, उन्हें ये बारह आवर्त चाहिए।[4]

९—**कितने दोष रहित कृतिकर्म करे ?** : बत्तीस दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए।[5] इन्हें ही वन्दना के बत्तीस दोष भी कहा जाता है, १. अनादृत—निरादर पूर्वक या अल्पभाव से समस्त क्रिया-कर्म करना। २. स्तब्ध—विद्या, जाति आदि आठ मदों के गर्व पूर्वक वन्दना करना। ३. प्रविष्ट—पंचपरमेष्ठी के अति सन्निकट होकर या असंतुष्टतापूर्वक वंदना करना। ४. परिपीडित—दोनों हाथों से दोनों जंघाओं या घुटनों के स्पर्श-पूर्वक वंदना करना। ५. दोलायित—दोलायमानयुक्त होकर अर्थात् समस्त शरीर हिलाते हुए वन्दना करना। ६. अंकुशित—हाथ के अंगूठे को अंकुश की तरह ललाट से लगाकर वन्दना करना। ७. कच्छप रिंगित—कछुए की तरह चेष्टापूर्वक (रेंगकर) वंदना करना। ८. मत्स्योद्वर्त—मछली की तरह कमर को ऊँची करके वन्दना करना। ९. मनोदुष्ट—द्वेष अथवा संक्लेश मनयुक्त वंदना करना। १०. बेदिकाबद्ध—दोनों हाथों से दोनों घुटनों को बाँधकर वक्षस्थल के मर्दनपूर्वक वन्दना करना। ११. भय—मरण आदि सात भयों से डरकर वंदना करना।

---

१. मूलाचार वृत्ति ७।१०४. २. मूलाचार ७।१०४.
३. चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे—वही ७।१०४.
४. मूलाचार वृत्ति ७।१०४, अनगार धर्मामृत ८।८८-८९.
५. मूलाचार, वृत्ति सहित ७।१०६-११०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. विभ्य—परमार्थ को जाने बिना गुरु आदि से भयभीत होकर वंदना करना। १३. ऋद्धिगौरव—वंदना करने से कोई चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ का भक्त हो जायेगा इस अभिप्राय से वंदना करना। १४. गौरव—आसनादि के द्वारा अपना माहात्म्य-गौरव प्रगट करके अथवा रसयुक्त भोजन आदि की स्पृहा रखकर वंदना करना। १५. स्तेनित—आचार्यादि से छिपकर—इस ढंग से वंदना करना जिससे उन्हें मालूम ही न पड़े। १६. प्रतिनीत—देव, गुरु आदि के प्रतिकूल होकर वंदना करना। १७. प्रदुष्ट—दूसरे के साथ द्वेष, वैर, कलह आदि करके उससे क्षमा मांगे या किये बिना वंदना आदि क्रिया करना। १८. तर्जित—दूसरों को भय दिखाकर अथवा आचार्यादि के द्वारा तर्जनी अंगुलि आदि से तर्जित अर्थात् अनुशासित किये जाने पर कि यदि नियमादि का पालन नहीं करोगे तो आपको (संघ से) निकाल दूंगा—ऐसा तर्जित किये जाने पर ही वंदना करना तर्जित दोष है। १९. शब्द—मौन छोड़कर शब्द बोलते हुए वंदना करना शब्द दोष है अथवा 'सद्' के स्थान पर 'सट्ठ'—यह पाठ रहने पर शठतापूर्वक या माया प्रपंच से वंदना करना शाठ्य दोष है। २०. हीलित—आचार्य या अन्य साधुओं का पराभव करके वंदना करना। २१. त्रिवलित—ललाट की तीन रेखाएँ चढ़ाकर वंदना करना या वंदना करते समय कमर, हृदय और कण्ठ इन तीनों में भंगिमा पड़ जाना। २२. कुंचित—घुटनों के बीच में मस्तक झुकाकर वन्दना करना या दोनों हाथों से सिर का स्पर्शकर संकोच रूप होकर वन्दना करना। २३. दृष्ट—आचार्य के सामने ठीक से वन्दना करना, परोक्ष में स्वच्छन्दतापूर्वक अथवा इच्छानुकूल दशों दिशाओं में अवलोकन करते हुए वन्दना करना। २४. अदृष्ट—आचार्य आदि न देख सकें अतः ऐसे स्थान से वन्दना करना। अथवा भूमि, शरीर आदि का प्रतिलेखन किये बिना मन की चंचलता से युक्त होकर अथवा पीछे जाकर वन्दना करना। २५. संघ-कर-मोचन—संघ के रुष्ट होने के भय से तथा संघ को प्रसन्न करने के उद्देश्य से वंदना को 'कर' (टैक्स) भाग समझकर पूर्ति करना, २६. आलब्ध—उपकरणादि प्राप्त करके वंदना करना। २७. अनालब्ध—उपकरणादि की आशा से वंदना करना। २८. हीन—ग्रंथ, अर्थ, कालादि प्रमाण रहित वंदना करना। २९. उत्तर चूलिका—वंदना को थोड़े समय में पूर्ण करना तथा उसकी चूलिका सम्बन्धी आलोचना आदि को अधिक समय तक सम्पन्न करके वन्दना करना। ३०. मूक—मूक (गूंगे) व्यक्ति की तरह मुख के भीतर ही भीतर वंदना पाठ बोलना अथवा वंदना करते हुए हुँकार, अंगुलि आदि की संज्ञा (चेष्टा) करना। ३१. दर्दुर—अपने शब्दों के द्वारा दूसरों के शब्दों को दबाने के उद्देश्य से तेज गले के द्वारा महाकलकल युक्त शब्द करके वंदना करना। ३२. चुलुलित (चुरुलित)—एक ही स्थान में खड़े

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर, हाथों की अंजुलि को घुमाकर सबकी वंदना करना अथवा चुरुलित पाठ के अनुसार पंचमादि स्वर से (गाकर) वन्दना करना ।[१]

वंदना के ये बत्तीस दोष हैं । इन दोषों से परिशुद्ध होकर जो कृतिकर्म करता है वह साधु विपुल निर्जरा का भागी होता है ।[२] तथा यदि इन दोषों में से किसी भी एक दोष सहित कृतिकर्म करता है या इन दोषों के निवारण के बिना वंदना करता है तो वंदना से होनेवाली कर्म निर्जरा का वह श्रमण कभी स्वामी नहीं बन सकता ।[३]

विनयकर्म : वन्दना का मूल उद्देश्य जीवन में विनय को उच्च स्थान देना है । जिन-शासन का मूल तथा समग्र संघ व्यवस्था का आधार विनय ही है । इसीलिए वन्दना के चार पर्यायवाची नामों में इसे स्वीकृत किया है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों का (विनयति) विनाश, चतुर्गति भ्रमण से मुक्ति तथा संसार से विलीन करने वाली विनय है ।[४] श्रमण को स्वर्ग-मोक्षादि के प्रति ले जाने वाला विशिष्ट शुभ परिणाम भी विनय ही है ।[५] इसीलिए सभी जिनवरों ने मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हेतु सम्पूर्ण कर्मभूमियों के लिए विनय का प्ररूपण किया है ।[६] विनय को पंचम गति (मोक्ष) का नायक[७] और मोक्ष का द्वार कहा है । इसी से संयम, तप तथा ज्ञान प्राप्त होता है और आचार्य तथा सम्पूर्ण संघ आराधित होता है ।[८] यह श्रुताभ्यास (शिक्षा) का फल है । इसके बिना सारी शिक्षा निरर्थक है । यह सभी कल्याणों का फल भी है ।[९] धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय है उसका अन्तिम परिणाम (रस) मोक्ष है । इस विनयरूपी

---

१. मूलाचार वृत्ति सहित ७।१०६-११०
२. वही ७।११०. ३. वही ७।१११.
४. जह्मा विणेदि कम्मं अट्ठविहं चाउरंगमोक्खो य ।
तम्हा वदंति विदुसो विणओत्ति विलीणसंसारा ।। मूलाचार ७।८१.
५. स्वर्गमोक्षादीन् विशेषेण नयतीति विनयः—मूलाचार वृत्ति ५।१७५.
६. मूलाचार ७।८२.
७. विणयो पंचमगइणायगो भणियो—मूलाचार ५।१६७.
८. वही ५।१।१८९, भगवती आराधना १२९.
९. विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा ।
विणओ सिक्खाए फलं विणय-फलं सव्वकल्लाणं ।। वही ५।१८८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल द्वारा विनयवान् व्यक्ति इस लोक में कीर्ति और ज्ञान प्राप्त करता है और क्रमशः अपना आत्मविकास करता हुआ अन्त में निःश्रेयस को प्राप्त करता है।[1]

वृत्तिकार वसुनन्दि ने विनयकर्म की परिभाषा करते हुए कहा है—कि जिसके द्वारा कर्म दूर किये जाते हैं, कर्मों का संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि भावरूप परिणमन करा दिया जाता है उस क्रिया को विनयकर्म या शुश्रूषा कहते हैं।[2]

विनयकर्म के भेद :—इसके पाँच भेद हैं—१. लोकानुवृत्ति, २. अर्थनिमित्तक, ३. कामतंत्र, ४. भय और ५. मोक्ष।[3] इनमें अर्थविनय, कामविनय और भयविनय—ये तीन मूलरूप में संसार की प्रयोजक हैं।

१. **लोकानुवृत्ति विनय**—अर्थात् लोकाचार में विनय करना। मूलरूप में लोकानुवृत्ति विनय की विधि के अनुसार दो भेद हैं—प्रथम के अन्तर्गत यथावसर सबका यथोचित आदर-सत्कार किया जाता है और दूसरी वह विनय जो अपने विभव के अनुसार देवपूजा आदि के समय की जाती है। इस प्रकार पूज्य पुरुषों के आगमन पर आसन से उठना, हाथ जोड़ना, आसन देना, अतिथि पूजा, देवपूजा, अनुकूल भाषण तथा देश-काल योग्य स्वद्रव्य दान करना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है।[4] इन्हीं आधारों पर इसके निम्न सात भेद किये जा सकते हैं—अभ्युत्थान, आसनदान, अतिथिपूजा, अपने विभव के अनुसार देवपूजन, भाषानुवृत्ति, छंदानुवर्तन और देश-काल योग्य स्वद्रव्य दान।

२. **अर्थनिमित्तक विनय**—अपने प्रयोजन अथवा स्वार्थवश हाथ जोड़ना।[5]

३. **कामतंत्र विनय**—काम-पुरुषार्थ के लिए विनय करना।[6]

४. **भय विनय**—भय के कारण विनय करना।[7]

---

१. दशवैकालिक ९।२।२. २. मूलाचारवृत्ति ७।७९.

३. लोकाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य।
भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य॥ मूलाचार ७।८३.

४. अब्भुट्ठाणं अंजलिआसणदाणं च अतिहिपूजा य।
लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविहवेण॥
भासाणुवित्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च।
लोकाणुवित्तिविणओ···· —मूलाचार ७।८४-८५.

५. अंजलिकरणं च अत्थकदे—वही ७।८५.

६-७. एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए—वही ७।८६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. **मोक्ष विनय**—इस विनय के पांच भेद हैं : दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक।[1] विनय तप के प्रसंग में भी इन्हीं पाँच भेदों का वर्णन है।[2] मोक्षविनय के इन पाँच भेदों का विवेचन प्रस्तुत है—

१. **दर्शन विनय**—जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट श्रुतज्ञान में वर्णित द्रव्य-पर्यायों में दृढ़ रहना दर्शन विनय है।[3]

२. **ज्ञान-विनय**—ज्ञान को सीखना, चिन्तवन करना, ज्ञान का परोपदेश करना, ज्ञानानुसार न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना—ये सब ज्ञान विनयी के लक्षण हैं।[4] कहा भी है कि ज्ञानी मोक्ष को जाता है, वही पापों का त्याग करता है, वही नवीन कर्मों का ग्रहण नहीं करता और वही ज्ञान के द्वारा चारित्र का पालन करता है अतः ज्ञान में विनय और उसका पालन करना ज्ञान विनय है।[5] ज्ञान विनय के आठ भेद हैं—१. कालविनय-अर्थात् काल शुद्धिपूर्वक द्वादशांगों का अध्ययन करना, २. विनयरूप ज्ञान विनय : अर्थात् हस्त-पाद साफ करके पद्मासनपूर्वक अध्ययन करना, ३. उपधान विनय—अवग्रह विशेष से पढ़ना, ४. बहुमान विनय—ग्रन्थ और गुरु का आदर एवं उनके गुणों की स्तुति करना, ५. अनिह्नव विनय—शास्त्र और गुरु को न छिपाना, ६. व्यंजन शुद्ध-विनय, ७. अर्थशुद्ध विनय और ८. व्यंजनार्थोभय शुद्ध विनय।

३. **चारित्र-विनय**—इन्द्रिय और कषाय के प्रणिधान या परिणाम का त्याग तथा गुप्ति, समिति आदि चारित्र के अंगों का पालन करना चारित्र विनय है।[7] इस विनय में तत्पर मुनि पुरानी कर्मरज को नष्ट करके नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता।[8]

---

१. दंसणणाण चरित्ते तपविणओ ओवचारिओ चेव।
मोक्खम्हि एस विणओ पंचविहो होदि णायव्वो।। मूलाचार ७।८७.

२. वही ५।१६७. ३. मूलाचार ७।८८.

४. णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदिणाणं परस्स उवदिसदि।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो।। वही ५।१७१.

५. णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि।
णाणेण कुणदि चरणं तम्हा णाणे हवे विणओ।। वही ७।८९.

६. काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेवऽणिण्हवणे।
वंजणअत्थतदुभयं विणओ णाणम्हि अट्ठविहो।।
—वही ५।१७०, भगवती आराधना ११३.

७. वही ५।१७२, भगवती आराधना ११५. ८. वही ७।९०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **तप-विनय**—संयम रूप उत्तरगुणों में उद्यम करना, श्रम व परीषहों को अच्छी तरह सहन करना, यथायोग्य आवश्यक क्रियाओं में हानि-वृद्धि न होने देना,[1] तप तथा तपोज्येष्ठ श्रमणों में भक्ति रखना और छोटे तपस्वियों, चारित्रधारी मुनियों की अवहेलना न करना तप-विनय है।[2] यह आत्मा के अंधकार को दूर कर, उसे मोक्ष-मार्ग की ओर ले जाता है इससे बुद्धि नियमित (स्थिर) होती है।[3]

५ **औपचारिक विनय** : रत्नत्रय के धारक श्रमण के अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना औपचारिक विनय है।[4] गुरु आदि का यथायोग्य विनय करना भी उपचार विनय है। इस विनय के कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीन भेद इस प्रकार हैं।[5]

(१) **कायिक औपचारिक विनय** : आचार्यादि गुरुजनों को आते देख आदरपूर्वक आसन से उठना, कृतिकर्म अर्थात् श्रुत और गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग आदि करना, मस्तक से नमन अर्थात् ऋषियों को अंजुलि जोड़कर नमन करना, उनके आने पर साथ जाना, उनके पीछे खड़े होना, प्रस्थान के समय उनके पीछे-पीछे चलना, उनसे नीचे वामपार्श्व की ओर बैठना, उनसे नीचे वामपार्श्व की ओर से गमन करना, उनसे नीचे आसन पर सोना, आसन, पुस्तकादि उपकरण, ठहरने केलिए प्रासुक गिरि-गुहादि खोजकर देना, उनके शरीर बल के प्रतिरूप शरीर का संस्पर्शन मर्दन करना, कालानुसार क्रिया अर्थात् उष्ण काल में शीत तथा शीत काल में उष्णक्रिया करने का प्रयत्न करना, आदेश का पालन करना, संस्तर बिछाना तथा प्रातः एवं सायं पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरणों का प्रतिलेखन (शोधन) करना—इत्यादि प्रकार से अपने शरीर के द्वारा यथायोग्य उपकार करना कायिक उपचार विनय है।[6]

उपर्युक्त लक्षण के आधार पर कायिक औपचारिक विनय के सात भेद है—१. अभ्युत्थान–आचार्य आदि गुरुजनों के आने पर आदरपूर्वक उठना, २. सन्नति–मस्तक से नमन करना, ३. आसनदान, ४. अनुप्रदान—पुस्तकादि देना, ५. कृतिकर्म प्रतिरूप : सिद्ध, श्रुत और गुरुभक्ति पूर्वक यथायोग्य कायोत्सर्ग करना, ६. आसनत्याग और ७. अनुव्रजन अर्थात् पीछे-पीछे चलना या गमन काल में कुछ दूर तक साथ जाना।[7]

---

१. मूलाचार ५।१७३.
२. वही ५।१७४, भगवती आराधना ११७.
३. वही ७।९१.
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४५८.
५. मूलाचार ५।१७५, १८४.
६. वही ५।१७६-१७९, भगवती आराधना ११९-१२२.
७. मूलाचार ५।१८४-१८५, अनगारधर्मामृत ७।७१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) **वाचिक औपचारिक विनय** : पूज्यभाव रूप बहुवचन युक्त, हित, मित और मधुर, सूत्रानुवीचि (आगमानुकूल), अनिष्ठुर, अकर्कश, उपशांत अगृहस्थ (बन्धन, ताड़न, पीडन आदि रहित) अक्रिय और अलीहन (अपमानरहित) वचन बोलना वाचिक उपचार विनय है।[1] इस लक्षण के आधार पर इसके हित, मित, परिमित (सकारण) और अनुवीचि (आगमानुकूल) भाषण करना ये—चार भेद हैं।[2]

(३) **मानसिक औपचारिक विनय** : हिंसादि[3] पाप और विश्रुति रूप सम्यक्त्व की विराधना के परिणामों का त्याग करना तथा प्रिय और हित परिणामयुक्त होना मानसिक उपचार विनय है।[4] इस लक्षण के आधार पर इसके भी अकुशल-मननिरोध और कुशलमनःप्रवृत्ति ये दो भेद हैं।[5] कुन्दकुन्द कृत० मूलाचार में इन्हीं भेदों का अशुभमनःसन्निरोध और शुभमनःसंकल्प नाम से उल्लेख किया गया है।[6]

औपचारिक विनय के उपर्युक्त तीनों भेदों में से प्रत्येक के प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो-दो उपभेद भी होते हैं।[7] उपर्युक्त सभी प्रकार की विनय का अप्रमत्तभाव से रात्र्यधिक मुनियों अर्थात् दीक्षा, श्रुत और तप इनमें ज्येष्ठ मुनियों के प्रति ऊनरात्रिक मुनियों में अर्थात् तप, गुण एवं वय में छोटे योग्य मुनियों तथा आर्यिकाओं, गृहस्थों (श्रावकों) के प्रति साधु को यथायोग्य पालन करना चाहिए।[8]

इस प्रकार वट्टकेर ने वंदना आवश्यक के प्रसंग में विनयकर्म का विस्तृत भेद-प्रभेदों के साथ वर्णन किया है। प्रसंगानुसार विनय की उच्च महिमा का वर्णन भी किया है। यह जिनशासन का मूल है। इसी से संयम, तप और ज्ञान होता है। विनयहीन व्यक्ति को धर्म और तप कैसे हो सकता है?[9] जिस प्रकार घूँघट स्त्री की सुन्दरता को बढ़ा देता है उसी प्रकार विनय की छाया मनुष्य के सद्गुणों को और अधिक उत्तम बना देती है। विनयवान् श्रमण कलह

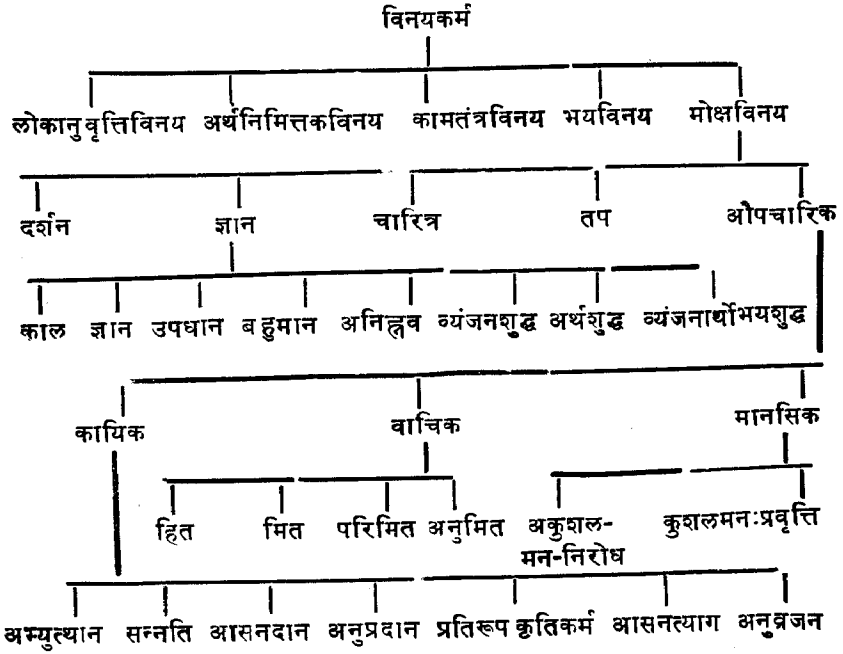
---

१. मूलाचार ५।१८०-१८१, भगवती आराधना १२३-१२४.
२. वही ५।१८६. ३. वही ५।१८२, भगवती आराधना ११५.
४. वही ५।१८६. ५. कुन्द० मूलाचार ५।२०९.
७. सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो तह परोक्खो य। मूलाचार ५।१७५.
८. रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥ मूलाचार ५।१८७.
९. विणओ सासणमूलो विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणयेण विप्पहूणस्स कुदोधम्मो कुदो य तवो ॥ कुन्द० मूलाचार ७।१०४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और संक्लेश परिणामों से रहित, निष्कपटी, निरभिमानी और निर्लोभी होता है। वह गुरु की सेवा करने तथा सभी को सुख देने वाला होता है।[1] उसकी कीर्ति और मैत्री बढ़ती ही रहती है क्योंकि उसमें मान का अभाव होता है।[2] शीलवान् व्यक्ति के विनययुक्त भाषण से सत्य में अधिक तेजस्विता आती है। उत्तराध्ययन सूत्र में विनयवान् शिष्य के अनेकों उत्कृष्ट गुणों का वर्णन मिलता है।[3] दशवैकालिक सूत्र के नवम विनय समाधि अध्ययन में भी विनय की विशेष महत्ता और चर्चा है।[4] अतः श्रमण को कि सभी प्रयत्नों से विनय का पालन करते हुए लक्ष्यसिद्धि में तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि अल्पज्ञानी पुरुष भी विनयकर्म से अपने कर्मों का क्षय करता है।[5]

विनयकर्म के सभी भेद-प्रभेदों को चार्ट द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।



---

१. मूलाचार ५।१९०, भगवती आराधना १३०.
२. वही ५।१९१, वही १३१.
३. उत्तराध्ययन ११।१०-१३.
४. दशवैकालिक ९।१।१-२.
५. मूलाचार ७।९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४ प्रतिक्रमण :

सामान्यतः श्रमण जिस क्रिया के द्वारा किए हुए दोषों, अपराधों एवं पापों का प्रक्षालन करके शुद्ध होता है वह प्रतिक्रमण (पडिक्कमण) कहलाता है। अतः प्रमादपूर्वक किये गये[1] अतीतकालीन दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।[2] मूलाचारकार के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-पूर्वक किये हुए अपराधों (दोषों) का मन, वचन और काय से निंदा (आत्मालोचन या अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव प्रकट करना) और गर्हा (गुरु आदि के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करना) के द्वारा शोधन करना प्रतिक्रमण है।[3] अर्थात् आहार, शरीर, शयनासन, गमनागमन और चित्तवृत्ति द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आश्रय से व्रतों में हुए अतीतकालीन अपराधों का निन्दा एवं गर्हापूर्वक शोधन करना अर्थात् दोषों का परित्याग करना प्रतिक्रमण है।[4] आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—सावद्य (पाप) प्रवृत्ति में जितने आगे बढ़ गये थे उतने ही पीछे हटकर पुनः शुभयोग रूप स्व-स्थान में अपने आपको लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[5]

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के पर्यायवाची आठ नाम बताये हैं[6]—(१) प्रतिक्रमणः—सावद्ययोग से विरत होकर आत्मशुद्धि में लौट आना, (२) प्रतिचरणा—हिंसा, सत्य आदि संयम में सम्यक् रूप से विचरना, (३) परिहरणा : सभी तरह के अशुभ योगों का त्याग, (४) वारणा : विषय-भोगों से स्वयं को रोकना, (५) निवृत्तिः अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना, (६) निन्दा : पूर्वकृत अशुभ आचरण के लिए पश्चाताप करना, (७) गर्हा : आचार्य, गुरु आदि के समक्ष अपने अपराधों की निंदा करना और (८) शुद्धि : कृत दोषों की आलोचना, निंदा, गर्हा तथा तपश्चरण के द्वारा आत्मशुद्धि करना।

प्रतिक्रमण के अंग : प्रतिक्रमण के तीन अंग हैं[7] : १. प्रतिक्रामक अर्थात्

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड ३६७.

२. अतीतकालदोषनिर्हरणं प्रतिक्रमणम्। मूलाचार वृत्ति १।२७.

३. दव्वे खेत्ते काले भावे य कयावराहसोहणयं।
णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिक्कमणं।। मूलाचार १।२६

४. श्रावक धर्म संहिता : पृष्ठ १७७.

५. प्रतीपं क्रमणं-प्रतिक्रमणं। शुभ योगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात् प्रतीपं क्रमणम्—योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश.

६. आवश्यक निर्युक्ति गाथा—१२३३.

७. पडिक्कमओ पडिक्कमणं पडिक्कमिदव्वं च होदि णादव्वं।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि।। मूलाचार ७।११७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमादादि से लगे हुए दोषों से निवृत्त होने वाला[1] अथवा जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव विषयक अतिचारों से निवृत्त होता है वह (साधु) प्रतिक्रामक कहलाता है। इस दृष्टि से जीव प्रतिक्रामक हुआ।[2] २. **प्रतिक्रमण** : पंचमहाव्रतादि में हुए अतिचारों से निवृत्त होकर महाव्रतों की निर्मलता में पुनः प्रविष्ट होने वाले जीव के उस परिणाम का नाम प्रतिक्रमण है।[3] अथवा जिस परिणाम से जीव चारित्र में लगे अतिचारों को हटाकर चारित्र शुद्धि में प्रवृत्त हो, जीव का वह परिणाम प्रतिक्रमण है। ३. प्रतिक्रमितव्य : भाव, गृह आदि क्षेत्र, दिवस, मुहूर्तादि दोषजनक काल तथा सचित्त, अचित्त एवं मिश्र रूप द्रव्य, जो पापास्रव के कारण हों वे सब प्रतिक्रमितव्य (त्याग के योग) हैं।[4]

प्रतिक्रमण के भेद : मूलाचारकार ने प्रतिक्रमण के मूलतः भावप्रतिक्रमण और द्रव्य-प्रतिक्रमण—ये दो भेद किये हैं। इनमें (१) **भावप्रतिक्रमण** : मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अप्रशस्तयोग[5]—इन सबकी आलोचना, (गुरु के सम्मुख अपने द्वारा किये अपराधों का निवेदन करना), निन्दा और गर्हा के द्वारा प्रतिक्रमण करके और पुनः दोष में प्रवृत्त न होने वाले को भावप्रतिक्रमण होता है। शेष को द्रव्य प्रतिक्रमण कहा जाता है।[6] भावयुक्त श्रमण ही जिन अतिचारों के नाशार्थ प्रतिक्रमण सूत्र बोलता-सुनता है, वह साधु विपुल निर्जरा करता हुआ, सभी दोषों का नाश करता है[7], और वस्तुतः वचन-रचना मात्र को त्यागकर जो साधु रागादि भावों को दूर करके आत्मा को ध्याता है, उसी के (पारमार्थिक) प्रतिक्रमण होता है।[8] (२) **द्रव्य प्रतिक्रमण** : उपर्युक्त विधि से जो अपने दोष परिहार नहीं करता और सूत्रमात्र से सुन लेता है, निन्दा, गर्हा से दूर रहता है तो उसका द्रव्य प्रतिक्रमण होता है।[9] क्योंकि विशुद्ध परिणाम रहित होकर द्रव्यीभूत दोष युक्त मन से जिन दोषों के नाशार्थ प्रतिक्रमण किया जाता है, वे दोष नष्ट नहीं होते। अतः उसे द्रव्य-प्रतिक्रमण कहते हैं।[10] द्रव्य सामायिक की तरह द्रव्य प्रतिक्रमण के भी आगम और नोआगम आदि भेद प्रभेद किये जा सकते हैं।

---

१. मूलाचार वृत्ति ७।११७.
२. जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य। मूलाचार ७।११८.
३. वही ७।११८, तथा ७।११७ की वृत्ति.
४. वही ७।११९. ५. वही ७।१२०.
६. वही ७।१२६. ७. वही ७।१२८.
८. नियमसार ८३. ९. सेसं पुण दव्वतो भणिअं। मूलाचार ७।१२६.
१०. वही : ७।१२७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेप दृष्टि से प्रतिक्रमण के छह भेद हैं।[1] १. अयोग्य नामोच्चारण से निवृत्त होना। अथवा प्रतिक्रमण दंडक के शब्दों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है। २. सराग स्थापनाओं से अपने परिणामों को हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है। ३. सावद्य द्रव्य सेवन के परिणामों को हटाना द्रव्य प्रतिक्रमण है। ४. क्षेत्र के आश्रय से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है। ५. काल के आश्रय या निमित्त से होने वाले अतिचारों से निवृत्त होना काल प्रतिक्रमण है। तथा ६. राग-द्वेष, क्रोधादि से उत्पन्न अतिचारों से निवृत्त होना भाव प्रतिक्रमण है।

कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के सात भेद ये हैं[2]—

१. दैवसिक : सम्पूर्ण दिन में हुए अतिचारों की आलोचना प्रत्येक सन्ध्या करना। २. रात्रिक : सम्पूर्ण रात्रि में हुए अतिचारों की प्रतिदिन के प्रातः आलोचना करना। ३. ईर्यापथ : आहार, गुरुवंदन, शौच आदि जाते समय षट्काय के जीवों के प्रति हुए अतिचारों से निवृत्ति। ४. पाक्षिक : सम्पूर्ण पक्ष में लगे दोषों की निवृत्ति के लिए अमावस्या एवं पूर्णिमा को उनकी आलोचना करना। ५. चातुर्मासिक : चार माह में हुए अतिचारों की निवृत्ति हेतु कार्तिक, फाल्गुन एवं आषाढ़ माह की पूर्णिमा को विचारपूर्वक आलोचना करना। ६. सांवत्सरिक : वर्ष भर के अतिचारों की निवृत्ति हेतु प्रत्येक वर्ष आषाढ़ माह के अन्त में चतुर्दशी या पूर्णिमा के दिन चिन्तनपूर्वक आलोचना करना। ७. औत्तमार्थ : यावज्जीवन चार प्रकार के आहारों से निवृत्त होना औत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इसके अन्तर्गत जीवनपर्यन्त सभी प्रकार के अतिचारों का भी त्याग हो जाता है।

प्रतिक्रमण के उपर्युक्त भेदों के आधार पर लोग प्रायः एक प्रश्न करते हैं कि जब दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण करने से प्रतिदिन के अतिचारों की निवृत्ति हो जाती है तब पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक आदि प्रतिक्रमण करने की क्या आवश्यकता है? किन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने के बाद भी कुछ अतिचारों का प्रमार्जन शेष रह जाता है, उसके लिए पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक—इन प्रतिक्रमणों का विधान किया है। इनमें भी जो अतिचार छूट गये उनके त्याग के लिए औत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

---

१. मूलाचार : ७।११५, वृत्तिसहित, भगवती आराधना वि० टी० ११६.

२. पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं।
पक्खियं चादुम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥ मूलाचार ७।११६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त सात भेदों के अतिरिक्त भी मूलाचार के संक्षेप-प्रत्याख्यानसंस्तर-स्तव नामक तृतीय अधिकार में आराधना (मरणसमाधि) काल के तीन प्रतिक्रमणों का भी उल्लेख किया है।[1] १. सर्वातिचार—दीक्षा ग्रहण काल से लेकर सम्पूर्ण तपश्चरण काल में हुए समस्त अतिचारों का प्रतिक्रमण (त्याग), २. त्रिविध आहार का प्रतिक्रमण—जल के अतिरिक्त अशन, खाद्य और स्वाद्य—इन तीन प्रकार के आहार का त्याग, ३. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण—जीवन पर्यन्त पानक-जल आदि का भी त्याग। यह प्रतिक्रमण उत्तम अर्थ (मोक्ष) के लिए होता है।[2] उत्तमार्थ प्रतिक्रमण से तात्पर्य है बाह्य तथा अभ्यान्तर परिग्रह, आहार और शरीर से ममत्व का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग करना।[3]

मूलाचारवृत्ति में आचार्य वसुनन्दि ने आराधनाशास्त्र के आधार पर योग, इन्द्रिय, शरीर और कषाय—इन चार प्रतिक्रमणों का भी उल्लेख किया है। मन, वचन और काय—इन तीन योगों का त्याग योग-प्रतिक्रमण है। पंचेन्द्रियों के विषयों का त्याग इन्द्रिय-प्रतिक्रमण है। औदारिक वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण—इन पाँच शरीरों का त्याग (अपने शरीर को कृश करना) शरीर-प्रतिक्रमण एवं अनन्तानुबंधी आदि सोलह कषायों का, हास्य, रति आदि नौ नोकषायों का त्याग करना कषाय प्रतिक्रमण है।[4]

उपर्युक्त तीन योगों के ही सम्बन्ध से अपराजितसूरि ने प्रतिक्रमण के तीन भेद किये हैं—१. किये हुए अतिचारों का मन से त्याग करना तथा हा! मैंने पाप-कर्म किया—ऐसा मन में विचार करना मनःप्रतिक्रमण है। २. प्रतिक्रमण के सूत्रों का उच्चारण करना वाक्य-प्रतिक्रमण है। तथा ३. शरीर के द्वारा दुष्कृत्य न करना काय-प्रतिक्रमण है।[5]

प्रतिक्रमण की विधि : आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—जो वचन रचना को छोड़कर, रागादिभावों का निवारण करके आत्मा को ध्याता है; उसे प्रतिक्रमण होता है।[6] क्योंकि—प्रतिक्रमण व्रतों के अतिचारों को दूर करने का महत्वपूर्ण उपाय है। इसके द्वारा जीव स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को ढँक लेता है और शुद्धव्रत-

---

१. पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं हवे पडिक्कमणं।
पाणस्य परिच्चयणं जावज्जीवाय उत्तमट्ठं च॥ मूलाचार ३।१२०.

२. वही, वृत्ति ३।१२०.

३. मूलाचार ३।११४.

४. मूलाचार वृत्ति० ३।१२०.

५. भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा ५०९ पृष्ठ ७२८.

६. मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदि त्ति पडिकमणं॥ नियमसार ८३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारी होकर कर्मास्रवों का निरोध करता हुआ वह शुद्ध चारित्र का पालन और अष्टप्रवचन-माता के आराधन में सावधान तथा संयम रूप सन्मार्ग में एक-रस हो जाता है और सम्यक् समाधिस्थ होकर विचरण करता है।[1] वस्तुतः सभी प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक होते हैं, तब उससे दोषशुद्धि होती है।[2] इसकी विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम विनयकर्म करके, शरीर, आसन आदि का पिच्छिका से प्रमार्जन व नेत्र से देखभाल कर शुद्धि करे। इसके बाद अंजुलि छोड़कर ऋद्धि आदि गौरव तथा जाति आदि सभी तरह के मान छोड़कर व्रतों में हुए अतिचारों को गुरु के समक्ष निवेदन करना चाहिए।[3] आचार्य के समक्ष अपराधों का निवेदन नित्यप्रति करना चाहिए। आज नहीं, दूसरे या तीसरे दिन अपराधों को कहूँगा इत्यादि रूप में टालते हुए कालक्षेप करना ठीक नहीं। अतः जैसे-जैसे माया के रूप में अतिचार उत्पन्न हों, उन्हें अनुक्रम से आलोचना, निन्दा और गर्हापूर्वक विनष्ट करके पुनः उन अपराधों को नहीं करना चाहिए।[4] और जब पापकर्म करने पर प्रतिक्रमण करना आवश्यक है तब इससे अच्छा तो यही है कि वह पापकर्म ही न किया जाय।[5] धर्मकथा आदि में विघ्न का कोई कारण उपस्थित होने पर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगों को भूल जाय तब सर्वप्रथम आलोचना करके संवेग और वैराग्य में तत्पर रहे। छोटे अपराध के समय यदि गुरु समीप न हों तब वैसी अवस्था में—'मैं फिर ऐसा कभी न करूँगा, मेरा पाप मिथ्या हो—' इस प्रकार प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए।[6] जिस प्रकार मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करते हैं उसी तरह असंयम, क्रोधादि कषायों एवं अशुभ योगों का प्रतिक्रमण करना चाहिए।[7] इस तरह दैवसिक, रात्रिक आदि इन सब नियमों को पूर्णकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान करना चाहिए।[8] आलोचनाभक्ति करते समय कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमणभक्ति करने में कायोत्सर्ग, वीरभक्ति में कायोत्सर्ग, और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति कायोत्सर्ग—प्रतिक्रमण काल में ये चार कृतिकर्म करने का विधान है।[9]

---

१. उत्तराध्ययन २९।१२.

२. सर्व प्रतिक्रमणमालोचनापूर्वकमेव।—तत्त्वार्थकार्तिक ९।२२।४.

३. मूलाचार ७।१२१.

४. उप्पण्णो उप्पण्णा माया आणुपुव्वसो णिहंतव्वा।
आलोचणणिंदणगरहणाहिं ण पुणो तिअं विदिअं॥ मूलाचार ७।१२५.

५. आवश्यक निर्युक्ति भाग १, गाथा ६८४.

६. चारित्रसार १४१।४. ७. मूलाचार ७।१२०.

८. वही ७।१६८. ९. वही ७।१०३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण की परम्परा : चौबीस तीर्थंकरों के संघ में प्रतिक्रमण के विधान की परम्परा का मूलाचारकार ने उल्लेख करते हुए लिखा है[1] कि—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को अतिचार (दोष) लगे या न लगे किन्तु दोषों की विशुद्धि के लिए समयानुसार प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया, किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों अर्थात् द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ से लेकर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया और कहा कि—जिस व्रत में स्वयं या अन्य साधु को अतिचार हो उस दोष के नाशार्थ उसे प्रतिक्रमण करना चाहिए। क्योंकि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़ बुद्धिशाली, एकाग्रमनवाले, प्रेक्षापूर्वकारी, अतिचारों की गर्हा एवं जुगुप्सा करने वाले तथा शुद्ध-चरित्र होते थे। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के शिष्य चंचल चित्तवाले, मोही तथा जड़ बुद्धिवाले होते थे। अतः ईर्यापथ, आहारगमन, स्वप्नादि में किसी भी समय अतिचार होने या न होने पर भी उन्हें सभी नियमों एवं प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों के उच्चारण का उपदेश दिया। मूलाचारकार ने इसके सम्बन्ध में अन्धलकघोटक (अन्धे घोड़े) का दृष्टान्त इस प्रकार दिया है[2]।

किसी राजा का घोड़ा अन्धा हो गया। राजा ने उसे उपचार हेतु वैद्य के यहाँ भेजा किन्तु वैद्य दूसरे गाँव गया था। वैद्य के पुत्र से उसकी दवा के लिए कहा किन्तु उसे दवा आदि का विशेष कुछ भी ज्ञान न था। फिर भी अति आवश्यकतावश उसने घोड़े की आँखों पर क्रमशः सभी दवाओं का प्रयोग किया और किसी दवा के प्रयोग से अचानक ही घोड़े की आँखें अच्छी हो गईं। ठीक इसी अन्धलकघोटक न्याय रूप दृष्टान्त की तरह एक अतिचार के होने या न होने पर भी प्रतिक्रमण के सभी दण्डकों के उच्चारण का विधान किया गया ताकि किसी एक पर मन स्थिर हो जाने से दोषों का प्रमार्जन हो जाय।

अर्थात् वैद्यपुत्र की तरह मुनि का मन जब एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिर नहीं होता हो तो यह सोचकर सभी प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करना चाहिए कि एक के उच्चारण में नहीं तो दूसरे के उच्चारण में मन स्थिर होगा दूसरे में नहीं तो तीसरे में, तीसरे में नहीं तो चौथे में। इस तरह सभी प्रतिक्रमण-दण्डक कर्म-क्षय में समर्थ होने से सभी प्रतिक्रमण दण्डकों के उच्चारण में कोई विरोध नहीं है। इसी विधान के अनुसार आज तक सभी मुनियों एवं

---

१. मूलाचार ७।१२९-१३३.

२. पुरिमचरिमादु जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो॥ मूलाचार ७।१३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्यिकाओं आदि को नित्य प्रतिक्रमण करने की परम्परा निरन्तर चली आ रही है।

प्रतिक्रमण आवश्यक के अन्तर्गत ही मूलाचार में दस मुंडों का भी विवेचन किया है। दस मुण्ड[1] इस तरह हैं : स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों को स्व-स्व विषयों में प्रवृत्त न होने देना—ये पाँच इन्द्रियमुंड तथा वचोमुंड—अप्रस्तुत भाषण न करना। हस्तमुंड—अप्रस्तुत कार्यों में हाथ न फैलाना, उसे संकुचित रखना, पादमुंड—अयोग्य कार्य में पैरों को प्रवृत्त न होने देना। मनोमुंड—मन के पापपूर्ण विचारों को नष्ट करना तथा तनुमुण्ड—शरीर को अशुभ पापकार्य में प्रवृत्त न होने देना। इन दस मुण्डों से आत्मा पाप में प्रवृत्त नहीं होती अतः उस आत्मा को मुण्डधारी कहते हैं।[2]

इस तरह श्रमणाचार में प्रतिक्रमण का अपना विशिष्ट स्थान है। यह षडावश्यकों के अन्तर्गत होते हुए भी अपनी अत्यधिक महत्ता के कारण आजकल प्रतिक्रमण 'आवश्यक' शब्द का पर्यायवाची बन गया है। अर्थात् 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके भी छहों आवश्यकों के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग होने लगा है। इतना ही नहीं कुछ अर्वाचीन ग्रन्थों तक में 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3]

५ प्रत्याख्यान :

प्रमादपूर्वक किये गये भूतकालीन दोषों का प्रक्षालन प्रतिक्रमण कहलाता है तथा भविष्यकाल के प्रति मर्यादा के साथ अशुभयोग से निवृत्ति तथा शुभयोग में प्रवृत्ति का आख्यान (प्रतिज्ञा) करना प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) है। तप के लिए निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। अर्थात् अयोग्य द्रव्य का परिहार करना अथवा तप में बाधक योग्य द्रव्यों का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।[4] मूलाचार के अनुसार नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन छह निक्षेपों के विषय में शुभ मन, वचन और काय के द्वारा अनागत[5] और वर्तमान काल के लिए दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है।[6] आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में

---

१. पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दसमुंडा वण्णिया समए ॥मूलाचार ३।१२१.

२. वही वृत्ति० ३।१२१. ३. दे०—धर्मसंग्रह-प्रतिक्रमण विधि आदि.

४. मूलाचार वृत्ति १।२७.

५. अनागतं चानुपस्थितं च अथवा अनागते दूरेणागते काले (दूरे भविष्यतिकाले) —वही।

६. णामादीणं छण्हं अजोगपरवज्जणं तियरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ॥मूलाचार १।२७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा है कि समस्त वाचनिक विकल्पों का त्याग करके तथा अनागत शुभाशुभ का निवारण करके जो साधु आत्मा को ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान आवश्यक होता है।[1] समयसार के अनुसार भविष्यत्-काल का शुभ व अशुभ कर्म जिस भाव में बनता है, उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान युक्त आत्मा है।[2] इस तरह जो आत्मा समस्त कर्मजनित वासनाओं से रहित आत्मा को देखता है, उनके पापागमन के कारणभूत भावों का त्याग प्रत्याख्यान है।[3]

वस्तुतः प्रत्याख्यान शब्द तत्त्व के द्वारा जानकर हेतुपूर्वक नियम करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। चाहे हम किसी वस्तु का भोग भले ही न करें, यदि प्रत्याख्यान नहीं किया हो तो वह त्याग फलदायक नहीं होता। क्योंकि हमने तत्त्वरूप से इच्छा का निरोध नहीं किया। प्रत्याख्यान रूप में नियम न करने से अपनी इच्छा खुली रहती है। यदि प्रत्याख्यान हो तो स्वाभाविक रूप से दोष के हेतुओं की ओर दृष्टि करने तक की इच्छा नहीं होती। इसके विपरीत प्रत्याख्यान न करने वाला पुरुष विवेकहीन होने के कारण सतत् कर्मबंध करता रहता है। सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इसके विषय में एक उदाहरण इस प्रकार उल्लिखित है[4] कि किसी वध करने वाले (वधक) ने सोचा कि उस गृहस्थ अथवा गृहस्थपुत्र या राजा की हत्या करना है। पहले सो जाऊँ, फिर उठकर अवसर पाते ही उसकी हत्या करूँगा। इस प्रकार के संकल्प वाला बधक पुरुष चाहे सोया हुआ हो या जागा हुआ हो, चल रहा हो या बैठा हो—उसके मन में निरंतर हत्या की भावना विद्यमान होने से वह तो किसी भी समय हत्या की भावना को कार्यरूप में परिणत कर सकता है। अपनी इस सावद्य मनोवृत्ति के कारण वह निरन्तर प्रतिक्षण कर्मबन्ध करता रहता है। अतः साधक व्यक्ति को सावद्ययोग का प्रत्याख्यान अत्यावश्यक है। इससे जितने अंश में सावद्यवृत्ति का त्याग किया जाता हैं, उतने अश में कर्मबंधन रुक जाता है। इस दृष्टि से प्रत्याख्यान आवश्यक निरवद्यानुष्ठान रूप होने से आत्म शुद्धि के लिए साधक है।

प्रत्याख्यान के तीन अंग : प्रत्याख्यान के प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य—ये तीन अंग हैं।[5] १. प्रत्याख्यायक से तात्पर्य संयमयुक्त जीव है।

---

१. मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, पच्चक्खाणं हवे तस्स। नियमसार ९५,

२. समयसार ३८४. ३. योगसार ५।५१.

४. सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध चतुर्थाध्ययन दिट्ठंत एवं उवणय पदं पृ० ४५१.

५. पच्चक्खाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालह्मि॥ मूलाचार ७।१३६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जो श्रमण गुरु के उपदेश, अर्हद् की आज्ञा तथा सम्यक् विवेकपूर्वक दोषों के स्वरूप को जानकर उनका साकार (सविकल्प) और निराकार (निर्विकल्प) रूप से प्रतिक्रमण (पूर्ण त्याग) करता है तथा उसका ग्रहणकाल, मध्यकाल और समाप्ति काल में दृढ़तापूर्वक पालन करता है, उस धैर्यवान् आत्मा को प्रत्याख्यायक कहते हैं।[1] २. प्रत्याख्यान से तात्पर्य त्याग के परिणाम से है। अर्थात् जिन परिणामों से तप के लिए सावद्य या निरवद्य द्रव्य का त्याग किया जाता है।[2] अन्न, वस्त्र आदि बाह्य द्रव्यरूप वस्तुओं का त्याग तथा अज्ञान, असंयम आदि के त्याग द्वारा भावपूर्वक और भावत्याग के उद्देश्य से होना चाहिए। ३. प्रत्याख्यातव्य से तात्पर्य त्याग योग्य परिग्रह अर्थात् सचित्त, अचित्त और मिश्र एवं अभक्ष्य भोज्य आदिरूप वाह्य उपधि तथा क्रोध, मान, माया और लोभ रूप अन्तरंग उपधि का त्याग है।[3] इस प्रकार प्रत्याख्यान के ये तीन अंग हैं तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीन कालों की दृष्टि से इनके तीन-तीन भेद है।[4]

प्रत्याख्यान के भेद :

अपराजितसूरि ने योग के सम्बन्ध से मन, वचन और काय की दृष्टि से प्रत्याख्यान के तीन भेद किये हैं। १. मैं अतिचारों को भविष्यकाल में नहीं करूंगा ऐसा मन से विचार करना मनःप्रत्याख्यान है। २. भविष्यकाल में मैं अतिचार नहीं करूँगा—ऐसा वचनों द्वारा कहना वचन प्रत्याख्यान है। तथा ३. शरीर के द्वारा भविष्यकाल में अतिचार नहीं करना कायप्रत्याख्यान है।[5]

अन्य आवश्यकों के समान निक्षेप दृष्टि से प्रत्याख्यान के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये छह भेद हैं।[6]

१. अयोग्य नाम का उच्चारण 'मैं नहीं करूँगा' इस प्रकार का संकल्प नाम प्रत्याख्यान है।

२. आप्ताभास रूप सरागी देवों की प्रतिमाओं की पूजा तथा त्रस, स्थावर जीवों की स्थापना को त्रिविध रूप से मैं पीड़ित नहीं करूँगा ऐसा मानसिक संकल्प स्थापना प्रत्याख्यान है।

---

१. मूलाचार ७।१३७. २. वही ७।१३८.
३. मूलाचार ७।१३८.
४. पच्चखाओ पच्चक्खाणं पच्चक्खियव्वमेवं तु।
तीदे पच्चुप्पण्णे अणागदे चेव कालह्मि ॥ वही ७।१३६.
५. भगवती आराधना विजयोदया टीका ५०९ पृष्ठ ७२८.
६. वही १।२७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अयोग्य आहार, उपकरणादि पदार्थों के ग्रहण न करने का संकल्प द्रव्य-प्रत्याख्यान है।

४. अयोग्य, अनिष्ट, प्रयोजनोत्पादक संयम की हानि करने वाले, संक्लेश-भावोत्पादक क्षेत्रों के त्याग का संकल्प क्षेत्र प्रत्याख्यान है।

५. काल का त्याग शक्य न हो सकने के कारण उस काल में होने वाली क्रियाओं के त्याग का संकल्प काल प्रत्याख्यान है।

६. अशुभ परिणाम के त्याग का संकल्प भाव प्रत्याख्यान है, इसके मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान—ये दो भेद हैं।[1]

मूलाचारकार ने प्रत्याख्यान के मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान—दो भेद करके इनके क्षमणादि (आहारत्यागादि) भेदों का संकेत मात्र किया है और अन्त में प्रत्याख्यान के दस भेदों का विवेचन किया है।[2]

१. **मूलगुण प्रत्याख्यान**—यह यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है। इसके दो भेद हैं: सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान (श्रमण के पाँच महाव्रतादि) तथा देशमूलगुण प्रत्याख्यान (गृहस्थों के पाँच अणुव्रतादि)।

२. **उत्तरगुण प्रत्याख्यान**—यह प्रतिदिन एवं कुछ दिन के लिए उपयोगी है। इसके भी दो भेद हैं—पहला है सर्वउत्तरगुण प्रत्याख्यान—अर्थात् जो साधु और श्रावक दोनों के लिए होता है। इसके अनागत, अतिक्रान्त आदि दस भेद हैं। द्वितीय है देशउत्तरगुण प्रत्याख्यान—जो केवल श्रावकों के लिए है। तीन-गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इनके अन्तर्गत आते हैं।[3]

सर्वउत्तरगुण प्रत्याख्यान के निम्नलिखित दश भेद ग्रन्थकार ने बताये हैं।[4]

(१) अनागत—भविष्यकाल विषयक उपवास आदि पहले कर लेना। यथा—चतुर्दशी को किया जाने वाला उपवास त्रयोदशी को करना।

---

१. भगवती आराधना विजयोदयाटीका गाथा ११६ पृष्ठ २७६-२७७.

२. मूलाचार ७।१३९, आवश्यक निर्युक्ति दीपिका गाथा १५५७.

३. आवश्यक निर्युक्ति दीपिका १५५५-१५५७.

४. अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव।
सागारमणागारं परिमाणगदं अपरिसेसं॥
अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुगं वियाणहि।
पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि॥
—मूलाचार ७।१४०-१४१, आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका १५५९-१५५६,
—तुलना करो—स्थानांग १०।१०१. भगवती ७।२ (पृ० ९२६,९९९)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) अतिक्रान्त—अतीत (भूत) काल विषयक उपवास आदि करना। जैसे चतुर्दशी आदि को कारणवश उपवास न कर पाये तो उसे आगे प्रतिपदा आदि में करना।

(३) कोटिसहित—अर्थात् संकल्प-सहित शक्ति की अपेक्षा उपवासादि करने का संकल्प करना। जैसे—कल स्वाध्याय के बाद यदि शक्ति होगी तो उपवासादि करूँगा अन्यथा नहीं।

(४) निखंडित—पाक्षिक, मासिक आदि में अवश्यकरणीय उपवासादि का करना।

(५) साकार—सभेद अर्थात् प्रत्याख्यान करते समय आकार विशेष जैसे सर्वतोभद्र, कनकावल्यादि व्रतों के उपवासों को विधि, नक्षत्राद्रि के भेद पूर्वक करना।

(६) अनाकार—बिना आकार अर्थात् नक्षत्रादि का भेद या विचार किये बिना स्वेच्छया उपवासादि करना।

(७) परिणामगत—दो, तीन, पन्द्रह आदि दिन के काल प्रमाण सहित उपवासादि करना।

(८) अपरिशेष—यावज्जीवन चार प्रकार के आहार आदि का परित्याग करना।

(९) अध्वानगत—(मार्ग विषयक)-जंगल, नदी, देश आदि का रास्ता पार करने तक आहारादि का त्याग करना।

(१०) सहेतुक—उपसर्गादि के कारण उपवासादि करना।

आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका में वर्णित प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद :

पहले मूलाचारकार ने प्रत्याख्यान के मूलगुण और उत्तरगुण इन दो भेदों तथा इनके उपर्युक्त भेदों का संकेत मात्र करके अन्त में कुल दस भेदों की गणना की है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा की आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका में इन भेदों से कुछ शब्दभेद तथा अर्थभेद के साथ स्पष्टीकरण पूर्वक इनका विवेचन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम निक्षेप दृष्टि से प्रत्याख्यान के नाम, स्थापना, द्रव्य, अदित्सा (न देने की इच्छा), प्रतिषेध और भाव—ये छह भेद किये हैं।[1] इनमें भावप्रत्याख्यान के श्रुत और नोश्रुत—ये दो भेद बताये हैं। नोश्रुतभाव

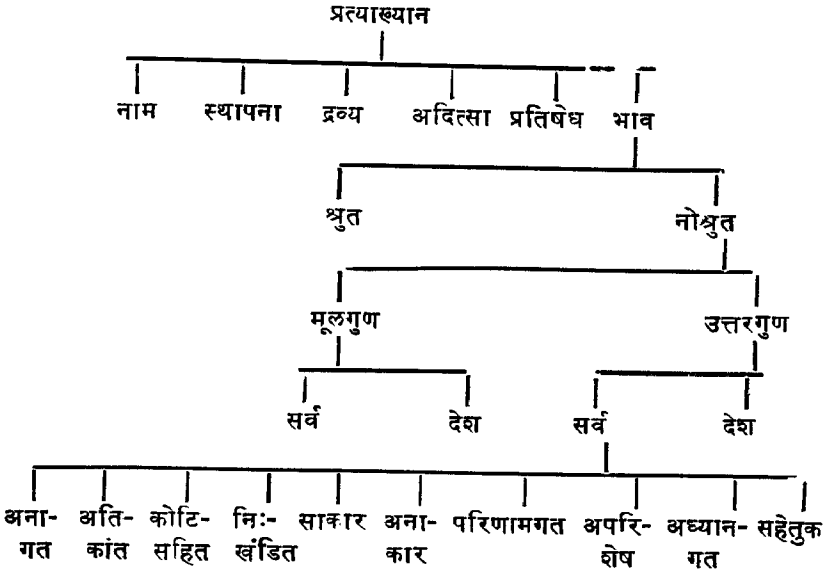
---

१. नाम ठवणादविए अइच्छपडिसेहमेव भावे च।
ए ए खलु छब्भेया पच्चखाणंमि नायव्वा॥
—आवश्यक निर्युक्ति दीपिका १५५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्याख्यान के मूलगुण और उत्तरगुण—ये दो भेद[1] हैं। तथा इन दोनों में प्रत्येक के सर्व और देश—ये दो-दो भेद करके सर्वउत्तरगुण के अनागत, अतिक्रान्त आदि दस भेद किये गये हैं।[2] जबकि मूलाचारकार ने प्रत्याख्यान के सर्वप्रथम निक्षेपदृष्टि से नाम, स्थापना आदि छह भेद किये हैं, फिर सीधे ही प्रत्याख्यान के अनागत आदि दस भेद कर दिये हैं। मूलाचार की अपेक्षा आवश्यक निर्युक्ति में प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेदों का कथन अधिक स्पष्ट है।[3] मूलाचार के निखंडित की जगह आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका में नियंत्रित, अध्वानगत की जगह सांकेतित और सहेतुक की जगह अध्वा प्रत्याख्यान का उल्लेख मिलता है।[4]

प्रत्याख्यान के भेदों का चार्ट



---

१. आवश्यक निर्युक्ति दीपिका १५५४-१५५५. २. वही १५५८-१५५९.
३. तद्द्विविधं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति—
—भगवती आराधना वि० टी० ११६।२७६।२२.
४. मूलाचार ७।१४०-१४१, आवश्यक निर्युक्ति दीपिका १५५८-१५५९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांग सूत्र में प्रत्याख्यान के तीन और पांच भेदों का भी उल्लेख मिलता है।[1] तीन भेद इस प्रकार हैं—१. कुछ जीव मन से प्रत्याख्यान करते हैं। २. कुछ जीव वचन से प्रत्याख्यान करते हैं तथा ३. कुछ जीव काया से प्रत्याख्यान करते हैं, दुबारा पाप-कर्मों में प्रवृत्ति नहीं करते। अथवा १. कुछ जीव दीर्घकाल तक पाप कर्मों का प्रत्याख्यान करते हैं। २. कुछ जीव अल्प-काल तक पापकर्मों का प्रत्याख्यान करते हैं। ३. कुछ जीव काया को प्रतिसंहृत करते हैं, दुबारा पाप कर्मों में प्रवृत्ति नहीं करते।

प्रत्याख्यान के पांच भेद इस प्रकार हैं[2]—१. श्रद्धाशुद्ध अर्थात् श्रद्धापूर्वक स्वीकृत २. विनयशुद्ध—विनय समाचरण पूर्वक स्वीकृत ३. अनुभाषण शुद्ध—प्रत्याख्यान कराते समय गुरु जिस पाठ का उच्चारण करें उसे दोहराना। ४. अनुपालना शुद्ध—कठिन परिस्थिति में भी प्रत्याख्यान का भंग न करना अपितु उसका विधिवत् करना। ५. भावशुद्ध—राग-द्वेष या आकांक्षात्मक मानसिक भावों से अदूषित।

प्रत्याख्यान की विधि :

'महाव्रतों' के विनाश व मलोत्पादन के कारण जिस प्रकार न होंगे वैसा करता हूँ, ऐसी मन से आलोचना करके चौरासी लाख व्रतों की शुद्धि के प्रतिग्रह का नाम प्रत्याख्यान है।[3] आवश्यकवृत्ति के अनुसार श्रद्धान, ज्ञान, वंदना, अनुपालन, अनुभाषण और भाव—इन छह शुद्धियों युक्त किया जाने वाला शुद्ध प्रत्याख्यान होता है।[4] मूलाचारकार ने विशुद्धिपूर्वक प्रत्याख्यान के पालन हेतु विनय, अनुभाषा, अनुपालन और परिणाम—इन चार प्रकार की शुद्धियों का विधान किया गया है।[5] स्थानांगसूत्र में इन्हीं शुद्धियों में श्रद्धा को सम्मिलित करके प्रत्याख्यान के पूर्वोक्त पांच भेद उल्लिखित हैं।[6] विनयशुद्धि का अर्थ कृतिकर्म, औपचयिक, ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन पाँच विनयों से युक्त प्रत्याख्यान किया है। अनुभाषा शुद्धि से तात्पर्य गुरु वचनों के अनुसार अक्षर,

---

१. स्थानाङ्ग ३।२७, ५।२२१.

२. पंचविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—सद्दहणसुद्धे, विणयसुद्धे, अणुभासणा-सुद्धे अणुपालणासुद्धे भावसुद्धे—स्थानांग ५।२२१.

३. धवला ८।३।४१।८५।१.

४. आवश्यक वृत्ति पृ० ८४७.

५. विणएणं तहाणुभासा हवदि य अणुपालणा य परिणामे।
एदं पच्चक्खाणं चदुव्विधं होदि णादव्वं ।। मूलाचार ७।१४२,
स्थानांग ५।३।४६५.

६. स्थानांग ५।२११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पद, व्यंजन, घोष, स्वर आदि के उच्चारण का शुद्धिपूर्वक प्रत्याख्यान करना है। अनुपालन शुद्धि—अर्थात् आतंक, उपसर्ग, श्रम, दुर्भिक्ष, वृत्ति तथा महारण्यादि में आपत्ति के समय अपने व्रतों आदि की विशुद्धता बनाए रखना। परिणामशुद्धि—अर्थात् राग-द्वेष रूप मन के परिणामों से रहित, पवित्र भावना से प्रत्याख्यान करना।[1]

उपर्युक्त चार शुद्धियों से किये गये प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा को मन, वचन और काय की दुष्प्रवृत्तियों से रोककर शुभ प्रवृत्तियों में केन्द्रित किया जा सकता है। इससे अमर्यादित जीवन मर्यादित करने में सहायता मिलती है तथा जीवन में त्याग की निरन्तरता को बनाये रखा जा सकता है। समयसार में कहा है : अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थ 'पर' हैं ऐसा समझकर प्रत्याख्यान करने से ज्ञान ही प्रत्याख्यान सिद्ध होता है और अपने ज्ञान में त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है।[2] व्यवहार में तो श्रमण दिन में ही भोजन करके फिर योग्यकाल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य और लेह्य की रुचि छोड़ देना प्रत्याख्यान बताया है।[3] यदि भोजन करने की इच्छा हो तो पूर्व दिन ग्रहण किये उपवास या प्रत्याख्यान का विधिपूर्वक क्षमापणा (निष्ठापना) करनी चाहिए उसके बाद विधि के अनुसार भोजन करके अपनी शक्ति के अनुसार पुनः प्रत्याख्यान या उपवास किया जाता है।[4]

इस प्रकार प्रत्याख्यान आवश्यक के द्वारा श्रमण स्वयं को व्यर्थ के भोगों से बचाते हैं और आत्मचिन्तन में तत्पर रखते हैं। इसके करने से आस्रव का निरोध होता है। उससे संवर तथा संवर से तृष्णा का नाश होकर समत्व की प्राप्ति होती है और क्रमशः मुक्ति प्राप्त करता है।

६. कायोत्सर्ग :

मूलाचारकार ने कायोत्सर्ग के लिए विसर्ग[5] तथा व्युत्सर्ग[6] शब्दों का भी प्रयोग किया है। दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक आदि अर्हत्प्रणीत कालप्रमाण के अनुसार अर्थात् जिस-जिस काल में जितना-जितना कायोत्सर्ग कहा गया है उस काल का अतिक्रमण किये बिना यथोक्त काल तक जिनेन्द्र भगवान् का चिन्तन करते हुए शरीर से ममत्व त्याग विसर्ग या

१. मूलाचार ७।१४३—१४६.
२. सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाइ परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ।। समयसार ३४.
३. नियमसार तात्पर्यवृत्ति ९५.
४. अनगार धर्मामृत ९।३६.
५. मूलाचार १।२२.
६. वही. ७।१८१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग (विसग्ग या काउसग्ग) कहलाता है।[1] काय + उत्सर्ग—इन दो शब्दों के योग से कायोत्सर्ग शब्द बना है जिसका अर्थ है काय का त्याग अर्थात् परिमिति काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग।[2] काय आदि परद्रव्यों के प्रति स्थिर भाव छोड़कर निर्विकल्प रूप से आत्मध्यान करना कायोत्सर्ग है।[3] इसे व्युत्सर्ग भी कहते हैं। निःसंगता—अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग है।[4] आत्मसाधना के लिए अपने आपको उत्सर्ग की विधि ही व्युत्सर्ग है। इसकी साधना से श्रमण अपने देह के प्रति ममत्व भाव का पूर्णतः विसर्जन करने की स्थिति में पहुँच जाता है, क्योंकि शरीर अन्य है, जीव-आत्मा अन्य है—इस प्रकार के भेद-विज्ञान का चिन्तन आत्म-साधना में आवश्यक है।[5] इससे चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है और आत्मा को अपने स्व-रूप चिन्तन का अवसर मिलता है। इस प्रकार आत्मा निर्भय बनकर अपने कठिनतम उद्देश्य की सिद्धि में समर्थ होता है। उत्तराध्ययन में कहा है कि कायोत्सर्ग (कुछ समय के लिए देहोत्सर्ग अर्थात् अर्थात् देह-भाव के विसर्जन) से जीव अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य अतिचारों का विशोधन करता है। और ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भाँति निर्वृतहृदय (शान्त या हल्का) हो जाता है और प्रशस्तध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।[6]

कायोत्सर्ग को कायिकध्यान, कायगुप्ति, कायविवेक, काय-व्युत्सर्ग और काय-प्रतिसंलीनता भी कहा जाता है।[7]

कायोत्सर्ग के भेद : निक्षेप दृष्टि से कायोत्सर्ग के छह भेद हैं[8]—

१. **नाम**—'कायोत्सर्ग' ऐसे इस नाम को नाम-कायोत्सर्ग कहते हैं। अथवा

---

१. देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो॥ मूलाचार १।२८.

२. तत्त्वार्थवार्तिक ६।२४।११. पृ० ५३०. ३. नियमसार १२१.

४. निःसंङ्गनिर्भयत्वजीविताशा व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः।
—तत्त्वार्थवार्तिक ९।२६।१०.

५. अन्नं इमं सरीरं अन्नोजीवुत्ति कयबुद्धि—आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका १५४७.

६. उत्तराध्ययन २९।१३.

७. मनोनुशासनम् (द्वितीय संस्करण) पृ० १९६.

८. णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य।
एसो काउसग्गे णिक्खेवो छव्विहो णेओ॥ मूलाचार सवृत्ति ७।१५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीक्ष्ण, कठोर आदि रूप पापयुक्त नामकरण में हुए दोषों के परिहारार्थ जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नाम कायोत्सर्ग है।

२. **स्थापना**—कायोत्सर्ग परिणत प्रतिमा।

३. **द्रव्य**—सावद्यद्रव्य सेवन से उत्पन्न दोष के नाशार्थ कायोत्सर्ग करना, अथवा कायोत्सर्ग प्राभृतशास्त्र को जानने वाला जो उसमें उपयुक्त न हो वह पुरुष और उसके शरीर को, भावीजीव, उसके तद्व्यतिरिक्तकर्म और नोकर्म—इनको द्रव्यकायोत्सर्ग कहते हैं।

४. **क्षेत्र**—पापयुक्त क्षेत्र से आने पर दोषों के नाशार्थ किया जानेवाला अथवा कायोत्सर्ग में युक्त व्यक्ति जिस क्षेत्र में बैठा है वह क्षेत्र कायोत्सर्ग।

५. **काल**—सावद्यकाल के दोष परिहार के लिए किया जानेवाला कायोत्सर्ग, अथवा कायोत्सर्ग में युक्त पुरुष जिस काल में है वह काल कायोत्सर्ग है।

६. **भाव**—मिथ्यात्व आदि अतिचारों के परिहारार्थ किया जाने वाला कायोत्सर्ग। अथवा कयोत्सर्ग प्राभृतशास्त्र के ज्ञाता और उपयोग युक्त आत्मा तथा आत्मप्रदेश भाव कायोत्सर्ग है।

विजयोदया टीकाकार ने योग के संबंध से मन, वचन और काय की दृष्टि से कायोत्सर्ग के तीन भेद बताये हैं। इनमें १. "ममेदं" यह शरीर मेरा है इस भाव की निवृत्ति मनःकायोत्सर्ग है। २. मैं शरीर का त्याग करता हूँ—इस प्रकार के वचनों का उच्चारण करना वचनकृत कायोत्सर्ग है। ३. प्रलम्बभुज (बाहु नीचे लटकाकर) होकर, दोनों पैरों में चार अंगुलमात्र का अन्तर कर समपाद निश्चल खड़े होना कायकृत कायोत्सर्ग है।[1]

आवश्यकचूर्णिकार ने कायोत्सर्ग के दो मुख्य भेद बताये हैं—द्रव्य और भाव। इनमें प्रथम द्रव्यकायोत्सर्ग का अर्थ का काय चेष्टा का निरोध अर्थात् शरीर की चंचलता एवं ममता का त्याग एवं जिनमुद्रा में निश्चल खड़े होना है। द्वितीय भावकायोत्सर्ग से तात्पर्य है धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में रमण करना[2]।

इन द्रव्य और भावभेद को समझाने के लिए मूलाचारकार ने कायोत्सर्ग के चार भेद किये हैं।[3]

---

१. भगवती आराधना विजयोदया टीका—५०९. पृष्ठ ७२८.

२. सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतोय भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो भावतो काउस्सग्गो झाणं—आवश्यक चूर्णि उत्तरार्द्ध १५४८.

३. उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठ उट्ठिदो चेव।
उवविट्ठणिविट्ठो वि य काओसग्गो चदुट्ठाणो॥
—मूलाचार ७।१७६, भगवती आराधना वि० टी० ११६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **उत्थित-उत्थित**—जिस कायोत्सर्ग में खड़े होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तन किया जाता है वह उत्थित-उत्थित कायोसर्ग है।[1] इसमें श्रमण शरीर (द्रव्य) तथा परिणामों (भावों) इन दोनों में उत्थित होता है, यहाँ द्रव्य और भाव दोनों के ही उत्थान से युक्त होने के कारण उत्थित-उत्थित शब्द से उत्थान का प्रकर्ष कहा है। स्थाणू (खम्भे) की तरह शरीर का उन्नत और निश्चल रखना द्रव्योत्थान है। तथा ज्ञानरूप भाव का ध्यान करने योग्य एक ही वस्तु में स्थिर रहना भावोत्थान है।

२. **उत्थित-निविष्ट**—इसमें शरीर से स्थित (खड़े) होकर भी आर्त-रौद्रध्यान का चिन्तन ही रहता है।[2] अर्थात् श्रमण शरीर रूप द्रव्य से स्थित रहने पर भी मन में विविध अशुभ विकल्प रूप परिणामों से उलझा रहता है। अतः शरीर से खड़े होकर भी शुभ परिणामों के अभाव के कारण (मन-आत्मा से) निविष्ट—बैठे हुए रहते हैं। अतः एक ही काल और क्षेत्र में उत्थित और निविष्ट—इन दोनों आसनों में परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि दोनों के निमित्त भिन्न हैं।

३. **उपविष्ट-उत्थित**—उपविष्ट अर्थात् बैठकर भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान का ही चिन्तन करना उपविष्ट-उत्थित कायोत्सर्ग है।[3] शरीर के वृद्ध एवं अशक्त हो जाने पर श्रमण खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करने में असमर्थ होता है, किन्तु मन में शुभध्यान-चिन्तन के तीव्र भाव रहते हैं। अतः मन में उन्नत परिणामों से युक्त होने के कारण वह उत्थित होता है किन्तु अशक्ति के कारण उपविष्ट अर्थात् तन से बैठा रहता है।

४. **उपविष्ट-निविष्ट**—जो बैठकर भी आर्तध्यान और रौद्रध्यान का ही चिन्तन करता है उसके उपविष्ट-निविष्ट कायोत्सर्ग होता है। ये तन और मन दोनों से उपविष्ट (बैठे हुए) अर्थात् ये आलस्य और कर्तव्य शून्य होते हैं। क्योंकि न तो ये शरीर से उत्थित होते हैं और न ही इनके शुभपरिणाम रहते हैं।[4]

आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने उद्देश्य की दृष्टि से कायोत्सर्ग के दो भेद बताये हैं[5]—चेष्टा कायोत्सर्ग, और अभिभव कायोत्सर्ग। विभिन्न प्रवृत्तियां करते समय हुए दोषों या अतिचारों की विशुद्धि के लिए किया जाने वाला

---

१. मूलाचार ७।१७७. २. वही ७।१७८.
३. मूलाचार ७।१७९. ४. वही ७।१८०.
५. सो उस्सग्गो दुविहो चिट्ठाए अभिभवे य नायव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो उवसग्गभिजुंजणे बिइओ॥ आवश्यक निर्युक्ति १४५२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेष्टा कायोत्सर्ग है। तथा प्राप्त कष्टों को सहन करने,[1] कष्टजनित भय को निरस्त करने तथा विशेष आत्म विशुद्धि के लिए दीर्घकाल तक मन की एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए किया जाने वाला अभिभव कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग की विधि :

कायोत्सर्ग के अंग—मूलाचारकार ने कायोत्सर्ग के तीन अंग बताये हैं—१. कायोत्सर्ग, २. कायोत्सर्गी, ३. कायोत्सर्ग के कारण। इन तीनों में प्रत्येक की प्ररूपणा की जाती है।[2]

१. **कायोत्सर्ग**—दोनों हाथ नीचे करके दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद, शरीर के सभी अंगों की चंचलता से रहित निश्चल खड़े होकर कायोत्सर्ग करना विशुद्ध कायोत्सर्ग है।[3]

२. **कायोत्सर्गी**—जो जीव मोक्षार्थी, निद्राजयी, सूत्रार्थ विशारद, करण (परिणामों से) शुद्ध, आत्मबल और वीर्ययुक्त है ऐसे विशुद्धात्मा को कायोत्सर्गी कहा जाता है।[4] क्योंकि यह कायोत्सर्ग मोक्षपथ अर्थात् मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय का उपदेशक और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय—इन चार घातियाकर्मों के अतिचारों का विनाश करने वाला है। इस कायोत्सर्ग का जिनेन्द्रदेव ने सेवन किया तथा दूसरों को उपदेश दिया। ऐसे ही कायोत्सर्ग को धारण करने की वह इच्छा करता है।[5]

३. **कायोत्सर्ग के कारण**—एक पैर से खड़े होने पर जो अतिचार होता है तथा द्वेषवश गुप्तियों के उल्लंघन एवं क्रोध, मान, माया तथा लोभ—इन चार कषायों के द्वारा व्रतों में जो व्यतिक्रम होता है इन सबके तथा षड्-जीवनिकाय की विराधना के द्वारा, भय एवं मद-स्थानों के द्वारा जो व्यतिक्रम हुए, साथ ही ब्रह्मचर्य-धर्म में हुए व्यतिक्रमों से उत्पन्न अशुभ कर्मों के विनाशार्थ कायोत्सर्ग किया जाता है।[6] मूलाचारकार ने कायोत्सर्ग के और भी

---

१. मूलाचार ७।१५८.

२. काउस्सग्गो काउस्सग्गी काउस्सग्गस्स कारणं चेव।
एदेसिं पत्तेयं परूवणा होदि तिण्हंपि ॥ मूलाचार ७।१५२.

३. वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु॥ वही ७।१५३.

४. मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थविसारदो करणसुद्धो।
आदबलविरियजुत्तो काउस्सग्गी विसुद्धप्पा ॥ वही ७।१५४.

५. वही ७।१५५. ६. वही ७।१५६, १५७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारणों का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च—इन चेतन प्राणियों द्वारा किये जाने वाले तथा विद्युत्पात् आदि अचेतन कारणों से उत्पन्न सभी प्रकार के उपसर्गों के अभ्यास हेतु अर्थात् इन उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए।[1] इसीलिए श्रमण भी मोक्षमार्ग में स्थिर रहकर ईर्यापथ के अतिचारों का त्यागकर व्युत्सृष्ट त्यक्तदेह अर्थात् शरीर में मोह के त्यागपूर्वक दुःखक्षय के लिए कायोत्सर्ग करते हैं।[2] यहाँ व्युत्सृष्टत्यक्तदेह से तात्पर्य जिसने विविध या विशिष्ट प्रकार से देह (शरीर) उत्सर्ग किया हो।[3]

कायोत्सर्ग की विधि सिद्ध करने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं[4] १. स्थान २. मौन और ३. ध्यान। स्थान से तात्पर्य कायिक हलन-चलन से रहित होकर एक ही स्थान पर स्थिर रहना। ऐसा कायोत्सर्ग स्थित (खड़े) होकर[5], उपविष्ट अर्थात् बैठकर तथा शयनपूर्वक या लेटकर भी किया जा सकता है। हेमचंद्राचार्य ने भी इन तीनों अवस्थाओं का वर्णन किया है।[6] समाधिमरण के समय यावज्जीवन के लिये किया जाने वाला कायोत्सर्ग लेटकर भी किया जा सकता है। कायोत्सर्ग में मौन भी एक प्रमुख कार्य है। इसके अभाव में बाह्य प्रवृत्तियों से पूर्णतः विरत होना असम्भव है। अतः मौन के द्वारा वाक् प्रवृत्ति का स्थिरीकरण होता है। तथा कायोत्सर्ग में चित्तवृत्ति को समेटकर एक ही विषय पर मन केन्द्रित करने के लिए ध्यान भी परमावश्यक है।

वस्तुतः कायोत्सर्ग एक आध्यात्मिक उत्कर्ष की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। विधि की दृष्टि से कायोत्सर्ग के पूर्वोक्त चार भेदों में श्रमण के लिए प्रथम उत्थित-उत्थित और तृतीय उपविष्ट-उत्थित ये दो कायोत्सर्ग ही उपादेय हैं।

---

१. जे केई उवसग्गा देवमाणुसतिरिक्खचेदणिया।
ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संतो॥ मूलाचार ७।१५८.

२. काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि।
वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए॥ वही ७।१६५

३. व्युत्सृष्टो—विविधैरुपायैर्विशेषेण वा परीषहोपसर्गसहिष्णुतालक्षणेनोत्सृष्टः त्यक्तः कायः शरीरमनेनेति व्युत्सृष्टकायः—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र ३७१.

४. मूलाचार ६।१५९. ५. वही ७।१५८.

६. स च कायोत्सर्ग उच्छ्रितनिषण्णशयितभेदेन त्रिधा—योगशास्त्र तृतीय प्रकाश पृष्ठ २५०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वप्रथम एकान्त एवं अबाधित स्थान में पूर्व तथा उत्तर दिशा अथवा जिन-प्रतिमा की ओर मुख करके आलोचनार्थ कायोत्सर्ग करने का विधान है।[1] फिर बाहुयुगल नीचे करके दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद एवं निश्चल खड़े होकर[2] मन से शरीर के प्रति 'ममेदं' बुद्धि की निवृत्ति कर लेना चाहिए[3]। कायोत्सर्ग में स्थित होकर श्रमण को दैवसिक आदि प्रतिक्रमण करना चाहिए।[4] साथ ही ईर्यापथ के अतिचारों का क्षय एवं अन्य नियमों को पूर्ण करके धर्म और शुक्लध्यान का चिन्तन करना चाहिए[5]। कायोत्सर्ग में स्थित होने पर देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन के द्वारा किये गये किसी भी प्रकार के उपसर्ग को सहन करना चाहिए।[6] तभी तो धीर श्रमण भक्तपान, ग्रामान्तर-गमन, चातुर्मासिक, वार्षिक और औत्तमार्थिक प्रतिक्रमण आदि विषयों के वेत्ता, माया-प्रपंच रहित, अनेक विशेषताओंयुक्त, स्वशक्ति एवं आयु के अनुसार दुःखक्षय के लिए कायोत्सर्ग करते है[7]। बल और वीर्य के आश्रय से क्षेत्र-बल, कायबल तथा शरीर संहनन की अपेक्षा से निर्दोष कायोत्सर्ग करने का विधान भी है।[8]

कायोत्सर्ग में चिन्तनीय शुभ मनःसंकल्प इस प्रकार हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, संयम, व्युत्सर्ग, प्रत्याख्यान ग्रहण, तथा करण (तेरह क्रियायें—पंचनमस्कार, छह आवश्यक एवं आसिका और निषीधिका), प्रणिधान, समिति पालन के भाव, विद्या, आचरण, महाव्रत, समाधि, गुणों में आदरभाव, ब्रह्मचर्य पालन, षट्काय के जीवों की रक्षा के भाव, इन्द्रियनिग्रह, क्षमा, आर्जव, मार्दव, विनय, तत्व-श्रद्धान और मुक्ति के परिणाम—इन सभी विषयों में शुभ मनःसंकल्प अवश्य ही कायोत्सर्ग के समय धारण करना चाहिए। कायोत्सर्ग में ये शुभ मनः

---

१. भगवती आराधना गाथा ५५०
२. मूलाचार ७।१५३, भगवती आराधना वि० टी० ५०९.
३. भगवती आराधना विजयोदया टीका ५०९, पृ० ७२९.
४. मूलाचार ७।१६८.
५. मूलाचार ७।१६७.
६. वही ७।१२८।, आवश्यक निर्युक्ति दीपिका गाथा १५४४.
७. भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासि य वरिस चरिमेसु।
णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए ॥ मूलाचार ७।१६६, १७४.
८. वही ७।१७०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकल्प सभी के लिए महार्थ अर्थात् कर्मक्षय के हेतुभूत, प्रशस्त, विश्वस्त, सम्यक् ध्यानरूप तथा जिनशासन सम्मत हैं।[1]

इनके विपरीत कुछ त्याज्य अशुभ संकल्प इस प्रकार हैं—परिवार, ऋद्धि, सत्कार, पूजन, अशन, पान, लयण (उत्कीर्ण पर्वतीय गुफा आदि) शयन, आसन, भक्तपान, कामेच्छा, अर्थ-धनादि द्रव्य—इनके लिए कायोत्सर्ग करना तथा आज्ञा, निर्देश, प्रमाण (सभी मुझे प्रमाणस्वरूप समझें), कीर्तिवर्णन, प्रभावना, गुणों का प्रकाशन—इत्यादि प्रकार के सांसारिक वैभव प्राप्ति के भाव अप्रशस्त मनःसंकल्प हैं। कायोत्सर्ग में ये विश्वास के सर्वथा अयोग्य होने से इनका चिन्तन त्याज्य है।[2]

कायोत्सर्ग का कालमान :

रात, दिन, पक्ष, चातुर्मास, संवत्सर (वर्ष)—इन कालों में होने वाले अतिचारों की निवृत्ति की दृष्टि से कायोत्सर्ग के बहुत भेद हैं।[3] कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल-प्रमाण एक वर्ष और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। इन दोनों के बीच में दैवसिक, रात्रिक कायोत्सर्ग के अनेक विकल्प हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से कायोत्सर्ग अनेक स्थानों में शक्ति की अपेक्षा अनेक-विध होते हैं।[4] वे इस तरह हैं—दैवसिक प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग का कालप्रमाण १०८ उच्छ्वास (३६ बार णमोकार मंत्र के जप बराबर) है। विजयोदया टीका में इसे १०० उच्छ्वास प्रमाण माना है।[5] रात्रिक प्रतिक्रमण में ५४ उच्छ्वास। विजयोदया टीका में रात्रिक के ५० उच्छ्वास माने हैं।[6] पाक्षिक में ३०० उच्छ्वास, चातुर्मासिक में ४०० उच्छ्वास, सांवत्सरिक में १०८ उच्छ्वास, वीरभक्ति, सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति और चतुर्विंशति-तीर्थंकर-भक्ति में अप्रमत्तभाव से उच्छ्वास-प्रमाण जप करना चाहिए। इस प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक—इन पाँच स्थानों पर उपर्युक्त

---

१. मूलाचार ७।१८१-१८३. २. वही ७।१८४-१८५.

३. अतिचारनिवृत्तये कायोत्सर्गा बहुप्रकारा भवन्ति। रात्रिदिनपक्षमासचतुष्टय-संवत्सरादि कालगोचरातिचार भेदापेक्षया—भगवती आराधना विजयोदया टीका, गाथा ११६ पृ० २७८.

४. संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु॥ मूलाचार ७।१५९.

५. भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा ११६, पृ० २७८.

६. वही.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग का प्रमाण है।[1] अन्य स्थानों में इस तरह है—प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह के अतिचार में किये जाने वाले कायोत्सर्ग में १०८ उच्छ्वास जप किया जाता है।[2] भक्त, पान (आहार) से आने पर, ग्रामान्तरगमन, अर्हन्त के निर्वाण, समवसरण, केवलज्ञान, दीक्षा, जन्म आदि के स्थानों की वंदनादि करके लौटने पर तथा उच्चार-प्रस्रवण के बाद प्रत्येक में २५-२५ उच्छ्वास तथा ग्रन्थारम्भ, ग्रन्थसमाप्ति, स्वाध्याय, वंदना तथा प्रणिधान में अशुभभाव के उत्पन्न होने पर—इस प्रकार प्रत्येक में २७-२७ उच्छ्वास कायोत्सर्ग का काल प्रमाण है[3]। कायोत्सर्ग करते समय यदि उच्छ्वासों की संख्या भूल जाये, या संख्या में संदेह हो जाए तो आठ अधिक (अतिरिक्त) उच्छ्वास कायोत्सर्ग करने का विधान है।[4] उपर्युक्त कालप्रमाण के विभाजन को इस तरह समझा जा सकता है—

१. दैवसिकं प्रतिक्रमण	१०८	उच्छ्वास	प्रमाण
२. रात्रिक	५४	,,	,,
३. पाक्षिक	३००	,,	,,
४. चातुर्मासिक	४००	,,	,,
५. सांवत्सरिक	५००	,,	,,
६. प्राणिवधादि रूप अतिचारों में	१०८	,,	,,
७. भक्त, पान (आहार) से आने पर तथा ग्रामान्तर गमन आदि में	२५	,,	,,
८. निर्वाणादि भूमि में जाकर आने के बाद	२५	,,	,,
९. अर्हत् शय्या (निर्वाण आदि कल्याण भूमि)	२५	,,	,,
१०. अर्हत् निषद्या	२५	,,	,,
११. श्रमण निषद्या	२५	,,	,,
१२. उच्चार-प्रस्रवण करने के बाद	२५	,,	,,
१३. ग्रन्थारम्भ में	२७	,,	,,
१४. ग्रन्थ समाप्ति में	२७	,,	,,
१५. स्वाध्याय में	२७	,,	,,
१६. वंदना	२७	,,	,,
१७. प्रणिधान में अशुभ भाव होने पर	२७	,,	,,
१८. कायोत्सर्ग के उच्छ्वास भूल जाने पर	८ अधिक"		

१. मूलाचार ७।१६०-१६१. २. वही ७।१६२.

३. वही ७।१६२-१६३.

४. कायोत्सर्गे कृते यदि शक्यते उच्छ्वासस्य स्खलनं वा परिणामस्य उच्छ्वासाष्टकमधिकं स्थातव्यम्।—भगवती आराधना विजयोदया टीका —गाथा ११६ पृष्ठ २७८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस काल-प्रमाण के विभाजन में यह जानना आवश्यक है कि प्राण-वायु (श्वास) मुँह से शरीर के अन्दर जाने और बाहर निकलने की प्रक्रिया का नाम उच्छ्वास है। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं—इन दो पदों के उच्चारण में में एक उच्छ्वास-काल प्रमाण होता है। तथा पूरे णमोकार मंत्र के उच्चारण में तीन उच्छ्वास-काल प्रमाण लगता है।[1]

कायोत्सर्ग के लाभ :

कायोत्सर्ग का मुख्य उद्देश्य शरीर और आत्मा के भेद-विज्ञान का साक्षात्कार करके आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना है। आवश्यक निर्युक्ति में कायोत्सर्ग के पाँच फल बतलाये हैं।[2]

१. देहजाड्यशुद्धि—दैहिक जड़ता की शुद्धि अर्थात् श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि दोष नष्ट हो जाते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है।

२. मतिजाड्यशुद्धि—अर्थात् बौद्धिक जड़ता की शुद्धि। कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाने से बौद्धिक जड़ता नष्ट हो जाती है।

३. सुख-दुःख तितिक्षा—सुख-दुःख सहन करने की क्षमता (शक्ति) प्राप्त होती है।

४. अनुप्रेक्षा—अर्थात् शुद्ध भावना का अभ्यास। इसके माध्यम से अनुप्रेक्षाओं (बारह भावनाओं) के अनुचिन्तन में स्थिरतापूर्वक अभ्यास की निरन्तर वृद्धि होती है।

५. ध्यान—कायोत्सर्ग से शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है।

मूलाचारकार ने कहा है कि सभी दुःखों के क्षय के लिए धीर पुरुष कायोत्सर्ग करते हैं।[3] कायोत्सर्ग करने से जैसे-जैसे शरीर के अंगोपांग (अवयव) की संधियाँ भिदती जाती हैं वैसे-वैसे कर्मरज नष्ट होती जाती है।[4] मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय का उपदेशक होने के कारण इस कायोत्सर्ग से चार घातियाकर्मों

---

१. कुन्द० मूलाचार ९।१८५ पृष्ठ ३३८.

२. देह मइ जड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायइ य सुहं झाणं एयग्गो काउसग्गम्मि ।।
—आवश्यक निर्युक्ति ५।१४६२.

३. कायोसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए—मूलाचार ७।१७४.

४. काओसग्गम्हि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ।
तह भिज्जदि कम्मारयं काउस्सग्गस्स करणेण ।। वही ७।१६९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अन्तराय कर्म) के अतिचार विनष्ट हो जाते हैं।[1] उत्तराध्ययन में कायोत्सर्ग को 'सर्व दुःख विमोचक' कहा है -[2]

चेष्टा और अभिभव-कायोत्सर्ग के पूर्वोक्त इन दो भेदों में प्रथम चेष्टा कायोत्सर्ग के द्वारा श्रमण शौच, भिक्षा आदि के निमित्त जाने और वापस आने तथा निद्रात्याग आदि प्रवृत्तियों के पश्चात् अनजाने में हुए अतिचारों को दूर कर विशुद्धि को प्राप्त करता है। तथा अभिभव कायोत्सर्ग के द्वारा जहाँ विशेष आत्मविशुद्धि को प्राप्त किया जा सकता है वहाँ श्रमण जीवन में निरन्तर होने वाले कष्टों, उपसर्गों, आकस्मिक या सहजप्राप्त विघ्न बाधाओं को समता-भाव पूर्वक सहन करने की अपूर्व क्षमता प्राप्त होती है।

जैन साहित्य विशेषकर पुराण और कथा साहित्य में ऐसे अनेकों उदाहरण मिलते हैं जब किसी आचार्य या श्रमण को इस प्रकार की प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ा उस समय उन्होंने कायोत्सर्ग धारण कर ध्यान में खड़े हो गये, तब उससे जो तेज प्रकट हुआ उसके कारण वह बाधा अपने आप दूर हो गई। जैनधर्म में प्रचलित रक्षाबन्धन कथा में अकम्पनाचार्य मुनि के उदाहरण से इस कथन की विशेष पुष्टि भी होती है जबकि हस्तिनापुर में आहार से लौटते हुए अकम्पनाचार्य मुनि पर बलि आदि चार मन्त्रियों ने तलवार से उनके ऊपर हमला के लिए घेर लिया। तब वे मुनि कायोत्सर्ग में लीन हो गये। और जैसे ही उन मन्त्रियों ने वार करने के लिए तलवारें ऊपर उठायीं वैसे ही उन सभी के हाथ कीलित हो गये। इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कायोत्सर्ग से अनेक लाभ हैं जिन्हें इस आवश्यक के अन्तर्गत यहाँ विवेचित विभिन्न विषयों में देखा जा सकता है।

कायोत्सर्ग में निषिद्ध बत्तीस दोष[3] :

१. घोटक दोष—कायोत्सर्ग करते समय घोड़े के समान एक पैर उठाकर अथवा झुककर खड़े होना। २. लतादोष—वायु से कम्पित लता के सदृश कायोत्सर्ग के समय चंचल रहना या हिलना। ३. स्तम्भ दोष—स्तम्भ (खम्भे) आदि का आश्रय लेकर या स्तम्भ के सदृश शून्य हृदय होना। ४. कुड्यदोष—दीवार आदि के आश्रित खड़े होकर कायोत्सर्ग करना। ५. मालादोष—मस्तक के ऊपर माला या रस्सी आदि का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना। ६. शबरवधू (गुह्य-

---

१. वही ७।१५५. २. उत्तराध्ययन २६।४७.

३. मूलाचार ७।१७१–१७३, भगवती आराधना वि० टी० ११६, पृ० २७९, अनगार धर्मामृत ८।११२–१२१, चारित्रसार १५६।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गूहन) दोष—भील की वधू के सदृश जंघाओं से जंघा भाग सटाकर अपने गुह्य प्रदेश को हाथ से ढककर कायोत्सर्ग करना। ७. निगल दोष—पैरों में बेड़ी बाँधे हुए मनुष्य के सदृश पैरों में अधिक अन्तर रखकर या टेढ़े चरण रखकर खड़े होना। ८. लम्बोत्तर दोष—नाभि से ऊपर का भाग अधिक झुकाना या ऊँचा करना। ९. स्तनदृष्टि दोष—अपने स्तन की ओर दृष्टि रखना। १०. वायस दोष—कौवे की तरह इतस्ततः चंचल नेत्रों से दृष्टि फेंकना। ११. खलीन दोष—खलीन—लगाम से पीड़ित अश्व की तरह मुख को हिलाना या दाँतों को चबाना। १२. युग (युगकन्धर) दोष—जुआ से पीड़ित बैल की तरह कन्धा झुकाना। १३. कपित्थ दोष—हाथ में कैंथ फल लिए हुए व्यक्ति की तरह मुट्ठी बांधना। १४. शिरःप्रकंपन दोष—सिर चलाते हुए कायोत्सर्ग करना। १५. मूक दोष—मूक मनुष्य की तरह मुख, नासिका आदि से संकेत करना। १६. अंगुलि दोष-अंगुलि चलाना या उनकी गणना करना। १७. भ्रूविकार दोष—भौंहों को ऊपर, नीचे या तिरछी करना। १८. वारुणीपायी दोष—मद्यपी की तरह यहाँ-वहाँ झूमते हुए खड़े होना। १९. दिग्वलोकन दोष—सभी दिशाओं में देखना। २०. ग्रीवोन्नमन-प्रणमन दोष—ग्रीवा अधिक नीचे या ऊपर करना। २१. निष्ठीवन दोष—कायोत्सर्ग करते समय थूकना, खकारना आदि। २२. अंगामर्श दोष—अपने अंगों को स्पर्श करना। इसप्रकार उपर्युक्त २२ दोष तथा दस दिशाओं के दस दोष यथा—१. पूर्वदिशावलोकन दोष, २. आग्नेयदिशा०, ३. दक्षिणदिशा०, ४. नैऋत्यदिशा०, ५. पश्चिमदिशा०, ६. वायव्यदिशा०, ७. उत्तरदिशा०, ८. ईशानदिशा०, ९. उर्ध्वदिशा० और १०. अधोदिशावलोकन दोष।

कायोत्सर्ग के ये बत्तीस दोष हैं। इनसे रहित कायोत्सर्ग करने को ही शुद्ध कायोत्सर्ग तप कहा जाता है।

उपर्युक्त छह आवश्यक श्रमण जीवन के दैनिक कार्यक्रमों के आवश्यक अंग हैं। आवश्यकों का यह क्रम सहज है तथा कार्य-कारण भाव की शृंखला पर आधारित है। इनके निर्दोष पालन से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। ये ज्ञान और क्रियामय हैं अतः इनका आचरण मोक्ष सिद्धिदायक है। जो इनका पालन नियम से करता है वह निश्चय ही सिद्ध होता हैं, पर जो सभी आवश्यकों का निःशेष पालन न करके यथाशक्ति पालन करते हैं उसे भी आवासक अर्थात् स्वर्गादिक आवास की प्राप्ति होती है।[1] वस्तुतः आवश्यक क्रिया आत्मा को प्राप्त भावशुद्धि

१. सव्वावासणिजुत्तोणियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
अह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति॥
—मूलाचार वृत्तिसहित ७।१८७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से गिरने नहीं देती। अतः गुणों की वृद्धि के लिए तथा प्राप्त गुणों से स्खलित न होने देने के लिए इनका आचरण अत्यन्त उपयोगी है।[1] जिसने मन-वचन-काय से इन्द्रियों को वश में किया है उनका परमार्थतः इन्हीं आवश्यकों में आवासन (अवस्थान) होता है किन्तु जिसने त्रिविध रूप से इन्द्रियों को वश में नहीं किया उन्हें ये ही आवश्यक कर्मागम के कारण हैं।[2] जो आत्मा इनका नित्य सदाचरण करता है, वही विशुद्धता (मोक्ष) प्राप्त करता है।[3] अतः मन, वचन और काय से सर्वथा शुद्ध योग्य द्रव्य, क्षेत्र और काल में अव्याक्षिप्त (व्याकुलता रहित) और मौनपूर्वक इनका पालन करना चाहिए।[4] क्योंकि आत्मिक गुणों को प्रकट करने या आत्मिक विकास के लिए अवश्य करणीय क्रिया को 'आवश्यक' कहा गया है। यह आत्मा को भावशुद्धि से गिरने नहीं देता।

इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों में से पांच महाव्रत, पांच समिति, पंच-इन्द्रिय-निरोध तथा उपर्युक्त छह आवश्यक—इन इक्कीस मूलगुणों के विवेचन के बाद शेष सात मूलगुणों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

शेष सात मूलगुण :

मूलाचार के अनुसार अचेलकत्व, लोच, व्युत्सृष्टशरीरता (स्नानादि संस्कारों का त्याग) तथा प्रतिलेखन (पिच्छि) ये चारित्रधारण करने वाले मुनि के चार प्रमुख बाह्य चिह्न (लिङ्ग) हैं।[5] इन चार चिह्नों में अचेलकत्व पूर्ण अपरिग्रहत्व का, लोच सद्भावना का, व्युत्सृष्टदेहत्व वीतरागता का तथा प्रतिलेखन अर्थात् मयूरपिच्छि का ग्रहण दया प्रतिपालन का प्रतीक है।[6] इन चार चिह्नों में प्रतिलेखन को छोड़कर प्रारम्भ के तीन चिह्नों को मूलगुण भी कहा है। इनके साथ ही क्षितिशयन, अदंतघर्षण, स्थितभोजन तथा एकभक्त—इस प्रकार इन शेष सात मूलगुणों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है :—

---

१. ज्ञानसार, क्रियाष्टक ५–७. २. मूलाचार ७।१८८.
३. जो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धि जादि विसुद्धप्पा—मूलाचार ७।१९३.
४. वही ७।१८९.
५. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो॥ मूलाचार १०।१७.
६. अचेलकत्वं नैःसंग्यचिह्नं, सद्भावनायाश्चिह्नं लोचः, व्युत्सृष्टदेहत्वमपरागतायाश्चिह्नं, दयाप्रतिपालनस्य लिंगं मयूरपिच्छिकाग्रहणमिति।
—मूलाचारवृत्ति १०।१७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोच :

लोच से तात्पर्य अपने या दूसरे के हाथों से मस्तक और दाढ़ी-मूंछ के बालों का लुञ्चनपूर्वक अलग करना है।[1] प्रचलित अर्थ में इसे केशलोंच या केशलुञ्चन कहा जाता है। लोच शब्द लुंचृ धातु से बनकर अपनयन करने, निकालने, दूर करने तथा बाल उखाड़ने अर्थ में प्रयुक्त होता है।[2]

जहाँ सांसारिक प्राणी के लिए केश आदि सौन्दर्य के प्रतीक माने जाते हैं वहीं मुमुक्षु जीव इन्हें बाधक मानता है। चूँकि एक स्थिति तक केश स्वाभाविक रूप में बढ़ते हैं और यदि उनकी यथोचित सार-सम्हाल (संस्कार) न की जाय तो अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। भगवती आराधना तथा उसकी विजयोदया टीका में कहा भी है कि प्रतिकार न करने वाले अर्थात् तेल लगाना, अभ्यंग स्नान करना, सुगन्धित पदार्थों से केशों का संस्कार न करना तथा जल से धोना आदि क्रियायें न करने वाले के केशों में जूँ, लीख आदि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इससे मुनि के शयन के समय, धूप में जाने, सिर से किसी के टकराने आदि के कारण उन जीवों को बाधा पहुँच सकती है। उस बाधा तथा उन जीवों को दूर करना अशक्य है। अन्यत्र से भी अन्यान्य कीटादि आकर बालों में जम जाते हैं। उन्हें निकालना तो कठिन है ही, निरन्तर आकुलता भी बनी रहती है। जूँ आदि से पीड़ित मुनि के मन में संक्लेश परिणाम उत्पन्न होते हैं। तथा उनके काटने पर सिर को खुजलाने से जूँ आदि भी पीड़ित होते हैं—अतः इन सबसे विरत रहने के लिए मुनि को केशलोच का विधान किया। ऐसा न करने से उपर्युक्त स्थितियों में उसे हिंसा का प्रसंग आता है जबकि लोच से मुण्डत्व, मुण्डत्व से निर्विकारता तथा निर्विकारता से रत्नत्रय में उद्योग की प्रवृत्ति बढ़ती है। इससे ही आत्मदमन, सुख के प्रति अनासक्त, स्वाधीनता, निर्दोषता और निर्ममत्व आदि भावों में प्रवृत्ति तथा धर्म (चारित्र) के प्रति श्रद्धा प्रकट होती है। कायक्लेश नामक यह उग्र तप है जिसके सहन करने से अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है।[3]

प्रश्न उठता है कि मुनि को हाथों से ही उखाड़ कर केशलोच करने की क्या आवश्यकता है ? या तो केश बढ़ाता ही जाय अथवा ऐसा करना आवश्यक

---

१. (क) लोचः हस्ताभ्यां मस्तककूर्चगतबालोत्पाटः—मूलाचारवृत्ति १।३.
(ख) लोचः स्वहस्तपरहस्तैर्मस्तककूर्चगतकेशापनयनं—वही १०।१७.

२. लुंचृ धातुरपनयने वर्तते—मूलाचारवृत्ति १।२९ तथा पाइअसद्दमहण्णवो पृष्ठ ७२६.

३. भगवती आराधना विजयोदया टीका सहित गाथा ८८–९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो तो नाई या उस्तरे के द्वारा भी तो यह कराया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मूलाचारवृत्तिकार वसुनन्दि[1] ने निम्नलिखित छह हेतु प्रस्तुत किये हैं—१. बालों में सम्मूर्छनादि जीव उत्पन्न हो जाते हैं, अतः ऐसी स्थिति ही न आने पावे। २. पूर्ण अपरिग्रही होने से बाल बनाने के उपकरण रखना या अन्य किसी से उनकी याचना करना मुनिधर्म के विरुद्ध है। ३. स्ववीर्य अर्थात् महाधीरता और वीरता जैसी आत्मीय शक्ति प्रकट करने, ४. सर्वोत्कृष्ट तप (कायक्लेश) का आचरण करने, ५. राग-द्वेषादि का निराकरण करने, तथा ६. श्रामण्य के चिह्न और निर्ममत्व और चारित्र धर्म में दृढ़ता आदि गुणों का ज्ञापन करने के लिए मुनि को केशलोच करना अनिवार्य है। इस तरह हिंसा तथा आकुलता रूप संक्लेश परिणामों से बचने के लिए नाई या उस्तरे आदि आश्रय के बिना हाथों से ही सिर तथा दाढ़ी मूछों के बालों को निकाल देना दैन्यवृत्ति, याचना, परिग्रह तथा पराभव (अपमान) आदि दोषों के परित्याग का प्रतीक है।[2] इसीलिए श्रमण के मूलगुणों में इसे अन्तर्भूत भी किया गया।

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ कल्पसूत्रचूर्णि में कहा है—केश बढ़ने से जीवों की हिंसा होती है क्योंकि केश भींगने से जूं उत्पन्न होते हैं। सिर खुजलाने पर उनकी हिंसा और सिर में नखक्षत हो जाता है। क्षुरे (उस्तरे) या कैंची से बालों को काटने से आज्ञाभंग दोष के साथ-साथ संयम और चारित्र की विराधना होती है। नाई अपने उस्तरे और कैंची को सचित्त जल से साफ करता है अतः पश्चात्-कर्मदोष होता है। जैनशासन की अवहेलना भी होती है। इन सब दृष्टियों से श्रमणों को हाथों से केशलुंचन करने का विधान किया गया है।[3] दशवैकालिक की हारिभद्रीयवृत्ति में लोच को कायक्लेश नामक तप माना है। इसमें कायक्लेश के वीरासन, उकड़ूआसन और लोच—ये मुख्य भेद बताये हैं। यहाँ कहा गया है कि लोच करने से निर्लेपता, पश्चात्-कर्मवर्जन, पुरःकर्म वर्जन और कष्ट-सहिष्णुता—ये चार गुण प्राप्त होते हैं।[4]

---

१. लोचः बालोत्पाटनं हस्तेन मस्तककेशश्मश्रूणामपनयनं जीवसम्मूर्छनादि परिहारार्थं रागादिनिराकरणार्थं स्ववीर्यप्रकटनार्थं सर्वोत्कृष्टतपश्चरणार्थं लिंगादिगुणज्ञापनार्थं चेति—मूलाचारवृत्ति १।२९.

२. लुंचृ धातुरपनयने वर्तते तच्चापनयनं क्षुरादिनापि सम्भवति। तत्किमर्थमुत्पाटनं मस्तके केशानां श्मश्रूणां चेति चेन्नैष दोषः, दैन्यवृत्तियाचनपरिग्रहपरिभवादिदोषपरित्यागादिति—मूलाचार वृत्ति १।२९.

३. कल्पसूत्रचूर्णि २८४, एवं कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पत्र १९०-१९१.

४. दशवैकालिक (१३।३३.) हारिभद्रीयवृत्ति पत्र सं० २८-२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केशलोच की विधि :

जैनधर्म के अनुसार श्रमण के लिए लोच-मूलगुण का अनिवार्य रूप से पालन करने का विधान प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय से लेकर अब तक चला आ रहा है। इसमें निर्विकार प्रवृत्ति होने से रत्नत्रय में उद्यमशीलता का बढ़ना स्वाभाविक है। लोच की विधि और स्वरूप के विषय में वट्टकेर ने कहा है कि दिन में प्रतिक्रमण और उपवासपूर्वक दो, तीन, चार मास में क्रमशः उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य रूप से केशलोच करना चाहिए।[1] यहाँ उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य-भेद से लोच तीन प्रकार का बतलाया है। अर्थात् दो महीने के पूर्ण होने या अपूर्ण रहने पर दिन में प्रतिक्रमण और उपवासपूर्वक केशलोच करना उत्कृष्ट लोच कहलाता है।[2] तीन महीनों के पूर्ण होने या अपूर्ण रहने पर मध्यम और प्रत्येक चार महीनों के पूर्ण होने या अपूर्ण रहने पर केशलोच करना जघन्य लोच है। किन्तु चार मास से अधिक नहीं होना चाहिए। प्रत्येक लोच उपवास और मौन पूर्वक दिन में ही करने का विधान है।[3] पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण के दिन अथवा बिना प्रतिक्रमण के भी लोच किया जा सकता है। केशलोच करने के पश्चात् भी प्रतिक्रमण करना चाहिए।[4]

सिर, मूँछ तथा दाढ़ी के बालों का ही लोच करने का ही विधान है,[5] गुह्याङ्गों के बालों का नहीं।[6] ब्रह्मचर्य की रक्षार्थ भी ऐसा आवश्यक है। मस्तक दाढ़ी और मूँछ के बालों को हाथ की अंगुलियों से पकड़कर सिर के दाहिनी ओर से प्रारम्भ कर बायीं ओर प्रदक्षिणा-आवर्त रूप से लोच करना चाहिए।[7] सिर में भस्म लगाकर भी लोच किया जा सकता है।[8]

---

१. वियतियचउक्कमासे लोचो उक्कस्समज्झिमजहण्णो।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥मूलाचार १।२९.

२. सप्रतिक्रमणे दिवसे पाक्षिक चातुर्मासिकादौ उपवासेनैव द्वयोर्मासयोर्यत् केश-श्मश्रूत्पाटनं स उत्कृष्टो लोचः। मूलाचार वृत्ति १।२९.

३. मूलाचारवृत्ति १।२९.

४. प्रतिक्रमणरहितेऽपि दिवसे लोचस्यं सम्भवः।....लोचं कृत्वा प्रतिक्रमणं कर्त्तव्य-मिति—वही १।२९.

५. वही १।३,२९; १०।१७. तथा विजदयोदया टीका ८९.

६. प्रच्छाद्यदेशलोमान्वितः—विजयोदया टीका. ९५.

७. प्रदक्षिणावर्तः केशश्मश्रुविषयः हस्तांगुलीभिरेव संपाद्यः द्वित्रिचतुर्मासगोचरः। —विजयोदयाटीका गाथा ८९, पृष्ठ २२४.

८. केण वि अप्पउ वंचिउ सिरु लुंचिवि छारेण—परमात्म प्रकाश २।९०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार संसार विरक्ति के प्रमुख कारणों में तथा स्वाधीनता, निर्दोषता आदि गुणों के कारण इस मूलगुण का श्रमण जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक परम्परा में यजुर्वेद के रुद्राध्याय में "कुलुञ्चानां पतये नमो नमः" कहकर केशलोच करने वालों के स्वामी को बारम्बार नमस्कार किया गया है। इसमें जैन परम्परा के श्रमणों में इस गुण की प्राचीन परम्परा तथा उसके प्रति आदरभाव भी प्रकट होता है।

आचेलक्य :

चेल शब्द का सामान्य अर्थ 'वस्त्र' है। यहाँ चेल शब्द उपलक्षण मात्र है। किन्तु श्रमणाचार के प्रसंग में चेल शब्द 'सम्पूर्ण परिग्रहों' का द्योतक है। चेल के परिहार (त्याग) से सम्पूर्ण परिग्रह का परिहार हो जाता है।[1] इसी त्याग की दृष्टि से जिसके पास वस्त्राभूषणादि नहीं है वह अचेलक और अचेलक का भाव आचेलक्य है।[2] अचेलकत्व सम्पूर्ण अपरिग्रही होने का चिह्न है।[3] यह उत्सर्ग लिंग है। अतः श्रमण को मन, वचन और काय से शरीर ढकने के लिए वस्त्र के ग्रहण का निषेध है।[4] वट्टकेर ने कहा है—वस्त्र, अजिन (मृगचर्म), वल्कल (वृक्ष की छाल या त्वचा) पत्ते, तृणादि से शरीर न ढकना, सभी प्रकार के वस्त्राभूषणों एवं परिग्रहों से सर्वथा रहित होकर निर्ग्रन्थ (नग्न) रहना जगत्पूज्य आचेलक्य मूलगुण है।[5] वट्टकेर ने मूलाचार में आचेलक्य (नग्नत्व) के लिए 'जहाजाद' (यथाजात), णिरंबरा (निरम्बरा) आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है।[6] वस्तुतः उपधि (वस्त्रादि उपकरणों) के भार से पूर्णत मुक्त व्युत्सृष्टाङ्ग वाले अर्थात् शरीर के अवयवों के प्रति आसक्ति रहित, निरम्बर अर्थात् कपड़ों से रहित, धीर, निर्लोभी, परिशुद्ध अर्थात् मन-वचन-काय से शुद्ध आचरण वाले साधु ही सिद्धि

---

१. चेलशब्देन सर्वोऽपि वस्त्रादिपरिग्रहः उच्यते, चेलपरिहारेण सर्वस्य परिग्रहस्य परिहारः—मूलाचारवृत्ति १०।१७.

२. चेलं वस्त्रं, उपलक्षणमात्रमेतत्, तेनसर्वपरिग्रहः श्रामण्यायोग्यः चेलशब्देनोच्यते, न विद्यते चेलं यस्यासावचेलकः अचेलकस्य भावोऽचेलकत्वं वस्त्राभरणादि परित्यागः। वही १।३.

३. अचेलकत्त्वं नैःसंग्यचिह्नम्—वही १०।१७.

४. चेलं वस्त्रं तस्य मनोवाक्कायैः संवरणार्थमग्रहणम्—वही १।३०.

५. वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं।
णिब्भूसणं णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ॥मूलाचार १।३०.

६. वही ९।१५, ३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अन्वेषण करते हैं।[1] भगवती आराधना के अनुसार यदि श्रमण वस्त्र मात्र का त्याग करने पर भी दूसरे परिग्रहों से युक्त है तो उसे संयत नहीं कहा जा सकता, अतः वस्त्र के साथ-साथ सम्पूर्ण परिग्रह का भी त्याग कर देना अचेलकत्व है।[2] इससे लोभादि कषायों की निवृत्ति एवं त्याग-धर्म में प्रवृत्ति तथा लाघव गुण की प्राप्ति होती है। निर्वस्त्र श्रमण उठने, बैठने, गमन करने आदि कार्यों में अप्रतिबद्ध होते हैं। जितेन्द्रिय, बल और वीर्य आदि गुण भी उसमें प्रगट होते हैं।[3]

भगवती आराधना में कहा है कि श्रमणों के लिए अचेलकत्व (नग्नता) गुण मोक्ष-यात्रा के साधनभूत रत्नत्रय और गुणीपने का चिह्न है। इससे श्रावकों को दानादि में प्रवृत्ति भी होती है। जगत्-प्रत्ययता अर्थात् सम्पूर्ण जगत् (प्राणियों) की इस पर श्रद्धा होती है। आत्मस्थिरता गुण उत्पन्न होता है। साथ ही गृहस्थों से भिन्नता दिखती है। परिग्रह का लाघव अप्रतिलेखन, गतभयत्व, सम्मूर्छन जीवों का बचाव और परिकर्म अर्थात् वस्त्र मांगना, सिलाना, धोना, सुखाना आदि कार्यों का त्याग—ये गुण वस्त्र रहित (नग्न) वेष धारण करने में हैं।[4] आगे बताया है कि निर्वस्त्र मुद्रा विश्वास उत्पन्न कराने वाला होता है, विषय भोगों से होने वाले क्षणिक शारीरिक सुखों के प्रति अनादर भाव प्राप्त होता है, सर्वत्र आत्मवशता या स्वाधीनता रहती है तथा शीतादि परीषहों के सहन की शक्ति प्राप्त होती है।[5] अचेलकत्व से स्पर्शनादि इन्द्रियाँ अपने विषयों में समिति युक्त प्रवृत्ति करती हैं। स्थान, आसन, शयन इत्यादि क्रियाओं में भी समिति युक्त प्रवृत्ति होती है। गुप्ति का पालन होने से शरीर के प्रति ममत्व दूर होता है। यह मुद्रा जिनेन्द्र भगवान् का प्रतिरूप है। वीर्याचार का प्रवर्तन तथा रागादि दोषों को दूर करती है।[6]

इस प्रकार अचेलकत्व (नग्नता) में अनेक गुण समाविष्ट हैं। इसीलिए संयम विघात, व्याकुलता, याचना, क्रोधादि दोषों से बचने के लिए श्रमण राग-

---

१. उपधिभरविप्पमुक्का वोसट्ठंगा णिरंबरा धीरा।
णिक्किंचण परिसुद्धा साधू सिद्धि वि मग्गंति ॥ मूलाचार ९।३०.

२. भगवती आराधना ११२४.

३. वही, विजयोदया टीका ४२१, पृ० ६१०–६११.

४. भगवती आराधना ८२, ८३.

५. विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव ॥ वही, ८४.

६. वही ८६, ८५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव को दूर करने के लिए सदा पवित्र दिग्मण्डल रूप अविनश्वर अम्बर (वस्त्र) अर्थात् दिगम्बर मुद्रा का आश्रय लेते हैं।[1] मोक्खपाहुड के अनुसार जो अंडज (रेशमी आदि), बोण्डज (कर्पासज), वल्कज अर्थात् जूट, सन तथा छाल के वस्त्र, चर्मज और रोमज (ऊनी आदि)—ये पांच प्रकार के अथवा इनमें से कोई एक भी वस्त्र धारण करता है, परिग्रह ग्रहण करता है तथा जिसका स्वभाव याचना-युक्त है और अधःकर्म (शास्त्र विरूद्ध निंद्यकर्म) में जिनकी प्रवृत्ति है वे श्रमण मोक्षमार्ग से पतित हैं।[2]

जैसा कि पूर्व में भी उल्लिखित किया गया है कि श्वेताम्बर परम्परा के अर्धमागधी आगम साहित्य में भी आचेलक्य (नग्नता) गुण की अनेक प्रसंगों में प्रशंसा और प्रतिष्ठा के उल्लेख मिलते हैं। परीषहों तथा श्रमण के दस स्थिति-कल्पों में अचेलकता का विधान है। आचारांग में कहा है—"जो मुनि निर्वस्त्र रहता है वह अवमौदर्य तप का अनुशीलन करता है।[3] साधक को अन्तर्बाह्य ग्रन्थियों से मुक्त होकर विचरण करना चाहिए।[4] आचारांग में ही लज्जाकारी अर्थात् अचेल परीषह तथा अलज्जाकारी शीतादि परीषह सहते हुए परिव्रजन करने का उल्लेख करते हुए कहा है कि धर्मक्षेत्र में उन्हें नग्न कहा गया है जो दीक्षित होकर पुनः गृहवास में नहीं आते।[5] सूत्रकृताङ्ग में भी नग्नता की प्रतिष्ठा श्रमण के लिए निर्दिष्ट है।[6]

स्थानांग में पाँच स्थानों पर अचेलक को प्रशस्त बताया है।[7]

१. अचेलक के प्रतिलेखना अल्प होती है। २. उसका लाघव (उपकरण तथा कषाय की अल्पता) प्रशस्त होता है। ३. उसका रूप (वेष) वैश्वासिक—विश्वास के योग्य होता है। ४. उसका तप अनुज्ञात अर्थात् जिनानुमत होता

---

१. पद्मनंदि पंचविंशतिका १.४१.

२. जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥ मोक्खपाहुड ७९.

३. जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति ओमोयरियाए—आचारांग ६।२।४०.

४. गंथेहिं विवित्तेहिं आउकालस्स पारए—वही १।८।८.

५. जे हिरी जे य अहिरीमणा। एते भो! णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमण-धम्मिणो—वही ६।२।४५.

६. जस्सट्ठाए कीरई नग्गभावे मुंडभावे—सूत्रकृताङ्ग, सूत्र ७१४ पृ० १८५.

७. पंचहि ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं जहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाते, विउले इंदियणिग्गहे—स्थानांग ५।३, अचेलपदं सूत्र २०१ (ठाणं पृ० ६३०).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ५. उसके विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है। आचेलक्य के प्रायः इसी प्रकार के गुण भगवती आराधना में बताये हैं।[1] उत्तराध्ययन में कहा है—भन्ते! उपधि (वस्त्रादि उपकरण) के प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव को क्या प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि उपधि के प्रत्याख्यान से जीव स्वाध्याय-ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है। उपधि रहित मुनि आकांक्षा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।[2] अर्धमागधी आगमों में जिनकल्पी मुनियों की भी श्रेष्ठतापूर्ण प्रशंसा का उल्लेख सर्वत्र उल्लिखित है, जो कि दिगम्बर मुद्रा धारण करते थे।

वस्तुतः भगवान् महावीर ने सब पापों का मूल परिग्रह माना और अपने जीवन में नग्नता को स्वीकार कर अचेल धर्म का प्रतिपादन किया। इसीलिए उन्होंने वस्त्र की गाँठ नहीं बाँधी और न ऐसा करने का उपदेश ही दिया ताकि इस एक गाँठ के पीछे अन्तः और बाह्य की अनेक गाँठें अर्थात् परतन्त्रतायें एवं आकुलतायें बँध जाती हैं। इसीलिए वे अन्तर्बाह्य की सभी गाँठें खोलकर निर्ग्रन्थ बनें और उसी धर्म का प्रतिपादन भी किया।

वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थों में भी आचेलक्य गुण का बहुमान उल्लेखनीय है। इस परम्परा में परमहंस सन्यासियों का स्वरूप तो ऐसा बताया गया है मानो निर्ग्रन्थ साधु को ध्यान में रख कर लिखा गया हो। कहा है—जो नग्न रूप धारक, निर्ग्रन्थ, परिग्रहरहित, ब्रह्ममार्ग में उत्तम रीति से लगा हुआ, शुद्ध हृदय, भोजन के समय प्राण धारण करने के लिए उदर-पूर्ति के योग्य भिक्षा लेता है, लाभ और हानि में समानरूप से रहने वाला, शून्यघर, देवमंदिर, घास के ढेर, वल्मीक और वृक्ष के मूल प्रभृति में रहने वाला, शुक्लध्यान में तत्पर, आत्मस्वरूप में लीन, अशुभ कर्म का नाश करने में उद्यत रहता हुआ सन्यासपूर्वक मरण करनेवाला परमहंस है।[3] तुरीयातीत सन्यासी के स्वरूप में बताया है कि सर्व प्रकार के त्यागी, गोमुख वृत्ति से फल व अन्नाहार करने

१. भगवती आराधना ८३,८४. २. उत्तराध्ययन २९।३५.

३. यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहस्तत्तत् ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभयोः समो भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रगृहनदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेषु तेष्वनिकेतवासप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठोऽशुभकर्मनिर्मूलपरः सन्यासेन देहत्यागं करोति सः परमहंसो नामेति—अथर्ववेद-जाबालोपनिषत् सूत्र ६, (संयम प्रकाश पृ० १५५ से उद्धृत).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला, जिसकी देहमात्र अवशिष्ट है और दिशाओं को ही अपना वस्त्र समझ कर नग्न रहने वाला मृतक के समान अपनी शरीरवृत्ति करने वाला तुरीयातीत सन्यासी कहलाता है।[1] तैत्तरीयारण्यक में लिखा है—कंथा, लंगोटी, दुपट्टा आदि त्यागकर नग्नरूप के धारक निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित होते हैं।[2] इसी प्रकार और भी अनेक ग्रन्थों में आचेलक्य का वर्णन है।[3]

अस्नान (अण्हाण) :

जिन श्रमणों की सम्पूर्ण दैनिक जीवनचर्या संयम और साधनामय हो, संयमित तथा संतुलित आहार, विहार और व्यवहार हो, जो सदा आत्मशुद्धि में ही निरत हों उन्हें शरीर शुद्धि के लिए स्वभावतः स्नानादि की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्योंकि विशुद्ध आत्मारूपी नदी में स्नान करना ही परम पवित्रता है। लौकिक गंगा आदि तीर्थों में स्नान मात्र से शुचिता नहीं आती। संयमरूपी जल से भरी सत्यरूपी प्रवाह, शीलरूपी तट और दयारूपी तरंगों को धारण करने वाली आत्मा ही नदी है।[4] मूलाचारवृत्ति में कहा है—श्रमण को स्नान से नहीं अपितु व्रतों से पवित्र होना चाहिए। यदि व्रत रहित प्राणि जलावगाहनादि से पवित्र हो जाते तो मत्स्य, मगर आदि जलजन्तु तथा अन्य सामान्य जन्तु भी पवित्र हो जाते किन्तु कभी भी उससे पवित्रता को प्राप्त नहीं होते।[5] इतना ही नहीं जो राग-द्वेष के मद से उन्मत्त हैं और इन्द्रियों के वशीभूत रहते हैं वे सैकड़ों तीर्थों में स्नान करने पर भी कभी शुद्ध नहीं होते। अतः ब्रह्मचर्य से युक्त और आत्मिक आचार में लीन मुनियों के लिए स्नान की आवश्यकता नहीं।[6] व्रत, नियम, संयम ही पवित्रता के कारण है।[7] इसलिए जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उन्हें जल के द्वारा शुद्धि करने से क्या

---

१. तुरीयातीतो गोमुखवृत्या फलाहारी अन्नाहारी चेद् गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः—भगवत् गीता टीका १८।१२.

२. कंथाकौपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधराः निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः—तैत्तरीयारण्यक प्रपाठ १०. अनुवाक्य ६३. वैराग्य प्रकरण.

३. मैत्रेयोपनिषद् ३.१९, दत्तात्रेय सहस्रनाम २, नारद—पारिव्राजकोपनिषद् ३, ४, ५ उपदेशक, तुरीयातीतोपनिषद्, सन्यासोपनिषद्, भिक्षुकोपनिषद्, वैराग्यशतक ५१, ६९. ७७.

४. द्रव्य संग्रह टीका ३५, पृ० १०९.

५. मूलाचारवृत्ति १।३१.

६. अनगार धर्मामृत स्वोपज्ञ टीका ९।९८, पृ० ७०१.

७. मूलाचारवृत्ति १।३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयोजन ? अशुद्धि का कोई कारण ही नहीं है, क्योंकि—आत्मदर्शी श्रमण तो आत्मा की पवित्रता से स्वयं पवित्र होते हैं ।[१] स्नान तो आरम्भ-जनित पाप है ही, वह शरीर शृंगार का भी एक रूप है। इससे अपने शरीर के प्रति ममत्त्व बढ़ता है तथा आकर्षित करने की भावना भी इससे बनती है । सूत्रकृतांग में कहा है कि जलस्नान से सिद्धि बतलाने वाले मृषा बोलते हैं । अज्ञान को दूर करके देखो कि त्रस और स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं । अतः इन जीवों की घात-क्रिया न करो । जो अचित्त जल से भी स्नान करता है वह 'नाग्न्य' (श्रमणभाव) से दूर है ।[२]

उपर्युक्त सभी कारणों को दृष्टि में रखकर आचार्य वट्टकेर ने कहा कि इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम के पालन हेतु स्नानादि अर्थात् जल-स्नान, उबटन, अंजन, लेपन आदि का वर्जनकर, सभी अंगों को जल्ल, मल और स्वेद से विलिप्त रखना अस्नान नामक प्रकृष्ट मूलगुण है ।[३]

भगवती आराधना में भी कहा है कि श्रमण जलस्नान, अभ्यंग स्नान और उबटन का त्याग तथा नख, केश, दन्त, ओष्ठ, कान, नाक, मुँह, आँख, भौंह तथा हाथ-पैर आदि के संस्कार छोड़े देते हैं ।[४]

वस्तुतः अस्नान मूलगुण के विधान में जहाँ शरीर के प्रति अनासक्त भाव और आत्मिक गुणों के जागरण की ओर निरत बने रहने का भाव है वहीं ब्रह्मचर्य महाव्रत के पालन में भी यह सहायक है । क्योंकि अस्नान से तात्पर्य मात्र जलस्नान का निषेध नहीं है अपितु उबटन, मालिश आदि शरीर (शृङ्गार) और उसके संवर्धन के सभी साधनों का निषेध है । भगवती आराधना के ही अनुसार ब्रह्मचारी श्रमण को धूप, गन्ध, माल्य, मुखवास (मुख को सुवासित करने वाले द्रव्यों का मिश्रण), संवाहण (हाथों से शरीर की मालिश), परिमर्दन (पैरों से शरीर दबवाना) तथा पिणिद्धण (कन्धों को उन्नत और दृढ़ बनाने के लिए उन्हें

---

१. न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्मदर्शिनाम् ।
जलशुद्धयाथवा यावद्दोषं सापि मतार्हतैः ।। अनगार धर्मामृत ९।९८.

२. सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध ७।१७-२१ (अंगसुत्ताणि भाग १ पृ० ३०७-३०८.)

३. ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्लमलसेदसव्वंगं ।
अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो ।। मूलाचार १।३१.

४. सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणाणि णहकेसमंसुसंठप्पं ।
दंतोट्ठकण्णमुहणासियच्छिभमुहाइसंठप्पं ।।भगवती आराधना ९३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कूटना) आदि का त्याग कर देना चाहिए । जल्ल लिप्त, रूक्ष, लोच से विकृत, नख, रोम आदि से युक्त शरीर को ब्रह्मचर्य की गुप्ति कहा है ।[1] शरीर संवर्धन तथा विभूषा के लिए विविध साधनों का प्रयोग ब्रह्मचर्य के लिए घातक माना जाता है । जिसकी मनोवृत्ति विभूषा करने की होती है, वह शरीर को सजाता है फलतः वह स्त्रीजन के द्वारा प्रार्थनीय होता है । स्त्रियों की प्रार्थना पाकर वह ब्रह्मचर्य में संदिग्ध हो जाता है । उसे ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है । इससे ब्रह्मचर्य का विनाश होता है और वह केवली-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है । अतः निर्ग्रन्थ विभूषानुपाती न बने ।[2] क्योंकि नग्न, मुंडित और दीर्घ रोम और नख वाले ब्रह्मचारी श्रमण के लिए विभूषा से क्या प्रयोजन ? इसीलिए मुनि शीत या उष्ण जल से स्नान नहीं करते । वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नान व्रत का पालन करते हैं ।[3] दशवैकालिक चूर्णि में कहा है कि सूक्ष्म प्राणी की भी जहाँ हिंसा न होती हो, तब भी स्नान नहीं करना चाहिए । क्योंकि स्नान करने से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है, अस्नान रूप काय-क्लेश तप नहीं होता और विभूषा का दोष लगता है ।[4] जो रोगी या निरोगी साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार का उल्लंघन तथा उसका संयम परित्यक्त होता है ।[5] गर्मी से पीड़ित होने पर भी मेधावी मुनि को स्नान की इच्छा, जल से शरीर का सिंचन तथा पंखे आदि से हवा नहीं करनी चाहिए ।[6]

जिनका आहार-विहार अप्राकृतिक होता है स्नानादि की उन्हें आवश्यकता होती है । श्रमण की आहार-विहार आदि जीवन-पद्धति पूर्णतः प्राकृतिक होती है । दिन में मात्र एक बार प्रासुक, परिमित एवं सादा आहार लेना और उसी समय ही प्रासुक (गर्म) जल पी लेना, नियमानुसार उपवास आदि करते रहना,

---

१. भगवती आराधना ९४, ९५, दशवैकालिक ६।६३.

२. उत्तराध्ययन १६।११.

३. नगिणस्स वा वि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारियं ।।
तम्हा ते न सिणायंति सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्ठगा ।। दशवैकालिक ६।६४, ६२.

४. दशवैकालिक की जिनदास महत्तर कृत चूर्णि पृ० २३२.

५. वाहिओ वा अरोगी वा सिणाणं जो उ पत्थए ।
वोक्कंतो होइ आयारो जढो हवइ संजमो ।। दशवैकालिक ६।६०.

६. उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं नो वि पत्थए ।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं ।। उत्तराध्ययन २।९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक क्रियाओं से पूर्णतः विरत रहना, एकान्तवास करना, निरन्तर ध्यान, अध्ययन, मनन-चिंतन में लगे रहना आदि रूप में श्रमणों का जीवन प्राकृतिक होता है। सभी क्रियायें नियमबद्ध होने से उनके शरीर की धातु, उपधातु आदि सभी प्राकृतिक अवस्था में रहते हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें स्नानादि की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसलिए साधारण गृहस्थों को कठिन प्रतीत होने वाले अस्नान मूलगुण का पालन श्रमण सहज रूप में कर लेते हैं।

क्षितिशयन (खिदिसयण) :

मनुष्य पर्याय की दुर्लभता एवं उसके मूल्य को श्रमण अच्छी तरह जानते हैं। वे अल्पकाल ही निद्रा में व्यतीत करते हैं। निद्रा-विजयी होने का अर्थ भी अनावश्यक नींद न लेना है। ताकि जीवन में प्रमाद न आ सके। इस दृष्टि को ध्यान में रखकर सामान्यतः पर्यङ्क, बिस्तर आदि का सर्वथा वर्जन करके शुद्ध भूमि में शयन करना क्षितिशयन या भूमिशयन है। मूलाचार में कहा है—आत्मप्रमाण, असंस्तरित (बिस्तर रहित), एकान्त, प्रासुक (जीव-जन्तु रहित विशुद्ध) भूमि में धनुर्दण्डाकार मुद्रा में एक पार्श्व (करवट) से शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है।[1]

शयन मुद्राओं के विषय में कहा है कि मुनि को औंधे (उल्टे) या सीधे (ऊपर मुख, पेट तथा पूरे हाथ-पैर पसारकर) नहीं सोना चाहिए अपितु दायें या बायें किसी एक पार्श्व से पैर समेटकर धनुषाकार मुद्रा में लेटकर सोना चाहिए। इससे चारित्र पालन में बाधा उपस्थित नहीं होती।[2] आचारांग में कहा है कि शयन के पूर्व श्रमण को सिर से पैर तक पूरे शरीर को प्रमार्जित करके यत्नाचारपूर्वक शयन करना चाहिए।[3]

अर्धरात्रि से दो घड़ी पहले और दो घड़ी बाद—चार घड़ी का समय स्वाध्याय के अयोग्य माना गया है। अतः साधुजन थोड़े समय को योगनिद्रा द्वारा शारीरिक थकान को दूर करने के लिए क्षणयोग निद्रा ग्रहण करते हैं। वस्तुतः निद्रा भी योग के तुल्य है। क्योंकि निद्रा में इन्द्रिय, आत्मा, मन और श्वास सूक्ष्म अवस्था रूप हो जाते हैं।[4] अतः प्रतिदिन रात्रि में साधुजन रात्रियोग को

---

१. फासुयभूमिपएसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एयपासेण॥ मूलाचार १।३२.

२. मूलाचारवृत्ति १।३२.

३. आचारांग २।३।१०८.

४. अनगार धर्मामृत ९।७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारण करते हैं और प्रातः होने पर उसे समाप्त कर देते हैं। योग से तात्पर्य शुद्ध चिद्रूप में यथाशक्ति चिन्ता का निरोध अर्थात् शुद्धोपयोग है। साधु रात्रि में उपयोग की शुद्धता के लिए रात्रियोग धारण करते हैं। इसके लिए आराम-दायक शयनासन नहीं अपितु प्रासुक भूमि प्रदेश में शयन करना क्षितिशयन मूलगुण है।

भूशयन से ब्रह्मचर्य महाव्रत में दृढ़ता, निद्राविजय, राग एवं प्रमाद की हानि तथा उत्कृष्ट संवेग प्रकट होता है। जबकि कोमल शय्या दोषोत्पादक गाढ़ निद्रा लाने वाली है। योगियों के लिए यह निद्रा समस्त प्रमादों में प्रबल प्रमाद है। अतः श्रमण को आत्मसिद्धि के लिए ऊनोदर और भूशयन आदि के द्वारा निद्रा पर विजय प्राप्त करना चाहिए। यह मूलगुण धर्मध्यान और शुक्लध्यान आदि योग साधना का कारण तथा योगादि से उत्पन्न परिश्रम को शांत करने का उपाय है।[1]

मूलाचार तथा परवर्ती ग्रन्थों में वर्णित इस मूलगुण के स्वरूप को देखने से ज्ञात होता है कि बाद में इसके प्रतिपादन में परिवर्तन हुआ। मूलाचारकार आदि ने जहाँ असंस्तरित प्रासुक भूमि प्रदेश में शयन करने को कहा वहाँ वृत्ति-कार वसुनन्दि ने इस विधान के समर्थन के साथ ही यह भी लिखा कि जिसमें बहुसंयम विघात न हो ऐसा आत्मप्रमाण तृणमय, काष्ठमय, शिलामय संस्तर भी शयन के लिए हो सकता है।[2] अनगार धर्मामृत में कहा है कि साधु को तृण आदि के आच्छादन से रहित भूमि प्रदेश अथवा अपने द्वारा मामूली सी आच्छा-दित भूमि में, जिसका परिणाम अपने शरीर के बराबर हो अथवा तृण आदि की शय्या पर, न ऊपर को मुख करके और न नीचे को मुख करके सोना चाहिए।[3]

अदन्तधर्षण (अदंतमण या अदन्तधावन) :

शरीर विषयक संस्कार श्रमण को पूर्णतः निषिद्ध हैं।[4] अतः अपने शरी-

---

१. मूलाचार प्रदीप ४।२७९-२८५.

२. येन संयमविघातो च भवति तस्मिन् तृणमये शिलामये भूमिप्रदेशे च संस्त-
—मूलाचारवृत्ति १।३२.

३. अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद् भूदेशेऽसंस्तृते स्वयम् ।
स्वमात्रे संस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेऽपि वा ।। अनगारधर्मामृत ९।९१.

४. मुहणयणदंतधोवणमुव्वट्टण पादधोयणं चेव ।
संवाहण परिमद्दण सरीरसंठावणं सव्वं ।।
धूवणं वमण विरेयण अंजणं अब्भंग लेवणं चेव ।
णत्थुय वत्थियकम्मं सिरवेज्झं अप्पणो सव्वं ।। मूलाचार ९।७१, ७२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का किञ्चित् भी संस्कार नहीं करते।[1] मुख, नेत्र और दाँतों का प्रक्षालन, शोधन, उद्वर्तन (सुगन्धित द्रव्य से उबटन), पाद पक्षालन, संवाहन (अंगमर्दन), (मुष्टि से शरीर दबाना) और शरीर-संस्थापन (काष्ठ-यंत्र से शरीर पीड़न) मुनि नहीं करते। तथा धूपन (शरीर के अवयवों को धूप से सुगंधित करना)[2] अथवा रोग की आशंका व शोक आदि से बचने के लिए, मानसिक-आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग[3], वमन, विरेचन (औषधि आदि के द्वारा मलद्वार से मल दूर करना[4] अर्थात् जुलाब द्वारा मल को दूर करना), अंजन (नेत्रों में काजल लगाना[5]), अभ्यंग (सुगंधित तेल से शरीर संस्कार), लेपन (चन्दनादि का शरीर पर लेपन), नासिकाकर्म, वस्तिकर्म (शलाका, वर्तिका आदि की क्रिया[6] अर्थात् अपान-मार्ग के द्वारा स्नेह का प्रक्षेप) शिरावेध (नसों को लोही से वेधकर रक्त निकलना)[7] आदि कार्य भी मुनि अपने शरीर संस्कार के निमित्त कभी नहीं करते।

उपर्युक्त सभी प्रकार के शारीरिक संस्कारों के निषेध में "दन्तधोवण" शब्द से दाँतों के प्रक्षालन का निषेध किया गया है। तथा छब्बीसवें मूलगुण के रूप में इसे अदंतघंसण (अदन्तघर्षण) या अदंतमण (अदन्तमन) शब्द से अभिहित किया गया है।[8] इसके स्वरूप प्रतिपादन के प्रसंग आचार्य वट्टकेर ने कहा है कि मुनिजन इन्द्रियसंयम की रक्षा के लिए इस मूलगुण का पालन करते हैं। वे अंगुली, नख, अवलेखनी (दन्तकाष्ठ या दातौन), कलि—(तृणविशेष) पाषाण और छाल (त्वक् या वल्कल)—इन सबके द्वारा तथा इनके ही समान अन्य साधनों के द्वारा दन्तमल का शोधन नहीं करते।[9] श्वेताम्बर परम्परा में

---

१. ण करंति किंचि साहू परिसंठप्पं सरीरम्मि—मूलाचार ९।७०.

२. 'धूवणं' धूपनं शरीरावयवानामुपकरणानां च धूपेन संस्करणम्
—मूलाचारवृत्ति ९।७२.

३. धूवणेत्ति नाम आरोग्गपडिकम्मं करेइ धूमंपि, इमाए सोगाइणो न भविस्संति—जिनदास महत्तरकृत दशवैकालिक चूर्णि पृ० ११५.

४. विरेचनमौषधादिनाधोद्वारेण मलनिहरणम्—मूलाचारवृत्ति ९।७२.

५. अंजनं नयनयोः कज्जलप्रक्षेपणम्—वही.

६. वस्तिकर्म शलाकावर्तिकादिक्रिया—वही.

७. शिरावेधः शिराभ्यो रक्तापनयनम्—वही.

८. मूलाचार १।३, ३३.

९. अंगुलिणहावलेहणिकलीहिं पासाणछल्लियादीहिं।
दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ मूलाचार १।३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुनि के लिए दन्त प्रक्षालन अनाचार के रूप में स्वीकार किया है। सूत्रकृतांग में कहा है कि मुनि दातौन से दाँतों का प्रक्षालन न करे—उन्हें न धोए।[1] दशवैकालिक सूत्र में भी दंत-प्रधावन[2] और दंतवन[3] को अनाचार कहा है। निशीथसूत्र में कहा है कि विभूषा के लिए अपने दाँतों को एक दिन या प्रतिदिन घिसने, प्रक्षालन करने, प्रधावन करने, रंगने आदि से भिक्षु दोष का भागी होता है[4] इस प्रकार संयम की रक्षार्थ मुनि इस मूलगुण का पालन करते हैं।

स्थितभोजन (ठिदिभोयण) :

शुद्धभूमि में खड़े होकर आहार ग्रहण करना स्थितभोजन है। दीवाल, स्तम्भादि के आश्रय के बिना, समपाद खड़े होकर तीन प्रकार की भूमि (पैर रखने की भूमि, जूठन गिरने की भूमि एवं आहारदाता के खड़े होने की भूमि) की शुद्धिपूर्वक अपने हाथ के अंजुलिपुट (पाणिपात्र) में आहार ग्रहण करना स्थितभोजन नामक सत्ताईसवाँ मूलगुण है।[5] इसके अनुसार श्रमण को अशन, पान, खाद्य, भोज्य, लेह्य, और पेय—इन सभी प्रकार के आहारों को शुद्धतापूर्वक हस्तपात्र में खड़े होकर ग्रहण करने का विधान है।[6] जब मुनि खड़े-खड़े अंजुलि पुट बनाकर उसी से आहार लेते हैं तब स्वयं अपने हाथ से कोई वस्तु उठाकर, पात्र विशेष में, दूसरों के हाथों से, बैठकर अथवा लेटकर आहार ग्रहण करने का निषेध भी सिद्ध हो जाता है।[7]

इस तरह प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम के पालन हेतु जब तक श्रमण के हाथ-पैर चलते हैं अर्थात् शरीर में सामर्थ्य है तब तक खड़े होकर पाणिपात्र में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्य विशेष पात्रों में नहीं।[8]

---

१. णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, वमणं, णो विरेयणं, णो धूवणे, णो तं परियाविएज्जा—सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध १।५९ (अंगसुत्ताणि भाग १ पृष्ठ ३६५.

२. दशवैकालिक ३।३.

३. धूव-णेत्ति वमणे य वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य गायाभंगविभूसणे॥ वही ३।९.

४. निशीथसूत्र १५।१३०-१३१.

५. अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम॥ मूलाचार १।३४

६. असणं जदि वा पाणं खज्जं भोजं च लिज्ज पेज्जं वा।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु॥ वही ९।५४.

७. मूलाचारवृत्ति १।३४.

८. मूलाचारवृत्ति १।३४, अनगारधर्मामृत ९।८३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकभक्त (एयभत्त) :

दिन में एक बार निर्धारित समय पर आहार ग्रहण करना एकभक्त नामक अट्ठाईसवाँ मूलगुण है। सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी व्यतीत होने पर तथा सूर्यास्त होने के तीन घड़ी पूर्व तक, दिन के मध्यकाल में एक मुहूर्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त काल में एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त मूलगुण है।[१] उपर्युक्त निर्धारित समय के अन्दर एक मुहूर्त में आहार लेना उत्कृष्टाचरण, दो मुहूर्तों में मध्यमाचरण तथा तीन मुहूर्त में आहार ग्रहण करना जघन्याचरण माना है। प्रवचनसार में कहा है ऊनोदर (भूख से कम), यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), दोष रहित तथा रस की अपेक्षा रहित भिक्षावृत्ति पूर्वक दिन में एक बार प्राप्त युक्ताहार ग्रहण करना चाहिए।[२]

वैसे भी संयम, ज्ञान, ध्यान, अध्ययन एवं साधना की वृद्धि के लिए जैसा मिले वैसा ही शुद्ध रूप में आहार लेना श्रमण को अपेक्षित है।[३] इसकी पूर्ति दिन में एक बार ग्रहण किये सीमित आहार से ही हो जाती है। एकाधिक बार आहार ग्रहण से तो शिथिलाचार में ही प्रवृत्ति बढ़ती है। अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि दिन के प्रकाश में एक बार आहार ग्रहण करना ही युक्ताहार है। क्योंकि उतने से ही श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है। जबकि शरीर के अनुराग से अनेक बार आहार ग्रहण अत्यन्त हिंसायतन (आत्यन्तिक हिंसा का स्थान) रूप होने के कारण युक्ताहार नहीं है। दिन में आहार ग्रहण इसलिए अच्छा कहा गया क्योंकि उसे सम्यक् रूप से देख-भालकर ग्रहण किया जा सकता है। अदिवस (दिन के अतिरिक्त अन्य समय) में आहार को सम्यक् देखा नहीं जा सकता। इसलिए वह अनिवार्य रूप में हिंसायतन है तथा ऐसे आहार के सेवन से अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होती है।[४]

दशवैकालिक के अनुसार जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं, उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ एषणा कैसे कर सकता है ? उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन तथा जीवाकुल मार्ग दिन में टाला जा सकता है पर रात में

---

१. उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेय भत्तं तु ।। मूलाचार १।३५.

२. एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ।। प्रवचनसार २२९.

३. रयणसार ११३.

४. प्रवचनसार गाथा २२९ की तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टालना शक्य नहीं। इसलिए निर्ग्रन्थ रात को भिक्षाचर्या कैसे कर सकता है ?[1] और फिर रात्रिभोजन का निषेध तो श्रावकों तक के लिए है तब श्रमणों को तो इसका निषेध स्वभावतः है ही। एकभक्त मूलगुण के विधान से रात्रिभोजन व्रत को मूलगुणों में सम्मिलित नहीं किया।[2] उत्तराध्ययन में विचक्षण भिक्षु को दिन के चार भाग करने का निर्देश है। इसके अन्तर्गत प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षाचारी और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करने को कहा गया है।[3] इस प्रकार सभी तीर्थंकरों ने संयम के अनुकूल वृत्ति और देह पालन के लिए एकभक्त रूप नित्य तपःकर्म का श्रमणों को उपदेश दिया।[4]

उपसंहार : लोच से लेकर एकभक्त तक के शेष सात मूलगुण श्रमण के बाह्यचिह्न माने जाते हैं। अन्तरंग कषाय मल की विशुद्धि के लिए बाह्य क्रियाओं (आचरण) की शुद्धता का भी महत्वपूर्ण स्थान है।[5] अतः ये गुण जीवन की सहजता, स्वाभाविकता के प्रतीक हैं। श्रमण को प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करने, अपने को और अपने शरीर को कष्टसहिष्णु बनाने तथा लोकलज्जा और लोकभय से ऊपर उठने के लिए ये महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करते हैं। बाह्य जीवन में असुन्दर की भी सर्वात्मभावेन स्वीकृति इनसे सधती है। इन गुणों से युक्त जीवन भी अपने आप में उत्कृष्ट एवं कठिन तपश्चर्या का प्रतीक है। इनके माध्यम से कष्टसहिष्णुता, चारित्र पालन, परीषह सहन और तपश्चरण आदि में सहजता तथा आत्मिक विकास को निरन्तर गतिशीलता प्राप्त होती रहती है। इन गुणों से श्रमण को प्रतिपल भेद-विज्ञान की यह प्रतीति होती रहती है कि यह शरीर आत्मा से भिन्न है और इसे सुविधावादिता की अपेक्षा जितना सहज रखा जायेगा आत्मोपलब्धि में उतनी ही वृद्धि होती रहेगी।

उपर्युक्त अट्ठाईस मूलगुणों के पालन से श्रमण को आवश्यकतायें अत्यन्त सीमित हो जाती हैं। इनका अप्रमत्त भाव से पालन करके श्रमण जगत्पूज्य होकर अक्षय-सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है। मूलाचारप्रदीप में कहा है— ये सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि महायोगों

---

१. दशवैकालिक ६।२३, २४.

२. मूलाचार ५।९८-९९.

३. उत्तराध्ययन २६।११, १२.

४. अहो निच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जा य लज्जासमा वित्ती एगभत्तं च भोयणं।। दशवैकालिक. ६।२२.

५. मता बहिः क्रियाशुद्धिरन्तर्मलविशुद्धये— भगवतीआराधना संस्कृत पद्य १३९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आधारभूत कहा है। समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिए ये गुण मूल रूप हैं। जिस प्रकार मूलरहित वृक्षों पर कभी फल नहीं लग सकते उसी प्रकार मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण भी कभी फल नहीं दे सकते। फिर भी उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए जो मूलगुणों का त्याग कर देते हैं वे अपने हाथ की अंगुलियों की रक्षा के लिए अपना मस्तक काट देते हैं। अतः इन समस्त मूलगुणों का पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र एवं सर्वदा पालन करना अभीष्ट है।[1] जब इन मूलगुणों के पालन में शरीर अशक्त हो जाए अर्थात् जब जंघाबल (पैरों से चलने-फिरने और खड़े होने आदि की शक्ति) क्षीण हो जाए, अञ्जुलि-पुट में आये हुए आहार को स्वयं मुख तक न ले जा सके, आँखें कमजोर हो जाएँ, उनसे सूक्ष्म वस्तु दिखाई न दे और न भोजन का शोधन किया जा सके तथा श्रोतेन्द्रिय की शक्ति क्षीण हो जाए तब श्रमण को भक्तप्रत्याख्यान (अनुक्रम से आहार त्याग करना तथा कषाय को कृश करते हुए समाधिमरण को प्राप्त होना) धारण कर लेना चाहिए किन्तु ग्रहण किये हुए व्रतों में शिथिलता कदापि न लाना चाहिए।[2]

●

१. मूलाचार प्रदीप ४।३१२-३१९.

२. चक्खुं व दुब्बलं जस्स होज्ज सोदं व दुब्बलं जस्स।
जंघाबलपरिहीणो जो ण समत्थो विहरदुं वा ॥ भगवती आराधना ७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृतीय अध्याय

उत्तरगुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरगुण

श्रमण के जिन अट्ठाईस मूलगुणों का विवेचन द्वितीय अध्याय में किया गया उनके उत्तरवर्ती पालन योग्य नियमोपनियम तथा योगादि अनेक गुण हैं जिन्हें उत्तरगुण कहते हैं। इनके माध्यम से श्रमण आत्मध्यान और तपश्चरण करके आध्यात्मिक विकास की शक्ति प्राप्त करता है तथा गुणस्थान प्रणाली में कर्मक्षय करता हुआ निर्वाण पद को प्राप्त करता है। अपराजितसूरि ने उत्तरगुण की परिभाषा में कहा है कि व्रतों के अनन्तर अर्थात् उत्तरकाल में जिनका पालन किया जाता है उन अनशन आदि तपों को उत्तरगुण कहते हैं।[1] सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के उत्तरकाल में चारित्र की उत्पत्ति होती है अतः चारित्र अर्थात् संयम को उत्तरगुण कहते हैं।[2] जिसने संयम धारण किया है उसको सामायिक आदि तथा अनशन आदि भी होते हैं अतः सामायिकादि तथा अनशनादि तप को उत्तरगुण संज्ञा प्राप्त है।[3]

वस्तुतः श्रमण आगामी कर्मों के संवर तथा पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा हेतु उत्तरगुणों का पालन करते हैं। आतापन आदि त्रिकालयोग भी उत्तरगुण हैं। सकलकीर्ति के इस कथन से मूलगुणों और उत्तरगुणों का परस्पर सम्बन्ध सिद्ध है कि जिस प्रकार मूलरहित वृक्ष किसी प्रकार के फल उत्पन्न नहीं कर सकते उसी प्रकार मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फल देने वाले नहीं हो सकते। उत्तरगुण प्राप्त करने के लिए जो मूलगुणों का त्याग कर देते हैं वे तो मानो अपने हाथ की अंगुलियों की रक्षार्थ अपना ही शिरच्छेद कर देते हैं।[4]

इस प्रकार श्रमण जीवन में आत्मिक उत्कर्ष की दृष्टि से उत्तरगुणों के पालन की अपनी महत्ता है किन्तु मूलगुणों के मूल्य पर मात्र उत्तरगुणों की रक्षा

१. व्रतोत्तरकालभावितत्वादनशनादिकं उत्तरगुण इति उच्यते
—भगवती आराधना विजयोदया टीका गाथा ११६ पृष्ठ २७७

२. सम्यग्दर्शनज्ञानाभ्यामुत्तरकालभावित्वात्संयमः उत्तरगुणशब्देनोच्यते।
—वही, पृष्ठ २७३.

३. परिगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च—वही पृष्ठ २७७.

४. कृत्स्नोत्तरगुणा यस्माद्धीनाः मूलगुणैः सताम्।
परं फलं न कुर्वन्ति मूलहीना यथाघ्रिपाः॥
यत्रोत्तरगुणाद्याप्त्यै त्यजन्ति मूलसद्गुणान्।
ते करांगुलिकोट्यर्थं छिदन्ति स्वशिरः शठाः॥
—मूलाचारप्रदीप ४।३१४, ३१५ पृष्ठ १७७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्य नहीं है, क्योंकि मूलगुणों के अनन्तर पालन किये जाने वाले उत्तरगुणों में दृढ़ता इन्हीं मूलगुणों के निमित्त से ही प्राप्त होती है।

उत्तरगुण के भेद :

मूलगुणों की अट्ठाईस संख्या निर्धारित है। उत्तरगुणों के भेदों की कोई एक निर्धारित संख्या नहीं है क्योंकि मूलगुणों के अनन्तर श्रमण के पालन योग्य सभी गुणों को उत्तरगुण कहा जा सकता है। मूलगुणों के अतिरिक्त बाद के सभी गुण या व्रत-योगादि उत्तर-गुणों के अन्तर्गत आ जाते हैं। तभी तो उत्तरगुणों की भेद संख्या चौरासी लाख तक मानी गई है। सामान्यतः बारह तप, बाईस परीषह, बारह भावनायें, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य—ये पाँच प्रकार के आचार, उत्तमक्षमा आदि दसधर्म तथा शील आदि ये सब उत्तरगुणों के अन्तर्गत माने जाते हैं। कुन्द० मूलाचार में बारह तप और बाईस परीषह—इन दोनों को मिलाकर चौंतीस प्रकार के उत्तरगुणों का उल्लेख मिलता है।[1] नयचक्र में तप और परीषहों के साथ पाँच प्रकार के आचार को उत्तरगुणों की संज्ञा दी है।[2] तथा मूलाचार के ही शीलगुणाधिकार में वर्णित अट्ठारह हजार शीलों या चौरासी लाख गुणों को भी उत्तरगुण कहा जाता है।

मूलाचार में शील के अट्ठारह हजार भेदों का वर्णन इस प्रकार है[3]—योग के तीन भेद, करण के तीन भेद, चार प्रकार की संज्ञायें, पाँच इन्द्रियाँ, दस प्रकार के पृथ्वीकायिक आदि जीव तथा दस प्रकार के उत्तम क्षमा आदि श्रमण धर्म—इन सबको परस्पर गुणित करने पर अट्ठारह हजार भेद हो जाते हैं[4]। यथा—३ × ३ × ४ × ५ × १० × १० = १८००० शील के भेद।

चौरासी लाख गुणों की उत्पत्ति का कारणक्रम इस प्रकार वर्णित है—हिंसादिक इक्कीस दोष, अतिक्रमणादि चार दोष, पृथ्वीकायिक आदि के सौ, अब्रह्म के दस दोष, आलोचना के दस दोष तथा शुद्धि (प्रायश्चित्त) के दस भेदों से विपरीत दस दोष[5]—इस तरह इन सब दोषों से विपरीत गुणों का परस्पर गुणन करने पर चौरासी लाख गुण सिद्ध होते हैं।

---

१. तवपरिसहादि भेदा चोत्तीसा उत्तरगुणक्खा—कुन्द० मूलाचार १.३ पृष्ठ २.
२. तवपरिसहाण भेया गुणा हु ते उत्तरा य बोहव्वा।
दंसणणाणचरित्तं तव वीरियं पंचहायारं॥ नयचक्र गाथा ३३६.
३. जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं॥ मूलाचार ११।२.
५. इगिवीस चतुर सदिया दस दस दसगा य आणुपुव्वीय।
हिंसादिक्कमकायाविराहणालोयणासोही॥ मूलाचार ११।८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त भेदों का विशेष कथन इस प्रकार है—

१. **हिंसादिक इक्कीस दोष**[1]—प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तग्रहण, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, मनोमंगुल, वचन मंगुल, काय मगुल (यहाँ मंगुल से तात्पर्य पाप संचय करने वाली क्रिया है), मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पैशून्य, अज्ञान और इन्द्रिय-अनिग्रह।

२. **अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार—ये चार दोष**[2]—यहाँ अतिक्रमण से तात्पर्य है विषयों की अभिकांक्षा, व्यतिक्रमण अर्थात् विषयोपकरणों के अर्जन का भाव, अतिचार अर्थात् व्रतों में शिथिलता या असंयम का किञ्चित् भी सेवन तथा अनाचार से तात्पर्य है व्रतभंग या सर्वथा स्वेच्छा प्रवृत्ति।

३. **पृथ्वीकायिक आदि के सौ भेद**[3]—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, अनन्तकायिक या साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इन दस भेदों का परस्पर गुणन करने पर (१० × १० = १००) कायिक सम्बन्धी सौ भेद हो जाते हैं।

अब्रह्म (शील विराधना) संबंधी दस दोष[4] : स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गन्धमाल्य संस्पर्श, शयनासन, आभूषण, गीतवादित्र, अर्थसंप्रयोग (स्वर्णादिक धन की अभिलाषा), कुशीलसंसर्ग, राजसेवा और रात्रिसंचरण।

५. **आलोचना के दस दोष**[5] : आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी।

६. **शुद्धि (प्रायश्चित) के दस भेद**[6] : आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान—ये दोषों की शुद्धि के दस भेद हैं।

उपर्युक्त सभी दोषों से विपरीत गुण होते हैं। इन सबका परस्पर में गुणन करने पर चौरासी लाख उत्तरगुण होते हैं। वे इस तरह हैं—२१ × ४ = ८४, ८४ × १०० = ८४००, ८४०० × १० = ८४०००, ८४००० × १० = ८४००००

---

१. वही ११।९, १०.

२. अदिकमणं वदिकमणं अदिचारो तहेव अणाचारो।
एदेहिं चदूहिं पुणो सावज्जो होइ गुणियव्वो ॥ वही ॥११।११

३. वही ११।१२.

४. मूलाचार ११।१३-१४।

५. वही ११।१५, स्थानांग १०।७०, निशीथ भाष्य भाग ४ पृ० ३६३.

६. वही ११।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा ८४०००० × १० = ८४००००० अर्थात् चौरासी लाख उत्तरगुण हुए।[1] दंसण पाहुड की टीका तथा आशाधरकृत जिनसहस्रनाम की श्रुतसागरीय टीका आदि ग्रन्थों में भी शील के भेदों का विभाजन इसी प्रकार मिलता है। अन्तर मात्र इतना है कि इनमें शुद्धि (प्रायश्चित्त) के दस भेदों के स्थान पर क्षमादि दस धर्मों की गणना करके उत्तरगुणों के चौरासी लाख भेद बताये गये हैं।[2]

मूलाचार में गुणों के उत्पत्ति-प्रकारों की विधि बताते हुए कहा है—हिंसा से विरत, अतिक्रमण दोष से रहित, पृथ्वी और पृथ्वीकायिक के साथ पुनः आरम्भ (विराधना) के विषय में संयत, स्त्रीसंसर्ग से विरक्त, आकंपित दोषों से रहित तथा आलोचना शुद्धि युक्त जो श्रमण संयमी, धीर, वीर होता है उसे प्रथम अहिंसा गुण होता है। इसी प्रकार दूसरे गुण की उत्पत्ति के लिए इस प्रकार उच्चारण होगा कि असत्य भाषण रहित, अतिक्रमण दोषकरण से रहित इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से कथन करने से द्वितीय सत्य गुण सिद्ध होता है। इस तरह आगे-आगे चौरासी लाख बार उच्चारण करते जाने से चौरासी लाख गुणों(उत्तरगुणों) की उत्पत्ति सिद्ध होती है। इस प्रकार मूलाचारकार ने उत्तरगुणों की उत्पत्ति बताते हुए उनकी चौरासी लाख भेद संख्या मानी है। जयसेनाचार्य कृत प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि इन मूलगुणों की रक्षा के लिए बाईस परीषहजय और बारह प्रकार के तप—इस तरह चौंतीस उत्तरगुण होते हैं। उनकी भी रक्षा के लिए देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और अचेतनकृत चार प्रकार के उपसर्गों पर विजय और बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओं की भावना आदि की जाती है।[3] उपर्युक्त उत्तरगुणों में सर्वप्रथम तप का विवेचन प्रस्तुत है।

---

१. (क) सव्वेपि पुव्वभंगा उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
मेलंतेत्तिय कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा॥ मूलाचार ११।२०.
(ख) एतैः पूर्वोक्तानि अष्टलक्षाभ्यधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि गुणितानि चतुरशीतिलक्षसावद्यविकल्पा भवन्ति तद्विपरीतास्तावत एव गुणा भवंतीति।
—मूलाचारवृत्ति ११।१६.

२. दंसणपाहुड टीका ९।१।१८ तथा जिनसहस्रनाम (आशाधर कृत)
—श्रुतसागरीय टीका, षष्ठ एवं दशम शतक।

३. तेषां च मूलगुणानां रक्षणार्थं द्वाविंशतिपरीषहजयद्वादशविधतपश्चरण भेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति। तेषां च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृत चतुर्विधोपसर्गजय द्वादशानुप्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्रायः।
—प्रवचनसार गाथा २०८, २०९ की तात्पर्यवृत्ति पृष्ठ ४०७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप

तप जैन साधना-पद्धति का प्राण है। भव-भव से संचित कर्मों को सम्पूर्ण रूप से दग्ध करने तथा भवसागर से सदा के लिए मुक्त होने का यह प्रबल और महत्त्वपूर्ण साधन है। जैन साधना पद्धति के प्रमुख चार अंग हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप। इनमें सम्यक् तप का अपना विशिष्ट स्थान और महत्त्व है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार उपर्युक्त चारों अंगों से संयम होता है तथा इनका समागम होने पर जीव को मोक्ष प्राप्त होता है।[1] उत्तराध्ययन में कहा है—आत्मा ज्ञान से जीवादि भावों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र से कर्मास्रव का निरोध करता है, और तप से विशुद्ध होता है। सर्व दुःखों से मुक्त होने के लिए महर्षि संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।[2]

यद्यपि उत्तमक्षमा आदि श्रमण के दस धर्मों में तप भी अन्तर्भूत है किन्तु तप को विशेष रूप से निर्जरा का कारण बताने के लिए तथा संवर के सभी हेतुओं में तप की प्रधानता सूचित करने के लिए श्रमणाचार में तप का स्वतंत्र रूप से विधान किया गया है। तप के द्वारा नूतन कर्मबन्ध रुककर पूर्वोपचित कर्मों का क्षय होता है; क्योंकि तप से अविपाक (सकाम) निर्जरा होती है। जैसे एक ही अग्नि पाक और भस्मक्रिया आदि अनेक कार्य करती है उसी प्रकार तप से कर्मों का क्षय तथा देवेन्द्र आदि अभ्युदय स्थानों को प्राप्ति होती है। जैन परम्परा में तपक्रिया का मुख्य लक्ष्य कर्मक्षय है तथा अभ्युदय की प्राप्ति आनुषांगिक (गौण) है।[3] तप के द्वारा जीव पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके व्यवदान अर्थात् विशुद्धि को प्राप्त होता है;[4] क्योंकि चिरकाल से संचित कर्मरज को तप

---

१. णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संयमगुणेण।
चउहि पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥ दंसणपाहुड गाथा ३०.

२. नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तयेण परिसुज्झई ॥
खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ॥ उत्तराध्ययन २८।३५,३६,

३. तत्त्वार्थवार्तिक ९।३।१-५ पृष्ठ ५९२-५९३.

४. तवेण वोदाणं जणयइ—उत्तराध्ययन २९।२७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा शीघ्र ही नष्ट किया जा सकता है।[1] आचार्य वट्टकेर ने कहा है कि जैसे अग्नि हवा के द्वारा तृण और काष्ठादि को जलाती है वैसे ही ज्ञानरूपी हवा से युक्त शील, समाधि और सयम से प्रज्वलित तपरूपी अग्नि संसाररूपी बीज को जलाती है। तथा जैसे मिट्टी आदि युक्त स्वर्ण धातु अग्नि में तपाये जाने पर विशुद्ध हो जाती है वैसे ही जीव तप के द्वारा कर्मों को जलाकर स्वर्ण के के समान विशुद्धता को प्राप्त कर लेता है।[2]

तप का स्वरूप और महत्त्व :

श्रमण संस्कृति तप-प्रधान मानी जाती है। श्रमण शब्द स्वयं में महान् तपस्वी साधु का द्योतक है। इसीलिए श्रमण शब्द की परिभाषा के विषय में कहा है कि जो आत्मा की साधना के लिए श्रम करता है अर्थात् तपःसाधना से शरीर को खेदखिन्न करता है वह श्रमण कहा जाता है।[3] तप के स्वरूप-प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि पंचेन्द्रिय विषय और क्रोधादि चार कषाय—इनका विनिग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मचिन्तन करना तप है[4]। भगवती आराधना के अनुसार अकर्त्तव्य के त्यागरूप चारित्र में जो उद्योग और उपयोग किया जाता है वह तप है।[5] धवला में कहा है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए इच्छा का निरोध तप है।[6] भट्ट अकलंकदेव के अनुसार भी कर्मक्षय के लिए जो तपा जाय वह तप है।[7] मूलाचारवृत्ति में भी इसी तरह कहा है कि कर्मक्षय के लिए शरीर और इन्द्रियों को तप्त करना तप है।[8] जयसेनाचार्य के अनुसार—रागादि समस्त

---

१. चिरकालमज्जिदं पि य विहुणादि तवसा रयत्ति णाऊण—मूलाचार ५.५८.
२. मूलाचार ८।५७, ५६.
३. (क) श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः।
—सूत्रकृतांग शीलांक कृत टीका १।१६.
(ख) श्राम्यन्त्यात्मानं तपोभिरिति श्रमणाः मूलाचारवृत्ति ९।१२०.
४. विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥ बारस अणुवेक्खा ७७.
५. चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो आउजणा य जो होई।
सो चेव जिणेहिं तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥ भगवती आराधना १०.
६. तिण्णं रयणाणमाविब्भावट्ठमिच्छाणिरोहो—धवला १३।५।४, २६।५४।१२.
७. कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः —तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।१७ पृष्ठ ५९८.
८. तपः कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपः —मूलाचारवृत्ति ११।५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव-इच्छाओं के त्याग से स्व-स्वरूप में प्रतपन-विजयन करना तप है।[1]

इस प्रकार तप की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। वस्तुतः तप के समग्र रूप को किसी भी एक परिभाषा में आबद्ध करना अत्यधिक कठिन है। क्योंकि तप अन्तर्मुखी वृत्ति की साधना है। मुक्ति व शान्ति प्राप्ति की साधना में तप की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसे आत्मिक सुख की सीढ़ी कह सकते हैं और वह अन्तस्तत्त्व के चिन्तन, मन के मन्थन तथा चित्तवृत्तियों के ग्रंथन से ही सम्भव है। तप का महत्व भी भावशुद्धि पर अवलंबित है। तप के द्वारा समस्त अपवित्रता, सम्पूर्ण कल्मष एवं समग्र अशांति—इन सबको भस्मसात किया जा सकता है। ऐसे ही, तप से मन शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल बनाया जा सकता है। दशवैकालिक में कहा है कि अहिंसा, संयम और तप लक्षण वाला धर्म उत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन सदा इस प्रकार के धर्म में रमा रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं।[2]

श्रमण जीवन की आचार और ज्ञान-प्रधान साधना, तपोमय है। इतना ही नहीं अपितु श्रमण के सम्पूर्ण जीवन में तप का इतना व्यापक क्षेत्र है कि स्वाध्याय, अध्ययन, प्रायश्चित, वैयावृत्ति-सेवावृत्ति आदि श्रमण जीवन की समस्त मूलभूत क्रियाओं को भी तप कह देते हैं। तप का मुख्य उद्देश्य भी जीवन के अन्तरतम का शोधन है। इसीलिए काषायिक वासनाओं को समाप्त करने, तथा कर्मक्षय के द्वारा परिपूर्ण आत्मिक विकास की साधना के लिए मन, इन्द्रिय तथा शरीर को जिन सम्यक् विधियों से तपाया जाय वे सभी तप रूप ही हैं। उमास्वामी ने कहा है तप कर्मों के संवर का उपाय तो है ही निर्जरा का भी वह प्रमुख कारण है। मूलाचारकार ने तप को नगर की उपमा देते हुए कहा है : धैर्य, उत्साह और निश्चित-मति उस तपरूपी नगर के प्राकार (परकोटा) हैं, चारित्र उसके उत्तुंग गोपुर, क्षमा और सुकृत (धर्म) उसके फाटक तथा संयम रक्षक (कोतवाल) के समान हैं। तप रूप इस नगर को लूटने के लिए राग, द्वेष, मोह और इन्द्रिय रूपी चोर सदा उद्यत रहते हैं किन्तु सत्पुरुषों के द्वारा सुरक्षित इन नगर को ये लूटने या विनाश करने मे समर्थ नहीं हो पाते![3] तपश्चर्या में लीन श्रमण की मुद्रा का वर्णन करते हुए कहा है कि निरन्तर

---

१. समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः
—प्रवचनसार गाथा ७९ की तात्पर्यवृत्ति.

२. धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं णमंसंति जस्स धम्मे सया मणो।। दशवैकालिक १।१.

३. मूलाचार ९।१११, ११२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तपश्चरण में रत, उपवास और तप से कृशकाय एवं आतापनादि योग और दृढ़ चारित्र से युक्त धीर और गुण सम्पन्न श्रमणों की मुद्रा देखने योग्य होती है[१]। उनके कपोलों (गालों) का मांस सूख जाने से मुख पर केवल भृकुटि और आँखों के तारे चमकते दिखाई देते हैं। शरीर के नाम पर चर्म और हड्डी ही शेष रह गया है फिर भी वे निरन्तर तपश्चरण करते हुए धर्मलक्ष्मी में विराजमान रहते हैं।[२]

वस्तुतः तपश्चरणादि साधना की सभी विधियाँ चारों गतियों में से एक-मात्र मनुष्यगति में ही सम्भव हैं क्योंकि नरक व देवलोक में औदारिक शरीर का उदय तथा पंच महाव्रत नहीं होते। तिर्यञ्च गति में भी महाव्रतादि का पालन असम्भव है।[३] अतः वीतरागता की सिद्धि के लिए धीरे-वीर साधुओं को तप का नित्य संचय करना चाहिए।[४]

तप के भेद :

तप आत्मशोधन तथा कर्मक्षय की एक अखंड प्रक्रिया है; किन्तु विधियों और प्रक्रियाओं के आधार पर तप को बाह्य और आभ्यन्तर इन दो रूपों में विभाजित किया गया है।[५] इनमें से कायिक तथा वाचनिक तप बाह्य हैं एवं मानसिक तप आभ्यन्तर है।[६] इनमें से प्रत्येक के निम्नलिखित छह-छह भेद हैं।

१. **बाह्य तप**—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, काय-क्लेश तथा विविक्तशयनासन—ये बाह्य तप के छह भेद हैं।[७]

२. **आभ्यन्तर तप**—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छह आभ्यन्तर तप के भेद हैं।[८]

---

१. मूलाचार ९।६३.

२. आलीणगंडमंसा पायडभिउडीमुहा अधियच्छा।
समणा तवं चरंता उक्किण्णा धम्मलच्छीए॥ वही ९।६४.

३. धवला १३।५, ४, ३१ पृष्ठ ९१।५.

४. अनगार धर्मामृत ७।१.

५. दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो—मूलाचार ५।१४८.

६. बाह्य वाक्कायसम्भूतमान्तरं मानसं स्मृतम्—मोक्ष पंचाशत ४८ (जैनधर्मसार —सूत्र २०७ पृष्ट ८७ से उद्धृत)

७क. अणसण अवमोदरियं रसपरिचाओ य वुत्तिपरिसंखा।
कायस्स य परितावो विवित्तसयणासणं छट्ठं॥ मूलाचार ५।१४९.

८. पायच्छित्तं विणयं वेज्जावच्चं तहेव सज्झायं।
झाणं च विउस्सग्गो अब्भंतरओ तवो एसो॥ वही ५।१६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्य तप :

बाह्यद्रव्य के आलम्बन से दूसरों को देखने में आने वाले तप बाह्य तप हैं।[1] जिस तप की साधना शरीर से विशेष सम्बन्धित हो या जिसके द्वारा शरीर का कर्षण हो जाने से इन्द्रियों का मर्दन हो जाता है वह बाह्यतप है।[2] मूलाचार में कहा है जिनके द्वारा मन में दुष्कृत अर्थात् संक्लेश परिणाम उत्पन्न नहीं होते, जिस तप के करने से आभ्यन्तर तप में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिनसे पूर्व-ग्रहीत योग (महाव्रत आदि) हीन नहीं होते–इस प्रकार के बाह्यतपों का अनुष्ठान करना चाहिए।[3] शिवार्य के अनुसार बाह्यतप से सब प्रकार की सुखशीलता छूट जाती है क्योंकि शरीर दुःख का कारण है। उसको छोड़ने का उपाय है शरीर को कृश करना। ऐसा करने से आत्मा संवेग अर्थात् संसारभीरुता नामक गुण में स्थिर होता है।[4] पं० आशाधर ने कहा है कि अनशन आदि तपों को तीन कारणों से बाह्य कहा जाता है—१-बाह्य तप करने में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा रहती है। जैसे भोजन का त्याग करना अनशन, अल्पभोजन करना अवमौदर्य तप कहा जाता है। २-अपने पक्ष और परपक्ष के लोग भी इन्हें देख सकते हैं कि अमुक साधु ने भोजन नहीं किया या अल्पभोजन किया तथा ३-बाह्यतप ऐसे हैं जिन्हें अन्य दार्शनिक, जैसे बौद्धादि तथा कापालिक आदि साधु और गृहस्थ भी करते हैं। इसलिए इन्हें बाह्य तप कहा जाता है।[5]

इस प्रकार बाह्यतप आभ्यंतर (भाव) शुद्धि के चिह्न हैं। अपराजितसूरि ने बाह्यतप को बाह्य-सल्लेखना का साधन माना है।[6] इनकी साधना से श्रमण अपने तन और मन को सहिष्णु बना लेता है। इनसे मन की विशुद्धि, सरलता और एकाग्रता की विशेष साधना होती है तथा आभ्यंतर तप की ओर बढ़ने

---

१. बाह्यद्रव्यापेक्षत्वापरप्रत्यक्षत्पाच्च बाह्यत्वम्—सर्वार्थसिद्धि ९।१९.

२. अनगार धर्मामृत ७।८.

३. सो णाम बाहिरतवो जेण मणो दुक्कदं ण उट्ठेदि।
जेण य सड्ढा जायदि जेण य जोगा ण हीयंते॥ मूलाचार ५।१६१.

४. बाहिरतवेण होदि हु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता।
सल्लिहिदं च सरीरं ठविदो अप्पा य संवेगे॥ भगवतो आराधना २३७.

५. बाह्यं वल्भाद्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षभावतः।
परदर्शनिपाषण्डिगेहिकार्यत्वतश्च तत्॥ अनगारधर्मामृतज्ञानदीपिका सहित ७।६.

६. बाह्यसल्लेखनोपायभूतं षोढा बाह्यतपो—भगवती आराधना विजयोदया गाथा २०८ पृष्ठ ४२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए ये बाह्य तप सीढ़ियों का कार्य करते हैं। आभ्यन्तर तप की सिद्धि के लिए दृढ़ आधार और प्रशस्त भूमिका तैयार करने में भी बाह्य तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाह्यतप के पूर्वोक्त छह भेदों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

१. अनशन (अणसण) तप :

मन्त्रसाधन आदि दृष्टफल की अपेक्षा किये बिना संयमप्रसिद्धि, रागोच्छेद, कर्मविनाश, ध्यान और आगमबोध आदि के लिए किया गया उपवास अनशन नामक प्रथम बाह्य तप है।[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि मन और इन्द्रियों को जीतकर इहभव तथा परभव के विषय-सुखों की अपेक्षा रहित होना साथ ही आत्मध्यान और स्वाध्याय में लीन रहकर कर्मक्षय के लिए (एक दिन, दो दिन इत्यादि रूप) काल परिमाण सहित सहज भाव से किया गया आहार-त्याग अनशन तप है।[2] अनशन को उपवास भी कहा जाता है। पं० आशाधर के अनुसार अपने-अपने विषयों से हटकर, इन्द्रियों के राग-द्वेष रहित आत्मस्वरूप में बसने या लीन होने से अशन, स्वाद्य खाद्य और पेय—इन चार प्रकार के आहार का विधिपूर्वक त्याग करना उपवास कहा जाता है।[3]

प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम की सिद्धि के लिए अनशन तप किया जाता है, क्योंकि दोनों प्रकार के असंयम का अविनाभाव भोजन के साथ देखा जा सकता है।[4] आहार-त्याग से जीवन की आशंसा अर्थात् शरीर और प्राणों के प्रति आसक्ति छूट जाती है।[5] इस प्रकार अपनी चेतन वृत्तियों को भोजन आदि के बन्धन से मुक्त रखने एवं आत्मिक बल की वृद्धि के लिए किया गया अशन का त्याग अनशन तप है। यह अनशन तभी तप है जब कर्मक्षय के लिए किया जाये। मन्त्र साधना आदि लौकिक फल के उद्देश्य से किये जाने वाले अनशन को तप नहीं कहा जा सकता।[6]

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक ९।१९।१ पृष्ठ ६१८.
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४४०-४४१.
३. स्वार्थादुयेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात्।
उपवासोऽशनस्वाद्यखाद्यपेयविवर्जनम् ॥ अनगार धर्मामृत ७।१२.
४. धवला १३।५।४।२६।५५।३.
५. उत्तराध्ययन २९।३५.
६. अनगार धर्मामृत ७।११ की ज्ञानदीपिका स्वोपज्ञवृत्ति पृष्ठ ४९७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद : अनशन तप के दो भेद हैं (१) इत्वरिक (साकांक्ष या नियतकालिक) तथा (२) यावज्जीवन (निराकांक्ष या मरणपर्यन्त)।[1] भगवती आराधना में अद्धानशन और सर्वानशन—इन नामों से अनशन के दो भेद किये हैं।[2]

१. इत्वरिक अनशन तप : यह साकांक्ष अर्थात् काल सापेक्ष है। काल की मर्यादापूर्वक भोजनाकांक्षा से युक्त होकर अनशन करना। इत्वरिक अनशन तप है। वस्तुतः एक दिन में भोजन दो वेलायें मानी गई हैं इस दृष्टि से एक भोजन वेला में आहार का त्याग एकभक्त, कहलाता है। चार भक्त वेलाओं में आहार का त्याग करना चतुर्थभक्त, अर्थात् सामान्यतः दिन में दो समय आहार माना गया है, अतः उपवास के पहले दिन और पारणे के दिन एक समय आहार का ग्रहण और एक समय आहार का त्याग किया जाता है। फिर उपवास के दो समय के भोजन का त्याग—इस तरह चार समय आहार हुआ—इस प्रकार के उपवास को चतुर्थभक्त कहते हैं। आगे के निरन्तर उपवासों में दो-दो भक्त जुड़ते जाते हैं। जैसे छह भोजन को वेलाओं में आहार का त्याग छट्ठ भक्त (वेला या दो दिन का उपवास) कहा जाता है। इसी प्रकार प्रथम दिन को एक, तीन दिनों की छह और पारणा के दिन की एक वेला इस प्रकार आठ वेलाओं के आहार का त्याग होने से अट्ठभक्त या तीन दिन का उपवास (तेला) कहा जाता है। इसी तरह दशम, द्वादश, चतुर्दश भक्त, मासार्धोपवास, मासोपवास, कनकावली तथा एकावली आदि जो तपोविधान हैं इनमें आहार का त्याग करना इत्वरिक (साकांक्ष) अनशन तप है।[3]

मूलाचारकार ने इसके अन्तर्गत कनकावली आदि तप का नामोल्लेख किया है। कनकावली तप की वृहद् विधि करने में ५२२ दिन लगते हैं। जिनमें ४३४ उपवास और ८८ पारणा होती हैं। इसमें वृद्धिक्रम तथा हानिक्रम की विधि चलता है अर्थात् वृद्धिक्रम में एक से लेकर सोलह तक तथा चौंतीस बा तीन-तीन उपवास किये जाते हैं। हानिक्रम में सोलह से लेकर एक तक तथा नौ बार तीन, दो और एक उपवास किये जाते हैं। प्रत्येक अन्तराल में एक पारणा तथा नमस्कार महामंत्र का त्रिकाल जप करने का विधान है। इसी तप की लघुविधि के अनुसार एक वर्ष तक प्रतिमास के शुक्लपक्ष की एकम, पंचमी तथा

---

१. मूलाचार ५।१५०

२. अद्धाणसणं सव्वाणसणं दुविहं तु अणसणं भणियं।
विहरंतस्स य अद्धाणसणं इदरं च चरिमंते ॥ भगवती आराधना २०९.

३. छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं मासद्धमासखमणाणि।
कणगेगावलिआदी तवोविहाणाणि णाहारो ॥ मूलाचार ५।१५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशमी और कृष्णपक्ष की द्वितीया, षष्ठी तथा द्वादशी—इन छह तिथियों में उपवास और नमस्कार महामंत्र के जप का विधान है ।[१]

एकावली तप की वृहद् विधि के अनुसार एक वर्ष तक प्रतिमास शुक्लपक्ष की एकम, पंचमी, अष्टमी और चतुर्दशी तथा कृष्णपक्ष की चतुर्थी, अष्टमी, और चतुर्दशी—इन सात तिथियों में कुल ८४ उपवास किये जाते हैं । लघुविधि के अनुसार किसी भी दिन से प्रारम्भ करके एक उपवास और एक पारणा के क्रम से ४८ दिनों में २४ उपवास पूरे होते हैं । दोनों विधियों में नमस्कार मंत्र का जाप्य अनिवार्य होता है ।[२] इसी प्रकार मुरमध्य, विमान पंक्ति, सिंह-निष्क्रीडित[३] आदि अनेक तपों का विधान तत्संबंधी ग्रन्थों में देखा जा सकता है ।[४]

२. **यावज्जीवन अनशन तप** : यह निराकांक्ष अनशन तप है जो मरण समय नजदीक समझ शरीर-त्याग पर्यन्त किया जाता है । जब शरीर क्षीण होने लगे, सेवा, स्वाध्याय तप, गुण आदि के पालन में शरीर असमर्थ होने लगे तब इस अनशन तप को ग्रहण किया जाता है । इसे ग्रहण करने वाला श्रमण उत्तमार्थ अर्थात् जो कुछ बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रह हैं उसे तथा चारों प्रकार के आहार और अपने शरीर का मन, वचन, काय से यावज्जीवन त्याग करने की प्रतिज्ञा करता है ।[५]

भेद—मूलाचारकार ने यावज्जीवन अनशन तप के भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी-मरण और प्रायोपगमन आदि भेदों का उल्लेख किया है ।[६] भगवती आराधना में पंडितमरण के अन्तर्गत इन तीन भेदों की गणना की है ।[७] तथा गोम्मटसार कर्म-काण्ड में इन तीनों को मरणविधान की अपेक्षा त्यक्तशरीर के भेद माना है ।[८]

---

१. व्रत विधान संग्रह पृष्ठ ७८.
२. वही, पृष्ठ ७६.
३. मूलाचारवृत्ति ५।१५१.
४. (क) व्रतविधान संग्रह : (ख) हरिवंशपुराण ३४।३६.
५. मूलाचार ३।११३, ११४.
६. भत्तपइण्णा इंगिणि पाउवगमणाणि जाणि मरणाणि ।
अण्णेवि एवमादी बोधव्वा णिरवकंखाणि ।। मूलाचार ५।१५२.
७. पायोपगमणमरणं भक्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
तिविहं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ।। भगवती आराधना २९.
८. भत्तपइण्णाइंगिणिपाओग्गविहोहि चत्तमिदि तिविहं ।
—गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विजयोदया टीका में कहा हैं कि इस काल में भक्तप्रत्याख्यान मरण विधि ही पालन योग्य है। शेष दो मरण तो वज्रऋषभनाराच आदि विशेष संहनन धारक पुरुषों के होते हैं। पर इस पंचमकाल में इस प्रकार के संहनन के धारक जीव भरत क्षेत्र में उत्पन्न नहीं होते हैं।[1] पंडितमरण में पंडित शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप—इन चार अर्थों में व्यवहृत होता है। इस दृष्टि से जिनका ज्ञान, चारित्रादि परम प्रकर्षता को प्राप्त नहीं हुआ है, ऐसे प्रमत्त संयत नामक छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणकोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती साधुओं का जो मरण होता है उसे पंडितमरण कहते।

१. **भक्त-प्रत्याख्यान**—भक्तप्रत्याख्यान से तात्पर्य है भक्त अर्थात् आहार का, प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग। इस प्रकार आहार के त्यागपूर्वक मरणविधान को भक्त प्रत्याख्यान कहते हैं। इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट काल बारह वर्ष प्रमाण है।[2] विजयोदया टीका में कहा है कि दीक्षाग्रहण से लेकर निर्यापक गुरु का आश्रय लेने के अन्तिम दिन तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र में लगे अतिचारों की आलोचना करके गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को स्वीकार करके द्रव्य-सल्लेखना और भावसल्लेखनापूर्वक तीन प्रकार के आहार के त्याग आदि के क्रम से रत्नत्रय की आराधना करना भक्तप्रत्याख्यान है।[3]

इस विधि पूर्वक मरण करने वाले अपनी वैयावृत्य स्वयं भी करता और दूसरों से भी कराता है। शिवार्य ने भक्तप्रत्याख्यान मरण के सविचार और अविचार—ये दो भेद माने हैं। जो उत्साह अर्थात् बलयुक्त है, जिसकी मृत्यु तत्काल होने वाली नहीं है, उस मुनि के भक्तप्रत्याख्यान को सविचार भक्त-प्रत्याख्यान कहते हैं।[4] तथा विविध कारणों से मृत्यु की आकस्मिक सम्भावना होने या सहसा मरण उपस्थित होने पर पराक्रम रहित (असमर्थ) परिस्थिति में किये जाने वाले मरण को अविचार भक्तप्रत्याख्यान कहते हैं।[5] अर्थात् जब विचार

---

१. भगवती आराधना गाथा ६४ विजयोदया तथा मूलाराधना पृष्ठ १९०,१९१.

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ६०.

३. भगवती आराधना गाथा ७५३ की विजयोदया टीका पृष्ठ ९१६.

४. दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं।
सविचारमणागाहे मरणे सपरक्कमस्स हवे ॥ भगवती आराधना गाथा ६५.

५क. तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो।
अपरक्कमस्स मुणिणो कालम्मि असंपुहुत्तम्मि ॥ वही, २०११.

ख. सहसोपस्थिते मरणे पराक्रमरहितस्य अविचारभक्तप्रत्याख्यानं भवतीति—
वही गाथा ६५ की विजयोदया टीका पृष्ठ १९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान का समय उपस्थित नहीं रहता और यदि सहसा मरण उपस्थित हो तो अविचार अन्यथा सविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है।[1]

भगवती आराधना में सविचार भक्तप्रत्याख्यान का विवेचन करने वाले तथा इसके लिए उपयोगी चालीस अधिकार सूत्र-पदों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है[2]—

(१) अरिह अर्ह अर्थात् योग्य, (२) लिंग (चिह्न), (३) सिक्खा (शिक्षा अर्थात् श्रुताध्ययन), (४) विणय (विनय अर्थात् मर्यादा), (५) समाधि-शुभोपयोग अथवा शुद्धोपयोग में मन का एकरूप करना, (६) अणियदविहार—अनियत क्षेत्र में रहना, (७) परिणाम—अपने कर्त्तव्य की आलोचना, (८) उवधिजहणा—परिग्रह त्याग, (९) सिदी (श्रिति अर्थात् श्रेणियाँ या सोपान), (१०) भावणाओ—अभ्यास या उसमें बार-बार प्रवृत्ति, (११) सल्लेहणा—कषाय और शरीर को सम्यक् रीति से कृश करना, (१२) दिसा—मोक्षमार्ग का उपदेशक आचार्य दिशा है, (१३) खमावणा अर्थात् क्षमाग्रहण, (१४) अणुसिट्ठि—अनुशिष्टि अर्थात् सूत्रानुसार शासन या शिक्षाग्रहण, (१५) परगणेचरिया—दूसरे गण में प्रवृत्ति, (१६) मग्गण—रत्नत्रय की विशुद्धि या समाधिमरण के संपादन हेतु आचार्य का अन्वेषण, (१७) सुट्ठिय—सुस्थित, (१८) उवसंपया—आचार्य के पास जाना उपसंपदा है, (१९) पडिछा—गण, परिचारक, आराधक, उत्साहशक्ति तथा आराधक आहार त्याग में समर्थ है या नहीं—इन सबकी परीक्षा करना, (२०) पडिलेहा—आराधना की सिद्धि बिना बाधा के होगी या नहीं तथा राज्य, देश, ग्राम, नगर आदि और वहाँ का प्रधान आराधना के योग्य हैं या नहीं—ऐसा निरूपण करना, (२१) आपुच्छा—किसी आराधक के समाधिमरण हेतु संघ से आचार्य द्वारा पूछा जाना, (२२) पडिच्छणमेगस्स—एक क्षपक को स्वीकार करना, (२३) आलोयण, (२४) गुणदोसा—आलोचना के गुण और दोष, (२५) सेज्जा—आराधक के रहने का स्थान शय्या या वसति, (२६) संथार (संस्तर), णिज्जावगा—आराधक की समाधि में जो मुनि सहायक होते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं, (२८) पयासणा—अन्तिम आहार का प्रकाशन, (२९) हाणी—क्रम से आहार का त्याग (हानि), (३०) पच्चक्खाण—तीनों प्रकार का आहार त्याग प्रत्याख्यान है, (३१) खामणं—क्षमाग्रहण अर्थात् आचार्य आदि से क्षमा माँगना, (३२) खमणं—दूसरों के अपराध को क्षमा

---

१. इंगिणीशब्देन इंगितमात्मनो भण्यते स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इंगिणीमरणं—भगवती आराधना गाथा २९ पृष्ठ ११३.

२. भगवती आराधना गाथा ६७-७० विजयोदया टीका सहित ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना, (३३) अणुसट्ठि—निर्यापकाचार्य जो शिक्षा देते हैं वह अनुशष्टि है, (३४) सारणा—दुःख से पीड़ित मूर्च्छा को प्राप्त चेतना रहित आराधक को सचेत करना, (३५) कवच—इस समय का दुःख सब दुःखों का अन्त करने और अनुपम सुख देने वाला है—इस प्रकार दुःख दूर करने के गुण की समानता, (३६) समदा—समभाव, (३७) झाण—ध्यान, (३८) लेस्सा—लेश्या अर्थात् कषाय से अनुरक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्ति, (३९) फल—आराधना के द्वारा प्राप्त साध्य का फल, और (४०) विजहणा—अन्त में आराधक के शरीर त्याग को विजहणा कहते हैं। इन चालीस अधिकार सूत्रों से सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण का कथन किया जाता है। अर्थात् जो इस विधि को ग्रहण करता है उसके संबंध में इन अधिकार सूत्रों के आधार पर योग्यता आदि पर विचार करना चाहिए।

२. **इंगिनीमरण**—इंगिनीमरण से तात्पर्य अपने (आत्मा के) इंगित अर्थात् अभिप्राय के अनुसार स्थित होकर प्रवृत्ति करते हुए जो मरण होता है उसे इंगिनीमरण कहते हैं। इसमें शारीरिक चेष्टाओं तक को नियमित कर लिया जाता है कि मैं इस क्षेत्र की मर्यादा के बाहर नहीं जाऊँगा। इस मरण में स्वयं ही अपनी वैयावृत्ति कर सकता है। दूसरे से वैयावृत्ति कराने का विधान नहीं है। भगवती आराधना में कहा है कि अपने संघ को इंगिनीमरण की विधि की साधना में योग्य करके आचार्य अपने चित्त में यह निश्चय करे कि मैं इंगिनीमरण की साधना करूँगा। तब शुभ परिणामों की श्रेणि पर आरोहण करके तप आदि की भावना करे और अपने शरीर और कषायों को कृश करे। रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना, पूर्वक, अपने स्थान पर अन्य आचार्य को स्थापित कर[1] मुनिसंघ से अलग होकर, जंगल की प्रासुक गुफा आदि में, एकाकी प्रतिलेखन पूर्वक तृणों के संस्तर पर आश्रय लेता है। अपने शरीर के सिवाय उसका अन्य कोई सहायक नहीं होता। समस्त प्रकार के आहार के विकल्प को जीवनपर्यन्त के लिए त्याग देता है। धैर्य के बल से युक्त वह क्षपक सब परीषहों को जीतता है और लेश्या विशुद्धि से सम्पन्न हो धर्मध्यान करता है। तप के प्रभाव से उन्हें विक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा क्षीरास्रव आदि ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं किन्तु विरागी होने से उनका किञ्चित् भी सेवन नहीं करते। इस तरह इंगिनीमरण की साधना द्वारा कोई तो समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं तथा कोई-कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं।[2]

---

१. भगवती आराधना गाथा २९ की विजयोदया टीका पृष्ठ ११३.

२. भगवती आराधना गाथा २०३२-२०६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **प्रायोपगमन मरण**—प्रायोपगमन[1] को पादोपगमन[2] या पादपोपगमन[3] भी कहते हैं। अपने पैरों द्वारा संघ से निकलकर योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाय उसे प्रायोपगमन मरण कहते हैं।[4] इसे भी इंगिनीमरण के समान विशिष्ट संस्थान और संहनन वाले ही स्वीकार कर पाते हैं। विजयोदया में 'पाउग्गगमणमरणं' इस पाठान्तर का भी उल्लेख करते हुए कहा है कि प्रायोग्य शब्द से तात्पर्य संसार का अन्त करने के योग्य संहनन और संस्थान है। उसके गमन अर्थात् प्राप्ति को प्रायोग्यगमन कहते हैं। उसके कारण होने वाले मरण को प्रायोग्यगमन मरण कहते हैं।[5] इसकी विधि भी इंगिनीमरण के सदृश है। किन्तु इसमें तृणों के संस्तर तक का निषेध है।[6] जो अपने शरीर को सम्यक्रूप से कृश करता है अर्थात् चर्म-मात्र शेष रहता है वही प्रायोगमन मरण करता है। ऐसा क्षपक जिस क्षेत्र में जिस प्रकार शरीर का कोई अंग रख गया हो वैसा ही पड़ा रहने देता है। स्वयं अपने अंग को हिलाता-डुलाता नहीं है। वैसे तो निश्चय से प्रायोपगमन अचल होता है किन्तु उपसर्ग अवस्था में एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में रख दिये जाने पर यदि वह वहीं मरण करता है तो उसे नीहार (चल) कहते हैं और ऐसा नहीं होने पर पूर्व स्थान में ही मरण हो जाए तो उसे अनीहार (अचल) कहते हैं।[7]

भक्तप्रत्याख्यान में तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता है और दूसरों से भी करा सकता है। इंगिनी में अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरों से नहीं करा सकता। किन्तु प्रायोपगमन में क्षपक को न तो स्वयं अपनी सेवा करने का विधान है और न दूसरों से कराने का। यही उपर्युक्त तीनों में प्रमुख अन्तर है।[8] जिनकी आयु काल अल्प ही अवशिष्ट रहता है वे प्रतिमायोग

---

१. मूलाचार ५।१५२.
२. भ० आ० गाथा २८ की विजयोदया टीका
३. औपपातिक वृत्ति पृ० ७१.
४. पादाभ्यामुपगमनं ढौकनं तेन प्रवर्तितं मरणं पादोपगमनमरणं—वही, गाथा २८ की विजयोदया टीका.
५. वही.
६. भगवती आराधना गाथा २०६४.
७. भगवती आराधना गाथा २०६५, २०६९ तथा २०७०.
८. वही, गाथा २०६४ की विजयोदया टीका, मूलाचार वृत्ति ५।१५२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारणकर प्रायोपगमन मरण करते हैं किन्तु जिनका आयुकाल कुछ दीर्घ है वे विहार करते हुए इंगिनीमरण करते हैं।[1]

इस प्रकार अनशन तप तथा उसके भेदों के विवेचन से ज्ञात होता है कि इस तप का उद्देश्य शरीर के प्रति सहज निर्ममत्व भाव उत्पन्न करके आत्म-सल्लीनता की ओर बढ़ना है।

२. अवमौदर्य (अवमोदरिय) तप :

निरुक्ति पूर्वक अर्थ के अनुसार 'अवम' अर्थात् न्यून (कम मात्रा में आहार ग्रहण करने वाला) 'उदर' (पेट) है जिसका वह अवमोदर तथा अवमोदर के भाव एवं कर्म को अवमौदर्य कहते हैं।[2] इसे ऊनोदरिका भी कहा जाता है।[3] एक ग्रास या कवल का प्रमाण एक हजार चावल[4] या मुर्गी के अण्डे बराबर माना गया है।[5] मनुष्य का स्वाभाविक कुक्षिपूरक आहार बत्तीस ग्रास (कवल)–प्रमाण तथा स्त्रियों का अट्ठाईस ग्रास प्रमाण होता है।[6] इनमें से एक-एक ग्रास क्रमशः कम आहार ग्रहण करते हुए एक ग्रास तक अथवा "एकसिक्थ" (एक चावल) तक आहार ग्रहण करना अवमौदर्य तप है।[7] पुरुष और स्त्री के उपर्युक्त आहार परिमाण में से एक-दो आदि ग्रास की हानि के क्रम से जब तक एक ग्रास मात्र भी शेष होता है वह अवमौदर्य तप है। जब तक अर्धग्रास ही अवशिष्ट रहे या एकसिक्थ शेष रहे तब तक भी अवमौदर्य है। एक ग्रास के बराबर दो भाग करने पर एक भाग को अर्धकवल कहते हैं। एकसिक्थ (एक चावल) मात्र जो कहा है वह आहार की अल्पता का उपलक्षण है, अन्यथा कोई मात्र एकसिक्थ भोजन के लिए क्यों उद्यत होगा ?[8] वस्तुतः भूख से न्यून आहार लेना जिसमें

---

१. पडिमापडिमण्णा वि हु करंति पाओवगमणमप्पेगे।
दीहद्धं विहरंता इंगिणीमरणं च अप्पेगे॥ भगवती आराधना २०७१.

२. अवमं न्यून उदरमस्यावमोदरः। अवमोदरस्य भावः कर्म च अवमौदर्यमिति-
भगवती आराधना गाथा २१४ विजयोदया टीका पृष्ठ २३८ (सोलापुर)

३. उत्तराध्ययन ३०।८ अनगार धर्मामृत ज्ञानदीपिका ८।२२ पृ० ५०२.

४. मूलाचार वृत्ति ५।१५३.

५. औपपातिक सूत्र १९.

६. भगवती आराधना २११.

७. बत्तीसा किर कवला पुरिसस्सदु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादीहिं तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं॥
—मूलाचार ५।१५३ वृत्ति सहित.

८. भगवती आराधना गाथा २१२ विजयोदया सहित पृष्ठ ४२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरी तृप्ति न हो—यह अपने आप में तप ही है। क्योंकि मात्रा से अधिक आहार ग्रहण तो प्रमाणातिक्रांत दोष है। ऐसा करने वाला साधु प्रकामभोजी तथा बहुभोजी कहा जाता है।[1] जितने आहार से शरीर टिका रह सके उतने (परिमित) आहार को शिवार्य ने "जवणाहार" कहा है।[2]

आचार्य वट्टकेर ने कहा है—उत्तम क्षमादि दस धर्म, षडावश्यक, आतापन आदि योग, ध्यान, स्वाध्याय और चारित्र—इन सबके पालन तथा निद्राविजय में यह अवमौदर्य तप उपग्रह (उपकार) करता है। इतना ही नहीं अपितु इस तप से इन्द्रियाँ स्वच्छन्द प्रवृति नहीं करतीं और अपने वश में रहतीं हैं।[3]

उववाई सुत्त में इस तप के द्रव्यतः और भावतः—ये दो भेद किये हैं। जिसका जितना आहार है उसमें से कम से कम एक या इससे भी कम ग्रास आहार करना द्रव्यतः अवमौदर्य तप है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ के शब्द-प्रयोग एवं कलह कम करना भावतः अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप है।[4] यह तप उन श्रमणों को अवश्य करना चाहिए जो विशेष रूप में पित्त के प्रकोपवश उपवास करने में असमर्थ हैं, अथवा जिन्हें उपवास से अधिक थकान आती है।[5] पूज्यपाद ने कहा है संयम को जागृत रखने, दोषों को प्रशम करने, संतोष और स्वाध्याय आदि को सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप किया जाता है।[6]

३. रसपरित्याग (रसपरिचाओ) तप :

आस्वादन रूप क्रिया-धर्म का नाम रस है। इस दृष्टि से दूध, दही, घी, तेल, गुड़, नमक आदि द्रव्यों तथा कटु, तिक्त, कषायला, अम्ल और मधुर—इस रसों का पूर्णतः त्याग करना रसपरित्याग तप है।[7] ये द्रव्य और रस प्रासुक भी हों तो भी तपो-वृद्धि के उद्देश्य से इनका सेवन योग्य नहीं है। मूलाचार में नवनीत, मद्य, मांस और मधु—इन चारों का महाविकृतियों के रूप में

---

१. भगवती सूत्र ७।१.

२. भगवती आराधना २४४.

३. धम्मावासयजोगे णाणादीये उवग्गहं कुणदि।
ण य इंदियप्पदोसयरी उमोदरियतवोवुत्तो ॥ मूलाचार ५।१५४.

४. उववाइय पूर्वार्द्ध ३८-४२, उत्तराध्ययन ३०।१५.

५. धवला १३।५, ४।२६।५६।१२.

६. सर्वार्थसिद्धि ९।१९ पैरा० ८५६.

७. खीरदहिसप्पितेल गुडलवणाणं च जं परिच्चयणं।
तिक्तकटुकसायंबिलमधुररसाणं च जं चयणं ॥ मूलाचार ५।१५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख किया है। इनमें से नवनीत कांक्षा अर्थात् तीव्र विषयाभिलाषा को उत्पन्न करता है। मद्य अर्थात् मदिरा (शराब) पुनः पुनः अगम्या स्त्री के साथ भोग-विलास कराती है। मांस दर्प उत्पन्न करता है। मधु इन्द्रिय तथा प्राणि असंयम को उत्पन्न करता है। अतः सर्वज्ञ की आज्ञा के प्रति आदरवान्, पाप-भीरु तथा तप में एकाग्रता के अभिलाषी श्रमण इन सब महाविकृतियों को संयम-ग्रहण के पूर्व ही सदा के लिए छोड़ देते हैं क्योंकि इन सबके सेवन से घोर अहिंसा और असंयम आदि होता है जो कर्मबन्ध का कारण है।[1] उत्तराध्ययन में कहा है—रसों का प्रकाम अर्थात् यथेच्छ उपभोग नहीं करना चाहिए। ये मनुष्य को प्रायः दृप्तिकर अर्थात् उन्माद बढ़ाने वाले होते हैं। विषयासक्त मनुष्य को वैसे ही काम उत्पीडित करते हैं जैसे स्वादु फलवाले वृक्षों को पक्षी। यथेच्छ भोजन करने वाले की इन्द्रियाग्नि शान्त नहीं होती। ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों के लिए तो प्रकाम भोजन कभी भी हितकर नहीं है।[2] विशेष इन्द्रिय स्वाद के अनुराग से किया गया यथालब्धआहार भी हिंसा का स्थान होता है।[3] भगवती आराधना में कहा है कि दूध, दही आदि उपर्युक्त द्रव्यों और रसों में से सबका अथवा एक-एक का त्याग भी रसपरित्याग है। शरीर सल्लेखना करने वालों को इस तप का विशेष पालन करना चाहिए।[4]

यह तप प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम की प्राप्ति के लिए किया जाता है, क्योंकि जिह्वा-इन्द्रिय के निरोध से सब इन्द्रियों का निरोध हो जाता है। और सब इन्द्रियों के निरोध से असंयम का निरोध हो जाता है।[5] यह एक प्रकार का आस्वाद व्रत रूप तप है। रसनेन्द्रिय की स्वादवृत्ति पर विजय की साधना इसमें सन्निहित है।

४. वृत्तिपरिसंख्यान (वृत्तिपरिसंख्या) तप :

भोजन, भाजन (पात्र), घर, बार (मुहल्ला) इन्हें वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का परित्याग अर्थात् परिमाण, नियंत्रण, ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है।[6] इसे

---

१. मूलाचार ५।१५६, ६५७ तथा भ० आ० २१३, २१४. टीका सहित.
२. उत्तराध्ययन ३२।१०-११.
३. प्रवचनसार वृत्ति० ३।२९, पृ० २८४.
४. भगवती आराधना २१५, ११७.
५. धवला १ ३।५,४,२६।५७।१०.
६. भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तिए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम—धवला १३।५, ४, २६।५७।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर परम्परा में इसे वृत्तिसंक्षेप[1] तथा भिक्षाचरी नाम से इसे तृतीय तप माना है।[2] मूलाचार में कहा है कि आहारार्थ जाने से पूर्व भिक्षा से सम्बद्ध गोचर (गृह) प्रमाण, दाता, भाजन (पात्र) तथा अशन आदि विविध प्रकार के अभिग्रह या संकल्प-पूर्वक वृत्ति करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।[3] मूलाचारवृत्ति में इस का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि गोचर प्रमाण से तात्पर्य घरों के प्रमाण का संकल्प लेकर आहारार्थ निकलना है। जैसे यदि इतने घरों में आहार मिलेगा तो करूँगा अन्यथा नहीं। दाता का संकल्प अर्थात् यदि वृद्ध, जवान आदि संकल्पानुसार दाता विशेष ही मेरा प्रतिग्रह करेगा (पड़गाहेगा) तभी उसके घर में उससे आहार ग्रहण को जाऊँगा अन्यथा नहीं। भाजन संकल्प से तात्पर्य है कि यदि कांसे, पीतल आदि धातु विशेष पात्र या भाजन लिए हुए पड़गाहना करेगा, तभी आहार ग्रहण को उसके घर में जाउँगा अन्यथा नहीं। इसी तरह अशन जैसे चावल, सक्तु आदि संकल्पित अशनविशेष मिलेगा तभी आहार करूँगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार अपनी शक्ति के अनुसार विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करके भिक्षा ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।[4]

कठिनता और विधिपूर्वक आहार प्राप्त हो पाने की दृष्टि से इस तप के अन्तर्गत नियमों की बात कही गयी है। इससे आशा, लोलुपता तथा अन्तराय-कर्म आदि का उच्छेद होता है तथा धैर्य गुण में वृद्धि होती है। श्रमण को अपनी वृत्तियों का कठोर संयम करना होता है। धवला में कहा है इन्द्रिय संयम तथा भोजनादि के प्रति रागवृत्ति को सर्वथा दूर करने के लिए श्रमण को यह तप अवश्य करना चाहिए।[5]

५. कायक्लेश (कायकिलेस) तप :

स्थान, शयन, आसन आदि धर्मोपकार के हेतुभूत विविध साधनों से शास्त्रानुसार विवेकपूर्वक वृक्षमूल, अभ्रावकाश, आतापनादि से शरीर को परिताप (क्लेश) देना कायक्लेश तप है।[6] इस संक्षिप्त परिभाषा का विशेष स्पष्टीकरण भगवती आराधना में मिलता है। यहाँ आसनयोग, गमनयोग,

---

१. समवायांग समवाय ६.

२. उत्तराध्ययन ३०।८.

३. गोयरपमाणदायगभायणणाणाविधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविधस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥ मूलाचार ५।१५८.

४. मूलाचारवृत्ति ५।१५८.

५. धवला १३।५, ४, २६।५६।६

६. ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गयेहिं बहुएहिं।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो ॥ मूलाचार ५।१५९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानयोग, शयनयोग और अपरिकर्मयोग—इन पाँच योगों में कायक्लेश तप को विभक्त किया गया है।[1]

गमनयोग के अन्तर्गत (१) अनुसूर्य गमन अर्थात् कड़ी धूप में पूर्व से पश्चिम की ओर जाना। (२) प्रतिसूर्य—पश्चिम दिशा से सूरज की ओर मुख करके पूर्व की ओर जाना। (३) ऊर्ध्वसूर्य गमन—मध्याह्न में सूर्य जब ऊपर बीचों-बीच आ जाये तब गमन करना। (४) तिर्यक्सूर्य गमन—सूर्य जब तिरछा हो तब गमन करना। (५) उद्भाग (उद्भ्रमक) गमन—जिस ग्राम में मुनि ठहरा हो उस ग्राम से दूसरे ग्राम भिक्षार्थ जाना तथा (६) गत्वा प्रत्यागमन—दूसरे गाँव जाकर पुनः अवस्थित गाँव लौट आना।[2]

स्थानयोग के अन्तर्गत (१) साधारण—चिकने स्तम्भ आदि का आश्रय लेकर खड़े होना। (२) सवीचार—जहाँ पहले खड़े थे उस पूर्व स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर प्रहर, दिन आदि रूप निश्चित समय तक खड़े रहना। (३) सनिरुद्ध—स्व-स्थान पर निश्चल खड़े रहना। (४) व्युत्सर्ग—कायोत्सर्ग करना। (५) समपाद—दोनों पैर बराबर करके खड़े रहना। (६) एकपाद—एक पैर पर खड़े रहना तथा (७) गृद्धोड्डीन (गिद्धोलीण)—जैसे गीध आकाश में उड़ते समय अपने पंख फैला लेता है उसी तरह अपनी दोनों बाहें फैलाकर खड़े रहना—ये सात स्थानों के भेद सम्मिलित हैं।[3]

आसनयोग में निम्नलिखित आसन-भेदों का विवेचन है—१. समपर्यङ्क—सम्यक् पर्यंकासन से बैठना अर्थात् दोनों जंघाओं को दोनों पैरों पर टिकाकर बैठना। २. समपद—जंघा और कटि भाग को सम करके बैठना। ३. गोदोहिका—गाय दुहते समय जिस प्रकार की आसन से बैठा जाता है उस आसन से बैठना अर्थात् घुटनों को ऊँचा रख पंजों के बल बैठकर दोनों हाथों को दोनों सांथलों पर टिकाकर गाय दुहने की मुद्रा में बैठना। ४. उत्कुटिका—उकडू होकर बैठना अर्थात् एड़ी और नितम्बों को ऊँचा रखकर (नितम्बों से भूमि को न छूते हुए) बैठना। ५. मकरमुख—मगर के मुख की तरह पैर करके बैठना। ६. हस्तिसुंडी—हाथी की सूंड फैलाने की तरह एक पैर फैलाकर बैठना। ७. गो-निषद्या—दोनों

---

१. भगवती आराधना गाथा २२२ से २२७ तक.

२. अणुसूरी पडिसूरी य उद्धसूरी य तिरियसूरी य।
उब्भागेण य गमणं पडिआगमणं च गंसूण ॥ वही २२२.

३. साधारणं सवीचारं सणिरुद्धं तहेव तोसट्टं।
सेमपादमेगपादं गिद्धोलीणं च ठाणाणि ॥ वही २२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जंघाओं को सिकोड़कर गाय की तरह बैठना। ८. अर्धपर्यङ्क—एक जंघा के अधोभाग को एक पैर पर टिकाकर बैठना। ९. वीरासन—दोनों जंघाओं को योग्य अन्तर से फैलाकर बैठना।[1]

शयनयोग के निम्नलिखित भेद किये हैं—१. दण्डायत—दण्ड के समान शरीर को लम्बा करके सोना। २. ऊर्ध्वशयन—खड़े होकर सोना। ३. लगंड शयन—शरीर को संकुचित करके सोना। ४. उत्तानशयन—ऊपर को मुख करके (सीधे लेटकर) सोना। ५. अवमस्तक शयन—नीचे मुख करके (औंधा होकर) सोना। ६. एकपार्श्व शयन—दाईं या बाईं करवट (पार्श्व) से सोना। ७. मृतक शयन—मृतक की तरह निश्चेष्ट सोना तथा ८. अभ्रावकाश शयन—खुले आकाश में सोना।[2]

अपरिकर्मयोग के निम्नलिखित भेद हैं—१. अनिष्ठीवन—नहीं थूकना। २. अकण्डूयन—नहीं खुजलाना। ३. तृण-फलक-शिला-भूमि-शय्या—तृण अर्थात् घास, काष्ठ-फलक (चौकी आदि), शिला और भूमि पर सोना। ४. केशलोच—बालों को हाथों से उखाड़कर अलग करना। ५. अभ्युत्थान—रात में शयन नहीं करना अर्थात् जागना। ६. अस्नान—स्नान नहीं करना। ७. अदन्तधावन—दातों को नहीं धोना तथा ८. शीत-उष्ण-आतपन योग—अर्थात् ठण्डी, गर्मी और धूप सहन करना।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त सभी योगों और उनके अन्तर्गत भेदों से संबंधित विषयों को कायक्लेश के ही अन्तर्गत माना गया है।

स्थानांगसूत्र[5] तथा औपपातिकसूत्र[4] आदि ग्रन्थों में कायक्लेश तप के आसनों आदि की दृष्टि से अनेक प्रकार के भेद किये गये हैं, जो भगवती आराधना के उपर्युक्त प्रायः सभी भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

---

१. समपलियंकणिसेज्जा समपदगोदोहिया य उक्कुडिया।
मगरमुह हत्थिसुण्डी गोणिसेज्जद्धपलियंका॥ भगवती आराधना २२४.

२. वीरासणं च दण्डायउद्धसाई य लगडसाई य।
उत्ताणो मच्छिय एगपाससाइ य मडयसाई य॥ वही २२५.

३. अब्भावगाससयणं अणिट्ठवणा अकंडुगं चेव।
तणफलयसिलाभूमी सेज्जा तह केसलोचो य॥
अब्भुट्ठणं च रादो अण्हाणमदंतधोवणं चेव।
कायकिलेसो एसो सीदुण्हादावणादि य॥ वही २२६,२२७.

७. स्थानांग सूत्र ७।४९.

५. औपपातिक सूत्र १९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायक्लेश तप का मूल उद्देश्य शरीर को किसी प्रकार का कष्ट देना मात्र नहीं है अपितु इसमें उपर्युक्त योग विधियों के द्वारा शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव उत्पन्न कर आत्मा में स्थित अनन्त शक्तियों की जागृति, आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति तथा आत्मकल्याण की भावना निहित है। वस्तुतः जो आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ते हैं वे सभी व्यवहार योग हैं। इसीलिए जिस किसी प्रकार से शरीर को परिताप देने का नाम ही कायक्लेश नहीं किन्तु उक्त आसनों आदि से शरीर को जो कष्ट होता है उसका नाम कायक्लेश है। धवला में कहा है कि शीत, वात, आतप और उपवासों द्वारा क्षुधा, तृषा आदि बाधाओं को सहनकर वीर आदि आसनों से ध्यान का अभ्यास किया जाता है।[1] इसमें श्रमण को यह चिन्तन करना चाहिए कि जो परीषह, कष्ट आदि हैं वे आत्मा में नहीं अपितु शरीर में होते हैं और यह शरीर मेरा नहीं है।[2] यही चिन्तन कायक्लेश तप का आध्यात्मिक आधार है। इससे देहासक्ति और देहाध्यास को कम करने का बल प्राप्त होता है। पूज्यपाद ने कहा है—शारीरिक कष्ट की सहनशक्ति, प्रवचन की प्रभावना तथा सुखों से अनासक्तभाव की प्राप्ति हेतु यह तप करना योग्य है।[3]

६. विविक्तशयनासन (विवित्तसयणासण) तप :

सामान्यतः इसका अर्थ है बाधा रहित एकान्त स्थान में रहना। मूलाचार में कहा है कि तिर्यञ्च (पशु आदि), मनुष्य सम्बन्धी स्त्रीजाति, सविकारिणी देवी अर्थात् भवनवासी, व्यन्तरादि से सम्बन्धित देवांगनायें तथा गृहस्थ—इन सबसे संसक्त घर, आवास आदि तथा अप्रमत्तजनों के संसर्ग से रहित एकान्त स्थानों में रहना विविक्तशयनासन तप है।[4] भगवती आराधना में भी कहा है—जिस वसति में मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श के द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते अथवा स्वाध्याय और ध्यान में व्याघात नहीं होता—वे विविक्त वसति हैं।[5] अतः शून्यघर, गिरिगुफा, वृक्षमूल, आगन्तुकों के निमित्त निर्मित घर, देवकुल, शिक्षागृह, अकृत (किसी के द्वारा नहीं बनाया गया) स्थान,

---

१. धवला १३।५, ४, २६।५८।५.
२. आचारांग १।८।८।२१.
३. सर्वार्थसिद्धि ९।१९.
४. तेरिक्खिय माणुस्सियसविगारिणिदेविगेहि संसत्ते।
वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे॥ मूलाचार ५।१६०
५. जत्थ ण विसोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूवगन्धफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा॥ भगवती आराधना २२८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराम (क्रीड़ा) घर—इन विविक्त वसतियों में रहना विविक्तशयनासन तप है।[1] भट्ट अकलंक ने भी कहा है कि बाधानिवारण, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि के लिए निर्जन्तुक शून्यागार, गिरिगुफा आदि एकान्त स्थान में उठना-बैठना, सोना आदि कार्य करना विविक्तशय्यासन तप है।[2]

श्रमण को ऐसे एकान्त स्थान में रहने की अभिरुचि वाला होना चाहिए जो शून्य हों, जैसे श्मशान, तरूतल, वन तथा परकृत अर्थात् जो साधु के निमित्त न बनाये गये हों।[3] एकांत और अनापात—जहाँ अधिक लोगों का आना-जाना न हो, स्त्रियों, पशुओं आदि से रहित, शान्त स्थान में शयन-आसन करना विविक्तशयनासन तप है।[4] तभी अल्प आहार करने वाले, इन्द्रियों पर संयम रखने वाले और विविक्त शयनासन का सेवन करने वाले श्रमण को राग रूप शत्रु आक्रांत नहीं कर सकता।[5] यह तप चित्त की व्यग्रता दूर करने के लिए किया जाता है। अतः व्यग्र करने वाले कलहपूर्ण शब्द, संक्लेशपरिणाम, असंयत जनों की संगति, ध्यान-अध्ययन का विघात आदि बातों का विविक्त वसतिका में अभाव होने से एकान्तवासी श्रमण मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों से दूर, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करते हुए आत्म-स्वरूप में लीन रहते हैं।[6] समाधि की कामनायुक्त तपस्वी श्रमण को ध्यानादि साधना के लिए विवेक के योग्य-एकान्त स्थान में ठहरना चाहिए।[7]

इस तप की पृष्ठभूमि में दो उद्देश्य निहित हैं : १. अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना और २. कष्टसहिष्णुता, निर्भयता तथा निर्ममत्व-भाव का अभ्यासी बनना। मूलाचार में अखंड ब्रह्मचर्य साधना के लिए निर्विघ्न तपश्चरण पर विशेष बल दिया है। तभी तो स्त्री जाति मात्र तथा गृहस्थजनों के संसर्ग के त्याग का नाम विविक्तशयनासन तप कहा है। सूत्रकृतांग के अनुसार इस तप का आचरण करने वाले श्रमण को जब तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देवकृत उपसर्गों

---

१. सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूलआगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विवित्ताइं ॥ भगवती आराधना २३१.
२. तत्त्वार्थवार्तिक ९।१९।१२ पृष्ठ ६१९.
३. उत्तराध्ययन ३५।६, धवला १३।५।४, २६।५८।८.
४. वही ३०।२८.
५. वही ३२।१२.
६. भगवती आराधना २३२-२३३.
७. उत्तराध्ययन ३२।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्थिर रह पाता है और जो अपने आपको भयभीत नहीं करता, वही सामायिक समाधि की साधना कर सकता है।[१]

श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग, भगवती, तथा औपपातिक सूत्र आदि कुछ प्रमुख ग्रन्थों में विविक्तशयनासन के स्थान पर प्रतिसंलीनता (पडिसंलीणता) नामक तप माना गया है[२] उत्तराध्ययन सूत्र में बाह्यतप के भेदों की गणना में इसका "संलीनता" नाम से उल्लेख है[३] किन्तु इसके स्वरूप-कथन के प्रसंग में विविक्तशयनासन नाम से ही इसका उल्लेख मिलता है।[४] औपपातिकसूत्र में प्रतिसंलीनता के इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, कषाय प्रतिसंलीनता, योग प्रतिसंलीनता और विविक्तशयनासन—ये चार भेद करके विविक्तशयनासन को प्रतिसंलीनता का एक भेद स्वीकृत किया गया है।[५]

तत्त्वार्थसूत्र तथा इसकी टीकाओं, अनगार धर्मामृत टीका एवं मूलाचार-प्रदीप आदि ग्रन्थों में विविक्तशयनासन तप को पाँचवाँ तथा कायक्लेश तप का क्रम छठा माना है।[६] जबकि भगवती आराधना और मूलाचार आदि ग्रन्थों में कायक्लेश को पाँचवाँ तथा विविक्तशयनासन को छठा तप माना है।[७]

इस प्रकार ये बाह्यतप आत्मा को सन्मार्ग में तत्पर बनाये रखने के अपूर्व साधन हैं। श्रमण को जितेन्द्रिय बनाने में बाह्यतप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। शिवार्य ने कहा है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान और रसपरित्याग-इन चार तपों के द्वारा मुख्य रूप से रसना (जिह्वा) इन्द्रिय पर विजय प्राप्त की जाती है। कायक्लेश और विविक्तशयनासन—ये दो तप स्पर्शन, घ्राण, चक्षु और कर्णेन्द्रिय—इन चार इन्द्रियों तथा इनके विषयों के प्रति अनासक्त बनाने में सहयोग करते हैं।[८] मन का संयमन तो सभी तपों से होता ही है। वस्तुतः

---

१. सूत्रकृतांग १।२।२।१७.

२. भगवती सूत्र २५।७. स्थानांग ६।६५. औपपातिक सूत्र १९.

३, अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ॥ उत्तराध्ययन ३०।८.

४. एगन्तमणावाए इत्थी पसुविवज्जिए।
समणासणसेवणया विवित्तसयणासणं॥ वही ३०।२८.

५. औपपातिक सूत्र १९.

६. तत्त्वार्थसूत्र ९।१९. अनगार धर्मामृत ७।४ की ज्ञानदीपिका वृत्ति, मूलाचार प्रदीप ६।१६५.

७. भगवती आराधना गाथा २०८, मूलाचार ५।१४९.

८. भगवती आराधना २३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयों में व्याकुलित चित्तवाला प्राणी रत्नत्रय तथा अन्यान्य सभी गुण-धर्मों में स्थिर नहीं रह पाता अपितु अशुभ संकल्प-विकल्पों में गोता लगाता रहता है। बाह्यतप पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय-सुखों के प्रति उदासीनता लाने, कष्ट सहिष्णु बनने, आलस्य दूर करने, शरीर से ममत्व भाव दूर करने तथा आत्म कल्याण में प्रवृत्त रहने में अत्यधिक सहयोगी बनते हैं। इतना ही नहीं बाह्यतप के द्वारा स्व-आत्मा, अपना कुल, गण अर्थात् अपने गुरु तथा उनकी शिष्य परम्परा और प्रवचन अर्थात् जिनमत—इन सबको भी मुनि सुशोभित करता है।[1]

आभ्यन्तर तप :

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान-ये छह आभ्यन्तर तप हैं। ये सभी अन्तः में चलने वाली प्रक्रियाओं के रूप हैं। प्रशस्त चिन्तन, मनन और अनुशीलन द्वारा मन को एकाग्र, शुद्ध और निर्मल बनाना—यह आभ्यन्तर तप की विधि है। भट्ट अकलंक ने कहा है कि ये प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते, अन्तः करण के व्यापार से होते हैं तथा अन्य मतानुयायियों द्वारा ये तप अनभ्यस्त और अप्राप्त होने से इन्हें आभ्यन्तर तप कहते हैं।[2] सन्मार्ग अर्थात् मुक्तिमार्ग रूप रत्नत्रय के ज्ञाता जिनका आचरण करते है वे आभ्यन्तर तप हैं।[3] ये तप शुभ और शुद्ध परिणाम-रूप होते हैं। इनके बिना मात्र बाह्य तप निर्जरा में समर्थ नहीं होते।[4] यहाँ आभ्यन्तर तप के पूर्वोक्त छह भेदों का क्रमशः स्वरूप प्रस्तुत है—

१. प्रायश्चित्त (पायच्छित्त) तप :

व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रायः + चित्त—इन दो शब्दों से प्रायश्चित्त शब्द बना है। प्रायः का अर्थ अपराध और चित्त का तात्पर्य शोधन, संशोधन-प्रमार्जन है। इस दृष्टि से वह क्रिया प्रायश्चित है जिसके करने से अपराध की शुद्धि हो।[5] अथवा प्रायः शब्द का अर्थ लोक (साधुलोक) भी होता हैं, उसका जिस कार्य में चित्त प्रसन्न होता है वह प्रायश्चित है।[6] इस तरह अपने साधर्मी

---

१. आदा कुलं गणो पवयणं च सोभाविदं हवदि सव्वं—भ० आ० २४२.
२. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२० पृष्ठ ६२०. अनगारधर्मामृत ७।३३.
३. भगवती आराधना गाथा १३४८
४. विजयोदया टीका १०७ पृष्ठ २१४.
५. अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धि, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्, अपराधविशुद्धिः —तत्त्वार्थवार्तिक ९।२२।१. पृष्ठ ६२०.
६. प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्—वही.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ग (साधुलोक) के मन को प्रसन्न तथा शुद्ध करने वाला कार्य प्रायश्चित्त कहा जाता है। तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि प्रमादजनित दोषों के निराकरण, भावों की प्रसन्नता, शल्य रहित होना, अव्यवस्था का निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता तथा आराधना की सिद्धि के उद्देश्य से श्रमण को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध होना आवश्यक है।[1] मूलाचार में कहा है पूर्वकाल में किये हुए पापों का विनाश करके जिसके द्वारा आत्मा को निर्मल बनाया जाये वह प्रायश्चित्त तप है।[2]

इस तरह यह तप दोषों (पापों) की विशुद्धि की उत्तम प्रक्रिया है। इस तप में अपने अशुभ आचरण के प्रति ग्लानि प्रकट करने के उद्देश्य से पश्चाताप, आलोचना तथा अपने गुरु के समक्ष दोष निवेदन करके योग्य दण्ड की याचना और उसकी स्वीकृति के भाव निहित हैं। इस तप का आचरण करने के लिए श्रमण को विनम्र, सरल, निष्कपट हृदय युक्त तथा सद्भावनापूर्ण मन वाला होना आवश्यक है क्योंकि प्रायश्चित्त तप चिकित्सा (उपचार) जैसा होता है। जैसे किसी रोगी के उपचार (चिकित्सा) का उद्देश्य उसे कष्ट देना या दुःखी करना नहीं अपितु रोग दूर करना है, वैसे ही प्रायश्चित्त का उद्देश्य श्रमण के दोष दूर करना है। श्वेताम्बर परम्परा के जीतकल्प सूत्र में कहा है कि संवर और निर्जरा से मोक्ष होता है तथा संवर और निर्जरा का कारण तप है। तपों में प्रायश्चित्त तप प्रधान है। अतः मोक्षमार्ग की दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्व है।[3]

मूलाचार में प्रायश्चित्त के अन्यान्य आठ नामों (पर्यायवाची शब्दों) का उल्लेख है—पूर्वकर्मक्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुञ्छन, उत्क्षेपण और छेदन।[4]

भेद:— प्रायश्चित्त तप के दस भेद हैं—१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. परिहार और १०. श्रद्धान।[5]

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२२।१ पृष्ठ ६२०.

२. पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं—मूलाचार ५।१६४.

३. जीतकल्प सूत्र गाथा २.

४. पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरण सोधणं धुवणं।
पुंछणमुच्छिवणं छिदणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाइं ॥ मूलाचार ५।१६६

५. आलायणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं वि य परिहारो चेव सद्दहणा ॥ मूलाचार ५।१६५, ११।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांग, भगवती, तथा धवला में इन दस भेदों में नवम अनवस्थाप्य (तपस्यापूर्वक पुनर्दीक्षा) तथा दशम पारांचिक (भर्त्सना और अवहेलना पूर्वक पुनर्दीक्षा) भेद बताये हैं जबकि शेष आठ भेद मूलाचार की ही तरह हैं।[1] तत्त्वार्थसूत्र तथा इसके सभी टीका ग्रन्थों में प्रायश्चित्त के नौ भेदों का उल्लेख है—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना।[2] इनमें मूल और श्रद्धान प्रायश्चित्त की गणना नहीं है। नवम उपस्थापना प्रायश्चित्त माना है, जिसका स्वरूप मूलाचार के मूल-प्रायश्चित्त के समान है। मूलाचार तथा उसकी वृत्ति में वर्णित प्रायश्चित्त के उपर्युक्त दस भेदों का विवेचन क्रमशः इस प्रकार है।[3]

१. **आलोचना** (आलोपण)—आचार्य के समक्ष सरल भाव से आत्मनिंदा पूर्वक अपने दोषों को प्रकट करना आलोचना है। इसके द्वारा श्रमण तीन शल्यों (माया, निदान एवं मिथ्यादर्शन) को दूर कर देता है। इससे हृदय में निर्मलता का संचार होता है और अन्तर-जीवन निर्दोष बनता है।

आलोचना जिन दोषों से रहित होकर की जाती है वे दस दोष निम्नलिखित हैं[4]—१. आकम्पित—अन्न, पान, उपकरण आदि देकर आचार्य को अपना आत्मीय बनाकर दोषों का निवेदन करना। २. अनुमानित—शरीर की शक्ति, आहार और बल की अल्पता दिखाकर अनुनयपूर्वक दीन वचनों से आचार्य को अनुमत करना, उनके मन में करुणा उत्पन्न कर दोष निवेदन करना। ३. यद्दृष्ट—जो दोष दूसरे साधु देख चुकें उनकी तो आलोचना कर लेना, बाकी दोष छिपा लेना। ४. बादर—बड़े दोष कहना, छोटे छिपाना। ५. सूक्ष्म—छोटे दोषों का निवेदन करना, बड़े छिपा लेना। ६. छन्न—इसका अर्थ प्रच्छन्न किया है अर्थात् किसी मिस (बहाने) दोष कथन कर उस दोष का उपयुक्त प्रायश्चित्त अपने गुरू से जानकर स्वतः प्रायश्चित्त ले लेना। ७. शब्दाकुलित—जब सभी मिलकर एक साथ पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक आदि प्रतिक्रमण कर रहे हों उसी समय बीच में अपने दोष निवेदन करना ताकि आचार्य या दूसरे साधु

---

१. स्थानांग (ठाणं) १०।७३ पृष्ठ ९१७ भगवती सूत्र २५।७।९ तथा धवला १३।५, ४, २६।६३।१.

२. तत्त्वार्थसूत्र ९।२२, तत्त्वार्थवार्तिक, ९।२२, पृष्ठ ६२०.

३. मूलाचार वृत्तिसहित ५।१६५.

४. आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं वादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाकुलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ।। वही सवृत्ति ११।१५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसे अच्छी तरह न सुन सकें। ८. बहुजन—एक आचार्य से अपने दोष निवेदन करने पर उन्होंने जो प्रायश्चित्त दिया है उस पर अश्रद्धा करके दूसरे आचार्य से दोष कथन कर प्रायश्चित्त पूछना। ९. अव्यक्त—लघु प्रायश्चित्त के उद्देश्य से प्रायश्चित्त देने में अकुशल के समक्ष अपने दोष निवेदन करना तथा १०. तत्सेवी—जो अपने सदृश दोषों से युक्त हैं, उसी को अपने दोष निवेदन करना ताकि वह बड़ा प्रायश्चित्त न दे सकें।

उपर्युक्त दस दोषों के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि इनकी अर्थ परम्परा में कहीं-कहीं अन्तर है। जैसे--मूलाचार,[1] स्थानांग,[2] तत्त्वार्थवार्तिक[3] आदि ग्रन्थों में प्रथम आकंपित दोष का अर्थ आचार्य को उपकरण आदि देकर अपना आत्मीय बनाकर दोषों की आलोचना करना किया है। किन्तु षट्प्राभृत की श्रुतसागरीय टीका[4] में इसका अर्थ—आचार्य मुझे दण्ड न दे दें—इस भय से आलोचना करना किया है। द्वितीय अनुमानित दोष का मूलाचारवृत्ति के अनुसार शरीर की शक्ति तथा आहार और बल की अल्पता दिखाकर दीन वचनों से आचार्य के मन में करुणा उत्पन्न कर दोष निवेदन करना अर्थ किया है। किन्तु स्थानांग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ आचार्य मृदु दण्ड देने वाले हैं या अमृदु दण्ड देने वाले हैं—ऐसा अनुमान कर मृदु प्रायश्चित की सम्भावना होने पर आलोचना करना अर्थ किया है। तृतीय यद्दृष्टदोष का नाम तत्त्वार्थवार्तिक में मायाचार तथा चतुर्थ का नाम स्थूल मिलता है। छठे छन्नदोष का मूलाचारवृत्ति में प्रच्छन्न अर्थ करते हुए कहा है कि किसी मिस (बहाने) से दोष-कथन कर स्वयं प्रायश्चित्त लेना। षट्प्राभृत की श्रुतसागरीय टीका में गुप्तरूप से केवल आचार्य के पास अपना दोष प्रकट करना दूसरे के पास नहीं—अर्थ किया है जबकि स्थानांग वृत्ति तथा निशीथभाष्य चूर्णि में छन्न का अर्थ इतने धीमे स्वर में आलोचना करना जिसे वह स्वयं ही सुन सके आचार्य न सुन पाये अर्थ किया है। अष्टम बहुजन दोष का मूलाचार में अर्थ किया है कि—जो प्रायश्चित्त एक आचार्य ने दिया हो, उस पर अश्रद्धा करके दूसरों से पूछना, जबकि स्थानांग वृत्ति में एक के पास आलोचना कर फिर उसी दोष की दूसरे के पास आलोचना करना—अर्थ किया है। षट्प्राभृत की श्रुतसागरीय टीका में

---

१. मूलाचार ११।१५ वृत्तिसहित.
२. अभयदेव सूरि कृत स्थानांग वृत्ति १०।७० पत्र ४६०.
३. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२२।२ पृष्ठ ६२१.
४. षट्प्राभृत १।९ श्रुतसागरीय वृत्ति पृष्ठ ९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब बहुत बड़ा संघ एकत्रित हो, तब दोष प्रकट करना--अर्थ किया है। दशवें तत्सेवी दोष का मूलाचार में जो अपने सदृश दोषी हैं महाप्रायश्चित्त के भय से उसी से अपने दोष कहना अर्थ किया है। जबकि षट्प्राभृत की श्रुतसागरीय टीका में इसका अर्थ—जिस दोष का प्रकाशन किया है, उसका पुनः सेवन करना--किया है। स्थानांग वृत्ति में आलोचना देने वाले जिन दोषों को स्वयं सेवन करते हैं, उनके पास उन दोषों की आलोचना करना अर्थ किया है।

इस प्रकार आलोचना के इन दस दोषों में से कुछ दोषों का अर्थ विभिन्न ग्रन्थकारों ने अलग-अलग ढंग से किया है।

२. **प्रतिक्रमण (पडिकमण)** : यह प्रायश्चित्त का द्वितीय भेद है। कर्मवश या प्रमाद आदि के द्वारा कृत दोषों का शोधन करना प्रतिक्रमण है, अर्थात् कृत, कारित और अनुमोदना के द्वारा किये हुए पापों की निवृत्ति के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं'—मेरा दुष्कृत (दोष) मिथ्या हो—ऐसा मानसिक पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है। यह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक आदि रूप है।

३. **तदुभय** : कुछ दोष आलोचना मात्र से शुद्ध होते हैं और कुछ प्रतिक्रमण से तथा कुछ दोनों से, यही तदुभय प्रायश्चित्त है। अर्थात् जिस दोष की शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों के करने से हो वह वदुभय है।

४. **विवेक (विवेगो)** : जिस वस्तु के त्याग से दोष की विशुद्धि हो उन संसक्त (अप्रासुक) अन्न-पान-उपकरण आदि का त्याग विवेक है। आहारादि में अकल्पनीय वस्तु आ जाए और बाद में मालूम पड़े तो उसका त्याग विवेक प्रायश्चित है।

५. **व्युत्सर्ग (विउस्सग्गो)** : काल का नियम करके कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर के व्यापार रोककर एकाग्रतापूर्वक ध्येय वस्तु में उपयोग लगाना व्युत्सर्ग है।

६. **तप** : अनशन-अवमौदर्य आदि करना तप है।

७. **छेद** : दोष की लघुता या गुरुता के अनुसार उसकी निवृत्ति हेतु पक्ष, मास, वर्ष आदि काल-प्रमाण की दीक्षा छेदकर कम कर देना।

८. **मूल** : अब तक की सम्पूर्ण दीक्षा छेद (समाप्त) कर पुनः दीक्षा देना, क्योंकि उद्गमादि दोषयुक्त आहार, उपकरण तथा वसतिका ग्रहण करने पर श्रमण मूल-स्थान को प्राप्त हो जाता है।[1] अतः विपरीत आचरण से उत्पन्न

---

१. भगवती आराधना गाथा २९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोषों की शुद्धि के लिए चारित्र पर्याय का सर्वथा छेदकर नई दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है।

९. **परिहार** : दोष करने वाले श्रमण को दोषानुसार पक्ष, मास आदि काल तक अपने संसर्ग से अलग कर देना तथा उससे किसी तरह का संसर्ग न रखना परिहार प्रायश्चित्त है।

१०. **श्रद्धान (सद्दहणा)** : तत्त्व में रुचि बनाये रखना श्रद्धान है। अर्थात् सम्यग्दर्शन को छोड़कर मिथ्यात्व में उन्मुख श्रमण को श्रद्धायुक्त बनाकर पुनः दीक्षित करना। अथवा मानसिक दोष के होने पर उसके परिमार्जन के लिए 'मेरा दोष मिथ्या हो'—ऐसा अभिव्यक्त करने को भी श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते हैं।[1]

ये प्रायश्चित्त के दस भेद हैं। अकलंकदेव ने कहा है—देश, काल, शक्ति और संयम आदि के अविरोध रूप से अपराध के अनुसार दोष प्रशमन हेतु इन प्रायश्चित्तों को ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि जीव के परिणाम असंख्य लोक के बराबर होते हैं तथा जितने प्राणियों के परिणाम होते हैं उतने अपराध भी होते हैं किन्तु उतने प्रकार के प्रायश्चित्त तो हो नहीं सकते। अतः व्यवहार नय की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण करके प्रायश्चित्तों का यहाँ स्थूल निर्देश किया गया है।[2]

२. विनय (विणय) तप:

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचार रूप अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति का नाम विनय तप है। विजयोदया में कहा है 'जो अशुभ कर्म को दूर करता है, नष्ट करता है ऐसे कर्त्तव्य को विनय कहते हैं। अथवा जो ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों का नाश करता है तथा मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद और योग जिसके कारण हैं ऐसे संसार से जो छुड़ाता है वह विनय है।[3] वस्तुतः विनय शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'नी नयने' धातु से बना है। 'विनयतीति विनयः' ऐसा करने पर 'विनयति' के दो अर्थ होते हैं—दूर करना और विशेष रूप से प्राप्त कराना। अतः जो अप्रशस्त कर्मों को दूर करती है और विशेष रूप से स्वर्ग तथा मोक्ष को प्राप्त कराती है वह विनय है।[4]

प्रत्येक आचारशास्त्र में विनय तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि विनय मोक्ष का द्वार है। इसी से ज्ञान, संयम और तप सधते हैं, आचार्य और सम्पूर्ण

१. मूलाचारवृत्ति ५।१६५.
२. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२२।१० पृष्ठ ६२२.
३. विजयोदया टीका ११२ पृष्ठ २५९.
४. अनगार धर्मामृत ७।६१ पृष्ठ ५२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघ भी आराधित होते हैं। किन्तु विनय से रहित श्रमण की सब शिक्षा निष्फल है क्योंकि शिक्षा का फल विनय है और विनय का फल सभी प्रकार के कल्याण की प्राप्ति है। आचार के क्रम तथा कल्य गुणों का प्रकाशन अर्थात् श्रुत और चारित्र की आराधना की सिद्धि, आत्मशुद्धि, निर्द्वन्द भाव की प्राप्ति, आर्जव, मार्दव, लघुता, भक्ति, स्वयं और दूसरों को आह्लाद प्राप्ति, कीर्ति, मित्रता, मानभंजन, गुरुजनों का बहुमान, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन और गुणों की अनुमोदना—ये सब विनय के गुण हैं।[1] वही विनय जब सम्यक् आचरण में प्रतिफलित होती है तो यह तप का रूप ग्रहण कर लेती है।

पंचम गति के नायक रूप विनय तप के पाँचभेद हैं—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार।[2] इन पाँचों में विनय रखना विनय तप है। शंका, कांक्षा आदि को दूर करना दर्शन विनय है। श्रुतज्ञान के प्रति भक्ति, बहुमान आदि करना ज्ञानविनय है, जो संवर और निर्जरा का कारण है। कर्मों के ग्रहण में निमित्त क्रियाओं को रोकना चारित्र विनय है। अनशन आदि तप से होनेवाला कष्ट सहना तपविनय है।[3] मन वचन और काय से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में अपने गुरुजनों, ज्येष्ठ साधुओं आदि में यथायोग्य आदर, आज्ञापालन, अनुकरण आदि करना उपचार विनय है।

३. वैयावृत्य (वेज्जावच्च) तप :

यह आभ्यन्तर तप का तृतीय भेद है, जिसका अर्थ है सेवा करना, कार्य में व्यावृत होना, या धर्मसाधना में सहायक प्रासुक वस्तु, कार्य या अपनी सेवा द्वारा सभी प्रकार के साधार्मिक साधुओं का कष्ट दूर करना, उन्हें सहयोग या अनुकूलता प्रदान करना वैयावृत्य है। मूलाचार में कहा है कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर—इन पाँचों तथा नवदीक्षित बालमुनि, वृद्ध अर्थात् वय, तप आदि गुणों में वृद्ध मुनियों से युक्त कुलों ओर गच्छों की सर्व सामर्थ्य से जैसे शय्यावकाश रूप वसतिका, निषद्या (आसनादि), उपधि, प्रतिलेखना, विशुद्ध आहार, औषधि, वाचना, विकिंचन (अशक्त मुनियों के मल का शोधन) और वंदना द्वारा श्रमणों की सेवा करना वैयावृत्य तप है।[4]

---

१. मूलाचार ५।१८८-१९१ तथा भ० आ० गाथा १२८-१३१.

२. दंसणणाणे विणओ चरित्ततवओवचारिओ विणओ।
पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ॥ मूलाचार ५।१६७.

३. विजयोदया टीका गाथा ३०० पृ० ५११,५१२.

४. आइरियादिसु पंचसु सबालवुद्ढाउलेसु गच्छेसु।
वेज्जावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए॥मूलाचार ५।१९२.

सेज्जागासणिसेज्जो तदोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे।
आहारोसहवायण विकिंचणं वंदणादीहिं॥ वही ५।१९४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयावृत्त्य के पात्र श्रमणों में गुणाधिक मुनि, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल मुनि, चतुर्विध संघ, गण, कुल तथा समनोज्ञ (उपद्रव-रहित सुखासीन रहने वाले) मुनियों की आपत्ति आदि के समय वैयावृत्त्य करनी चाहिए।[1] जो मुनि मार्ग के श्रम से थक गये हों उन्हें वैयावृत्त्य द्वारा उचित रीति से आराम पहुँचाना, जिन्हें रास्ते आदि में चोरों ने सताया हो, सिंह-व्याघ्रादि जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदी के द्वारा बाधा उत्पन्न होने से, तथा महामारी जैसे रोग और दुर्भिक्ष आदि से पीड़ित होने पर उनका संग्रह करके अनुकूल स्थान में लाना, संरक्षण आदि करना वैयावृत्त्य तप है।[2] वैयावृत्त्य आदि में कुशल श्रमण को "प्रज्ञा-श्रमण" कहा गया है। क्योंकि ऐसा श्रमण विनय तथा वैराग्य युक्त, जितेन्द्रिय और सर्वसंघ का प्रतिपालक होता है।[3] प्रवचनसार में कहा है रोग से, क्षुधा से, तृषा से अथवा श्रम से आक्रांत श्रमण को देखकर साधु को अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्त्यादि करना चाहिए। किन्तु जो श्रमण छहकाय के जीवों की विराधना सहित वैयावृत्त्यादि में प्रवृत्ति करता है वह श्रमण गृहस्थधर्म में प्रवेश करता है। अतः श्रमण को वैयावृत्त्यादि इस प्रकार करना चाहिए जिससे संयम की विराधना न हो। और जो श्रमण सदा छह काय की विराधना से रहित, चार प्रकार के श्रमण संघ का उपकार करता है वह धर्मानुराग चारित्र युक्त श्रमणों में प्रधान होता है।[4]

स्थानांगसूत्र में भी पात्र के भेद से वैयावृत्त्य के दस भेद बताये हैं—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, कुल, गण, संघ और साधर्मिक—इन सभी की वैयावृत्त्य करना चाहिए।[5] इन सबकी अग्लान भाव अर्थात् अखिन्नता और बहुमान से की जाने वाली वैयावृत्त्य महानिर्जरा (बहुत कर्मों का क्षय करने वाली) तथा महापर्यवसान अर्थात् जन्म-मरण का अत्यन्तिक उच्छेद करने वाली होती है।[6] तत्त्वार्थवार्तिक में भी आचार्य आदि की वैयावृत्त्य के भेद से दस भेद किये हैं किन्तु स्थानांग के स्थविर और साधर्मिक इन

---

१. मूलाचार ५।१९३.
२. अद्धाणतेण सावयरायणदीरोधगासिवे ओमे।
वेज्जावच्चं वुत्तं संगहसारक्खणोवेदं॥ मूलाचार ५।१९५.
३. मूलाचारवृत्ति ५।१२६.
४. प्रवचनसार गाथा २५२, २५०, २४९.
५. स्थानांग (ठाणं) स्थान १० सूत्र १७. पृष्ठ ९०५.
६. वही, स्थान ५ सूत्र ४४-४५ पृष्ठ ५५७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो के स्थान पर साधु और मनोज्ञ—इन दो भेदों का उल्लेख है।[1] अकलंकदेव का यह भी कथन है कि यद्यपि दस प्रकार के वैयावृत्य न कहकर मात्र संघवैयावृत्य या गणवैयावृत्य-इस संक्षिप्त कथन से भी कार्य चल सकता था किन्तु वैयावृत्य के योग्य अनेक पात्रों का निर्देश इसलिए किया कि इनमें से किसी की प्रवृत्ति हो सकती है तथा करनी चाहिए।[2] अतः आचार्यादि जब कभी व्याधि, परीषह, मिथ्यात्व आदि से ग्रस्त हों तब उन्हें प्रासुक औषधि, आहार-पान, वसति, पीठासन, संस्तरण आदि धर्मोपकरण उपलब्ध करना, उन्हें सम्यक्त्व में पुनः दृढ़ करना वैयावृत्य है। बाह्य द्रव्यों की प्राप्ति के अभाव में अपने हाथ से कफ, श्लेष्म आदि भीतरी मलों को साफ करना और उनके अनुकूल अनुष्ठान या कार्य करना वैयावृत्य है।[3]

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहार भाष्य में प्रत्येक वैयावृत्य के तेरह-तेरह द्वार बताये हैं—१. भोजन, २. पानी, ३. संस्तारक और ४. आसन—इन्हें लाकर देना। ५. क्षेत्र और उपधि का प्रतिलेखन करना। ६. पाद प्रमार्जन करना अथवा औषधि देना। ७. आँख का रोग उत्पन्न होने पर औषधि लाकर देना। ८. मार्ग में विहार करते समय उनका भार लेना तथा मर्दन आदि करना। ९. राजा आदि के क्रुद्ध होने पर उत्पन्न क्लेश का निस्तार करना। १०. शरीर को हानि पहुँचाने वालों से और चोरों से संरक्षण करना। ११. बाहर से आने पर उनके धर्मोपकरण ग्रहण करना। १२. ग्लान होने पर उचित व्यवस्था करना तथा १३. उच्चार, प्रश्रवण, और श्लेष्म आदि होने पर इनके सम्बन्ध में यथायोग्य व्यवस्था करना।[4]

वैयावृत्य को इसलिए तप कहा क्योंकि ग्लान भाव से किसी की सेवा करना कम तपश्चरण नहीं है। इससे परस्पर का आचार सधता है। अतः संयम-यात्रा में आये विघ्नों के उपशमन को सेवा आदि द्वारा सहयोग देना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। शिवार्य ने वैयावृत्य न करने वालों के विषय में कहा है कि अपने बल और वीर्य को न छिपाने वाला जो मुनि समर्थ होते हुए भी जिन भगवान् के द्वारा कहे हुए क्रम के अनुसार वैयावृत्य नहीं करता है तो वह निर्धर्म अर्थात्

---

१. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्।
—तत्त्वार्थवार्तिक ९।२४ पृ० ६२३.

२. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२४।१८ पृष्ठ ६२४.

३. वही, पृष्ठ ६२३.

४. व्यवहार भाष्य १०।१२३-१३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म से बहिष्कृत होता है।[1] अनगार धर्मामृत में भी कहा है जो साधर्मी पर आयी विपत्तियों की उपेक्षा कर सोता रहता है अर्थात् कुछ प्रतिकार नहीं करता, वह समस्त सम्पत्ति के विषय में भी सोता है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् ने वैयावृत्य तप को बाह्य और आभ्यन्तर तपों का हृदय कहा है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैयावृत्य तप में परिभाषा या भेदों की दृष्टि से दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—इन दोनों परम्पराओं में विशेष अन्तर नहीं है। पर दिगम्बर परम्परा में मुनियों को परस्पर में वैयावृत्य के विधान के साथ ही श्रावकों द्वारा भी मुनियों आदि की वैयावृत्य का विधान किया है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में श्रावकों द्वारा मुनियों की वैयावृत्य का सर्वथा वर्जन है। मूलाचार में श्रावकों द्वारा मुनियों की वैयावृत्ति का कोई अलग से स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु प्रवचनसार[3] के अनुसार रोगी, गुरु (पूज्य), बाल तथा वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्य के निमित्त से शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों के साथ बातचीत निन्दित नहीं है तथा यह वैयावृत्य रूप प्रशस्त चर्या गृहस्थों को मुख्य तथा श्रमणों को गौण कही है। इस चर्या से गृहस्थ को परम सौख्य की प्राप्ति बताई है। वसुनन्दि श्रावकाचार[4] में श्रमण को दान देने की नौ विधियाँ बतायी हैं—श्रमण को पड़िगाहना, उच्चासन देना, पैर धोना, पूजा-प्रणाम करना, स्तुति करना तथा मन, वचन, काय और आहार की शुद्धता रखना। रयणसार में भी कहा है कि शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म—इनप्रकृतियों में उस श्रमण की कौन सी प्रकृति है, कायोत्सर्ग या गमनागमन से कितना श्रम हुआ है? शरीर में ज्वरादि पीड़ा तो नहीं है? उपवास से कण्ठ शुष्क तो नहीं है? इत्यादि बातों का विचार करके उसके उपचार स्वरूप साधु के लिये श्रावक को दान देना चाहिये।[5] हित-मित प्रासुक अन्न-पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल-स्थान, शयनोपकरण आदि दान योग्य वस्तुएँ हैं।[6] इसी प्रकार की वैयावृत्य का समर्थन **पद्मनदि-पंचविंशतिका**[7] में भी मिलता है।

---

१. भगवती आराधना ३०७.

२. अनगार धर्मामृत ७।८०.

३. वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासं ण णिंदिदा वा मुहोवजुदा॥
एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं॥ प्रवचनसार २५३-२५४.

४. वसुनन्दि श्रावकाचार, २२५. ५. रयणसार २३-२४.

६. मूलाचार ५। १९३. ७. पद्मनंदि पंचविंशतिका, ८-९-१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः वैयावृत्य के चार कारण है[1]—१. समाधि पैदा करना, २. विचिकित्सा दूर करना अर्थात् ग्लानि का निवारण करना, ३. प्रवचन वात्सल्य प्रकट करना ४. सनाथता—निःसहायता या निराधारता की अनुभूति न होने देना। शिवार्य ने भी कहा है कि वैयावृत्य करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है। यही आज्ञा संयम है। इससे वैयावृत्य करने वाले का उपकार, निर्दोष रत्नत्रय का दान तथा संयम में सहयोग होता है। विचिकित्सा—ग्लानि दूर होती है। धर्म की प्रभावना और कर्त्तव्य का निर्वाह होता है[2]।

उपर्युक्त कारणों से दिगम्बर परम्परा में श्रावक भी मुनियों आदि की वैयावृत्य करते हैं। और फिर यह भी तथ्य है कि श्रमणों का धर्म श्रावकों के आश्रित चलता है।

४ स्वाध्याय (सज्झाय) तप :

स्वाध्याय शब्द की दो निरुक्तियाँ है[3]—१. स्व + अध्याय। यहाँ 'स्व' से तात्पर्य आत्मा के लिए हितकारक, 'अध्याय' का अर्थ अध्ययन अर्थात् आत्मा के लिए हितकारक परमागम (शास्त्रों) का अध्ययन स्वाध्याय है। २. सु + आ + अध्याय, यहाँ 'सु' का अर्थ सम्यक् शास्त्रों का, 'आ' अर्थात् मर्यादापूर्वक, 'अध्याय' अर्थात् अध्ययन। यहाँ सम्यक् से तात्पर्य है जल्दी-जल्दी या देर से धीरे-धीरे अक्षर या पद छोड़ते हुए न पढ़ना तथा अर्थशुद्धि एवं वचन शुद्धि पूर्वक अध्ययन करना।[4] वट्टकेर ने कहा है कि जिनोपदिष्ट बारह अंगों और चौदह पूर्वों का उपदेश करना, प्रतिपादन आदि करना स्वाध्याय है।[5] पूज्यपाद के अनुसार आलस्य का त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है।[6] वसुनन्दि ने सिद्धान्त आदि के अध्ययन को स्वाध्याय कहा है।[7] पं० आशाधर ने भी गणधर आदि के द्वारा रचित सूत्र-ग्रन्थों की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश को स्वाध्याय कहा है।[8]

१. तत्त्वार्थवार्तिक, द्वितीय भाग ९।२४।१७, पृष्ठ ६२४.
२. भगवती आराधना ३१०.
३. स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाऽध्ययनं श्रुतेः—अनगार धर्मामृत ७।८२.
४. सम्यगध्ययनं स्वाध्यायः द्रुतविलंबितादिदोषरहितत्वं अर्थव्यञ्जनशुद्धिश्च सम्यक्त्वम्—विजयोदया टीका गाथा १३९. पृष्ठ ३१९.
५. बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे—मूलाचार ७।१०.
६. ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः—सर्वार्थसिद्धि ९।२०।८५८.
७. स्वाध्यायः सिद्धान्ताद्यध्ययनम्—मूलाचारवृत्ति ५।१६३.
८. सूत्रं गणधरायुक्तं श्रुतं तद्वाचनादयः स्वाध्यायः—अनगार धर्मामृत ९।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार आत्महितकारी शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन-अध्यापन, श्रवण, मनन और चिंतन को स्वाध्याय कहा जाता है। शिवार्य ने कहा है कि जिनवचन रूप शिक्षा के अभ्यास से आत्महित का ज्ञान, नवीन-नवीन संवेग, रत्नत्रय में निश्चलता, स्वाध्याय तप, भावना तथा परोपदेश की क्षमता—इन गुणों की प्राप्ति होती है।[1] अकलंकदेव ने स्वाध्याय के आठ लाभ और उद्देश्य बताये हैं—प्रज्ञातिशय, प्रशस्त अध्यवसाय, प्रवचनस्थिति, संशयोच्छेद, परवादियों की शंका का अभाव, परमसंवेग, तपोवृद्धि और अतिचार शुद्धि—इन सब गुणों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्वाध्याय आवश्यक है।[2] स्वाध्याय ज्ञानावरणकर्म का क्षय करने वाला तथा सब भावों को प्रकाशित करने वाला होता है।[3] इसे करने वाला श्रमण पंचेंद्रियों का संवर, मन, वचन तथा काय इन तीन गुप्तियों का पालन करता है। आगम और गुरु (आचार्य) के प्रति विनयी रहता हुआ अपने चित्त को स्वाध्याय द्वारा एकाग्र करता है।[4] वह शास्त्र-स्वाध्याय के अनुकूल आत्म-स्वरूप का मनन करता है और अपने प्रकाशमय स्वरूप को जानकर सारे जगत् में प्रकाश बाँटता है क्योंकि स्वाध्याय तो ज्ञान रूपी सूर्य को प्रकाशित करने का साधन है जिसे अज्ञान के मेघों ने ढक रखा है।

भेद :—स्वाध्याय के पाँच भेद हैं : परिवर्तना (आम्नाय), वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा।[5] १. पठित ग्रन्थों को शुद्ध उच्चारणपूर्वक बार-बार दुहराना या पढ़ना परिवर्तना है। इसे ही आम्नाय कहते हैं। २. निर्दोष ग्रन्थ, अर्थ और दोनों का प्रदान करना या प्रतिपादन करना वाचना है। ३. संशय का उच्छेद करने या निर्णय की पुष्टि के लिए शास्त्रों के गूढ़ अर्थ को दूसरों से पूछना पृच्छना है। ४. जाने हुए अर्थ का मन में पुनः पुनः मनन और चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। ५. पठित, परिचित या जानी हुई वस्तु का लौकिक फल की आकांक्षा के बिना रहस्य समझना, या धर्मकथा—आदि का अनुष्ठान करना

---

१. अदहिदपइण्णा भावसंवरो णवणवो या संवेगो।
णिक्कंपदा तवो भावणा य परदेसिगत्तं च ॥ भगवती आराधना १००.

२. प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः स्वाध्यायः—तत्त्वार्थवार्तिक ९।२५।६.

३. उत्तराध्ययन २९।१९, २६।२७.

४. सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडोत्तिगुत्तो य।
हवदि य एमग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खु ॥ मूलाचार ५।२१३.

५. परियट्टणाय वायण पडिच्छणाणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होई सज्झाओ ॥ मूलाचार ५।१९६,
—भगवती सूत्र २५।७, तत्वार्थसूत्र ९।२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मकथा नामक स्वाध्याय हैं।[1] तत्वार्थसूत्र में स्वाध्याय तप के इन पाँच भेदों का क्रम और नाम इस प्रकार है—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।[2]

स्वाध्याय में काल शुद्धि आदि का महत्त्व:—स्वाध्याय तप में काल, द्रव्य, क्षेत्र, और भाव—इन चार शुद्धियों का विशेष महत्व है। इनकी शुद्धि के बिना स्वाध्याय करने में अनेक दोष है। सर्वप्रथम कालशुद्धि का वर्णन प्रस्तुत है—

कालाचार के चार भेद माने गये हैं—१. रात्रि का पूर्व भाग, २. दिन का पश्चिम भाग—ये दो प्रादोषिक काल तथा ३. वैरात्रिक काल अर्थात् रात्रि का पश्चिम भाग एवं ४. गोसर्गिक काल अर्थात् मध्याह्न के दो घड़ी पूर्व का काल (पूर्वाह्न काल)—इस तरह इन चार कालों में से दिन का पूर्व और अपर काल तथा रात्रि का पूर्व और अपर काल अभीक्ष्ण स्वाध्याय के योग्य है।[3]

स्वाध्याय का प्रारंभ काल (सूर्योदय के बाद) जंघाच्छाया अर्थात् सात पद (विलस्त) है तथा समाप्ति काल अपराह्न (सूर्यास्त) काल में जंघाच्छाया (सात विलस्त) शेष रहने तक है।[4] आषाढ़ मास में पूर्वाह्न के समय दो पद-प्रमाण जंघाच्छाया तथा पौष मास में मध्याह्न के प्रारम्भ में चार पदप्रमाण जंघाच्छाया रहने पर स्वाध्याय समाप्ति का काल है। क्योंकि आषाढ़ मास के अन्तिम दिन से प्रत्येक महीने दो-दो अंगुल छाया बढ़ते-बढ़ते पौष मास तक चार पदप्रमाण हो जाती है और उधर पौष मास से लेकर प्रत्येक महीने क्रमशः दो-दो अंगुल छाया कम होते हुए आषाढ़ मास के अन्तिम दिन में दो पद-प्रमाण रह जाती है।[5]

स्थानांग सूत्र में कहा है कि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को निम्न चार सन्ध्याओं में आगम का स्वाध्याय नहीं करना चाहिये—१. प्रथमसन्ध्या—पूर्वोदय से पूर्व, २. पश्चिम सन्ध्या—सूर्यास्त के पश्चात्, ३. मध्याह्न सन्ध्या तथा ४ अर्धरात्रि सन्ध्या।[6]

निम्नलिखित सन्ध्याओं में स्वाध्याय करना चाहिए—१. पूर्वाह्न—दिन के प्रथम प्रहर में, २. अपराह्न—दिन के अन्तिम प्रहर में, ३. प्रदोष—रात्रि के प्रथम प्रहर में, ४. प्रत्यूष—रात्रि के अन्तिम प्रहर में।[7]

---

१. मूलाचारवृत्ति ५।१९५.
२. वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः—तत्वार्थसूत्र ९।२५.
३. मूलाचार ५।७३.
४. मूलाचार ५।७४. ५. वही ५।७५.
६-७. स्थानांग (ठाणं) चतुर्थ स्थान, पद २५७-२५८ पृ० ३५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालशुद्धि में जो सूत्रग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं वे हैं—सर्वज्ञ के मुख से अर्थ ग्रहण करके गणधरों के द्वारा रचित द्वादशांग तथा प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी—इनके द्वारा रचित सूत्रग्रन्थ।[1] किंतु कालशुद्धि के बिना अस्वाध्याय काल में श्रमणों और आर्यिकाओं के लिए इन सूत्रग्रन्थों को पढ़ना योग्य नहीं है। उपर्युक्त सूत्रग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ तो कालशुद्धि आदि न होने पर भी अस्वाध्याय काल में पढ़े जा सकते हैं।[2] जैसे आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रह, स्तुतियाँ, प्रत्याख्यान, आवश्यक, धर्मकथा तथा इन जैसे और भी अन्याय ग्रन्थ।[3]

उपर्युक्त कालशुद्धि के बिना स्वाध्याय करना ज्ञान का अतिचार है। निशीथ चूर्णि में कहा है कि उचित समय पर किया गया शास्त्र-स्वाध्याय या अध्ययन ही कर्म निर्जरा का हेतु है, अन्यथा वह हानिकर एवं कर्मबंध का कारण बन जाता है।[4] मूलाचार में कालशुद्धि के साथ ही दिशा आदि से सम्बन्धित उत्पातों या विघ्नों में भी स्वाध्याय करने का निषेध किया है जैसे—१. दिग्दाह—उत्पात-वश कभी-कभी दिशाओं का अग्निवर्ण हो जाना। २. उल्कापात अर्थात् पुच्छल तारे का टूटना या तारे के आकार के पुद्गल पिण्ड का गिरना, ३. बिजली चमकना, ४ चडत्कार अर्थात् मेघों के सघट्ट से वज्रपात होना, ५. ओले गिरना, ६. इन्द्रधनुष दिखना, ७. दुर्गन्ध फैलना, ८. लोहित-पीत वर्ण की सन्ध्या का का होना, ९. दुर्दिन—पानी की सतत् वर्षा होते रहना एवं बादलों का निरन्तर अच्छादित रहना, १०. चन्द्र ग्रहण ११. सूर्य-ग्रहण, १२. कलह आदि उपद्रव, १३. धूमकेतु १४. भूकम्प, १५. मेघों का गरजना तथा और भी बहुत से दोषों के उपस्थित रहने पर स्वाध्याय वर्जित है।[5]

---

१. सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धिकथिदं च।
सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्वकधिदं च॥ मूलाचार ५।८०.

२. वही, ५।८१.

३. आराहणाणिज्जुत्ती मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावासयधम्मकहाओ य एरिसओ॥ वही, ५.८२.

४. निशीथ चूर्णि ११.

५. दिसदाह उक्कपडणं विज्जु चडुक्कासणिंदधणुगं च।
दुग्गंधसज्झदुद्दिणचंदग्गहसूरराहुजुज्झं च॥
कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च।
इच्चेवमाइबहुया सज्झाए वज्जिदा दोसा॥ मूलाचार ५।७७-७८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांगसूत्र में भी अन्तरिक्ष संबंधी अस्वाध्याय के दस प्रकार बतलाये हैं--१. उल्कापात, २. दिग्दाह, ३. गर्जन, ४. विद्युत् (बिजली चमकना), ५. निर्घात अर्थात् बादलों से आच्छादित या अनाच्छादित आकाश में व्यन्तरकृत महान् गर्जन की ध्वनि अथवा प्रचण्ड शब्द युक्त वायु, ६. यूपक—चन्द्रप्रभा और सन्ध्या प्रभा का मिश्रण, ७. यक्षादीप्त—किसी एक दिशा में कभी-कभी दिखाई देने वाला विद्युत् जैसा प्रकाश, ८. धूमिका—धूमवर्ण की तरह कुहासा जैसा फैलना, ९. महिका—तुषारापात और १०. रज उद्घात अर्थात् स्वाभाविक रूप में चारों ओर से धूल गिरना।[1]

मूलाचार में स्वाध्याय के निमित्त दिग्विभाग आदि पूर्व आदि दिशाओं की शुद्धि के लिए बताया है कि पूर्वाह्ण के समय प्रत्येक दिशा में ९-९ गाथा परिमाण, अपराह्ण में ७-७ गाथा परिमाण तथा प्रदोषकाल (रात्रि का प्रथम प्रहर) में ५-५ गाथा परिमाण कायोत्सर्ग पूर्वक जाप्य करना चाहिए।[2]

जैसा कि पूर्व में कहा गया कि स्वाध्याय में काल, द्रव्य, क्षेत्र और भाव—ये चार शुद्धियाँ होना चाहिए। कालशुद्धि के वर्णन के बाद द्रव्य शुद्धि और क्षेत्र शुद्धि के विषय में वट्टकेर ने कहा है कि चारों दिशाओं में यदि सौ हाथ प्रमाण दूर तक रक्त, मांस आदि अपवित्र पदार्थ दिखाई दें तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि स्वाध्याय काल में उस स्थान से सौ हाथ प्रमाण तक की भूमि शुद्ध रहना अपेक्षित है। भावशुद्धि की दृष्टि से स्वाध्याय के समय अपने और दूसरों के मन में संक्लेश परिणाम नहीं होना चाहिए।[3]

स्थानांग सूत्र में औदारिक अस्वाध्याय सम्बन्धी निम्नलिखित दस प्रकारों का उल्लेख है—१. अस्थि, मांस, ३. रक्त, ४. अशुचि सामन्त अर्थात् रक्त' मूत्र और मल की गन्ध आती हो और वे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हों तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए, ५. श्मशान सामन्त—शवस्थान के समीप अस्वाध्यायिक होता है, ६. चन्द्रग्रहण, ७. सूर्यग्रहण, ८. पतन अर्थात् राजा, अमात्य, सेनापति, ग्रामभोगिक आदि विशिष्ट व्यक्तियों का मरण, ९. राज-व्युद्ग्रह या राज विप्लव अर्थात् राजा आदि के परस्पर विग्रह हो जाने पर जब तक कि वह विग्रह उपशान्त नहीं हो जाता तथा १०. उपाश्रय के भीतर सौ हाथ तक कोई औदारिक-

---

१. स्थानांग १०।२०. [ठाणं १०।२० पृष्ठ ९०६ तथा पृष्ठ ९६६ के टिप्पण]

२. णवसत्तपंचगाहापरिमाणं दिसिविभागसोधीए।
पुव्वह्णे अवरह्णे पदोसकाले य सज्झाए॥ मूलाचार ५।७६ वृत्तिसहित.

३. रुहिरादिपूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं।
कोधादिसंकिलेसो भावविसोही पढणकाले॥ वही ५।७९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलेवर के होने पर, जब तक कि उसका परिष्ठापन और वह स्थान शुद्ध न हो जाए तब तक स्वाध्याय वर्जनीय है।[1]

इस प्रकार स्वाध्याय तप के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चारों विशुद्धियों का होना आवश्यक है। धवला में कहा है कि इन विशुद्धियों के बिना सूत्र और अर्थ की शिक्षा-ग्रहण के लोभ से किया गया स्वाध्याय सम्यक्त्व की विराधना रूप असमाधि, अस्वाध्याय, अलाभ, कलह, व्याधि और वियोग—इन अनिष्टों का करने वाला होता है।[2] अन्य सभी तपों के मध्य अपनी विविध विशेषताओं के कारण स्वाध्याय तप का अपना विशेष महत्त्व है। कहा भी है कि सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट बारह प्रकार के आभ्यन्तर और बाह्य तपों में स्वाध्याय के समान न तो कोई तपःकर्म है और न होगा।[3] क्योंकि विनय से युक्त होकर स्वाध्याय तप करने वाला श्रमण पाँचों इन्द्रिय-विषयों से संवृत, तीन गुप्तियों से गुप्त और एकाग्रमन हो जाता है।[4] पं० आशाधर ने कहा है कि स्वाध्याय से मुमुक्षु की तर्कणाशील बुद्धि का उत्कर्ष होता है। परमागम की स्थिति (परम्परा) का पोषण होता है। मन, इन्द्रियाँ और चार संज्ञाओं (आहार, निद्रा, भय और मैथुन) की अभिलाषा का निरोध होता है। संशय का छेदन और क्रोधादि कषायों का भेदन होता है। संवेग तथा तप में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। समस्त अतिचार दूर और परिणाम प्रशस्त होते हैं। अन्यवादियों का भय नहीं रहता तथा जिनशासन की प्रभावना करने में मुमुक्षु समर्थ होता है।[5]

५. ध्यान (झाण) तप :

'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से ध्यान शब्द बना है तथा जिसका अर्थ होता है

---

१. स्थानांगसूत्र १०।२१. (ठाणं १०।२१ टिप्पण पृष्ठ ९०६ तथा पृष्ठ ९६६-९६८)

२. धवला ९।४,१, ५४।११९ पृष्ठ २५९.

३. बारसविधम्हि वि तवे सब्भंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
णवि अत्थि ण वि य होही सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ मूलाचार ५।२१२, १०।७९, तथा भगवती आराधना गाथा १०७, बृहत्कल्पभाष्य ११६९, अनगार धर्मामृत टीका ९।४.

४. भगवती आराधना गाथा १०४.

५. अनगार धर्मामृत ७।८९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन । एक विषय में चिन्तन का स्थिर करना ध्यान है ।[1] तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है ।[2] आचार्य उमास्वामी ने अपनी इस परिभाषा में ध्याता, ध्यान और ध्यान का समय–इन तीन विषयों का निर्देश किया है । अर्थात् वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तम संहननधारी पुरुष ध्याता हो सकते हैं । एक पदार्थ को लेकर उसी में चित्त को स्थिर कर देना ध्यान है । अतः उत्तमसंहनन अर्थात् अतिशय वीर्य से विशिष्ट शारीरिक संघटन वाले आत्मा को जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान होता है वही प्रशस्त ध्यान है । जब विचार का विषय एक पदार्थ न होकर नाना पदार्थ होते हैं तब वह विचार ज्ञान कहलाता है और जब वह ज्ञान एक विषय में स्थिर हो जाता है तब उसे ही ध्यान कहते हैं । उस ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त होता है ।[3] मुहूर्त ४८ मिनिट का होता है । तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है कि गमन, भोजन, शयन, और अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध है । जिस प्रकार वायु रहित प्रदेश में दीपशिखा अपरिस्पन्द अर्थात् स्थिर रहती है उसी तरह निराकुल देश में एक लक्ष्य में बुद्धि और शक्तिपूर्वक रोकी गई चित्तवृत्ति (चिन्ता या अन्तःकरण व्यापार) बिना व्याक्षेप के वहीं स्थिर रहती है । इस निश्चल दीपशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है । तथा ज्ञान व्यग्र होता है और ध्यान एकाग्र । एकाग्र से तात्पर्य है ध्यान अनेक मुखी न होकर एकमुखी (एक लक्ष्य में स्थिर) रहता है और उस एक मुख में ही संक्रम होता रहता है । क्योंकि ध्यान स्ववृत्ति होता है, इसमें बाह्य चिन्ताओं से पूर्ण निवृत्ति होती है ।[4]

ध्यान शतक में चेतना के चल और स्थिर–ये दो भेद करके चल-चेतना को चित् और स्थिर-चेतना को ध्यान कहा है ।[5] आगे कहा है कि चित्त अनेक वस्तुओं या विषयों में प्रवृत्त होता रहता है, उसे अन्य वस्तुओं या विषयों से निवृत्त कर एक वस्तु या विषय में प्रवृत्त करना ध्यान है ।[6] अपराजितसूरि ने भी एक पदार्थ में ज्ञान-सन्तति के निरोध को ध्यान कहा है ।[7] वस्तुतः हमारा

१. एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानमिति–मूलाचार वृत्ति ५।१९७.
२. उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्—तत्त्वार्थसूत्र ९।२७.
३. तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७ (सं० पं० कैलाशचंद शास्त्री) पृष्ठ २१८.
४. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२७।५-२२ पृष्ठ ६२६-६२७. तथा ७९०.
५. जं थिरमज्झवसाणं, झाणं जं चलं तयं चित्तं–ध्यानशतक गाथा २.
६. वही गाथा ३.
७. एकस्मिन्प्रमेये निरुद्धज्ञानसंततिर्ध्यानम्—भ० अ० विजयोदया टीका २३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन विविध विषयों पर सतत् चलता ही रहता है पर उसे हम ध्यान नहीं कह सकते। किन्तु यदि वह चिन्तन यहाँ-वहाँ से हटकर जितने समय के लिए एकाग्र या एक विषय पर स्थिर होगा, उसे उतने समय का ध्यान कहा जा सकता है।

ध्यान तप के माध्यम से साधक चित्त की चंचलता रोककर एकाग्रता द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास करता हुआ मुक्ति पथ की ओर प्रयाण करता है। हेमचंद्राचार्य ने कहा है कि मोक्ष कर्मों के क्षय से होता है। कर्मों का क्षय आत्मज्ञान से होता है। आत्मज्ञान आत्मध्यान से होता है अतः आत्मध्यान ही आत्मा के हित का साधक है।[1] पर कर्मों का क्षय करने वाली वह ध्यान रूपी अग्नि राग, द्वेष, मोह तथा मन, वचन और काय रूप योगवृत्ति से रहित अवस्था में प्रगट होती है।[2]

भगवती आराधना में ध्यान की सामग्री (परिकर) के विषय में कहा है कि बाह्य द्रव्य को देखने की ओर से आँखों को किञ्चित् हटाकर अर्थात् नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिरकर एक विषयक परोक्षज्ञान में चैतन्य क रोककर शुद्ध चिद्रूप अपने आत्मा में स्मृति का अनुसंधान करे। यह ध्यान संसार से छूटने के लिए किया जाता है। विजयोदया टीका में कहा है कि दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु-विषयक ज्ञान में मन को लगाकर श्रुत से जाने हुए विषयों का स्मरण करते हुए आत्मा में लीन होना चाहिए।[3]

भेद—ध्यान के अप्रशस्त और प्रशस्त--ये दो मुख्य भेद हैं। इनमें आर्त-ध्यान और रौद्र ध्यान--ये दो अप्रशस्त ध्यान हैं तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान--ये दो प्रशस्त ध्यान हैं। इस प्रकार ध्यान के चार भेद हैं।[4]

अप्रशस्त ध्यान—

(१) **आर्तध्यान**—आर्तशब्द ऋत या अर्दनं अर्तिः से बना है। ऋत का अर्थ दुःख, अर्ति का अर्थ पीड़ा है। अतः इनसे होने वाला ध्यान आर्तध्यान है।[5]

---

१. मोक्षः कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत्।
ध्यानसाध्यं मतं तच्च तद् ध्यानं हितमात्मनः।। योगशास्त्र ४।११३.

२. पंचास्तिकाय १४६.

३. भगवती आराधना विजयोदया सहित गाथा १७०६.

४. अट्टं च रुद्दसहियं दोण्णि वि झाणाणि अप्पसत्थाणि।
धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि।। मूलाचार ५।१९७.

५. ऋतं दुःखम्, अर्दनमर्तिर्वा तत्र भवमार्तम्—सर्वार्थसिद्धि ९।२८।८७४ पृ० ३४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय सहित होने से यह अप्रशस्त माना जाता है। इसमें कामाशंसा और भोगाशंसा का प्राधान्य होता है। स्थानांग तथा भगवतीसूत्र में आर्तध्यान वाले पुरुष के चार लक्षण बतलाये हैं। १ क्रन्दनता—रोना, चिल्लाना, २ शोचनता-शोक, तथा चिन्ता आदि करना, ३ तेपनता (तिप्पणता)--आँसू बहाना तथा ४ परिदेवनता--आघात पहुँचाने वाला शोक, विलाप, घोर उदासी, विह्वलता आदि करना।[1]

आर्तध्यान के चार भेद हैं।[2] १ अमनोज्ञ योग--ज्वर, शूल, शत्रु, रोग आदि का संयोग हो जाने पर 'इनसे संबंध विच्छेद कैसे और कब होगा ? इस प्रकार चिन्ता करना।[3] इष्टवियोग--स्त्री, पुत्र, पौत्र, माता-पिता आदि इष्ट जनों का वियोग होने पर उनकी प्राप्ति की निरन्तर चिन्ता करना। ३ परीषह—क्षुधा, तृषा आदि परीषह रूप बाधाओं के होने पर 'ये कब दूर होंगी ?' इस प्रकार का चिन्तन करना। अन्य ग्रन्थों में आर्तध्यान के इसी तृतीय भेद को वेदना नाम से अभिहित किया है। ४ निदानकरण--भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति को आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए मनःप्रणिधान का होना अर्थात् उनका संकल्प और निरन्तर चिन्ता करना।

आर्तध्यान प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीवों के हो सकता है। छठे गुणस्थान में मात्र निदान आर्तध्यान नहीं है। बाकी के तीन आर्तध्यान प्रमाद के उद्रेक से कदाचित् हो सकते हैं।[4]

(२) **रौद्रध्यान**—यह कषाय सहित होता है अतः यह भी अप्रशस्त ध्यान के अन्तर्गत है। इसमें क्रूरता का प्राधान्य होता है। अतः हिंसक एवं क्रूर आदि भावों से युक्त स्व और पर के घात का निरन्तर चिन्तन करना रौद्रध्यान है। मूलाचार में इसके स्तैन्य, मृषा, सारक्षण और षड्विध आरम्भ (हिंसा-क्रिया) —ये चार भेद किये हैं। इन भेदों के आधार पर कहा जा सकता है कि परधन-हरण, असत्यवचन, विषय-भोग सामग्री के संरक्षण तथा पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस—इन षट्कायिक जीवों के छेदन, भेदन, बन्धन, ताडन इत्यादि

---

१. ठाणं ४।६२ पृष्ठ ३०९, भगवई २५।७ सूत्र ६०२ (अंगसुत्ताणि भाग २. पृ० ९७४.)

२. अमणुण्णजोगइट्ठ विओग परीसहणिकरणेसु।
अट्टं कसाय सहियं झाणं भणिदं समासेण॥ मूलाचार ५।१९८ वृत्तिसहित.

३. वेदनायाश्च—तत्त्वार्थसूत्र ९।३३.

४. सर्वार्थसिद्धि ९।३४।८८६ पृष्ठ ३४३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप आरम्भ (हिंसा) में ही निरन्तर चित्त को लगाये रखना रौद्रध्यान है।[1] स्थानांगसूत्र में रौद्रध्यान के चार लक्षण बताये हैं १. उत्सन्नदोष--प्रायः हिंसा आदि में प्रवृत्त रहना, २. बहुदोष--हिंसादि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना, ३. अज्ञानदोष--अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना तथा. ४. आमरण दोष--मरणान्तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।[2]

रौद्रध्यान पंचम देशविरत (संयतासंयत) नामक गुणस्थान तक के जीवों को होता है।

उपर्युक्त आर्त और रौद्र—इन दोनों ध्यानों के विषय में वट्टकेर ने कहा है कि--ये दोनों अप्रशस्त ध्यान संसार रूपी महाभय के उत्पादक तथा सुगति अर्थात् देवगति और मोक्ष के सर्वथा प्रतिकूल हैं। अतः इनका त्याग करके धर्मध्यान और शुक्लध्यान-इन प्रशस्त ध्यानों में सम्यक्तया अपने मन को तत्पर करना चाहिए।[3]

प्रशस्त ध्यान :

(१)**धर्मध्यान**—धर्म से युक्त ध्यान धर्मध्यान है। यहाँ धर्म शब्द वस्तुस्वभाव का वाचक है। अतः धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव से युक्त को धर्म्य कहते हैं। आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान—ये धर्म जिसमें ध्येय होते हैं उस ध्यान को धर्म ध्यान कहा जाता है। कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मों से युक्त होने से भी इसे धर्मध्यान कहते हैं।[4] शिवार्य के अनुसार आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागम में स्वाभाविक रूचि—ये धर्मध्यान के लक्षण हैं।[5] वस्तुतः आर्जव आदि कार्यों से धर्मध्यान पहचाना जाता है अतः आर्जव आदि धर्मध्यान के लक्षण हैं। स्थानांगसूत्र में धर्मध्यान के ये चार लक्षण बताये हैं—(१) आज्ञा-रुचि अर्थात् प्रवचन में श्रद्धा होना (२) निसर्ग-रुचि—सत्य में सहज श्रद्धा होना, (३) सूत्र-रुचि—सूत्र पठन से सत्य में श्रद्धा उत्पन्न होना तथा (४) अव-गाढ़-रुचि—विस्तृत पद्धति से सत्य में श्रद्धा होना।[6]

आलम्बन—ध्यान की एकाग्रता के लिए आलम्बनों का होना आवश्यक हो

---

१. मूलाचार ५।१९९.
२. ठाणं ४।६४ पृष्ठ ३१०.
३. मूलाचार ५।२००.
४. भ० आ० विजयोदया टीका १६९९ पृ० १५२१.
५. भगवती आराधना १७०९.
६. ठाणं ४।६६ पृ० ३१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है। शिवार्य ने इस सम्बन्ध में कहा है कि[1] ध्यान करने के इच्छुक क्षपक के लिए यह लोक आलम्बनों से भरा हुआ है। वह मन को जिस ओर लगाता है वही आलम्बन बन जाता है।

धर्मध्यान के मुख्य चार आलम्बन माने गये हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा।[2] शिवार्य ने सभी (बारह) अनुप्रेक्षाओं को धर्मध्यान के अनुकूल आलम्बन माना है।[3] जबकि स्थानांग सूत्र में एकत्व, अनित्य, अशरण और संसार—ये चार धर्मयान की अनुप्रेक्षायें मानीं हैं।[4]

भेद : धर्मध्यान के चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय तथा संस्थानविचय—ये चारों धर्मध्यान के ध्येय भी हैं। इनकी विचारणा (चिन्तनधारा) के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म्यध्यान है।[5] विचय, विवेक और विचारणा ये सभी एकार्थक है।

१. **आज्ञाविचय**—पाँच अस्तिकाय (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश), षट्जीवनिकाय (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस) तथा काल द्रव्य—ये सब सर्वज्ञदेव द्वारा प्रतिपादित होने से आज्ञाग्राह्य पदार्थ हैं। अतः निःशंक भाव से इनका श्रद्धान एवं चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।[6]

२. **अपायविचय**—जो जीव मोक्ष के इच्छुक होते हुए भी मिथ्यात्व के कारण चारों गतियों के दुःख भोग रहे हैं उनके विषय में यह विचार करना कि ये मिथ्यात्व से कैसे छूटें—'अपायविचय है। अथवा कल्याण प्राप्ति के साधनभूत रत्नत्रय का जैनागमों के आश्रय से अध्ययनपूर्वक ध्यान करना भी अपायविचय है।[7]

---

१. आलंबणेहिं भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स।
जं जं मणसा पिच्छदि तं तं आलंबणं हवइ॥ भगवती आराधना १८७६.

२. वही गाथा १७१०, १८७५, ठाणं ४।६७ पृ० ३१०, ३११.

३. धम्मस्स तेण अपिरुद्धाओ सव्वाणुतेहाओ—भगवती आराधना १७१०, १८७५.

४. ठाणं ४।६८ पृ० ३११.

५. एयग्गेण मणं णिरुंभिऊण धम्मं चउव्विहं झाहि।
आणापायविवायविचओ य संठाणविचयं च॥ मूलाचार ५।२०१.

६. मूलाचार ५।२०२, भ० आ० १७११.

७. मूलाचारवृत्ति ५।२०३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **विपाकविचय**—जीवों को एक और अनेक भवों तक पुण्यकर्म और पापकर्म क्रमशः सुख और दुःख रूप फल देते हैं। अतः इनके उदय, उदीरणा (अपक्व पाचन), संक्रम (कर्म का परप्रकृति रूप बनना संक्रमण है), बंध, और मोक्ष—इन सबका स्वरूप चिन्तन करना विपाकविचय है।[1] अर्थात् कर्मों की विचित्रता, उनके क्षण-क्षण में उदित होने की प्रक्रियाओं आदि के विषय में चिन्तन करना विपाकविचय है। यहाँ विपाक शब्द कर्मों के शुभाशुभ फल का वाचक है।

४. **संस्थानविचय**—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक—इन तीन लोकों का स्वभाव, पर्यायभेद, संस्थान (आकार-प्रकार) दशा, स्वरूप आदि तथा अनित्य, अशरण आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना संस्थान-विचय धर्म-ध्यान है।[2] अनुप्रेक्षाओं में जब बार-बार चिन्तनधारा चलती रहती है तब वे ज्ञानरूप हैं किन्तु जब उनमें एकाग्र चिन्तानिरोध होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है तब वे ध्यान कहलाती हैं।

परिवर्ती साहित्य में संस्थानविचय नामक चतुर्थ धर्मध्यान के भी चार भेद हैं।[3] १. पिण्डस्थ—पिण्ड अर्थात् शरीर स्थित आत्मा का चिन्तन करना अथवा पिण्ड के आलम्बन से होनेवाली एकाग्रता पिण्डस्थ ध्यान है। (२) पदस्थ—पद (शब्द) अर्थात् पवित्र मन्त्रों के अक्षर स्वरूप पदों के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता पदस्थ ध्यान हैं। (३) रूपस्थ—रूप अर्थात् आकार के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता रूपस्थ ध्यान है। इसमें अरहंत आदि का ध्यान करना चाहिए। (४) रूपातीत—यह निरालम्बन स्वरूप है।

गुणस्थानों की दृष्टि से यह धर्मध्यान चतुर्थ अविरत, पंचम देशविरत छठे प्रमत्तसंयत और सप्तम अप्रमत्तसंयत—इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों के सम्भव है। अर्थात् चतुर्थ से सप्तम गुणस्थानवर्ती जीव इस धर्मध्यान के अधिकारी (स्वामी) हैं।

(२) **शुक्लध्यान**—जिसमें शुचि गुण का सम्बन्ध हो उसे शुक्ल कहते हैं।[4] संयम, साधना और ध्यान के प्रसंग में कषायों के उपशम या क्षय होने का नाम

---

१. मूलाचार ५।२०४.
२. वही ५।२०५.
३. ज्ञानार्णव पृ० ३६१.
४. शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्—सर्वार्थसिद्धि ९।२८।८७४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुचिगुण है। आत्मा के इस शुचिगुण के सम्बन्ध से जो ध्यान होता है वह शुक्लध्यान है। जैसे सम्पूर्ण मैल दूर हो जाने पर वस्त्र शुचि हो जाता है। वैसे ही निर्मल गुणयुक्त आत्मपरिणति भी शुक्ल ध्यान मानी जाती है।

जिसमें अतिविशुद्ध गुण होते हैं, कर्मों का उपशम तथा क्षय होता है और शुक्ल लेश्या होती है वह शुक्लध्यान है।[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो निष्क्रिय, इन्द्रियातीत और 'मैं इसका ध्यान करूँ'—इस प्रकार के विकल्प से रहित है, जो अपने स्वरूप के ही सन्मुख है—इस प्रकार आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से वह ध्यान शुक्लध्यान कहा जाता है।

वस्तुतः जब क्षपक धर्मध्यान को पूर्ण कर लेता है तब वह अति विशुद्ध लेश्या के साथ शुक्लध्यान को ध्याता है। क्योंकि परिणामों की पंक्ति उत्तरोत्तर निर्मलता को लिए हुए स्थित है अतः वह क्रम से ही होती है। जिसने पहली सीढ़ी पर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ी पर नहीं चढ़ सकता। अतः धर्मध्यान में परिपूर्ण हुआ अप्रमतसंयमी शुक्लध्यान करने में समर्थ होता है।[2] धर्मध्यान कषायसहित जीवों को और शुक्लध्यान उपशान्त व क्षीणकषाय जीवों को होता है। धर्मध्यान शुक्लध्यान का कारण है। वैसे ये दोनों ही ध्यान शुद्धोपयोग से युक्त होने के कारण संसार भ्रमण के मूलोच्छेद में हेतुभूत हैं। स्थानांग में शुक्लध्यान के चार लक्षण निर्दिष्ट हैं—(१) अव्यथ—क्षोभ का अभाव, (२) असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढ़ता का अभाव (३) विवेक—शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान तथा (४) व्युत्सर्ग—शरीर और उपधि में अनासक्त भाव।[3]

भेद—शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं : १. पृथक्त्ववितर्क वीचार, २. एकत्ववितर्क अवीचार, ३. सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति तथा ४. समुच्छिन्न क्रियानिवर्ति (व्युपरत क्रियानिवर्त्ति)।[4]

(१) **पृथक्त्ववितर्क वीचार**—वस्तु के द्रव्य, गुण और पर्याय का परिवर्तन करते हुए चिन्तन करना पृथक्त्ववितर्क वीचार है। यहाँ पृथक्त्व का अर्थ भेद या नानाविधत्व है। वितर्क का अर्थ श्रुत तथा वीचार से तात्पर्य अर्थ, व्यंजन और

---

१. जत्थ गुणा सुविसुद्धा, उवसम खमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४८१.

२. भगवती आराधना गाथा १८७६, विजयोदया टीका सहित.

३. ठाणं ४।७० पृष्ठ ३११.

४. तत्त्वार्थसूत्र ९।३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगों की संक्रान्ति या परिवर्तन। अर्थात् जीवादि पदार्थों, व्यञ्जन (शब्द या वचन) और मन, वचन तथा काय रूप योग का संक्रमण (परिवर्तन) को वीचार कहते हैं। इस ध्यान में अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण को इस तरह समझ सकते हैं कि ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना (ध्यान के विषय बदलना) अर्थसंक्रान्ति है। श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य का सहारा लेना, उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्य का सहारा लेना अर्थात् ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यञ्जन-संक्रान्ति कहते हैं। काययोग को छोड़कर अन्य योग का ग्रहण करना, उसे भी छोड़कर काययोग को ग्रहण करना योगसंक्रान्ति है। इन तीनों प्रकार की संक्रान्ति को वीचार कहते हैं।[1]

इस तरह पृथक्त्व अर्थात् भेद रूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार (संक्रान्ति) जिस ध्यान में होता है वह पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्ल-ध्यान है। यह ध्यान उपशांत (मोह)-कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।[2]

(२) **एकत्ववितर्क अवीचार**—यह ध्यान व्यञ्जन और योग के संक्रमण से रहित वस्तु के किसी एक रूप को ही ध्येय बनाने वाला होता है। किसी एक अर्थ, गुण या पर्याय का आश्रय लेकर चिन्तन करना एकत्ववितर्क अविचार है। शुक्लध्यान के प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्क वीचार में भेद प्रधान चिंतन के बाद अभेद प्रधान चिंतन में स्वतः ही स्थिरता आ जाती है। और जब चित्त की स्थिरता बढ़कर एक ही पर्याय पर टिक जाती है, तब यही ध्यान एकत्ववितर्क अवीचार कहलाने लगता है। यह ध्यान क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है।[3]

(३) **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति**—केवलज्ञान स्वभाव वाले सयोगीजिन जब सूक्ष्म काययोग में स्थित होकर जो ध्यान करते हैं वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति है।[4] इसमें श्वासोच्छवास क्रिया भी सूक्ष्म रह जाती है तथा इसकी प्राप्ति के बाद योगी अपने ध्यान से कभी गिरते नहीं हैं अतः इसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहते हैं। इस तरह जब मनोयोग और वचनयोग का निरोध हो जाता है और काययोग की श्वासोच्छवास रूप सूक्ष्मक्रिया शेष रह जाती है। इससे पतन भी

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं० कैलाशचंद्र शास्त्री द्वारा सम्पादित) ९।४४ पृष्ठ २२३.
२. उवसंतो दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं—मूलाचार ५।२०७.
३. खीणकसाओ झायदि एयत्तविदक्कवीचारं—मूलाचार ५।२०७.
४. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ४८४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्भव नहीं हो ा अतः इस अवस्था को सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति कहा जाता है। यह तेरहवें सयोगकेवलिजिन नामक गुणस्थान में होता है।[1] यह ध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्य विशेषात्मक धर्मों से युक्त छह द्रव्यों को एक साथ प्रकाशन करता है अतः सर्वगत है। वस्तुतः केवली का ध्यान केवलज्ञान मूलक होता है। अतः वह सर्वथा निश्चल होता है।[2] इस तरह सूक्ष्मकाययोग रूप आत्मपरिणाम वाला सयागकेवली-जिन इस तीसरे ध्यान को ध्याता है।

(४) **समुच्छिन्नक्रिया निर्वति (व्युपरतक्रिया निर्वति)**—शिवार्य के अनुसार काययोग का निरोध करके आयोग-केवली औदारिक, तैजस और कार्माण शरीरों का नाश करता हुआ चतुर्थ शुक्ल ध्यान को ध्याता है।[3] इस ध्यान मे क्रिया अर्थात् योग सम्यक् रूप से उच्छिन्न हो जाते हैं और यह चौदहवें आयोगकेवली नामक गुणस्थान मे होता है। यह परम निष्कम्प रत्नदीप की तरह समस्त क्रियायोग से मुक्त ध्यान दशा को प्राप्त होने पर पुनः उस ध्यान से निवृत्ति नहीं होती। अतः इसे समुच्छिन्नक्रियानिर्वति कहते हैं।[4] केवलीजिन योगों की प्रवृत्ति का अभाव करके जब अयोगी हो जाते हैं, तब सत्ता में स्थित अघातिया कर्म की पचासी (उपान्त्य समय में ७२ तथा अन्त समय में तेरह) प्रकृतियों का क्षय करने के लिए जो ध्यान करते हैं वह व्युपरतक्रियानिर्वति है।[5] चौदहवें गुणस्थान का स्थितिकाल 'अ, इ, उ, ऋ, ऌ'—इन पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण के काल प्रमाण है।[6] एक अन्तर्मुहूर्त काल तक अतिनिर्मल इस ध्यान को करके शेष चार अघातिकर्मों का विनाशकर मोक्ष को प्राप्त होता है। वह शुद्धात्मा उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक ही समय में लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्धशिला पर विराजमान हो जाता है।

सर्वार्थसिद्धि में शुक्लध्यान के इन चारों भेदों के विकासक्रम को इस तर बताया है[7]—जैसे कोई बालक हाथ में अव्यवस्थित और मौथला (ठूंठा) शस्त्र लेकर अपर्याप्त उत्साह से चलाता है और चिरकाल में वृक्ष को छेदता (काटता) है वैसे

---

१. सुहुमकिरियं सजोगी झायदि झाणं च तदिय सुक्कं तु—मूलाचार ५।२०८.
२. सुहुमम्मि कायजोगे भणिदं तं सव्वभावगदं—भ० आ० १८८६ विजयोदया.
३. वही, १८८९.
४. जं केवली अजोगी झायदि झाणं समुच्छिण्णं—मूलाचार ५।२०८ सवृत्ति.
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ४८५.
६. सो तेण पंचनत्ताकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण—भ० आ० गाथा २१२४.
७. सर्वार्थसिद्धि ९।४४।९०६ पृ० ३५०-३५१, तत्त्वार्थसूत्र (पं० कैलाशचंद्र शास्त्री) पृ० २२४-२२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही वह ध्याता भी मोहनीय कर्म की प्रवृत्तियों का उपशम और क्षय करता हुआ पृथक्त्ववितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान को धारण करने वाला होता है।

वही ध्याता जड़मूल से मोहनीय कर्म को नष्ट करने की इच्छा से पहले से भी अनन्त गुणे विशुद्ध ध्यान का आलम्बन लेकर अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति से रहित, निश्चलमन वाला वैडूर्यमणि के समान निरुपलेप जब वह क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है तो फिर ध्यान लगाकर पीछे नहीं हटता। इसलिए उसे एकत्ववितर्क अवीचार ध्यान युक्त कहा जाता है। इस प्रकार एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा चार घातिया कर्मरूपी ईंधन जला देने पर जैसे मेघमण्डल का निरोधकर अर्थात् जैसे मेघ पटल के हट जाने पर मेघों में छिपा सूर्य प्रकट हो जाता है वैसे ही कर्मों का आवरण हट जाने पर केवलज्ञान रूपी सूर्य प्रकट हो जाता है। उस समय वह तीर्थंकर, केवली अथवा सामान्य केवली होकर अपनी आयु पर्यन्त (उत्कृष्ट रूप से कुछ कम पूर्व कोटि काल तक) विहार करते हैं।

जब आयु में अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहता है तथा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति आयुकर्म के बराबर अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है, तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और बादर-काययोग को त्यागकर तथा सूक्ष्मकाय योग का आलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान करते हैं।

इसके बाद समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति नामक चतुर्थ और अन्तिम शुक्लध्यान में श्वासोच्छ्वास का संचार, समस्त मनोयोग, वचनयोग, काययोग और समस्त प्रदेशों का हलन-चलन आदि क्रिया रुक जाती है। योगों के द्वारा होने वाली आत्म प्रदेश परिस्पन्द रूप क्रिया का उच्छेद हो जाने से इस चतुर्थ ध्यान का उक्त नामकरण है। इसके होने पर समस्त कर्मबन्ध के आश्रव का निरोध हो जाता है और समस्त बचे हुए कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः मोक्ष के साक्षात् कारण यथाख्यात चारित्र-दर्शन और ज्ञान पूर्ण हो जाते हैं। और वे अयोग-केवलीजिन उस समय ध्यानातिशय रूप अग्नि के द्वारा सब प्रकार के कर्ममल जलाकर किट्ट-कालिमा से रहित शुद्ध सुवर्ण की तरह निर्मल आत्मा को प्राप्तकर परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं।

शुक्लध्यान के उपर्युक्त चार भेदों में प्रथम दो भेद सालम्बन हैं अर्थात् उनमें श्रुतज्ञान का आलम्बन रहता है। किन्तु शेष दो ध्यान निरावलम्ब हैं, उनमें किसी भी सहारे व आलम्बन की अपेक्षा नहीं रहती।

सिद्धि प्राप्ति के इच्छुक ज्ञानी जनों को ध्यान करने से पूर्व ध्यान के साधक, साधन, साध्य और फल इन चारों बातों का विधिपूर्वक ज्ञान कर लेना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए। क्योंकि आचार्यों ने ध्यान के अन्तर्गत बताया है कि संसारी भव्य पुरुष ध्यान का साधक होता है, उज्ज्वल ध्यान साधन है, मोक्ष साध्य है तथा अविनश्वर सुख ध्यान का फल है।[1]

ध्यान के चार भेदों में आर्त और रौद्र—ये अप्रशस्त ध्यान महासंसार का भय उत्पन्न करने वाले और देव तथा मोक्ष गति के सर्वथा प्रतिकूल हैं। अतः इनका त्याग कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में अपना मन लगाना चाहिए। क्योंकि कषायों के क्षयार्थ आर्त और रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान में लवलीन होने वाले शुक्ल लेश्यायुक्त श्रमण को कषायें कभी भी पीड़ा नहीं देतीं।[2] जैसे—चारों दिशाओं में बहने वाली वायु से गिरिराज (मेरु पर्वत) कभी चलायमान नहीं होता उसी प्रकार योगी को भी अचलित रूप से ध्यान को निरन्तर ध्याते हुए कभी उपसर्गादि से विचलित नहीं होना चाहिए।[3]

वस्तुतः ध्यान भले ही चार प्रकार के हों, किन्तु चारों ध्यान तप नहीं है। तप की कोटि में सिर्फ दो ही ध्यान हैं—धर्म और शुक्ल। बाकी जितने तप है वे सब ध्यान के साधन मात्र कहे जा सकते हैं।[4]

६. व्युत्सर्ग (विस्सग्ग) तप :

क्रोधादि रूप आभ्यन्तर और क्षेत्र, धन, धान्यादि रूप बाह्य परिग्रह का त्याग व्युत्सर्ग तप है।[5] इसमें सब पदार्थों यहाँ तक कि अपने शरीर व प्राण के प्रति भी मोह का त्याग किया जाता है, तभी सर्वत्र, सर्वदा निर्ममत्व-भाव की पवित्र भावना रूप व्युत्सर्ग तप किया जा सकता है। उत्तराध्ययन में कहा है सोने, बैठने तथा खड़े होने में जो भिक्षु शरीर से व्यर्थ की चेष्टा नहीं करता, यह शरीर का व्युत्सर्ग 'व्युत्सर्ग' नामक छठा तप है।[6] व्युत्सर्ग शब्द में 'वि' का अर्थ विशिष्ट और 'उत्सर्ग' का अर्थ त्याग—अर्थात् त्याग करने की विशिष्ट विधि को व्युत्सर्ग कहते हैं। इस तरह निःसंगता (अनासक्ति), निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग ही व्युत्सर्ग है।[7]

---

१. अमितगति श्रावकाचार अध्याय १५, पद्य ७-८.
२. मूलाचार ९।११७.
३. वही ९।११८.
४. षड्खण्डागम ५, पु० १३ पृष्ठ ६४.
५. उत्तराध्ययन ३०।३६.
६. मूलाचार ५।२०९.
७. निःसंग-निर्भयत्व जीविताशा व्युदासाद्यर्थी व्युत्सर्गः—तत्त्वार्थवार्तिक ९।२६।१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्युत्सर्ग के दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चौदह प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है। तथा क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयनासन, कुप्य (वस्त्र) और भाण्ड (पात्र)—ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है[1]। भगवती सूत्र और औपपातिक सूत्र में उपर्युक्त दो भेदों को क्रमशः द्रव्य-व्युत्सर्ग और भाव-व्युत्सर्ग नाम से उल्लिखित किया है। इनमें द्रव्य-व्युत्सर्ग के ४ भेद किये गये हैं। १. शरीर-व्युसर्ग अर्थात् शरीर चंचलता का त्याग, २. गण-व्युत्सर्ग—विशेष साधना के निमित्त गण का त्याग ३. उपधि-व्युत्सर्ग और ३. भक्त-पान-व्युत्सर्ग। भाव-व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं—१. कषाय व्युत्सर्ग, २. संसार-व्युत्सर्ग (परिभ्रमण का त्याग) तथा ३. कर्म-व्युत्सर्ग अर्थात् कर्म-पद्गलों का त्याग।[2]

उपर्युक्त छह बाह्य और छह आभ्यन्तर—इन बारह प्रकार के तप से युक्त हो जो विधिपूर्वक अपने कर्मों का क्षयकर व्युत्सर्ग—निर्ममता पूर्वक शरीर-त्याग करते हैं वे अनुत्तर निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं।[3] क्योंकि तप का लक्ष्य राग-द्वेष आदि विकारों को सदा के लिए दूरकर आत्मपरिशोधन है न कि मात्र देहदमन। तप के माध्यम से आत्मशुद्धि हेतु विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मविशुद्धि और आत्मसाधना का माध्यम मात्र है। वस्तुतः जो ज्ञान-स्वभाव की भावना भाता है उसे बाह्य तप स्वयमेव हो जाता है। और आभ्यन्तर तप तो स्वयं आत्मा, ज्ञान, ध्यान आदि रूप है जो आत्मविशुद्धि का साक्षात् साधन है। अतः तप को साधक जीवन की कसौटी माना जाता है।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर रूप इन बारह तपों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति हेतु साधना के क्षेत्र में ये तप दिव्य रसायन हैं। यद्यपि साधना पद्धति के अनेक अंग और तत्त्व हैं किन्तु प्रायः सभी का अन्तर्भाव तप के उपर्युक्त प्रकारों एवं उनके विश्लेषण में है। इस दृष्टि से साधना की 'सम्पूर्ण पद्धति' के रूप में ये सभी तप साधक को कल्याणकारी होने से उपादेय हैं। इतना ही नहीं आज भौतिक जगत् में मानसिक, वैचारिक तथा परस्पर बढ़ते तनाव और अशान्ति को दूर करने में इन तपों की आंशिक साधना तक के अच्छे परिणाम सर्व सामान्य को भी प्राप्त हो सकते हैं।

---

१. मूलाचार ५।२१०-२११।
२. भगवती सूत्र २५।७।८२, औपपातिक सूत्र २०.
३. दंसणपाहुण ३६, उत्तराध्ययन ३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परीषह-क्षमण (परीषहजय) :

श्रमण जीवन का साधना मार्ग तलवार की धार पर चलने के समान है। उसमें सदा मन, वचन और काय सम्बन्धी कष्ट, वेदना, दुःख तथा विघ्न-बाधाओं आदि प्रतिकूलताओं का आना कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु उनसे विचलित न होते हुए समताभाव से उन्हें सहकर आत्मिक विकास में लगे रहना आवश्यक होता है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि दुःखों का अनुभव किये बिना प्राप्त किया गया ज्ञान दुःख पड़ने पर नष्ट हो जाता। अतः मुनि को शक्ति के अनुसार दुखों के साथ आत्मा की भावना करना चाहिए। अर्थात् आत्मानुभव के साथ दुःखों को सहन करने की शक्ति होनी चाहिए[1]। इन्हीं दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए श्रमणाचार में परीषह-क्षमण अर्थात् परीषह जय का विधान किया गया। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा विघ्न-बाधायें या कष्ट सदा एक समान नहीं होते, उनमें भिन्नता होती है। जैन परम्परा में विघ्न-बाधाओं या कष्ट आदि को समतापूर्वक सहन करने को परीषहजय कहा जाता है।

परीषह की परिभाषा करते हुए उमास्वामी ने कहा है कि अपने मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए भूख-प्यास आदि जो दुःख, कष्ट या विघ्न सहन किये जायें उन्हें परीषह कहते हैं[2]। वैसे जो सहीं जायें वे परीषह हैं और परीषहों का जय परीषह जय है[3] अर्थात् क्षुधा आदि की वेदना होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे सह लेना परीषह है और परीषह का जीतना परीषह जय है।[4]

भाव पाहुड में कहा है कि जैसे पत्थर चिरकाल तक जल में डूबे रहने पर भी उस पत्थर में न तो जल प्रवेश कर पाता है और न अन्दर से गीला ही होता है, इसी प्रकार श्रमण को उपसर्ग और परीषहों के उदय से खेदखिन्न नहीं होना चाहिए।[5] वस्तुतः साधना-मार्ग में आने वाले कष्टों को समता भाव से सहना चाहिए, चाहे वे कष्ट जीवों द्वारा या प्रकृति द्वारा ही क्यों न किये गये हों। जैसे उष्णता, ताडन आदि सहन करने के बाद ही स्वर्ण शुद्ध होता है वैसे ही

१. अदुःखभावितं ज्ञानं हीयते दुःख सन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ समाधितंत्र १०२.

२. मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः—तत्त्वार्थसूत्र ९।८.

३. परिपूर्वात्सहेः कर्मण्यकारः परिषह्यत इति परीषहः। परीषहस्य जयः परीषहजयः—तत्त्वार्थवार्तिक ९।२।६ पृ० ५९२.

४. क्षुधादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परीषहः। परिषहस्य जयः परिषहजयः —सर्वार्थसिद्धि ९।१।७८९ पृ० ३१२.

५. भाव पाहुड ९५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म साधना में लीन मुमुक्षु को अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता प्राप्ति के लिए आत्म-साधना, तपश्चरण आदि के साथ ही विविध उपसर्ग और परीषह सहने का सहज अभ्यस्त होना आवश्यक होता है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार श्रमण को आगमानुकूल प्रमादरहित होकर, संयम के घातक कार्यों को छोड़कर सदा बाईस परीषहों का सहन करने का अभ्यस्त हो जाना चाहिए।[1]

परीषह के भेद :

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, अचेलभाव, अरति-रति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, अयाचन, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, जल्ल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन—ये बाइस परीषह हैं।[2] इनमें से प्रत्येक परीषह का स्वरूप क्रमशः इस प्रकार है—

१. चारित्र मोहनीय और वीर्यान्तराय कर्म से असाता वेदनीय का उदय होने पर भोजन की अभिलाषा उत्पन्न होने पर भी उसे समता पूर्वक सहन करना क्षुधा-परीषह क्षमण है।

२. पानी पीने की इच्छा उत्पन्न होने पर उसे सहन करना तृषा परीषह क्षमण है।

३. वस्त्र, कंबलादि ओढ़ने की इच्छा न करके शीत सहन करना शीत परीषह क्षमण है।

४. सूर्य की उष्णता और ज्वर आदि के संताप की पीड़ा सहन करना उष्ण परीषह क्षमण है।

५. डांस, मच्छर, पिस्सू, खटमल, चींटी आदि के द्वारा उपस्थित बाधा (पीड़ा) सहन करना दंशमशक परीषह क्षमण है।

६. नग्नता से उत्पन्न संक्लेश-सहन करना अचेल या नाग्न्य परीषह क्षमण है।

७. असंयम के प्रति मन में अरति—अरुचि उत्पन्न होना अर्थात् इन्द्रिय विषयों के प्रति निरुत्सुक तथा प्राणियों के प्रति सर्वदा सदय होना अथवा संयम में अरुचि और असंयम में रुचि उत्पन्न न होने देना अरतिरति परीषह क्षमण है।

---

१. भावपाहुड, ९४.

२. छुहतण्हा सीदुण्हा दंसमसयमचेल भावो य।
अरदिरदिइत्थिचरियाणिसीधिया सेज्ज अक्कोसो॥
बधजायणं अलाहो रोग तणप्फास जल्लसक्कारो।
तह चेव पण्ण परिसह अण्णाणमदंसणं खमणं॥ मूलाचार ५।५७, ५८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. स्त्रियों के कटाक्षादि, उनके ललित भाषण एवं मीठी हँसी आदि से मन में काम-विकार उत्पन्न न होने देना स्त्री परिषह क्षमण हैं।

९. मिट्टी, कंकड़, कांटों से युक्त मार्गों पर चलने में भी पीड़ा का अनुभव न करना चर्या परीषह क्षमण है।

१०. श्मशान, शून्यागार एकान्त आदि स्थानों में वीरासन आदि से ध्यान करते समय होने वाली पीड़ा सहन करना निषद्या परीषह क्षमण है।

११. तीक्ष्ण आदि विषम भूमि पर एक करवट या दण्डासन से शयन करने में उत्पन्न पीड़ा को सहन करना शय्या परिषह क्षमण है।

१२. मार्ग में गमन आदि के समय मिथ्यादृष्टि जनों के द्वारा, श्रमण या उसके संघ की निन्दा, अवज्ञा, कटुवचन आदि बोलने पर आक्रोश उत्पन्न न होने देना या उनके द्वारा प्रगट आक्रोश को सहन करना आक्रोश परीषह क्षमण है।

१३. किसी के द्वारा मुद्गरादि से मारने पर उत्पन्न पीड़ा को सहन करना वध परीषह क्षमण है।

१४. स्वप्राणघात की भी स्थिति उत्पन्न होने पर औषधि आदि की याचना न करना अयाचन परीषह क्षमण है।

१५. अन्तराय कर्मों के उदय से आहारादि के प्राप्त न होने पर तद्जन्य अभाव का कष्ट सहना अलाभ परीषह क्षमण है।

१६. ज्वर, खाँसी आदि प्रकार के विविध रोगों के उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा के लिए अधीर न बनकर उस रोग से उत्पन्न वेदना को समभाव से सहन करना रोग परीषह क्षमण है।

१७. सूखा घास, कर्कश-कठोर मिट्टी आदि स्थानों पर सोने या नंगे पैरों चलने से उत्पन्न पीड़ा के परिहार में जिसका चित्त निरन्तर प्रमादरहित है, उसके तृणस्पर्श परीषह क्षमण जानना चाहिए।

१८. अस्नान के कारण गर्मी आदि में शरीर से पसीना निकलने, धूल लगने से उत्पन्न बाधा को सहन करना जल्ल परीषह क्षमण है।

१९. पूजा, प्रशंसा, स्तुति तथा अभिवादन द्वारा किसी अन्य श्रमण का सम्मान होते देख और स्वयं का सम्मानादि न होने पर ईर्ष्याभाव न करना सत्कार-पुरस्कार परीषह क्षमण है।

२०. विज्ञान (विशेष ज्ञान) से उत्पन्न गर्व का निरसन करना प्रज्ञा परीषह क्षमण है।

२१. सिद्धान्त, व्याकरण, तर्क आदि शास्त्रों का अज्ञान होने से मन में उत्पन्न संताप से खेद-खिन्न न होना अज्ञान परीषह क्षमण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२. महाव्रतों आदि तथा अन्यान्य तपश्चरण करने के बाद भी ऋद्धि आदि उत्पन्न न होने पर खेद-खिन्न न होना अथवा ऋद्धि आदि की सिद्धि के अलावा आत्म-कल्याण के लिए श्रद्धापूर्वक महाव्रत आदि का पालन करते रहना अदर्शन परीषह क्षमण है।[1]

उपर्युक्त बाइस परीषह में से अन्य ग्रन्थों में सातवीं अरति परीषह का नाम आया है किन्तु मूलाचार में अरतिरति परीषह क्षमण का नामोल्लेख है, जिसका अर्थ असंयम में अरुचि और संयम में रुचि का होना है।

इस प्रकार ये परीषह श्रमण जीवन में बहुत उपयोगी हैं क्योंकि श्रमण-जीवन में विविध बाधायें, प्रतिकूलतायें तथा उपसर्गादि तो बने ही रहते हैं। किन्तु इन्हें समतापूर्वक सहते हुए अपनी लक्ष्य-सिद्धि में लगे रहने को ही परीषह-जय कहा है। इस विषय में यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि परीषहों का जैसा विवेचन जैन आचार विषयक वाङ्मय में मिलता है अन्य परम्पराओं में नहीं।

पंचाचार :

सामान्यतः सिद्धान्तों, आदर्शों तथा विधि-विधान का व्यावहारिक-प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक पक्ष 'आचार' कहा जाता है। जैन दृष्टि में अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल सम्यग्दर्शनादि में यत्नशील रहना आचार है।[2] आचार शब्द के तीन भेद हैं—आचरण, व्यवहरण और आसेवन।[3]

आचार के भेद :

दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—ये आचार के पाँच भेद हैं।[4] इनका विवेचन प्रस्तुत है—

१. दर्शनाचार :

सम्यग्दर्शन विषयक आचरण अर्थात् शंका, कांक्षा आदि दोषों से रहित तत्त्व-श्रद्धान रूप विषयों में किया गया प्रयत्न दर्शनाचार है।[5]

दर्शनाचार के निम्नलिखित आठ प्रकार हैं।[6]

---

१. मूलाचार वृत्ति ५।५७-५८.
२. सागारधर्मामृत ७।३५.
३. आचरणमाचारो व्यवहारः—स्थानाङ्ग वृत्ति पत्र ६०.
४. दंसणणाण चरित्ते तवे विरियाचरह्मि पंचविहे।
वोच्छं अदिचारे हं कारिदमणुमोदिदे अ कदे ॥ मूलाचार ५।२.
५. मूलाचार वृत्ति ५।१७१.
६. णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिच्छा अमूढ़दिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा य ते अट्ठ ॥—मूलाचार ५।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **निःशंकित**—निश्चय के अभाव को शंका कहते हैं। इसके विपरीत जिसमें वस्तुस्वरूप का निश्चय होने से परिणामों में जो दृढ़ता होती है उसे निःशंकित कहते हैं।

१. **निःकांक्षित**—इहलोक और परलोक के भोगों की अभिलाषा 'कांक्षा' कहलाती है। इस कांक्षा का अभाव अर्थात् इन भोगों में रुचि का अभाव निष्कांक्षित है। इहलोकाकांक्षा, परलोकाकांक्षा और उभयलोकाकांक्षा—इन तीनों कांक्षाओं का अभाव निःष्कांक्षित है ओर ये ही इसके तीन भेद हैं।[१]

३. **निर्विचिकित्सा**—विचिकित्सा का अर्थ 'ग्लानि' है। द्रव्य और भाव—ये इसके दो भेद हैं। उच्चारादि अर्थात् मल-मूत्र, श्लेष्म, चर्म, मांस, जल्ल-मल्ल युक्त शरीर आदि देखकर ग्लानि उत्पन्न होना द्रव्य विचिकित्सा है तथा क्षुधा, तृषा, दंशमशक, नग्नतादि के प्रति मन में ग्लानि उत्पन्न होना भावविचिकित्सा है। इन दोनों प्रकार की विचिकित्सा का अभाव निर्विचिकित्सा है।[२]

४. **अमूढ़दृष्टि**—लौकिक, वैदिक समय या सामयिक अर्थात् अन्यान्य दार्शनिक मतों के आचार तथा मिथ्या देवों आदि में श्रद्धा का भाव होना मूढ़दृष्टि है। मूढ़दृष्टि के चार भेद हैं—लौकिक, वैदिक, सामयिक तथा अन्यदेव-मूढ़ता।[३] कौटिल्य, (कौटिल्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र) आसुरक्ष अर्थात् भय, प्राणघात, वंचना आदि के माध्यम से जिस धर्म-कार्य, चाणक्य आदि के उपदेश या ग्रन्थ में प्राण रक्षा के विधान का प्रतिपादन किया गया हो, भारत (महाभारत), रामायण आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित कुछ असद्धर्म की बातों को सच्चा समझना लौकिक मूढ़ता है।[४] ऋग्वेद, सामवेद, वाक्-ऋचा, अनुवाक् अर्थात् मनु आदि की स्मृतियाँ आदि शास्त्र हिंसा के भी उपदेशक होने से तुच्छ अर्थात् धर्म-रहित हैं। अतः ऐसे शास्त्रों पर श्रद्धा करना वैदिकमूढ़ता है।[५] रक्तपट (बौद्ध), चरक (कणचर या नैयायिक-वैशेषिक), तापस (कन्दमूल फलादि का आहार करने वाले वनवासी, जटा, कौपीन आदि धारी साधु), परिव्राजक (एक दण्डी, त्रिदण्डी

---

१. मूलाचार ५।५२. २. वही ५।५५.

३. लोइयवेदियसामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं।
णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए ॥ वही ५।५९.

४. कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा।
होज्जु व तेसु विसुत्ती लोइयमूढो हवदि एसो ॥ वही ५।६० सवृत्ति.

५. रिव्वेदसामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाइं।
तुच्छाणि ताणि गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो ॥ वही वृत्तिसहित ५।६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

.ादि साधु), तथा अन्यान्य पाखंडी साधुओं को संसार से पार करने वाला मानना समयमूढ़ता है ।[1] ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, आर्या (पार्वती), स्कन्द (कार्तिकेय) आदि देव देवत्वभाव एवं सर्वज्ञत्व से रहित कहे गये हैं फिर भी इन्हें देव समझना देवमूढ़ता है ।[2]

उपर्युक्त लौकिक, वैदिक, समय या सामयिक तथा देव—ये चारों मूढ़ताएँ सम्यक्त्व की घातक हैं । अतः इनका सर्वथा त्याग करना चाहिए ।[3]

५. **उपगूहन**—सम्यग्दर्शन और चारित्र से मलिन साधर्मिक को धर्मभक्ति के भावों से उसके दोषों को ढकना उपगूहन अंग है । यह अंग दर्शन और चारित्र-गुण को निर्मल करता है ।[4] मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका—इस रूप चतुर्विध संघ के दोषों को आच्छादित करना या इनके द्वारा हुए प्रमादाचरण को प्रगट न करना उपगूहन अंग है ।[5]

६. **स्थितिकरण**—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट जीवों को देखकर धर्म बुद्धिपूर्वक, हित, मित और प्रिय वचनों द्वारा दोष दूरकर शीघ्र ही रत्नत्रय में स्थिर करना स्थितिकरण है ।[6]

७. **वात्सल्य**—जैसे गाय अपने बछड़े पर स्नेह रखती है, वैसे ही चतुर्गति के भ्रमण का नाश करने वाले ऋषि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुः संघ में वात्सल्यभाव रखना चाहिए ।[7]

८. **प्रभावना**—धर्मकथा आदि के कथन, आतापन, वृक्षमूल आदि योगों द्वारा तथा हिंसादि दोष रहित अपने अहिंसामय धर्म की जीवदया, अनुकम्पा, दान, पूजा आदि द्वारा प्रभावना करना चाहिए ।[8]

---

१. रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीय अण्णपासंढा ।
संसारतारगत्ति य जदि गेण्हइ समयमूडो सो ।। मूलाचार ५।६२.

२. ईसरबंभाविण्हू अज्जाखंदादिया य जे देवा ।
ते देवभावहीणा देवत्तणभावणे मूढो ।। वही ५।६३.

३. वही ५।५९.

४. वही ५।६४.

५. मूलाचार वृत्ति ५।४.

६. मूलाचार ५।६५.

७. चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे ।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी ।। वही ५।६६.

८. वही ५।६७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस तरह जिनोपदिष्ट तत्त्वार्थों का स्वरूप भावतः सत्य है—ऐसा मानना सम्यग्दर्शन है तथा इसके विपरीत श्रद्धा रखना मिथ्यादर्शन है ।[1] संवेग (संसार-भय) वैराग्य, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा और वात्सल्य—ये आठ गुण भी सम्यग्दर्शन के ही हैं । दर्शनाचार के पूर्वोक्त आठ अंग भी कहे जाते हैं ।[2]

२. ज्ञानाचार :

ज्ञानाचार से तात्पर्य श्रुतज्ञान विषयक आचरण अर्थात् मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—इन पाँच ज्ञानों की उत्पत्ति के कारणभूत शास्त्रों का अध्ययन, आदर आदि करना ज्ञानाचार है ।[3] यहाँ ज्ञान से तात्पर्य सम्यग्ज्ञान है । जिसके द्वारा तत्व का स्वरूप ज्ञात किया जाता है, चित्तवृत्ति का निरोध किया जाता है, जिसके आश्रय से आत्मा विशुद्ध (वीतराग) बन जाता है ।[4] जिसके द्वारा जीव राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विभावों से विरक्त होकर श्रेयस् (स्व कल्याण) में अनुरक्त होता है तथा मैत्रीभाव की ओर बढ़ता है ऐसा ही ज्ञान जिन शासन में प्रमाण है ।[4]

ज्ञानाचार के भेद—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ और तदुभय—इनकी शुद्धिपूर्वक ज्ञान का अभ्यास करना ज्ञानाचार है । ये ही ज्ञानाचार के आठ भेद कहलाते हैं ।[5]

१. **काल**—कालक्रमानुसार निर्धारित कार्यों को उसी के अनुसार करना अथवा स्वाध्याय काल-विशेष में शास्त्र पठन, पुनः पुनः उच्चारण, व्याख्यान आदि कार्य जिस समय किये जाने का विधान है उन्हें उसी समय करना काल-ज्ञानाचार है ।[6] जैसे रात्रि के पूर्वभाग एवं दिन के पश्चिम भाग रूप दो

---

१. मूलाचार ५।६८.

२. कुन्द० मूलाचार ५।८३.

३. पंचविधज्ञाननिमित्तं शास्त्राध्ययनादिक्रिया ज्ञानाचारः । मूलाचार सवृत्ति ५।२.

४. जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥
जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्तीं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥ मूलाचार ५।७०, ७१.

५. काले विणए उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे ।
वंजण अत्थ तदुभए णाणाचारो दु अट्ठविहो ॥
—वही ५।७२, दशवैकालिक निर्युक्ति १८४.

६. मूलाचार वृत्ति ५।७२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रादोषिक काल, वैरात्रिक (रात्रि का पश्चिम भाग) और गोसर्गिक—इन चार कालों में पठन, परिवर्तन, व्याख्यान आदि कार्य करना काल ज्ञानाचार है।[1]

२. **विनय**—ज्ञानप्राप्ति के प्रयत्नों में सदैव विनम्रता का भाव रखना, जैसे—पुस्तकादि को पिच्छिका से शुद्धि करके, हाथ जोड़कर, प्रणाम करके स्वशक्त्यानुसार शुद्धोपयोगपूर्वक सूत्रार्थ का अध्ययन करना विनय ज्ञानाचार है।[2] अर्थात् मन, वचन और काय के निर्मल परिणामों युक्त हो श्रुत का पठन-पाठन, व्याख्यानादि करना विनय ज्ञानाचार है।[3]

३. **उपधान**—श्रुतवाचन आदि के समय तप करना अर्थात् रसपरित्याग आदि के नियम पूर्वक अध्ययनादि करना उपधान ज्ञानाचार है।[4] जैसे आचाम्ल (कांजी के साथ भात), निर्विकृति (जिससे जिह्वा एवं मन विकार रहित हों ऐसा घी, दही आदि से रहित ओदन आदि रूप अन्न) तथा अन्य पक्वान्न—ये अन्न शास्त्र-स्वाध्याय की एकाग्रता में सहायक होने से उपधान कहलाते हैं।[5]

४. **बहुमान**—ज्ञान के प्रति आन्तरिक अनुराग अर्थात् पूजा एवं सत्कारपूर्वक पठनादि कार्य करना बहुमान ज्ञानाचार है।[6] अंगश्रुत के सूत्रार्थों का शुद्ध पठन-पाठन, उच्चारण और प्रतिपादन करने से कर्मों की निर्जरी होती है। अतः श्रमण को आचार्य, शास्त्रादि की आसादना न करने उनकी विनय, पूजन आदि द्वारा बहुमान प्रगट करना बहुमान है।[7]

५. **अनिह्नव**—विद्यागुरु, आचार्य आदि का नाम न छिपाना अथवा जिस श्रुत के अध्ययन से ज्ञान प्राप्त किया हो उस श्रुत को प्रगट करना अनिह्नव ज्ञानाचार है।[8] कुल, व्रत और शील विहीन साधु या गुरु से शास्त्र पढ़कर के

---

१. पादोसियवेरत्तियगोसग्गियकालमेव गेण्हित्ता।
उभये कालह्मि पुणो सज्झाओ होदि कायव्वो ।। मूलाचार ५।७३.

२. वही ५।८४.

३. मूलाचार वृत्ति ५।७२.

४. मूलाचार ५।७२, ८५.

५. आयंविल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ।। वही ५।८५.

६. मूलाचार वृत्ति ५।७२.

७. मूलाचार ५।८६.

८. मूलाचार वृत्ति ५।७२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी ऐसा कथन करना कि मैंने इन गुणों से युक्त गुरु से शास्त्राध्ययन किया है—यह निह्नवदोष है ।[1]

६. **व्यंजन**—सूत्र का वचन करना, वर्ण, पद और वाक्यों का शुद्ध उच्चारण करना तथा व्याकरण के आश्रय से निरुक्तिपूर्वक सूत्रग्रन्थ पढ़ना व्यंजन ज्ञानाचार है ।[2]

७. **अर्थ**—अर्थबोध करना अर्थात् शास्त्र में अनेकान्तात्मक अर्थ का समन्वय करके अविरोध पूर्वक अर्थ प्रतिपादन करना अर्थ ज्ञानाचार है ।[3]

८. **तदुभय (व्यंजनार्थोभय)**—सूत्र अथवा शब्द (व्यंजन) और अर्थशुद्धि के साथ शास्त्र का अध्ययन करना तदुभय ज्ञानाचार है ।[4]

३. चारित्राचार :

प्राणिवध से निवृत्ति तथा इन्द्रियजय में प्रवृत्ति[5] रूप चारित्र गुणयुक्त होना चारित्राचार कहलाता है ।[6] प्राणिवध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन और परिग्रह—इन पाँच पापों से विरत होना पाँच प्रकार का चारित्राचार है ।[7] मन, वचन और काय की शुभप्रवृत्ति रूप प्रणिधानयोग युक्त तीन गुप्ति और पाँच समिति अर्थात् अष्टप्रवचनमाता के भेद से चारित्राचार के आठ भेद भी हैं ।[8] जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है वैसे ही मुनियों के रत्नत्रय का रक्षण और संवर्धन ये अष्ट प्रवचनमाता करती हैं ।[9]

चारित्राचार के अष्टप्रवचनमाता रूप आठ भेदों में पाँच समितियों का विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है । यहाँ शेष तीन भेद रूप तीन गुप्तियों का स्वरूप प्रस्तुत है—

---

१. मूलाचार ५।८७.
२. मूलाचार वृत्ति० ५।७२, ८८.
३. मूलाचार ५।७२ वृत्तिसहित. ४. वही.
५. प्राणिवधपरिहारेन्द्रियसंयमनप्रवृत्तिश्चारित्राचार :—मूलाचार वृत्ति ५।२.
६. मूलाचार ५।९०.
७. पाणिवहमुसावाद अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदो ।
एस चारित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥ वही ५।९१.
८. पणिधाण जोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
एस चरित्ताचारो अट्ठविहो होइ णायव्वो ॥ वही ५।१००.
९. एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं ।
रक्खंति सदा मुणिणो मादा पुत्तं व पयदाओ ॥ वही ५।१३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुप्तिः—संसार के कारणों से आत्मा की सम्यक् प्रकार में रक्षा करना अथवा मन, वचन और काय की अशुभयोग रूप प्रवृत्ति का निग्रह तथा निर्दोष प्रवृत्ति का नाम गुप्ति है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का रक्षण तथा मिथ्यात्व, असंयम और कषायों से आत्मा का रक्षण करने वाली गुप्तियाँ हैं।[1] जैसे खेत का रक्षण बाड़ (बाड़ी) तथा नगर का रक्षण प्राकार या खाई (परिखा या तट) करती हैं वैसे ही अशुभ कर्मों से ये गुप्तियाँ श्रमण की रक्षा करती हैं।[2] हिंसा, चोरी, असत्य भाषण आदि रूप सावद्य (पाप) कार्यों से मन की प्रवृत्ति, वचन का व्यापार और मन की चेष्टा का निवारण करना क्रमशः गुप्ति के तीन भेद हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।[3] रागद्वेष से मन में उत्पन्न सभी तरह के संकल्पों का त्याग मनोगुप्ति है। असत्य कटु आदि वचनों का त्याग तथा मौन धारण करना वचनगुप्ति है।[4] शारीरिक क्रियाओं की निवृत्ति तथा कायोत्सर्ग करना एवं हिंसादि पापों से निवृत्त होने का नाम काय-गुप्ति है।[5] इस तरह मन, वचन और कायरूप योग की प्रवृत्ति को ध्यान और स्वाध्याय में समाहित करना चाहिए।[6]

४. तपाचार :

कायक्लेशादि रूप बारह प्रकार के तपों में कुशल एवं अग्लान रहना तथा उत्साहपूर्वक इन तपों का अनुष्ठान करना तपाचार है।[7]

तपाचारके बाह्य और आभ्यन्तर ये दो भेद हैं। बाह्य तपाचार के अनशन अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, कायक्लेश तथा विविक्तशयनासन—ये छह भेद हैं तथा आभ्यन्तर तपाचार के प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छह भेद हैं—इस तरह तपाचार के बारह भेद हैं।[8] आभ्यन्तर तपाचार से विशुद्ध परिणाम तथा बाह्य तपाचार आभ्यन्तर तपाचार की वृद्धि में सहायक होता है।[9]

---

१. मूलाचार वृत्ति ५।१३६.
२. खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहवा होइ पायारो।
तह पावस्य णिरोहो ताओ गुत्तीउ साहुस्स॥ मूलाचार ५।१३७.
३. वही ५।१३४. ४. वही ५।१३५.
५. वही ५।१३६. ६. वही ५।१२८.
७. मूलाचार वृत्ति० ५।२.
८. दुविहो य तवाचारो बाहिर अब्भंतरो मुणेयव्वो।
एक्कक्को वि य छद्धा जधाकम्मं तं परूवेमो॥ मूलाचार ५।१४८.
९. वही ५।२१५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. वीर्याचार :

द्रव्य की स्वशक्ति विशेष का नाम वीर्य है।[1] शुभ कार्य में सामर्थ्य तथा उत्साह रखना वीर्याचार है।[2] ज्ञान, तप आदि के विषय में शक्ति का न अतिक्रमण करना और न अपनी शक्ति छिपाना वीर्याचार है। बल, वीर्य, शक्ति, पराक्रम और धृति—इन पाँच के आश्रय से योग्य आचरण करना भी वीर्याचार है।[3] मूलाचार के अनुसार आहार, औषधि आदि से उत्पन्न बल और वीर्य को न छिपाकर उसका उपयोग प्राणिसंयम, इन्द्रियसंयम तथा तपश्चरण आदि में प्रतिसेवा, प्रतिश्रवण और संवास—इन तीन अनुमति दोष रहित यथोक्त चारित्र में अपनी आत्मा को युक्त करना वीर्याचार है।[4] तथा इन्हीं तीन अनुमति दोषरहित होकर वीर्याचार का पालन किया जाता है।

इन तीन अनुमति दोषों में प्रथम प्रतिसेवा अनुमति दोष का अर्थ है—पात्र के उद्देश्य से लाई हुई आहारादि सामग्री का सेवन एवं ग्रहण करना।[5] द्वितीय अनुमति दोष अर्थात् दाता द्वारा उद्देश्य की विज्ञप्ति के बाद भी यदि श्रमण आहारादि तथा अन्य उपकरण ग्रहण करता है या ग्रहण के बाद अपने को लक्ष्यकर लायी हुयी सामग्री का ज्ञान होने पर भी कुछ न बोलना या उसका त्याग न करना प्रतिश्रवण अनुमति दोष है।[6] तथा सावद्य से ममत्ववश संक्लेश परिणाम उत्पन्न होना अर्थात् गृहस्थ के साथ सदा सम्बन्ध रखते हुए उपकरणादि से ममत्व भाव रखना तृतीय संवास नामक अनुमति दोष है।[7]

संयमयुक्त होकर भी वीर्याचार का पालन किया जाता है। प्राणिसंयम एवं इन्द्रियसंयम इन दो संयमों में प्राणिसंयम के सत्रह भेद हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन पंचकायिक जीवों, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इन चार प्रकार के त्रस जीवों तथा अजीवकाय की रक्षा करना—दस प्रकार का संयम है।[8] अप्रतिलेख—बिना देखे-शोधे पदार्थ

---

१. द्रव्यस्य स्वशक्ति विशेषो वीर्यम्—सर्वार्थसिद्धि ६।६. पृ० ३२३.

२. मूलाचार वृत्ति ५।२.

३. बलवीरियसत्तिपरक्कमधिदिबलमिदि पंचधा उत्तं।
तेसिं तु जहाजोग्गं आचरणं वीरियाचारो॥
—कुन्दकुन्दकृत माना जाने वाला मूलाचार ५।२३९.

४. अणुगूहिदबलविरिओ परिक्कामदि जो जहुत्तमाउत्तो।
जुंजदि य जहाथाणं विरियाचारोत्ति णादव्वो॥ मूलाचार ५।२१६.

५. वही ५।२१७. ६. वही, ५।२१८.

७. वही, ५।२१९. ८. वही, ५।२१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उठाना-रखना, दुष्प्रतिलेख—असावधानीपूर्वक शोधन करना, उपेक्षासंयम—संमूर्च्छनादि जीवों की उपेक्षा करना, अपहृत्यासंयम—पंचेन्द्रिय, द्विन्द्रियादि जीवों को एक जगह से निकालकर असावधानीपूर्वक दूसरे स्थानों में छोड़ देना इन चार में प्रवृत्ति न करना एवं मन, वचन और काय—इन तीनों की प्रवृत्ति जीवरक्षण में रखना—इस प्रकार सत्रह प्रकार का प्राणिसंयम है।[1] पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श तथा षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद—ये सप्त स्वर एवं मन—इन अट्ठाइस विषयों का निरोध करना अट्ठाईस प्रकार का इन्द्रियसंयम है। इन भेदों में से मन की प्रवृत्ति का निरोध नोइन्द्रिय संयम कहलाता है। चौदह प्रकार के जीवसमास की रक्षा प्राणसंयम है।[2]

इस प्रकार संक्षेप में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य (शक्ति) का आत्म-विशुद्धि हेतु उपयोग करना ही क्रमशः दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार कहलाता है।

दशधर्म :

राग-द्वेषादि समस्त दोषरहित आत्मा का आत्मा में रत होना धर्म है।[3] वस्तुतः वस्तु का स्वभाव धर्म है जिसका अर्थ शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना है। इसलिए धर्म से परिणत आत्मा ही धर्म है। जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख (वीतरागता) में धारण करता है वह धर्म है। वह धर्म कर्मों का विनाशक तथा समीचीन है।[5] धर्म को अहिंसा लक्षण वाला भी बताया गया है। ऐसे धर्म का आधार सत्य है। विनय उसकी जड़, क्षमा उसका बल है। वह ब्रह्मचर्य से रक्षित है। उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका

---

१. अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखुअवहट्टु संजमो चेव।
मणवयणकायसंजम सत्तरसविधो दु णादव्वो।। मूलाचार ५।२२०

२. पंचरसपंचवण्णा दो गंधा अट्ठ फास सत्त सरा।
मणसा चोद्सजीवा इन्दियपाणा य संजमो णेओ।। मूलाचार ५।२२१

३. अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिजत्तो।
संसारतरणहेदु धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। भाव पाहुड ८५.

४. वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। ततो यमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवति—प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टीका ७।८.

५. देशयामि समीचीनं धर्म कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षण एवं निष्परिग्रहता उसका आलम्बन है।[1] समता, मध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्वभाव की आराधना—ये सब एकार्थवाची शब्द हैं।[2] यहाँ चारित्र आदि को भी धर्म कहा है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म की उक्त सभी परिभाषाओं को एकत्ररूप में उल्लेख मिलता है।[3]

क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य—धर्म के ये दस भेद सामान्यतः सभी जैन शास्त्रों में दृष्टिगोचर होते हैं।[4] दिगम्बर परम्परा के मूलाचार और श्वेताम्बर परम्परा के समवायांग सूत्र में उपर्युक्त कुछ के नामों और कुछ के क्रम में अन्तर है। अर्थ और संख्या की दृष्टि से सब में समानता है।

क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, लाघव, तप संयम, अकिंचनता, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग[5]—ये दस भेद मूलाचार के अनुसार है।

क्षान्ति, मुक्ति (अकिंचन्य), आर्जव, मार्दव, लाघव (शौच), सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य—ये दस भेद समवायांग सम्मत हैं।[6]

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं के क्रम और नाम दृष्टि से अल्पाधिक अन्तर के अतिरिक्त समानता है। समवायांग में मूलाचार के अकिंचणदा धर्म के स्थान पर मुत्ती (मुक्ति) और छागो (त्याग) के स्थान पर चियाए नाम मिलता है। किन्तु अर्थ दोनों का समान है। क्रमागत अन्तर स्पष्ट ही है। ये श्रमणधर्म होने के कारण प्रत्येक धर्म के साथ 'उत्तम' विशेषण भी तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा से लेकर परवर्ती ग्रन्थों में मिलता है जैसे उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव आदि। प्रत्येक धर्म के आगे "उत्तम" विशेषण जोड़ने का अर्थ है सम्यग्दर्शन पूर्वक सर्वोत्कृष्ट क्षमा, मार्दव आदि धर्म ग्रहण करना, न कि ऊपरी या दिखावे मात्र को ये धर्म ग्रहण करना। इन दस धर्मों का विवेचन प्रस्तुत है—

---

१. सर्वार्थसिद्धि ९।७।८१० पृ० ३१९.

२. नयचक्र० वृ० ३५६.

३. धम्मो वत्थु-सहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥ कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४७८.

४. उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः
—तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ९।६.

५. खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा।
तह होदि बंभचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा॥ मूलाचार ११।५,८।६२.

६. दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तं जहा—खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे सच्चे संजमे तवे चियाए बंभचेरवासे॥ समवायांग समवाय १०।१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **क्षान्ति (क्षमा)**—क्रोधोत्पत्ति के साक्षात् बाह्य कारण मिलने पर भी अल्पमात्र भी क्रोध न करना, न वैसे परिणाम लाना उत्तम क्षान्ति अर्थात् क्षमा है।[1] जैसे शरीर की स्थिति के लिए आहारार्थ जब श्रमण नगर में निकलते हैं, तब मिथ्यात्वी जन उपहास, तिरस्कार तथा यहाँ तक कि शरीर पर आक्रमण तक करते हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार के कलुषतापूर्ण भाव मन में उत्पन्न न होने देना क्षान्ति है।[2] क्षमा, तितिक्षा, सहिष्णुता और क्रोधनिग्रह—ये सभी शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। क्षमा धारण करने की विधि यह है कि क्रोध उत्पन्न होने के जो निमित्त कारण हैं उनके सद्भाव और अभाव दोनों का अपने में चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि उन कारणों के अस्तित्व या नास्तित्व का बोध हो जाने से इस धर्म की सिद्धि हो सकती है।[3]

२. **मार्दव**—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर—इन आठ मद-स्थानों[4] का अभाव तथा मृदु-भावों का सद्भाव मार्दव धर्म है[5]। उत्तम ज्ञान और तपश्चरण में प्रधान तथा समर्थ होने पर भी अपनी आत्मा को मान कषाय से मलिन न होने देना उत्तम मार्दव धर्म है[6]।

३. **आर्जव**—मन, वचन और काय से कपटपूर्ण भावों का सर्वथा अभाव तथा ऋजु (सरल) भावों का सद्भाव आर्जव धर्म है।[7] कुटिल एवं मायाचारी युक्त योग परिणामों से रहित होकर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करना आर्जव है।[8] भाव या परिणामों की विशुद्धि तथा विसंवाद (विवाद आदि दोष) रहित प्रवृत्ति को भी आर्जव धर्म माना गया है।[9]

---

१. बारस अणुवेक्खा ७१, कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३९४.
२. मूलाचार वृत्ति ११।५, सर्वार्थसिद्धि ९।६, भगवती आराधना ४६।१५४, तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।२.
३. तत्त्वार्थभाष्य ९।६ पृ० ३८४.
४. ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥ रत्नकरण्डक श्रावकाचार २५.
५. मृदोर्भावो मार्दवं जात्यादिमदावेशादभिमानाभावः—मूलाचार वृत्ति ११।५.
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३९५.
७. ऋजोर्भावः आर्जवं मनोवाक्कायानामवक्रता—मूलाचार वृत्ति ११।५.
८. बारस अणुवेक्खा ७३.
९. भावविशुद्धिरविसंवादनं चार्जवलक्षणम्—तत्त्वार्थाधिगम भाष्य—९।६।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **लाघव**—आत्म परिणामों की मलिनता दूर कर, अतिचार रहित अवस्था लाघव (शौच) धर्म है। दूसरे शब्दों में लोभ की पूर्णतः निर्वृत्ति तथा सन्तोष के भाव का नाम लाघव है।[1] धनादि द्रव्यों पर आसक्ति या ममत्व का भाव ही सभी आपत्तियों का जनक है। इसका त्याग भी लाघव है।[2]

५. **तप**—कर्मक्षय के लिए शरीर और इन्द्रियों को तप्त करना तप है। रागादि समस्त परभाव तथा इच्छाओं के त्याग से स्व-स्वरूप में प्रतपन-विजयन करना तप है।[3] वस्तुतः तप मनुष्यगति में ही सम्भव है, क्योंकि नरक व देवलोक में औदारिक शरीर का उदय तथा पंच महाव्रत नहीं होते। तिर्यंचों में भी महाव्रतों आदि का पालन सम्भव नहीं है।[4] अतः वीतरागता की सिद्धि के लिए धीर-वीर साधुओं को तप का नित्य संचय करना चाहिए।[5]

६. **संयम**—सामान्यतः सम्यक् रूप से यम–नियन्त्रण को संयम कहते हैं[6]। धर्म वृद्धि के लिए समिति के पालन में तत्पर श्रमण द्वारा प्राणि रक्षा, इन्द्रिय और कषायों का निग्रह करना संयम है।[7] पञ्च महाव्रतों का धारण, पाँच समितियों का पालन, कषाय निग्रह, मन, वचन, काय–इन तीन दण्डों का त्याग और पंचेन्द्रिय विषयों पर विजय का नाम संयम है।[10] अतः जीवरक्षा में तत्पर जो श्रमण गमनागमनादि कार्यों में तृण-छेद तक के भावों से भी रहित है उसे संयम धर्म होता है।[11]

इस धर्म की महत्ता के विषय में कहा है कि "संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है। तथा जो संयम में रत

---

१. लघोर्भावो लाघवं अनतिचारत्वं शौचं प्रकर्षप्राप्तौ लोभनिवृत्तिः—मूलाचार वृत्ति ११।५.
२. भगवती आराधना वि० टी० ४६, पृ० १५४.
३. तपः कर्मक्षयार्थं तप्यंते शरीरेन्द्रियाणि तपः—मूलाचार वृत्ति ११।५.
४. समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ७९।१००।१२.
५. धवला १३।५, ४, ३१, पृ० ९१।५.
६. अनगार धर्मामृत ७।१.
७. धवला २, १, ३।७।३.
९. मूलाचार वृत्ति ११।५.
१०. पंचसंग्रह (प्राकृत) १२७, गोम्मटसार जीवकाण्ड ४६५, पृ० ८७६.
११. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३९९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होते उन्हें वही महानरक के समान दुःखद होता है।[1] असंयमी पुरुष को तपे हुए लोहे के गोले के समान कहा है जैसे उस गोले को जहाँ से भी छुओ वह जलाता ही है, उसी तरह असंयमी पुरुष चारों ओर से जीवों को कष्ट देनेवाला होता है। वह सोया हुआ भी अहिंसक नहीं होता, तब जागते हुए का तो कहना ही क्या ?[2]

७. **आकिंचन्य**—(अकिंचनता)–आत्मा के अतिरिक्त मेरा किंचित् (कुछ) भी नहीं है—इस तरह का भाव रखना तथा शरीरादि मेरे हैं—इस प्रकार के भावों की कल्पना का भी त्याग करना आकिंचन्य धर्म है।[3] वस्तुतः इस धर्म के माध्यम से जीवन में बाह्य वस्तुओं के प्रति अनासक्ति उत्पन्न करना है। शरीर तथा धर्मोपकरणों आदि में भी ममत्व भाव का सर्वथा अभाव आकिंचन्य धर्म है।[4] जो श्रमण सभी परिग्रहों से रहित होकर, सुख-दुःख के दाता कर्मों को उत्पन्न करने वाले भावों को रोककर निश्चिन्त्यता से आचरण करता है उसे आकिंचन्य धर्म होता है[5]।

८. **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्म का अर्थ निर्मल ज्ञान-स्वरूप आत्मा है तथा उसमें लीन होना ब्रह्मचर्य है। अर्थात् जिस श्रमण का मन स्व शरीर तक से भी निर्ममत्व हो चुका है उसे ही ब्रह्मचर्य धर्म होता है।[6] व्यावहारिक रूप में जो श्रमण स्त्री-संगति नहीं करता, उनके रूप आदि को देखने में कोई रुचि नहीं रखता तथा काम आदि कथायें नहीं करता-सुनता उसके नवधा ब्रह्मचर्य होता है।[7] अतः इसकी साधना के लिए स्वतन्त्र वृत्ति का त्याग करने के लिए गुरुकुल में निवास करने को भी ब्रह्मचर्य कहा है।[8]

९. **सत्य**—पर-सन्तापकारी वचन न बोलना, निन्दा, कलह आदि से पूर्ण भाषण से निवृत्त होना सत्य धर्म है।[9] श्रमण को अपने संघवासी श्रमणों से

---

१. दशवैकालिक चूलिका १।१०.
२. जिनदासकृत दशवै० चूर्णि पृ० २६१.
३. मूलाचार वृत्ति ११।६.
४. शरीर धर्मोपकरणादिषु निर्ममत्वमाकिञ्चन्यम्–तत्त्वार्थाधिगमभाष्य ९।६.
५. बारण अणुवेक्खा ७९.
६. पद्मनंदि पंचविंशतिका १२।२.
७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४०३.
८. सर्वार्थसिद्धि ९।६।७९७ पृ० ३१५, तत्त्वार्थाधिगम भाष्य ९।६।१०.
९. मलाचार वृत्ति ११।५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हितकर वचन बोलना चाहिए, चाहे वे हृदय को अप्रिय भले ही हों क्योंकि जैसे कटु (कड़वी) औषधि सेवन के समय कड़वी होने पर भी परिणाम में मधुर और कल्याणकारी होती है वैसे ही श्रमण का वह कटु किन्तु हितकारी भाषण कल्याणकारी होगा।[1] वस्तुतः श्रमण धर्म के प्रसंग में अपने व्रतों एवं मर्यादाओं की प्रतिज्ञा के प्रति निष्ठावान् रहकर उसी रूप में उनका पालन करना अर्थात् आचरण के सभी क्षेत्रों में पवित्रता रखना सत्य धर्म है। मन, वचन और काय की एकरूपता भी सत्यता का ही रूप है।

१०. **त्याग**—निज शुद्धात्मा को ग्रहण करके बाह्य तथा आभ्यन्तर उपधि (परिग्रह) की निवृत्ति त्यागधर्म है।[2] जो श्रमण मिष्ट भोजन, राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले उपकरण तथा ममत्वोत्पादक वसतिका को छोड़ देता है उसे त्याग धर्म होता है।[3] श्रमण के योग्य ज्ञानादि का दान करना अर्थात् सदाचारी पुरुष द्वारा मुनि को प्रीतिपूर्वक आगम का व्याख्यान करना, शास्त्र देना, संयम पालन में साधनभूत पिच्छी आदि देना भी त्याग धर्म है।[4]

इस प्रकार ये दस श्रमणधर्म संवर के कारण हैं। वस्तुतः धर्म शब्द वस्तु का स्वभाववाची है। अतः आत्मा का धर्म समता भाव रूप ही है। शान्ति आदि दस धर्म तो इसके चिह्न हैं। जो धर्म लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिए हों वे 'उत्तम' विशेषण विशिष्ट नहीं हैं। ऐसे धर्म कभी संवर के कारण भी नहीं बन सकते। ये क्षमा आदि दस धर्म जब अट्ठाईस मूलगुणों तथा सभी उत्तरगुणों के उत्कर्ष से युक्त होते हैं तभी श्रमण या यति धर्म की कोटी में आते हैं अन्यथा ये मात्र सामान्य धर्म हैं।

अनुप्रेक्षा :

जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना[5] वैराग्य वृद्धि के लिए शरीरादि के स्वभाव का पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।[6] अनुप्रेक्षा का सामान्य अर्थ गहन चिन्तन करना भी है जिसका अपरनाम 'भावना' है। इसलिए बारह भावना,[7] के रूप में प्रसिद्ध वैराग्यवर्धक चिन्तन-विशेष "द्वादशानुप्रेक्षा" ही हैं।

---

१. भगवती आराधना ३५७.
२. प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति २३९, पृ० ३३२.
३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४०१.
४. पंचविंशतिका १।१०१।४०.
५. अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा—सर्वार्थसिद्धि ९।२५।८६८ पृ० ३३९.
६. शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा—वही ९।२।७८९. पृ० ३११.
७. दस दो य भावणाओ''''बुहजणवेरग्ग जणणीओ—मूलाचार ८।७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ तथा तीर्थंकर प्रकृति का बंध कराने वाली दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनायें इनसे भिन्न हैं। वस्तुतः भावना का अर्थ संस्कार भी है। क्योंकि भावना के बिना चित्त का संस्कार नहीं होता। अतः वैराग्य-वर्धन तथा आत्मिक उत्कर्ष के निमित्त भावना रूप तात्त्विक गहन चिन्तन आवश्यक है। योगशास्त्र के अनुसार भी भावना के द्वारा वैराग्य की ओर उन्मुख चित्त समभाव युक्त हो जाता है जिससे कषायों का उपशमन तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।[1] इनके सतत् अभ्यास से बुद्धि दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अवस्थित बनी रहती है।[2] संसार संबंधी अनेक दुख, सुख, पीड़ा, आकुलता-व्याकुलता, क्षणिकता आदि विषयों के अनुचिन्तन से मन की वृत्ति लौकिकता से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है। संयम और वैराग्य की साधना के लिए ये बहुत उपयोगी हैं। अनुप्रेक्षाएँ कर्मों का बंधन ढीला करती हैं। शुभ विचारों के उदय से अशुभ विचारों का आगमन रुक जाता है और अनुप्रेक्षा कर्मनिरोध का एक साधन बन जाती है। इनसे संस्कारित हुआ मन सहज ही ध्यान का अधिकारी बन जाता है। मूलाचार में भी कहा है कि इन अनुप्रेक्षाओं से वैराग्य की उत्पत्ति तथा रागद्वेष का विनाश होता है। जो इनसे आत्मा को युक्त करता है और वह आत्मा सभी कर्मों से रहित तथा निर्मल होकर विमलालय (मोक्ष) को प्राप्त करता है।[3]

द्वादश अनुप्रेक्षायें

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ—इन बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन का विवेचन किया गया है।[4] आचार्य कुन्दकुन्दकृत बारस-अणुवेक्खा तथा शिवार्यकृत भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में भी यही अनुप्रेक्षायें या भावनायें इसी क्रम से मिलती है। इतना ही नहीं इन अनुप्रेक्षाओं के कथन वाली गाथा भी तीनों ग्रन्थों में एक जैसी हैं। श्वेताम्बर परम्परा में भी यही द्वादश अनुप्रेक्षायें मिलती हैं। पर आचार्य

---

१. योगशास्त्र ४।१११.

२. आदि पुराण २१।९६-९९.

३. अणुवेक्खाहिं एवं जो अत्ताणं सदा विभावेदि।
सो णिगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहदि ॥ मूलाचार ८।७४.

४. अद्धुवमसरणमेगत्तमण्ण संसारलोयमसुइत्तं।
आसवसंवरणिज्जर धम्मं बोधिं च चिंतिज्जो।
—वही ५।२०६, ८।२, भगवती आ० १७१५, बारस अणुवेक्खा २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र में इन बारह अनुप्रेक्षाओं के क्रम में अन्तर है।[1] इन अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप इस प्रकार है—

१. **अध्रुवानुप्रेक्षा**—अध्रुव से तात्पर्य अनित्य-अशाश्वत है। इस संसार में सब पदार्थ अनित्य हैं—इस प्रकार का चिन्तन अध्रुवानुप्रेक्षा है।[2] दूसरे शब्दों में स्थान, आसन, ऋद्धि-इत्यादि से प्राप्त सुख, माता-पिता आदि स्वजनों के साथ रहने से होने वाला सुख तथा इन्द्रिय, रूप, यौवन, जीवन, बल आदि सब अनित्य हैं—इस तरह का चिन्तन करना अध्रुव है। इसके चिन्तन से इन सभी के प्रति ममत्व या आसक्ति के भाव दूर होते हैं ताकि इनके वियोग-काल में किञ्चित् मात्र भी सन्ताप नहीं होता। क्योंकि यह तथ्य है कि यह शरीर, इन्द्रिय-विषय तथा भोगोपभोग के जितने भी साधन हैं वे सब जल के बुलबुले के समान क्षणिक और वियुक्त होने वाले हैं। अतः इन सबके प्रति महामोह को त्यागने तथा सब इन्द्रिय विषयों को क्षणभंगुर समझने और मन को निर्विषय रखने से उत्तम सुख प्राप्त होता है।[3]

२. **अशरणानुप्रेक्षा**—जन्म, जरा और मरण से पीडित जीव का इस संसार में कोई शरण नहीं है। इस प्रकार का चिन्तन अशरण-अनुप्रेक्षा है। वस्तुतः मरणासन्न व्यक्ति को इन्द्र, देव, मंत्र, औषधि, विद्या, नीति, स्वजन, राजा, हाथी, घोड़ा, सैनिक, आदि कोई भी नहीं बचा सकता। धर्म को छोड़ कोई दूसरा उसका शरण नहीं है।[4] सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र शरण हैं। संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को इनके सिवाय अन्य शरण न होने से परम श्रद्धा के साथ इनका पालन करना चाहिए।[5] इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन से संसार के प्रति ममत्व भाव दूर होकर एक मात्र धर्म की शरण के प्रति पूर्ण आस्था बनी रहती है।

३. **एकत्वानुप्रेक्षा**—इस संसार में मैं अकेला ही जन्म लेता हूँ, अकेला ही मरण को प्राप्त होऊँगा, न मेरे साथ कोई आता है और न मरण के समय कोई साथ जाता है। मैं स्वयं ही अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल पाता हूँ। मेरे सुख-

---

१. अनित्याऽशरण-संसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्याऽऽस्रव-संवर-निर्जरालोक बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः त० सू० ९।७.

२. मूलाचार ८।२-४, अनगार धर्मामृत ६।५८-५९, भगवती आराधना—१७१६-१७१८.

३. सर्वार्थसिद्धि ९।७. कार्तिकेयानुप्रेक्षा २२.

४. मूलाचार ८।५-६, बारस अणुवेक्खा ८, अनगार धर्मामृत ६।६०-६१.

५. कार्ति० अनु० ३०, भग० आ० १७४६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुःख का कर्ता-हर्ता कोई अन्य नहीं है इस तरह का चिन्तन एकत्वानुप्रेक्षा है। "यह आत्मा अकेला ही शुभाशुभ कर्म बाँधता है, अकेला ही अनादि संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म और मरण को प्राप्त करता है और अकेले ही कर्मफल भोगता है।[1] दुःखी जीव स्वजन और परिजन के बीच दुःख सहता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, भवान्तर तक उसका कोई साथ नहीं देता। स्वयं ही अपने शुभाशुभ कर्मों को भोगता हुआ दीर्घ संसार में घूमता रहता है—इस तरह एकत्व का चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।[2] एकत्व भावना के चिन्तन से कामभोग में, शिष्यादि के समूह रूप गण या संघ में, शरीर अथवा सुख में आसक्ति नहीं होती अपितु वैराग्य में मन रमाये हुए सर्वोत्कृष्ट चारित्र-धर्म को धारण किये रहता है।[3]

४. **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना[4] अर्थात् माता-पिता, स्वजन और सम्बन्धीजन सभी अपनी आत्मा से भिन्न हैं। ये बंधु-बांधव इहलोक में साथी रहते हुए भी परलोक तक हमारे साथ नहीं जाते। लोग एक दूसरे के विषय में शोक करते हैं, अपने विषय में नहीं करते कि "मैं संसार समुद्र में डूब रहा हूँ"—इस तरह का चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है।[5] शरीर और बाह्य पदार्थों से अपने को भिन्न चिन्तवन करना कि जब मैं इस शरीर तक से भी भिन्न हूं तब अन्य बाह्य पदार्थ कैसे मेरे हो सकते हैं? ऐसी भावना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

५. **संसारानुप्रेक्षा**—कर्म-विपाक के वश से आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। इसका स्वरूप-चिन्तन संसारानुप्रेक्षा है।[6] यह आत्मा जलचर, थलचर और नभचर—इन तिर्यन्चों तथा मनुष्य, देव आदि गतियों में उत्पन्न होकर सहस्रों दुःख पाता है—इस प्रकार का चिन्तन करना भी संसारानुप्रेक्षा है।[7] क्योंकि संसार के विविध प्रकार होते हुए, नानाविध दुख ही इनका स्थिर सार है। अतः संसार का स्वरूप समझते हुए, उसके सार रहितपने गुण को

---

१. बारस अणुवेक्खा १४.
२. मूलाचार ८।८-९.
३. एयत्त भावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा।
सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं॥ भगवती आराधना २०२.
४. शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा—सर्वार्थसिद्धि ९।७।८०३ पृ० ३१७.
५. मूलाचार ८।१०-११.
६. सर्वार्थसिद्धि ९।७.
७. मूलाचार ८।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।[1] ऐसे चिन्तन से सांसारिक दुःखों के भय से उद्विग्नता उत्पन्न हो जाती है तब वह जीव संसार-नाश की ओर प्रयत्नशील होता है।[2]

६. **लोकानुप्रेक्षा**—लोक के आकार-प्रकार तथा उसके स्वरूप का अनुचिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। यथा—यह लोक अकृत्रिम, अनादिनिधन और स्वभाव निष्पन्न है। जीव और अजीव पदार्थों से यह पूर्ण भरा हुआ तथा हमेशा स्थित रहने से नित्य है। तालवृक्ष के समान आकार है। जीव और पुद्गलों की गति और अगति जहाँ तक है उतना लोक है, उसके बाद अलोकाकाश है। धर्म और अधर्मद्रव्य लोकाकाश प्रमाण हैं। इस लोक में जीव स्वकर्मोपार्जित सुख-दुखों का अनुभव करता हुआ इसी अनन्त संसार में पुनः पुनः जन्म-मरण धारण करता है। अतः यह लोक दीर्घगमन युक्त निस्सार है। लोकाग्र-शिखर पर निवास ही सुखकर है—ऐसा चिन्तन लोकानुप्रेक्षा है।[3] इस अनुप्रेक्षा के चिन्तन से तत्त्व-ज्ञान में विशुद्धि होती है।

७. **अशुचि (अशुभ) अनुप्रेक्षा**—इस अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत यह चिन्तन किया जाता है कि नरकों में सर्वदा अशुभ, तिर्यंच में बन्धन, अवरोधादि तथा मनुष्यों में रोग-शोकादि बने ही रहते हैं। देव तक मानसिक रूप से असन्तुष्ट और अशुभ होते हैं। काम की चाह दुःख-विपाकी (बन्धनादि प्राप्त कराने वाली) है। अर्थ, काम और शरीर—ये अशुभ-परम्परा के कारण होने से सभी अशुचि रूप हैं। शरीर तो अनेक दुर्गन्ध पदार्थों से भरा हुआ है। तथा अशुचि पदार्थों का तो यह शरीर घर ही है। अतः आत्म कल्याण करने वाले जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित जिनधर्म को छोड़ सब अशुभ हैं—इस तरह का चिन्तन करना चाहिए।[4] इस प्रकार के चिन्तन से शरीर के प्रति निर्वेद हो जाने से जीव मुक्ति प्राप्ति में चित्त लगाता है।[5]

८. **आस्रवानुप्रेक्षा**—आस्रव के दोषों का चिन्तवन आस्रवानुप्रेक्षा है। राग, द्वेष, मोह, पंचेन्द्रिय भोग, आहार, संज्ञा, गारव, कषायें—इनसे कर्मों का आस्रव होता है। हिंसा आदि पाँच पाप तो कर्मागम के साक्षात् पाँच द्वार ही हैं। जैसे नौका में छेद हो जाने पर उसमें पानी भर जाता है और वह समुद्र में डूब जाती

१. मूलाचार, ८।१९.
२. सर्वार्थसिद्धि ९।७।८०३.
३. मूलाचार ८।२१-२८.
४. मूलाचार ८।३०–३६.
५. सर्वार्थसिद्धि ९।७।८०४ पृ० ३१७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है । वैसे ही यह आत्मा निश्चय ही कर्मों का आस्रव होने से विनाश को प्राप्त होता हुआ गतिरूपी समुद्र में (गोते लगाता हुआ) डूबा रहता है । अतः इन्द्रिय, कषाय और अव्रत आदि महानदी के प्रवाह की तरह अतितीक्ष्ण हैं, इहलोक और परलोक में दुःखदायी हैं । इस प्रकार का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है अतः इसका चिन्तन करते हुए श्रमण को साम्यभाव में लीन रहना चाहिए ।[1] इस चिन्तन से जीव के क्षमादि धर्म में कल्याणबुद्धि का त्याग नहीं होता । कछुए के समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत कर लिया है उसके आस्रव-दोष नहीं होते ।[2]

९. **संवरानुप्रेक्षा**—इन्द्रिय, कषाय, संज्ञा, गारव और रागादि—आस्रव के इन सम्पूर्ण कारणों को रोकना संवर है, तथा संवर के गुणों का पुनः पुनः चिन्तन संवरानुप्रेक्षा है ।[3] संवर का फल निर्वाण है ।[4] संवर के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव । कर्मों के आगमन का रोकना द्रव्यसंवर है तथा भव-भ्रमण की कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना भावसंवर है ।[5] उत्तम-क्षमा आदि संवर के उपाय हैं । संवर और समाधि से युक्त होकर विशुद्धात्मापूर्वक नित्य संवर का चिन्तन करने[6] से जीव में संवर के प्रति निरन्तर उद्यतता तथा संवर के कारणों में आस्था बनी रहने से मोक्ष फल की प्राप्ति होती है ।[7]

१०. **निर्जरानुप्रेक्षा**—आस्रव के कारणों का निरोध तथा तपश्चरण करना निर्जरा है । इसके स्वरूप का चिन्तन निर्जरानुप्रेक्षा है । इसके दो भेद हैं[8]—प्रथम कर्मैकदेशनिर्जरा अर्थात् संसार में घूमने वाले जीवों के कर्मों की क्षयोपशमरूप निर्जरा । द्वितीय सकलनिर्जरा अर्थात् तप के द्वारा कर्मों की विपुल निर्जरा ।[9] सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि वेदना विपाक अर्थात् फल देकर कर्मों के झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं । इसके दो भेद हैं—अबुद्धिपूर्वक और कुशलमूला । नरकादि विविध गतियों में कर्मफल के विपाक से अर्थात् फल काल के

---

१. मूलाचार ८।३७–४५.
२. सर्वार्थसिद्धि ९।७।८०५ पृ० ३१८.
३. मूलाचार ८।४६.
४. संवरफलं तु णिव्वाणं—वही, ८।५१.
५. योगशास्त्र ४।८०.
६. मूलाचार ८।५१.
७. सर्वार्थसिद्धि ९।७.
८. मूलाचार ८।५४.
९. वही ८।५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होने पर जो निर्जरा होती है वह अबुद्धिपूर्वक या अकुशलानुबन्धा निर्जरा है। यह सब प्राणियों के होती है। किन्तु परीषह के जीतने तथा तपश्चर्या के निमित्त से फलकाल के बिना प्राप्त हुए स्वोदय या परोदय से जो कर्मों की निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा तथा निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोष का विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है।[१] ऐसा विचार करने से जीव की प्रवृत्ति तपश्चर्या की ओर होती है। कहा भी है कि—आत्मध्यान से कर्मों की निर्जरा तथा जन्म, जरा, मरण आदि सभी से मुक्ति मिलती है। इस तरह मन से कर्म निर्जरा का चिन्तन करना चाहिए।[२]

११. **धर्मानुप्रेक्षा**—विहित धर्मों के पालन से कर्मों की निर्जरा होती है[३] और इसी से दया, क्षमा आदि धर्मों का उदय होता है। इन्हीं धर्मों का चिन्तन धर्मानुप्रेक्षा है। क्षमा, मार्दव आदि दस धर्म हैं। इनकी भावना से उपशम, दया क्षान्ति और वैराग्य आदि गुण जीव में जैसे-जैसे बढ़ते हैं वैसे ही उसे सद्यः अक्षय मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है।[४] जरा और मरण के तेज प्रवाह में बहते-डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप प्रतिष्ठा, गति तथा उत्तम शरण है।[५] जो प्राणी इस लोक में कल्याण की परम्परा और परमसौख्य की प्राप्ति करना चाहता है उसे जिनोपदिष्ट धर्म पर श्रद्धा और उस पर आचरण करना चाहिए।[६] क्योंकि आचार्य पूज्यपाद ने कहा है कि जिनेन्द्रदेव ने जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है—सत्य उसका आधार, विनय उसकी जड़, क्षमा उसका बल तथा वह ब्रह्मचर्य से रक्षित है। उपशम की उसमें प्रधानता है, नियति उसका लक्षण तथा परिग्रह रहितपना उसका आलम्बन है। ऐसे धर्मलाभ से नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति होना निश्चित है—ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है।[७] इस प्रकार के चिन्तन से जीव का धर्म में अनुराग बढ़ता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि ९।७।८०७ तथा तत्त्वार्थसूत्र पृष्ठ ४२१, (पं० फूलचन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित)
२. मूलाचार ८।५९.
३. योगशास्त्र ४।९२-९३.
४. मूलाचार ८।६२-६३, ११।५.
५. उत्तराध्ययन २३।६८.
६. मूलाचार ८।६१.
७. सर्वार्थसिद्धि ९।७।८१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा**—कर्मों के क्षय के लिए मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा एवं संयम—इन चार दुर्लभ तत्वों का आश्रय लेना तथा इनका अनुचिन्तन करना बोधिदुर्लभ है ।[1] बोधि का अर्थ है जिस उपाय से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, उस उपाय की चिन्ता करना ।[2] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भी बोधि कहते हैं। यहाँ दर्शनबोधि का अर्थ दर्शन-प्राप्ति की उपाय चिन्ता एवं ज्ञानबोधि से तात्पर्य ज्ञान प्राप्ति की उपायचिन्ता तथा चारित्रबोधि का अर्थ चरित्र-प्राप्ति की उपायचिन्ता फलित होता है । इनकी दुर्लभता का विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है । श्रेष्ठ देश, कुल, जन्म, आयु, आरोग्य, वीर्य, विनय, श्रवण, ग्रहण, मति तथा धारणा—ये सभी जब उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं, तब तो बोधि की अति दुर्लभता स्वयं सिद्ध है । फिर भी जो उस बोधि प्राप्ति में प्रमाद करता है वह कापुरुष दुर्गतियों को प्राप्त होता है ।[3] सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि इस प्रकार अति कठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्त कर विषयसुख में रममाण होना, भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है । कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधि को प्राप्त होना अतिदुर्लभ है । इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है—ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिन्तन से जीव बोधि को प्राप्त कर कभी भी प्रमाद नहीं करता ।[4] भव-भय की मथनी, विस्तृत गुणों की आधारभूत बोधि प्राप्त कर लेने पर उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं होता ।[5] बोधि रूप सम्यक्त्व के तीन भेद हैं—उपशम सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशम सम्यक्त्व । इन्हें प्राप्त करके भव्य जीव तप और संयम के द्वारा अक्षय सुख पा सकता है ।[6]

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से श्रमण अपने वैराग्यमय जीवन को सुदृढ़ बनाता है । इसलिए इन्हें संवर का कारण कहा गया है । क्योंकि अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओं का सानिध्य मिलने पर उत्तम क्षमा आदि धर्म के धारण करने से महान् संवर होता है ।

---

१. उत्तराध्ययन ३।१.
२. बारस अणुवेक्खा ८३.
३. मूलाचार ८।६६,६९.
४. सर्वार्थसिद्धि ९।७।८०९ पृ० ३१९.
५. मूलाचार ८।६८.
६. वही ८।७०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शील :

सामान्यः शील का अर्थ स्वभाव या प्रकृति है। अहिंसादि महाव्रतों को जिनके द्वारा रक्षा होती है वे गुण शील कहे जाते हैं।[1] पंचेन्द्रिय विषयों से विरक्त होना भी शील है। जीव-दया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शील के परिवार हैं और ऐसा शील मोक्ष महल की सीढ़ी माना गया है।[2]

वस्तुतः मनुष्य की मन, वचन और काय सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया का सम्बन्ध शील के साथ है। विशुद्ध भावों से किसी कार्य में प्रवृत्त होना सदाचार या शील है। चारित्र को धर्म कहा है इसे ही हम शील भी कह सकते हैं क्योंकि इन्द्रिय विषयों से विरक्त व्यक्ति ही चारित्रवान् या शीलवान् कहा जाता है। चारित्र तत्वज्ञान से पुष्ट होता है। शील के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना शील में प्रवृति नहीं होती। सीलपाहुड में कहा है : शील के बिना इन्द्रियों के विषय ज्ञान का नाश कर देते हैं इसीलिए शील और ज्ञान का विरोध नहीं है[3]। क्योंकि श्रेयस् और अश्रेयस् के विवेकज्ञान से जीव दुःशीलों को नष्ट करके शीलवान् बन जाता है तथा शील प्राप्ति रूप फल से अभ्युदय (सम्पूर्ण-चारित्र) को प्राप्त करके वह निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है[4]।

शुभ योग में प्रवृत्ति, अशुभ योग से निवृत्ति तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—इन चार संज्ञाओं से रहित, पंचेन्द्रिय निग्रह, कायसंयम तथा उत्तम-क्षमादि दस धर्मों का पालन—ये सब शील के भेद हैं[5]। इस तरह—योग, कारण, संज्ञा, इन्द्रिय तथा पृथ्वीकाय आदि जीव और क्षमादि धर्मों का परस्पर गुणन करने पर शील के अट्ठारह हजार भेद होते हैं[6], जो इस प्रकार हैं—

मन, वचन, काय की शुभ प्रवृत्ति रूप तीन शुभयोग का मन, वचन और काय रूप तीन अशुभयोग की निवृत्ति रूप करण से गुणित करने पर (३ × ३ = ९) नौ भेद हुए। इनमें आहार आदि चार संज्ञा-विरत का गुणा करने पर (९ × ४ = ३६) छत्तीस भेद हुए। इनमें पाँच इन्द्रिय-विरोध से गुणित करने

---

१. शीलं व्रत परिरक्षणं—मूलाचार वृत्ति ११।१.
२. सील पाहुड ४०, १९, २०. ३. वही २.
४. सेया सेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ।। मूलाचार १०।१३.
५. मूलाचार वृत्ति सहित ११।१.
६. जोए करणे सण्णा इन्दिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं ।। वही ११।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर (३६ × ५ = १८०) एक सौ अस्सी भेद हुए। इनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इन दस जीवों के प्रति दस प्रकार के संयम का गुणा करने पर (१८० × १० = १८००) एक हजार आठ सौ भेद हुए। पुनः इसमें उत्तम क्षमादि दस धर्मों का गुणा करने पर (१८०० × १० = १८०००) शील के अट्ठारह हजार भेद हुए।[1] इस तरह तीन योग, तीन करण, चार संज्ञायें, पाँच इन्द्रिय, दस पृथ्वीकायिक आदि जीव के भेद और दस श्रमणधर्म—इन सबका परस्पर गुणा करने पर शील के अट्ठारह हजार भेद सिद्ध होते हैं।

वट्टकेर ने शीलों का उत्पत्तिक्रम इस प्रकार बताया है—जिसने मन को वश में किया है अतः मन के अशुभ करण से रहित, शुद्ध मन से युक्त प्रथम आहार संज्ञा से रहित, प्रथम स्पर्शेन्द्रिय को जीतने वाले, पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति संयमी, क्षमाधर्म से युक्त श्रमण विशुद्ध चारित्रयुक्त प्रथम शील में दृढ़ रहते हैं। इसी तरह द्वितीय, तृतीय शील में क्रमशः आगे बढ़ते हुए १८००० शीलों में दृढ़ बनता है[2]।

इस प्रकार जो श्रमण इन शीलों का यथार्थता से पालन करता है वह सभी कल्याणों को प्राप्त करता है[3]। क्योंकि शील का अर्थ ग्रहीत व्रतों की रक्षा करना भी है।

●

१. मूलाचार ११।२-५.
२. वही ११।६-७.
३. वही ११।२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्याय

आहार, विहार और व्यवहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ अध्याय

आहार, विहार और व्यवहार

आहार, विहार और व्यवहार—ये श्रमणाचार की तीन महत्त्वपूर्ण चर्यायें हैं। एक ओर जहाँ मूलगुण एवं उत्तरगुण सम्पूर्ण श्रामण्य की कसौटी बनकर उनकी संयम यात्रा के लक्ष्य को प्राप्त कराने में अपना महत्त्वपूर्ण योग करते हैं, वहीं आहार, विहार और व्यवहार—ये चर्चायें उनके बाह्य जीवन, सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं अन्यान्य उन सभी कार्यों को विशुद्धता एवं समग्रता प्रदान करती है जिनका सीधा सम्बन्ध आत्मोत्कर्ष में सहयोग तथा सच्चे श्रामण्य की पहचान से है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि देश, काल, श्रम, क्षम (सहन-शक्ति) और उपधि (शरीरादि रूप परिग्रह) को अच्छी तरह जानकर श्रमण आहार एवं विहार में प्रवृत्त होता है। यद्यपि इसमें भी उसे अल्प-कर्मबंध होता है।[1] किन्तु इतना अवश्य है कि श्रमण चाहे बालक हो अथवा वृद्ध अथवा तपस्या या मार्ग (पैदल आवागमन) के श्रम से खिन्न (थका हुआ) अथवा रोगादि से पीडित, वह अपने योग्य उस प्रकार की चर्या का आचरण कर सकता है, जिसमें 'मूल संयम' का घात (हानि) न हो।[2] इसीलिये इस लोक से निर-पेक्ष, परलोक की आकांक्षा एवं आन्तरिक कषाय से रहित होकर 'युक्त-आहार-विहार' होना चाहिए।[3] क्योंकि श्रमण का चारित्र, तपश्चरण एवं संयम आदि का अच्छी तरह से पालन उसकी आहार-चर्या की विशुद्धता पर निर्भर है। इसी तरह समितिपूर्वक विशुद्ध विहार-चर्या द्वारा भी वह श्रमण रत्नत्रय प्राप्ति का अभ्यास, शास्त्रकौशल एवं समाधिमरण के योग्य क्षेत्र तथा जन-जन के कल्याण की भावना रूप लक्ष्य को सहज ही प्राप्त कर लेता है तथा आहार-विहार एवं बाह्य जीवन के विविध व्यवहार-कार्यों या क्रियाओं में विवेक रखकर स्व-पर कल्याण में सदा प्रवृत्त बने रहते हैं।

इस प्रकार श्रमण जीवन में इन तीन चर्याओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यहाँ इन तीनों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

---

१. आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो॥ प्रवचनसार ३।३१.

२. बालो वा बुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं मूलच्छेदं जधा ण हवदि॥ वही ३।३०.

३. वही ३।२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारचर्या

श्रमणाचार के प्रसंग में श्रमणों की आहारचर्या और उसकी विशुद्धता का विशेष महत्त्व है। चूँकि आहार जीवन के लिए अनिवार्य है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति का आहार, इसका प्रकार एवं उद्देश्य आदि विभिन्न पक्ष उस व्यक्ति के आचार-विचार एवं व्यवहार आदि उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करते हैं। इसलिए श्रमणाचार विषयक सम्पूर्ण वाङ्मय में आहारचर्या के विषय में समग्रता से चिंतन देखने को मिलता है, वैसे उसके प्रतिपादन का मुख्य उद्देश्य आहार-विवेक को सूक्ष्मता से विश्लेषित करना है। वस्तुतः श्रमण के मूलगुण और उत्तरगुणों के बीच भिक्षाचर्या को 'मूलयोग' कहा गया है।[1] चारित्र, तप-श्चरण और संयम की विशुद्धता—ये सब आहारचर्या की विशुद्धता पर निर्भर करते हैं। अतः यह आहार-विवेक समग्र साधना का एक प्रधान अंग भी है जिसकी उपेक्षा करके साधना के क्षेत्र में निर्विघ्न आगे नहीं बढ़ सकता।

आचार्य वट्टकेर ने अपने मूलाचार ग्रन्थ के 'पिण्डशुद्धि' नामक छठे अधिकार में आहारचर्या का स्वतंत्र एवं सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही प्रायः इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में प्रसंगानुसार यत्र-तत्र आहार विशुद्धि का यथोचित प्रतिपादन एवं आहार-विवेक के विषय में निरन्तर सावधान बने रहने को कहा है। क्योंकि जो श्रमण जिस किसी स्थान पर शुद्ध-अशुद्ध रूप में चाहे जैसा उपलब्ध पिण्ड (आहार) तथा उपधि आदि को शोधन किये बिना ग्रहण कर लेता है, वह श्रमण-गुण (श्रामण्य) से रहित होकर संसार को बढ़ाने वाला है।[2] चिरकाल से दीक्षित श्रमण भी यदि आहार शुद्धि का ध्यान नहीं रखता तब उस तप, संयम और चारित्रविहीन श्रमण की आवश्यक क्रियायें भी कैसे शुद्ध रह सकती हैं?[3] ऐसा श्रमण तो लोक में मूलस्थान (गृहस्थ-भाव) को

---

१. जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते।
अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया।। मूलाचार १०।४६.

२. जो जत्थ जहा लद्धं गेण्हदि आहारमुवधिमादीयं।
समणगुणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ होइ॥ वही १०।४०.

३. वही सवृत्ति १०।२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त श्रामण्यतुच्छ अर्थात् श्रामण्यगुणविहीन कहलाता है।[1]

आहार के लिए 'पिण्ड' शब्द का तथा "आहार शुद्धि" के लिए 'पिण्ड शुद्धि का प्रयोग प्रायः जैन साहित्य में मिलता है। पिण्ड शब्द पिडि संघाते धातु से बना है। सामान्य अन्वर्थ की दृष्टि से सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के एकत्रित होने को पिण्ड कहते हैं। किन्तु श्रमणाचार के प्रसंग में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—इन चारों प्रकार के आहार को "पिण्ड" शब्द से अभिहित किया जाता है।[2] मूलाचारवृत्ति में पिण्डशुद्धि का आहारशुद्धि अर्थ किया है।[3]

आहार : स्वरूप और भेद :

"आहार" का सामान्य अर्थ "भोजन" है आचार्य पूज्यपाद ने आहार शब्द की परिभाषा में कहा है कि तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियिक और आहारक) और छह पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण अर्थात् श्वासोच्छवास, भाषा और मन) के योग्य पुद्गल वर्गणाओं के ग्रहण करने को 'आहार' कहते हैं।[4]

वस्तुतः शरीर रत्नत्रयरूपी धर्म का मुख्य कारण है। अतः पिण्ड अर्थात् आहार-पान आदि के द्वारा इस शरीर की स्थिति बनाये रखने के लिए इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे इन्द्रियाँ वश में रहें और अनादिकाल से सम्बद्ध तृष्णा के वशीभूत होकर वे कुमार्ग की ओर न ले जावें।[5] क्योंकि जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों के जीवन का आधार आहार है, चाहे वह किसी भी रूप में क्यों न हो, सभी प्राणी अपनी-अपनी शरीर-प्रकृति के अनुरूप आहार ग्रहण करते हैं। आहार की अभिलाषा (संज्ञा) उत्पन्न होने के चार कारण हैं—१. आहार के देखने से, २. उसकी ओर उपयोग (मन) लगाने से, ३. पेट के खाली होने से तथा ४. असातावेदनीय कर्म की उदय एवं उदीरणा होने से।[6]

---

१. पिंडोवधि सेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो॥ मूलाचार १०।२५.

२. पिण्डनिर्युक्ति गाथा ६.

३. पिण्डशुद्धिमाहारशुद्धिमिति—मूलाचारवृत्ति पिण्डशुद्धि अधिकार गाथा १.

४. त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः
—सर्वार्थसिद्धि २।३०।३२० पृ० १३३.

५. अनगार धर्मामृत स्वोपज्ञ ज्ञानदीपिका ७।९ पृष्ठ ४९५

६. आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु॥ गोम्मटसार जीवकाण्ड १३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग निर्युक्ति में एषणीय आहार ग्रहण के मार्गों की चर्चा-प्रसंग में तीन प्रकार के भाव आहार बताये हैं[1] : १. ओज-आहार—जन्म के पूर्व माता के गर्भ में सर्वप्रथम गृहीत (लिया जाने वाला) आहार जो केवल शरीर पिण्ड द्वारा ग्रहण किया जाता है। २. रोम-आहार—जो त्वचा या रोम-कूप द्वारा ग्रहण किया जाता है जैसे हवा आदि। ३. प्रक्षेप (प्रक्षिप्त) आहार—जो मुख जिह्वादि द्वारा ग्रहण किया जाता है।

मूलाचार तथा अन्य आचारशास्त्र के प्रायः अन्य सभी जैन ग्रन्थों में आहार के चार भेद किये हैं—१. अशन, २. पान, ३. खाद्य और ४. स्वाद्य। इनमें जो भूख को मिटाता है वह अशन है जैसे भात-दाल आदि। जो दस प्रकार के प्राणों पर अनुग्रह करता है, उन्हें जीवन देता है वह पान या पेय है जैसे जल-दूध आदि। जो रस पूर्वक खाया जाता है वह खाद्य या खादिम है जैसे लड्डू, पूड़ी, फल आदि। तथा जो आस्वादयुक्त होता है वह स्वाद्य है जैसे—लौंग, इलायची, सुपाड़ी आदि।[2] मूलाचार ने इस विभाजन को पर्यायार्थिक नय की संज्ञा देते हुए कहा है कि यों तो आहार के उपर्युक्त चार भेद हैं, किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी आहार अशन है. सभी आहार पान है, सभी खाद्य और सभी स्वाद्य हैं।[3] हस्त-पात्र में आहार-ग्रहण के प्रसंग मे तो आहार में ग्राह्य पदार्थों का विभाजन और भी विस्तृत कर दिया गया है—१. अशन अर्थात् चावल (भात), दाल आदि, २. पान अर्थात् दुग्ध, जल आदि, ३. खाद्य अर्थात् लड्डू, पूड़ी आदि, ४. भोज्य अर्थात् भक्ष्य (मंडकादि), ५. लेह्य अर्थात् आस्वाद्य, ६. पेय अर्थात् स्तोक-भक्तपानबहुल।[4]

सूत्रकृतांग निर्युक्ति का विभाजन आहार-ग्रहण के मार्गों पर आधारित है। किन्तु बृहत्कल्पभाष्य में अन्न के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन भेद बताये गये हैं। इनमें जघन्य अन्न के अन्तर्गत आहार के तीन भेद हैं[5]—१. अन्ताहार—

---

१. भावाहारो तिविहो ओए लोमे य पक्खेव—सूत्रकृतांग निर्युक्ति २।३।१।२०.

२. असणं खुहप्पसमणं पाणाणमुणुग्गहं तहा पाणं।
खादंति खादियं पुण सादंति य सादियं भणियं ॥ मूलाचार ७।१४७, अनगार-धर्मामृत ७।१३ पृ० ४९८.

३. वही ७।१४८.

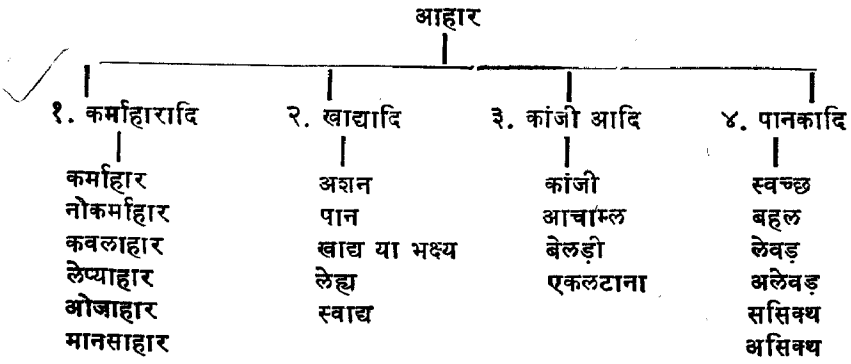
४. असणं जदि वा पाणं खज्जं भोजं च लिज्ज पेज्जं वा।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु ॥ मूलाचार वृत्तिसहित ९।५४.

५. बृहत्कल्पभाष्य १३६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाल (गेहूँ), चना आदि, २. प्रान्ताहार—स्वभावतः रसहीन, निःसत्त्व द्रव्य और ३. रूक्षाहार—पूर्णतः स्नेहविहीन आहार।

प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर सभी प्रकार के आहारों को चार भेदों में विभाजित किया गया है—१. कर्माहारादि, २. खाद्यादि ३. कांजी आदि और ४. पानकादि। इन चारों के अन्तर्गत किन-किन आहारों को अन्तर्भूत किया जा सकता है उन्हें निम्नलिखित विभाजन एवं चार्ट के माध्यम से दिखाया गया है।[1]



आहार ग्रहण का उद्देश्य :

आत्म कल्याण के निमित्त घर, परिवार, सुखपूर्ण सांसारिक वैभव, समस्त भोगोपभोग के साधन आदि का त्याग कर श्रमणवेश धारण किया जाता है। अतः आत्म-कल्याण के इच्छुक साधकों के आहार-ग्रहण का उद्देश्य भी संयम-यात्रा की सिद्धि हेतु शरीर-स्थिति बनाए रखना है, क्योंकि उसका साधन शरीर है। मूलाचारकार के अनुसार बल, आयु, शरीर, तेज—इन सबकी वृद्धि और स्वाद के उद्देश्य से श्रमण आहार नहीं करते[2] अपितु वे ज्ञान, संयम, और ध्यान की साधना के निमित्त आहार-ग्रहण करते हैं।[3] उत्तराध्ययन में कहा है कि भिक्षा-जीवी मुनि संयम-जीवन की यात्रा के लिए आहार की गवेषणा करे किन्तु रसों में मूर्च्छित न बनें।[4] भगवतीसूत्र में कहा है कि प्रासुक (निर्दोष) आहार करता हुआ साधु आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के बन्धनों को ढीला करता है

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १ पृष्ठ २९९.

२. ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो ॥ मूलाचार ६।६२.

३. (क) जत्तासाधणमेत्तं—वही ६।६४.
(ख) भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं—वही ९।४९.

४. उत्तराध्ययन ८।११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः उनका आहार करना निरवद्य एवं संयम को पुष्ट करने वाला है।[1] इसी लिए ज्ञाताधर्मकथा में कहा है कि श्रमण शरीर के द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र का परिवहन करने एवं मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही आहार-ग्रहण करते हैं न कि शरीर को मोटा-ताजा बनाने के लिए।[2]

वस्तुतः सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चारित्र—इस रत्नत्रय रूप धर्म का आद्य साधन शरीर ही है, जिसे भोजन-पान-शयनादि के द्वारा स्थित रखना पड़ता है। किन्तु इस दिशा में उतनी ही प्रवृत्ति होनी चाहिए जिससे कि इन्द्रियाँ अपने-अपने अधीन बनी रहें। रयणसार के अनुसार जो साधु ज्ञान और संयम की वृद्धि के लिए तथा ध्यान और अध्ययन के निमित्त यथालाभ भोजन ग्रहण करता है वह साधु मोक्ष-मार्ग में रत है।[3]

आहार-ग्रहण और त्याग के कारण :

मूलाचार में आहार ग्रहण के छह कारण उल्लिखित हैं—(१) वेदना (क्षुधा शान्ति), (२) वैयावृत्य, (३) क्रियार्थ (षडावश्यकादि क्रियाओं का पालन) (४) संयमार्थ, (५) प्राणचिन्ता (प्राणों की रक्षा) तथा (६) धर्मचिन्ता।[4] इन छह कारणों के लिए जो यति अशन, खाद्य, लेह्य और पेय—ये चार प्रकार के आहार ग्रहण करता है वह चारित्र धर्म का पालन करने वाला है।

आहार-त्याग के भी छह कारण है—(१) आतंक (आकस्मिक व्याधि, ज्वर आदि होने), (२) उपसर्ग, (३) ब्रह्मचर्य गुप्ति की तितिक्षा (सुरक्षा), (४) प्राणिदया, (५) तप तथा (६) शरीर-परित्याग[5]—इन छह कारणों में से किसी एक के भी उपस्थित होने पर वह आहार का त्याग भी करता है तो वह धर्मोपार्जन ही है।[6] वसुनन्दि ने कहा है कि आहार-त्याग के कारण उपस्थित होने पर भले ही क्षुधा-वेदनादि आहार-ग्रहण के कारण उपस्थित हों तो भी आहार-त्याग कर देना चाहिए।[7]

---

१. भगवती सूत्र १।९ सूत्र ४३८ (अंगसुत्ताणि भाग २. पृ० ७३).
२. ज्ञाताधर्मकथा अ० २ तथा ८.
३. रयणसार १०७.
४. वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाए य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं॥ मूलाचार ६।६०.
५. आदंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीओ।
पाणिदयातवहेऊ सरीरपरिहार वोच्छेदो॥ वही ६।६१.
६. वही ६।५९.
७. मूलाचारवृत्ति ६।६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार ग्रहण और त्याग के उपर्युक्त छह-छह कारणों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग तथा उत्तराध्ययनसूत्र में भी मिलता है। आहार ग्रहण के तृतीय कारण 'क्रियार्थ' (किरियाठाए) के स्थान पर स्थानांग तथा उत्तराध्ययन में ईर्या समिति के शोधन के लिए (इरियट्ठाए) पाठ मिलता है। तथा आहार त्याग के अन्तिम कारण "शरीर परित्याग" के लिए आहार का व्युच्छेद के स्थान पर "शरीर विच्छेद के लिए" (सरीर-वोच्छेयणट्ठाए) पाठ मिलता है।[1]

भिक्षा (आहार) चर्या के नाम :

सामान्य रूप में भिक्षा के तीन प्रकार हैं—दीन-वृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्व संपत्करी।[2] अनाथ, दीन-हीन और अपङ्ग व्यक्तियों द्वारा मजबूरीवश माँगकर उदरपूर्ति करने को दीनवृत्ति भिक्षा कहा जाता है। श्रम करने में समर्थ व्यक्ति भी यदि माँग कर खाते हैं तो वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। तथा संयम के धारक व्यक्ति द्वारा अहिंसा महाव्रत के विशुद्ध पालन एवं संयम-यात्रा के निर्विघ्न निर्वाह के उद्देश्य से यथालब्ध तथा सहज-सिद्ध-आहार माधुकरी आदि वृत्तियों के द्वारा ग्रहण करने को सर्व-संपत्करी भिक्षा कहते हैं।

सर्व-संपत्करी अर्थात् मुनि-भिक्षा-चर्या ही यहाँ प्रतिपाद्य विषय है। वस्तुतः गुणरत्नों को ढोनेवाली शरीर रूपी गाड़ी के लिए समाधिनगर की ओर ले जाने की इच्छा रखने वाले श्रमण को, जठराग्नि का दाह शमन करने के निमित्त औषधि की तरह या गाड़ी में ओंगन देने की तरह अन्न आदि आहार को बिना स्वाद के ग्रहण करना चाहिए।[3] इसी उद्देश्य से श्रमण स्वाद के लिए भोजन नहीं करते अपितु ठण्डा-गरम, रूखा-सूखा, चिकना अथवा विकार रहित, नमक-रहित या नमक सहित भोजन अस्वाद भाव से करते हैं।[4] अतः श्रमणों की

---

१. वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए॥ (क) स्थानांग ६।४१.
(ख) उत्तराध्ययन २६।३३.
आयंके उवसग्गे तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं सरीर-वोच्छेयणट्ठाए॥ (क) स्था० ६।४२,
(ख) उत्तराध्ययन २६।३५.

२. सर्व सम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता॥ हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण ५.१
(दसवैआलियं, अध्ययन ५ का आमुख पृष्ठ १७७)

३. तत्त्वार्थवार्तिक ९।५।६ पृ० ५९४.

४. सीदलमसीदलं वा सुक्कं सुक्खं सिणिद्धं सुद्धं वा।
लोणिदमलोणिदं वा भुंजंति मुणी अणासादं॥ मूलाचार ९।४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारचर्या या भिक्षावृत्ति के निम्नलिखित नामों का उल्लेख मिलता है—उदराग्निप्रशमन, अक्षमृक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी या मधुकरी वृत्ति।[1] अनगार धर्मामृत में भिक्षा-शुद्धि के वर्णन प्रसंग में ये पाँच भिक्षाशुद्धि के नाम बताये गये हैं।[2]

१. **उदराग्नि प्रशमन भिक्षावृत्ति**—इससे तात्पर्य है कि जितने आहार से उदर (पेट) की क्षुधाग्नि शान्त हो उतना ही आहार ग्रहण करना। शरीर को तपश्चरणादि के योग्य बनाये रखने के उद्देश्य से क्षुधारूपी अग्नि को शान्त करने के लिए आहार ग्रहण करना उदराग्नि प्रशमन भिक्षावृत्ति है।

२. **अक्षमृक्षण**—जैसे बैलगाड़ी आदि वाहनों को सुगमता से चलाने के लिए उस गाड़ी की धुरी पर ओंगन (तेलादि से मिश्रित स्निग्ध पदार्थ) लगाया जाता है। उसी प्रकार मुनि इस शरीर को आत्मसिद्धि रूप धर्म का साधन बनाये रखने के उद्देश्य से प्राणधारण के लिए आहार ग्रहण करते हैं। क्योंकि धर्म-साधन के लिए प्राण और मोक्ष प्राप्ति के निमित्त धर्म-धारण किया जाता है।[3] शान्त्याचार्य ने भी कहा है कि जैसे गाड़ी के पहिए की धुरी को भार-वहन की दृष्टि से चुपड़ा जाता है, वैसे ही गुणभार वहन की दृष्टि से ब्रह्मचारी आहार करे, शरीर को पोषण दे।[4]

३. **श्वभ्रपूरण**—सरस-नीरस आदि रूप आहार से इस पेटरूपी गड्ढे को भर लेना श्वभ्रपूरण आहारविधि है।[5] इसे गर्तपूरण भिक्षावृत्ति भी कहते हैं।

४. **गोचरी**—जैसे गाय की दृष्टि आभूषणों से सुसज्जित सुन्दर युवती के शृङ्गार पर नहीं अपितु उसके द्वारा लायी गई घास पर ही रहती है, वैसे ही साधु को भी दाता तथा उसके वेश एवं भिक्षा-स्थल की सजावट आदि के प्रति

---

१. उदरग्गियसमण-मक्खमक्खण-गोयार-सब्भपूरण-भमरं।
णाऊण तप्पयारे, णिच्चेवं भुञ्जदे भिक्खू॥
—रयणसार १०८, चारित्रसार ७८, तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।१६.

२. अनगार धर्मामृत ६।४९ पृ० ४४७.

३. अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं॥ मूलाचार ९।४९.

४. जह सगडक्खो वंगो कीरइ भरवहण कारणा णवरं।
तह गुणभर वहणत्थं, आहारो बंभयारीणं॥
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति ८।११. पत्र २९४ (उत्त० भाग २, टिप्पण पृ० ६९),

५. तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।१६ पृ० ५९७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या आहार के रूखे-चिकनेपन आदि पर ध्यान दिये बिना या उन सबकी अपेक्षा किये बिना आहार-ग्रहण करना गोचरी या गवेषणा आहार वृत्ति है।[1] जिनदास ने भी गोचरी आहार वृत्ति के विषय में इसी प्रकार का उदाहरण देते हुए कहा है कि जैसे एक युवा वणिक्-स्त्री अलंकृत, विभूषित हो, सुन्दर वस्त्र धारण कर गोवत्स को आहार देती है। किन्तु वह गोवत्स उसके हाथ से उस आहार को ग्रहण करता हुआ भी उस स्त्री के रंग, रूप, आभरणादि के शब्द, गंध और स्पर्श में मूच्छित नहीं होता है। इसी प्रकार साधु भी विषयादि शब्दों में अमूच्छित रहता हुआ आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त हो।[2]

हरिभद्र ने गोचर शब्द का अर्थ किया है—गाय की तरह चरना—भिक्षाटन करना। जैसे गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किये बिना चरती है। वैसे ही साधु को उत्तम, मध्यम और अधम कुल का भेद न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार में राग-द्वेष न करते हुए भिक्षाटन करना चाहिए।[3] श्वेताम्बर परम्परा के ही अन्य आचार्यों ने भी कहा है कि गोचर का अर्थ है भ्रमण। जिस प्रकार गाय शब्दादि विषयों में गृद्ध नहीं होती हुई आहार ग्रहण करती है उसी प्रकार साधु भी विषयों में आसक्त न होते हुए उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं।[4] इस तरह की गोचर आहार-वृत्ति को गोचरी कहते हैं।

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा के श्रमणाचार विषयक प्रायः सभी ग्रन्थों में श्रमण को आहार की 'गवेषणा' करने को कहा गया है जो गोचरी नामक भिक्षा वृत्ति का ही सूचक है। किन्तु आजकल साहित्य आदि के शोध-खोज एवं अनुसन्धान-परक अध्ययन के अर्थ में "गवेषणा" शब्द का प्रयोग होने लगा है। जिसका प्राचीन मूलरूप जैन परम्परा में उपर्युक्त अर्थ के रूप में सुरक्षित है।

५. **भ्रामरी**—आहारदाता पर भार रूप बाधा पहुँचाये बिना कुशलता से भ्रमर की तरह आहार ग्रहण करना भ्रामरी वृत्ति है। इस प्रकार के आहार को भ्रमराहार भी कहते हैं। जैसे भ्रमर बिना म्लान किये ही द्रुम-पुष्पों से थोड़ा रस पीकर अपने को तृप्त कर लेता है वैसे ही लोक में मुक्त (अपरिग्रही) श्रमण

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।१६ पृ० ५९७.
२. दशवैकालिक ५।१।१ की जिनदास कृत चूर्णि पृ० १६७-१६८.
३. दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका पत्र १८.
४. दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह चूर्णि पृ० ९९ तथा जिनदासकृतचूर्णि पृ० १६७-१६८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या साधु दानभक्त (दाता द्वारा दिये जाने वाले निर्दोष आहार) की एषणा में उसी प्रकार रत रहते हैं जैसे भ्रमर पुष्पों में ।[1]

वस्तुतः भ्रमर (मधुकर) अवधजीवी होता है । वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए किसी प्रकार का समारम्भ, उपमर्दन या हनन नहीं करता । वैसे ही श्रमण-साधक भी अवधजीवी हो—किसी तरह का पचन-पाचन और उपमर्दन न करे। मधुकर पुष्पों से, स्वभावसिद्ध रस ग्रहण करता है । वैसे ही श्रमण-साधक गृहस्थ के घरों से जहाँ आहार-जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं, प्रासुक आहार है । इसी तरह मधुकर उतना ही रस ग्रहण करता है जितना कि उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है, वैसे ही श्रमण संयम-निर्वाह के लिए आवश्यक उतना ही आहार ग्रहण करे ।

इस प्रकार श्रमण को भ्रामरी वृत्ति से आहार ग्रहण की बात कहकर यह बताया गया है कि अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करने वाला श्रमण अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी हिंसा न करे, यथाकृत आहार ले तथा जीवन को संयम और तपोमय बनाकर धर्म और धार्मिक की एकता स्थापित करे ।[2]

आहार का समय :

सूर्योदय के तीन घड़ी (नालीत्रिक), बाद (साधारणतया चौबीस मिनिट की एक घड़ी मानी जाती है) और सूर्यास्त के तीन घड़ी शेष रहने पर अर्थात् सूर्यास्त होने से तीन घड़ी पूर्व तक का काल मुनियों के आहार-ग्रहण का समय माना गया है । आहार के इस काल में एक मुहूर्त में आहार-ग्रहण उत्कृष्ट काल या उत्कृष्ट-आचरण है । दो मुहूर्त में मध्यमकाल या मध्यम-आचरण तथा तथा तीन मुहूर्त में आहार-ग्रहण जघन्य काल या जघन्य आचरण कहा गया है ।[3] एकभक्त मूलगुण के अन्तर्गत इसी विधान की चर्चा करते हुए भोजन-ग्रहण का समय दिन का मध्यकाल (मध्याह्न) माना है ।[4] मूलाचारवृत्ति में बताया है कि सूर्योदय की दो घड़ी निकलने पर आवश्यक क्रियायें तथा स्वाध्याय आदि करने के बाद मध्याह्न काल की देववन्दना करे, तत्पश्चात् बालकों के भरे पेट से तथा अन्य लिङ्गियों से भिक्षा का समय ज्ञातकर ले और गृहस्थों

---

१. दशवैकालिक १।२-३.

२. दसवेआलियं अध्ययन १ का आमुख पृ० ३-४ (जैन विश्व भारती, लाडनूं).

३. सूरुदयत्थमणादो णालीतिय वज्जिदे असणकाले ।
तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्ममुक्कस्से ।।
—मूलाचार वृत्ति सहित ६।७३, मूलाचार प्रदीप २।२३६-२३८.

४. उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि । मूलाचार १।३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के घरों में से जब धुँआ निकलना बन्द हो जाए तथा मूसल आदि के शब्द शान्त हो जाएँ तब गोचरी के लिए प्रवेश करना चाहिए।[1]

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में कहा है कि तीन प्रकार के आहार-काल के विषय में तीन दृष्टियों से विचार करना चाहिए—भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल।

१. **भिक्षाकाल**—गाँव, नगर आदि स्थानों में इतना काल व्यतीत होने पर आहार तैयार होता है तथा अमुक महीने में अमुक कुल एवं अमुक मुहल्ले का अमुक समय भोजन-काल है। इस प्रकार इच्छा के प्रमाण आदि से भिक्षा-काल जानना चाहिए।

२. **बुभुक्षाकाल**—मेरी भूख आज तीव्र है या मन्द है—इस प्रकार अपने शरीर की स्थिति की परीक्षा करनी चाहिए।

३. **अवग्रहकाल**—मैंने पूर्व में यह नियम ग्रहण किया था कि मैं इस प्रकार का आहार नहीं लूँगा और आज मेरा यह नियम है—इस प्रकार विचार करना चाहिए।[2]

श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन सूत्र में स्वाध्याय, ध्यान, भिक्षाचर्या को उत्तरगुण कहा है। तथा इनके पालन की दिनचर्या चार काल-विभागों में विभाजित की गयी है। तदनुसार मुनि को प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे में भिक्षा तथा चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करना चाहिए। इसके अनुसार मुनि के भिक्षा का उपयुक्त समय तीसरा प्रहर माना गया है। किन्तु सभी दृष्टियों से मूलाचारकार द्वारा उल्लिखित आहार का समय सबसे अधिक उपयुक्त है।

यह पहले ही बताया गया है कि मुनि दिन के प्रकाश में ही एक बार आहार ग्रहण करते हैं। दशवैकालिक में कहा भी है कि सूर्यास्त से लेकर पुनः जब तक सूर्य पूर्व में न निकल आए तब तक सब प्रकार के आहार की मन में भी इच्छा न करे।[3] दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार जो भिक्षु सूर्योदय और सूर्यास्त

---

१. मूलाचारवृत्ति ५।१२१ पृ० २६१-२६२.

२. भ० आ० गाथा १२०६ की विजयोदया टीका पृ० १२०३-४.

३. दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि॥
पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं॥ उत्तराध्ययन २६।११-१२.

४. अत्थंगयम्मि आइच्चे पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं मणसा वि न पत्थए॥ दशवैकालिक ८।२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रति शंका में पड़कर आहार-ग्रहण करते हैं उनको रात्रि-भोजन ग्रहण का दोष लगता है।[1] रात्रिभोजन से पाँच महाव्रत भंग होते हैं और अष्ट प्रवचन-माता के पालन में मलिनता आती है। यदि मुनि रात्रि में आहारार्थ निकले तो गृहस्थों या किसी के भी मन में यह शंका उत्पन्न होती है कि मुनि-वेश में यह कोई चोर-उचक्का तो नहीं है? इसके साथ ही आत्म-विपत्ति के भी अनेक प्रसंग आते हैं। अतः महाव्रतों की रक्षा, अष्टप्रवचनमाता तथा महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं के प्रतिपालन हेतु रात्रि-भोजन का त्याग तो प्रारम्भिक कर्त्तव्य है।[2] इस प्रकार भिक्षागमन के योग्य काल को छोड़कर अन्य समय या विकाल में आहारार्थ निकलना निषिद्ध है। दशवैकालिक में यह भी कहा है कि भिक्षा का काल होने पर भी यदि वर्षा हो रही हो, कुहरा फैला हो, महा-वात (आँधी) चल रही हो, भ्रमर, कीट, पतंग आदि तिर्यक् सम्पातिम जीव छा रहे हों तब मुनि को भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए।[3] इस प्रकार आहारार्थ-गमन के लिए उपयुक्त समय का विवेक बहुत आवश्यक है।

आहारार्थ गमन-विधि :

जितना महत्त्व किसी भी अच्छे कार्य का होता है, उतना ही महत्त्व उसकी विधि का रहता है। विधिपूर्वक किया गया कार्य ही सार्थक हुआ करता है। अतः आहारार्थ गमन करने वाले मुनि को इन पाँच मौलिक बातों की रक्षा अनिवार्य है—१. आज्ञा—जिनशासन की रक्षा एवं उसकी आज्ञा का पालन, २. स्वेच्छावृत्ति का त्याग, ३. सम्यक्त्वानुकूल आचरण, ४. रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की रक्षा तथा ५. संयम रक्षा। इन पाँचों में से किसी में भी किञ्चित् दोष का प्रसंग आए या बाधा की सम्भावना हो तो मुनि को तत्काल आहार का त्याग कर देना चाहिए।[4] भिक्षा-चर्या में प्रविष्ट हुए मुनि मनोगुप्ति, वचन-गुप्ति, और कायगुप्ति रूप त्रिगुप्ति, मूलगुण; उत्तरगुण, शील, संयम आदि की रक्षा करते हुए तथा शरीर से वैराग्य, संग (परिग्रह) से वैराग्य और संसार से वैराग्य रूप निर्वेदत्रिक का चिन्तन करते हुए विचरण करते हैं।[5] विजयोदया में कहा है कि आहारार्थ गमन के समय मुनि को आगे-आगे चार हाथ प्रमाण (युगान्तरमात्र) भूमि देखते हुए चलना चाहिए। गमन के समय हाथ लटकते

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध २।३. २. मूलाचार ५।९९, ९८.
३. दशवैकालिक ५।१।८.
४. आणा अणवत्थावि य भिच्छत्तारोहणादणासो य।
संजमविराधणावि य चरियाए परिहरेदव्वा॥ मूलाचार ६।७५
५. वही, ६।७४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए हों, चरण-निक्षेप अधिक अन्तराल से न हो, शरीर विकार रहित हो, सिर थोड़ा झुका हुआ हो, मार्ग में कीचड़ और जल न हो तथा त्रसजीवों और हरितकाय की बहुलता न हो। वह इस प्रकार गमन करे ताकि खाते-पीते पक्षी और मृग भयभीत न हों तथा वे अपना आहार छोड़कर न भागें। आवश्यक होने पर पिच्छिका से अपने शरीर का प्रतिलेखन करे। तुष, गोबर, राख, भूसा और घास के ढेर से तथा पत्ते, फल, पत्थर आदि से बचते हुए चलना चाहिए। कोई निन्दा करे तब मुनि को क्रोध नहीं करना चाहिए तथा पूजा करे तो प्रसन्न नहीं अपितु समभाव से युक्त होना चाहिए।[1]

मूलाचारवृत्ति में आहारार्थ गमन विधि बताते हुए कहा है कि सूर्योदय की जब दो घड़ी बीत जाये तब देववन्दना करने के पश्चात् श्रुतभक्ति और गुरु-भक्तिपूर्वक स्वाध्याय को ग्रहण करके सिद्धान्त आदि की वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन आदि करे। जब मध्याह्नकाल होने में दो घड़ी समय शेष रहे तब आदर के साथ श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय को समाप्त करे। वसतिका से दूर जाकर समितिपूर्वक मल-मूत्रादि बाधा दूर करे। तब शरीर को पूर्वापर देखकर हाथ-पैर आदि का प्रक्षालन करके, कमण्डलु और पिच्छिका ग्रहण करके मध्याह्न काल की देववन्दना करे। तत्पश्चात् योग्य समय जानकर आहारार्थ प्रवेश करना चाहिए।[2]

विजयोदया टीका में भी कहा गया है कि भिक्षा और भूखके समय को जानकर अवग्रह अर्थात् आहार के लिए विधि हेतु संकल्प या प्रतिज्ञा ग्रहण करके ईर्यासमितिपूर्वक ग्राम, नगर आदि में मुनि को प्रवेश करना चाहिए।[3] वहाँ अपना आगमन जताने (बतलाने) के लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे। बिजली की तरह अपना शरीर मात्र दिखला दे। मुझे कौन निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे। अपितु जीव-जन्तु से रहित, दूसरे के द्वारा रोक-टोक से रहित, पवित्र स्थान में गृहस्थ द्वारा प्रार्थना (पड़गाहना) किये जाने पर ठहरे। द्वार पर सांकल लगी हो या कपाट बन्द हों तो उन्हें न खोलें। बालक, बछड़ा, मेढा और कुत्ते को लाँघकर न जावे। जिस भूमि में पुष्प, फल और बीज फैले हों उस पर से न जावे। तत्काल लीपी गई भूमि पर न जावे। जिस घर में अन्य भिक्षार्थी भिक्षा के लिए खड़े हों उस घर में प्रवेश न करे। जिस घर के कुटुम्बी घबराये हों, जिनके मुख पर विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरें। भिक्षादान भूमि से आगे न जावे।[4] गोचरी को जाते हुए

१. म० आ० गाथा १२०६ की विजयोदया टीका पृ० १२०४.
२. मूलाचार वृत्ति ५।१२१ पृ० २६१-२६२.
३. भगवती आराधना गाथा १५० की विजयोदया टीका पृ० ३४४.
४. वही, गाथा १२०६ की विजयोदया टीका पृ० १२०४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न तो अतिशीघ्र चले, न अति धीरे-धीरे चले और न रुक-रुक कर ही। निर्धन या अमीर (धनी) घर का विचार न करे। मार्ग में न ठहरे, न वार्तालाप करे। हँसी आदि न करे। नीच कुलों में प्रवेश न करे। शुद्धकुलों में भी यदि सूतक आदि दोष हो तो वहाँ न जावे। द्वारपाल आदि रोके तो न जावे। जहाँ तक अन्य भिक्षाटन करने वाले जाते हैं वहीं तक हो जावे। जहाँ विरोध के निमित्त हों वहाँ न जावे। दुष्टजन, गधा, ऊँट, भैंस, बैल, हाथी, सर्प आदि से दूर से ही बच कर जावे। मदोन्मत्त जनों से दूर रहे। स्नान, विलेपन, मण्डन तथा रतिक्रीड़ा में आसक्त स्त्रियों की ओर न देखे। धर्मकार्य के बिना किसी के घर न जाये।[1]

संकल्प (अवग्रह या अभिग्रह) पूर्वक गमन का विधान :

वृत्तिपरिसंख्यान नामक चतुर्थ बाह्य तप के प्रसंग में मूलाचार में कहा है कि भिक्षा से सम्बद्ध कुछ संकल्प या अभिग्रह लेकर आहारार्थ गमन करना चाहिए। जैसे—१. गोचर-प्रमाण—इसके अन्तर्गत घरों के प्रमाण का संकल्प लेकर निकलने का विधान है। २. दाता संकल्प—दाता विशेष अर्थात् यदि वृद्ध, जवान आदि संकल्पानुसार दाता विशेष ही मेरा प्रतिग्रह करेगा (पड़गाहेगा) तभी उसके यहाँ रुकूँगा अन्यथा नहीं। ३. भाजन संकल्प—कांसे, पीतल आदि धातु या मिट्टी के पात्र (भाजन) विशेष से भिक्षा देगा तो स्वीकार करूँगा अन्यथा नहीं। यह भाजन विषयक संकल्प है। तथा ४. अशन संकल्प—चावल, सत्तू आदि विविध प्रकार के अन्न में से संकल्पित अन्न या भोज्य पदार्थ विशेष मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के संकल्प ग्रहण करके आहारार्थ गमन करना चाहिए।[2]

भगवती आराधना में भी विविध प्रकार के संकल्प लेकर आहारार्थ गमन करने का उल्लेख है।[3] जैसे—१. गत्वा प्रत्यागता—जिस मार्ग से पहले गया

---

१. मूलाचारवृत्ति ५।१२१ पृ० २६१-२६२.

२. मूलाचारवृत्ति ५।१५८, अनगारधर्मामृत स्वोपज्ञवृत्ति ७।२६ पृ० ५०४,५०५.

३. गत्तापच्चागदं उज्जुवीहि गोमुत्तियं च पेलवियं।
सम्बूकावट्टंपि य पदंगवीधी य गोयरिया॥
—भगवती आराधना, विजयोदया सहित २१८.
पाडयणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं।
पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया॥ वही २१९.
संसिट्ठ फलिह परिखा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं।
लेवडमलेवडं पाणयं च णिस्सित्थमसित्थं॥ वही २२०.
पत्तस्स दायगस्य य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए।
इच्चेवमादि विविणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा॥ वही २२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी से लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। २. ऋजु-वीथि—सीधे मार्ग से जाने पर भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। ३. गो-मूत्रिका—गाय या बैल के रास्ते में चलते-चलते मूत्र-त्याग करने से जैसे बलखाते हुए आकार बनता जाता है वैसे ही बाएँ पार्श्व से दाएँ पार्श्व के घर और दायें से बायें पार्श्व जाते हुए घर में भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। ४. पेल्लवियं (पेटा)—वस्त्रादि रखने के लिए बांसदल आदि से निर्मित ढक्कन सहित चौकोर सन्दूक की तरह चौकोर अर्थात् बीच के घरों को छोड़ चारों ओर समश्रेणी स्थित घरों में भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। ५. शंबूकावर्त—शंख के आवर्तों की तरह भिक्षाटन करना। ६. पतंगवीथी—पतंगों की पंक्ति के अनियत क्रम से भ्रमण या उड़ने के समान भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो लेना अन्यथा नहीं। ७. गोयरिया (गोचरी)—गोचरी नामक भिक्षा के अनुसार भ्रमण करते हुए भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। ८. पाटक—इसी पाटक (फाटक या मुहल्ला) में प्रवेश करके मिली भिक्षा ग्रहण करूँगा, अन्य में नहीं। एक ही पाटक में प्रवेश करूँगा या दो में ही प्रवेश करूँगा इस प्रकार का संकल्प लेना। ९. नियंसण—अमुक घर के परिकर से लगी हुई भूमि में भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा, घर में प्रवेश नहीं करूँगा। कुछ ग्रन्थकारों का कथन है कि पाटक (मुहल्ला) की भूमि में ही प्रवेश करूँगा, घरों में नहीं—इस संकल्प को पाटक-निवसन कहते हैं। १०. भिक्षा-परिमाण—एक या दो वार में जो परोसा गया उतना ही ग्रहण करूँगा अधिक नहीं। ११. दातृ-ग्रास (देय) परिमाण—एक या दो दाता के ही द्वारा देने पर भिक्षा ग्रहण करूँगा अथवा दाता के द्वारा लाई गई भिक्षा में से इतने ही ग्रास ग्रहण करूँगा—ऐसा परिमाण करना। १२. पिण्डैषणा—पिण्डरूप भोजन ही ग्रहण करूँगा। १३. पानैषणा—जो बहुत द्रव होने से पीने योग्य होगा वही ग्रहण करूँगा।

इसी प्रकार यवागू, पुग्गलया (चना, मसूर आदि धान्य) संसृष्ट—शाक, कुल्माष आदि से मिला हुआ, फलिहा—मध्य में ओदन (भात) और उसके चारों ओर शाक रखा हो वैसा आहार, परिखा—मध्य में अन्न तथा इसके चारों ओर व्यंजना रखा हो वैसा आहार, पुष्पोपहित—व्यंजनों के मध्य पुष्पावली के समान सिक्थ (चावल) रखा हो, शुद्धगोपहित—शुद्ध अर्थात् बिना कुछ मिलाये अन्न से उपहित अर्थात् मिले हुए शाक व्यंजन आदि। लेपकृत—जिससे हाथ लिप्त हो जाए, अलेपकृत—जिससे हाथ लिप्त न हो। पानक—सिक्थ रहित और सिक्थ सहित (पानक) ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं—इस प्रकार के संकल्पपूर्वक आहारार्थ गमन करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार पात्र (भाजन), दाता आदि अनेक प्रकार के संकल्प (अभिग्रह या अवग्रह) अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण करके आहारार्थ गमन करना चाहिए। संकल्पों के पूर्ण होने पर यदि भिक्षा-लाभ होता है तो प्रसन्नता नहीं और भिक्षा न मिलने पर दुःखी नहीं होना चाहिए। क्योंकि साधु तो दुःख-सुख दोनों में आकुलता रहित मध्यस्थ रहता है। वह भिक्षा लाभ के लिए किसी सद्गृहस्थ की प्रशंसा या उनसे याचना नहीं करता। अयाचक वृत्ति से बिना किसी संकेत या आवाज किये, मौनपूर्वक भ्रमण करता है। किसी से दीनतापूर्वक यह नहीं कहता कि मुझे भिक्षा दो। न दीन या कलुष वचन बोलता है, अपितु भिक्षालाभ न होने पर मौनपूर्वक लौट आता है।[1]

श्रमण भिक्षाचर्या के लिए निकलने पर अपना आगमन सूचित करने के लिए अस्पष्ट शब्दादि के संकेत नहीं करता, अपितु बिजली की चमक के सदृश अपना शरीर मात्र दिखा देना ही पर्याप्त समझता है।[2] यदि श्रावक पड़गाहना करे तथा संकल्पानुसार विधि मिल जाय तो परोपरोध रहित घर में, आने-जाने का मार्ग छोड़कर, श्रावकों द्वारा प्रार्थना करने पर, वहीं खड़ा हो जहाँ से कि दूसरे साधु भी खड़े होकर भिक्षा प्राप्त करते हैं। खड़े होने का स्थान समान और छिद्ररहित देखकर अपने दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर निश्चल खड़े होना चाहिए। जिस श्रावक के यहाँ मुनि को आहार की विधि मिलती है वे पिच्छि और कमण्डलु को वामहस्त में एक साथ धारण करते हैं और दक्षिण कन्धे पर पंचांगुलि मुकुलित दाहिना हाथ रखकर आहार-स्वीकृति व्यक्त करते हैं।[3] श्रावक जब देखता है कि मुनिराज के संकल्पानुसार आहार-विधि उसके यहाँ मिल गयी है, तब वहाँ स्थित मुनिराज की तीन बार परिक्रमा करता है, ततः मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहारशुद्धि कहकर उन्हें आहारार्थ घर में प्रवेश के लिए आग्रह करता है। सचित्त, तंग, गन्दे व अन्धकारयुक्त स्थान में श्रमण प्रवेश नहीं करते क्योंकि संयम-विराधना की आशंका रहती है।

---

१. मूलाचार ९।५०-५२.

२. विद्युदिव स्वां तनुं च दर्शयेत्—भगवती आराधना विजयोदया १२०६।

३. पिच्छं कमण्डलु वामहस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय संदृष्टया स व्रजेत् श्रावकालयम्॥
—धर्मरसिक १२।७० पृ० ३५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार ग्रहण के योग्य घर :

पहले यह बताया गया है कि श्रमण मध्याह्न के समय संकल्पपूर्वक आहारार्थ गाँव या नगर में निकलते हैं। उन्हें यदि उनकी विधि के अनुसार योग्य दाता ने पड़गाहना किया तथा नवधा भक्ति पूर्वक आहार दिया तब वे आहार संबंधी सभी दोषों तथा अन्तरायों से रहित, खड़े-खड़े अपने करपुट से दिन में, एक बार प्रासुक तथा सीमित आहार ग्रहण कर लेते हैं, अन्यथा नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि आहार चर्या के प्रति बड़ी सावधानी का ध्यान रखा जाता है। इस आहार चर्या के निर्वाह के लिए दाता-श्रावक को भी आहार संबंधी पूर्ण शुद्धता आदि विषयों का ज्ञान आवश्यक है।

सरल (सीधी) पंक्ति से तीन अथवा सात घर से आया हुआ प्रासुक ओदन आदि को आचिन्न अर्थात् ग्राह्य बताया है। इसके विपरीत यत्र-तत्र के किन्हीं भी सात घरों से आया हुआ आहार अनाचिन्न (अनाचीर्ण) अर्थात् अग्राह्य बताया गया है।[1] क्योंकि इसमें ईर्यापथशुद्धि नहीं रहती। संदेहयुक्त स्थान का प्रासुक-अप्रासुक की आशंका तथा सूत्रयुक्त (शास्त्रोक्त) या सूत्र-प्रतिकूल, तथा प्रतिषिद्ध, श्रमणों के उद्देश्य से बनाया गया एवं खरीदा गया आहार अग्राह्य है।[2] भिक्षा के लिए मुनि मौनपूर्वक अज्ञात-अनुज्ञात अर्थात् परिचित-अपरिचित, निम्न, उच्च तथा मध्यम कुलों (घरों) की पंक्ति में निकलते हैं, तथा भिक्षा ग्रहण करते हैं।[3] वसुनन्दि के अनुसार यहाँ निम्न (नीच), उच्च और मध्यम कुलों का अर्थ दरिद्र, धनी एवं मध्यम गृहस्थों के घरों की पंक्ति में समान रूप से भिक्षार्थ भ्रमण करना किया है।[4]

णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु—वट्टकेर के इसी कथन के समान-भाव के रूप में भगवती आराधना की विजयोदया टीका में **'ज्येष्ठ-अल्प-मध्यमानि सममेवाटेत्'** अर्थात् बड़े, छोटे और मध्यम कुलों (घरों) में एक समान भ्रमण करे—अर्थ किया है।[5] दशवैकालिक चूर्णि में सम्बन्धियों के समवाय या घर को कुल कहा गया

१. उज्जु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं।
परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं॥ मूलाचार ६।२०.

२. उद्देसिय कीदयडं अण्णादं संकिदं अभिहडं च।
सुत्तप्पडिकूडाणि य पडिसिद्धं तं विवज्जंति॥ वही ९।४६.

३. अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु।
घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति॥ वही ९।४७.

४. नीचोच्चमध्यमकुलेषु दरिद्रेश्वरसमानगृहिषु गृहपंक्त्या हिंडंति पर्यटंति।
—वही, वृत्ति ९।४७.

५. मूलाचार ९।४७, भ० आ० विजयोदया टीका १२०६, पृ० १२०४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।[1] प्रासाद, हवेली आदि विशाल भवन द्रव्य से उच्चकुल तथा जाति, धन, विद्या आदि से समृद्ध जनों के भवन भाव से उच्चकुल कहलाते हैं। इसी तरह तृण-कुटी, झोपड़ी आदि द्रव्य से निम्न या अवच कुल तथा जाति, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियों के घर भाव से अवच (निम्न) कुल कहलाते हैं।[2]

वस्तुतः आहारार्थ प्रवेश के विषय में भोज्य-अभोज्य घरों का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि अभोज्य घर में प्रवेश को आहार का एक अन्तराय माना है।[3] अभोज्य घर से तात्पर्य हिंसाजीवी, पतित, व्रत-विहीन, संस्कार-विहीन तथा निंदित घर आदि समझना चाहिए।

विजयोदया में दरिद्र कुलों में और आचारहीन सम्पन्नकुलों में प्रवेश का निषेध किया है।[4] क्योंकि दरिद्र कुल में उस घर के व्यक्तियों को स्वयं अपने पेट भरने की समस्या रहती है तब वे मुनि को नवधा भक्ति से आहार कराने में कैसे समर्थ होंगे ?

श्वेताम्बर परम्परा में भी निन्दित कुल, अप्रीतिकर कुल तथा मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश-निषिद्ध) घर में भिक्षार्थ प्रवेश का निषेध है।[5] जुगुप्सनीय-कुल से भिक्षा-ग्रहण करने वाले को प्रायश्चित्त का भागी माना है।[6] श्रमण को वहाँ भी भिक्षा नहीं लेना चाहिए जहाँ श्रमणपने में क्षीणता का अवसर आये। जैसे राजा, गृहपति (इभ्य, श्रेष्ठी) अन्तःपुर और आरक्षिकों आदि के उस स्थान का मुनि दूर से ही वर्जन करे, जहाँ जाने से उन्हें संक्लेश उत्पन्न हो।[7]

विजयोदया में कहा है जिस घर में गाना-नाचना होता हो, झण्डियाँ लगी हों, मत्त लोग रहते हों, शराबी, वेश्या, लोक में निन्दित कुल, यज्ञशाला दानशाला आदि में न जावे। विवाहवाला घर, प्रवेश वर्जित, विशेष आरक्षित तथा जिस घर के आगे रक्षक (पहरेदार) खड़े हों—ऐसे घरों में भी नहीं जाना चाहिए। किन्तु जहाँ बहुत से मनुष्यों का आना-जाना हो, जीव-जन्तु से रहित, अपवित्रता रहित,

---

१. कुलं संबंधिसमवातो, तदालयो वा—दशवै० अगस्त्यसिंह चूर्णि पृष्ठ १०३.
२. दशवै० हारिभद्रीय टीका पत्र १६६.
३. मूलाचार ६।७९.
४. दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। भ० आ० गाथा १२०६ की विजयोदया टीका,
५. दशवैकालिक ५।१।१७.
६. निशीथ १६।१७.
७. दशवैकालिक ५।१।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे के द्वारा रोक-टोक से रहित तथा जाने-आने के मार्ग से रहित स्थान में गृहस्थों द्वारा प्रार्थना (पड़गाहना) किये जाने पर ठहरना चाहिए।[1]

आहार (भिक्षा) शुद्धि :

विशुद्ध आहारचर्या सच्चे श्रामण्य की महत्वपूर्ण पहचान है। उसके व्रत, शील गुण आदि श्रमणधर्म के सभी आधारभूत गुणों की प्रतिष्ठा भिक्षाचर्या की विशुद्धि पर ही निर्भर हैं।[3] जो वचनशुद्धि एवं हृदय (मन) शुद्धि पूर्वक भिक्षाचर्या करता है उसे जिन शासन में सुस्थित (सभी सद्गुणों में स्थित) साधु कहा है।[2] ऐसे साधु दूसरे के घर में, नवकोटि आदि से विशुद्ध आहार, अपने पाणिपात्र में, श्रावक आदि दूसरे के द्वारा दिया हुआ ग्रहण करते हैं।[4]

नवकोटि अर्थात् मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से परिशुद्ध आहार।[5] स्थानांग सूत्र में नवकोटियों का उल्लेख इस प्रकार है—आहार के लिए श्रमण स्वयं जीववध न करे, न दूसरे से करवाए और न करने वाले का अनुमोदन ही करे। न मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे। तथा न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे।[6]

विशुद्ध आहार शंकित, मृक्षित आदि दस दोषों से रहित तथा नख, रोम, जन्तु अर्थात् प्राणरहित शरीर, हड्डी, कण अर्थात् जौ आदि का बाहरी अवयव, कुंड्य अर्थात् शाल्य आदि के आभ्यन्तर भाग का सूक्ष्म अवयव, पूय (पीव), चर्म, रुधिर (रक्त), मांस, बीज, फल, कंद और मूल—इन चौदह मलों[7] से रहित होना चाहिए। आहार ग्रहण के समय इनके निकल आने पर तत्काल आहार के त्यागपूर्वक प्रायश्चित्त किया जाता है। आचार्य वट्टकेर ने बताया है कि मुनि को ज्ञान, संयम और ध्यान की सिद्धि तथा यात्रा साधनमात्र के लिए

---

१. भ० आ० गाथा १२०६ की विजयोदया टीका पृष्ठ १२०४.

२. वदसीलगुणा जम्हा भिक्खाचरिया विसुद्धिए ठंति।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्ज ॥ मूलाचार १०।११२

३. वही १०।११३.

४. णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविवज्जियं मलविसुद्धं।
भुंजंति पाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि ॥ वही ९।४५.

५. मूलाचारवृत्ति ६।६३, ९।४५.

६. स्थानांग ९।३०.

७. णहरोमजंतुअट्ठी कणकुंडयपूयिम्मरुहिरमंसाणि।
बीयफलकंदमूला छिण्णाणि मला चउद्दसा होंति ॥ मूलाचार ६।६५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवकोटि से शुद्ध भोजन, जो कि बयालीस दोषों से रहित, संयोजना से हीन, अंगार और धूमदोष से रहित, छह कारणों से सहित, क्रम से विशुद्ध और प्रमाण सहित विधिपूर्वक दिया जाता है।[1]

वस्तुतः आहारशुद्धि का सम्बन्ध एषणा समिति से है। अतः आहार के अन्वेषण, ग्रहण और उपभोग में संयम धर्म पूर्वक सावधानी आवश्यक है। उत्तराध्ययन में भी एषणा के तीन भेदों का उल्लेख है[2] १. गवेषणा अर्थात् सोलह उद्गम और सोलह उत्पादन दोषों के शोधनपूर्वक शुद्ध आहार की खोज करना। २. ग्रहणैषणा—एषणा के शंकित आदि दस दोषों के शोधनपूर्वक आहार लेना। ३. परिभोगैषणा—(ग्रासैषणा) संयोजना, प्रमाणातिक्रान्त, अंगार तथा धूम—इन चार दोषों को टालकर उपभोग करना चाहिए।[3]

अपराजितसूरि ने सर्वथा त्याज्य दूषित आहार के विषय में कहा है कि मांस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुर, कन्द तथा इन सबसे छुआ हुआ भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। रस-गन्ध से विकृत, दुर्गन्धित, पुष्पित (फफूंद युक्त), पुराना, जीव-जन्तु युक्त भोजन न तो किसी को देना चाहिए, न स्वयं खाना चाहिए और न छूना ही चाहिए। टूटे या फूटे हुए करछुरा आदि से दिया हुआ आहार ग्रहण न करे। कपाल, जूठे पात्र, कमल तथा केले आदि के पत्तों में रखा हुआ आहार भी ग्रहण न करें।[4] इस प्रकार मुनि को सभी दोषों से रहित ही विशुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिए।

जल-ग्रहण के विषय में तप्त (उष्ण) एवं प्रासुक जल का प्रयोग मुनियों के लिए विहित है। दशवैकालिक में 'तत्तफासुय' (तप्त प्रासुक) तप्त अर्थात् पर्याप्त मात्रा में उबला होने पर जो प्रासुक (अचित्त) हो वैसे उष्णोदक के प्रयोग का विधान मिलता है। तथा अन्तरिक्ष और जलाशय अर्थात् शीतोदक, ओले, बरसात के जल और हिम के सेवन का निषेध किया गया है।[5] मूलाचार में भी सचित्त जल के अनेक प्रकारों का उल्लेख है।[6] स्वाभाविक जल भी सजीव होता है अतः उसका भी निषेध है। उत्तराध्ययन में कहा है—अनाचार से घृणा करने

१. मूलाचार ६।६२-६५.
२. उत्तराध्ययन २४।११-१२.
३. मूलाचार ६।५७-५८.
४. भगवती आराधना गाथा सं० १२०६ की विजयोदया टीका पृ० १२०४.
५. सीओदगं न सेवेज्जा सिलावुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए॥ दशवैकालिक ८।६.
६. मूलाचार ५।१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला लज्जावान् संयमी प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त जल का सेवन न करे किन्तु प्रासुक पानी की गवेषणा करे। निर्जन मार्ग से जाता हुआ मुनि तीव्र प्यास से व्याकुल हो जाय तथा मुँह सूखने लगे तो भी दीनता रहित होकर कष्ट सहन करे।[1] इस प्रकार मुनि को प्रासुक जल के प्रयोग का विशेष ध्यान रखना भी आवश्यक है।

आचार्य वट्टकेर ने स्पष्ट कहा है कि जिस द्रव्य से जीव निकल गए हों वह प्रासुक है। किन्तु यदि वह द्रव्य अपने (मुनि के) निमित्त तैयार किया गया है तो वह शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध है। क्योंकि जैसे मछलियों के लिए जल में मादक वस्तु डालने पर उससे मछलियाँ ही विह्वल होती हैं, मेंढक नहीं होते। इसी तरह पर (दूसरे) के लिए बनाये गये भोजन आदि में से ग्रहण करते हुए भी मुनि विशुद्ध रहते हैं। अर्थात् मुनि अधःकर्म आदि दोष से दूषित नहीं होते।[2] किन्तु जिन साधुओं की प्रवृत्ति अधःकर्म की ओर है, वे यदि प्रासुक (शुद्ध) द्रव्य के ग्रहण में अशुद्ध भाव करते हैं, तो वे कर्मबन्ध के भागी हैं। और जिनकी प्रवृत्ति शुद्ध आहार के अन्वेषण की ओर है उनको यदि कदाचित् अशुद्ध अधःकर्म युक्त आहार ग्रहण हो जाता है तो वह आहार भी उनके लिए शुद्ध है।[3] क्योंकि खड़े होकर मौनपूर्वक वीरासन से तप, ध्यान आदि करने वाला श्रमण भी यदि अधःकर्म युक्त आहार में प्रवृत्त होता है तो उसके सभी योग, वन, शून्यघर, पर्वत की गुफा तथा वृक्षमूल—इनमें निवास आदि सब निरर्थक हैं।[4] यहाँ तक कहा गया है कि यदि सिंह, व्याघ्रादि एक, दो या तीन मृगों को खाने पर 'नीच' कहलाते हैं तब अधःकर्म युक्त आहार में जीवराशि खाने वाले श्रमण भी नीच क्यों नहीं कहलायेंगे?[5] उत्तराध्ययन में भी कहा गया है कि जो अनैषणीय (सचित्त) आहार ग्रहण करता है, वह अग्नि की तरह सर्वभक्षी होने से

---

१. उत्तराध्ययन २।४-५.

२. पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदोत्ति तं दव्वं।
फासुगमिदि सिद्धेवि य अप्पट्ठकदं असुद्धं तु॥
जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मत्थया हि मज्जंति।
ण हि मंडूगा एवं परमट्ठकदे जदि विसुद्धो॥ मूलाचार ६।६६-६७.

३. आधाकम्मपरिणदो फासुगदव्वेवि बंधगो भणिदो।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो॥ मूलाचार १०।४३,६।६८.

४. वही १०।३१-३२.

५. एक्को वावि तयो वा सीहो वग्घो मयो व खादिज्जो।
जदि खादेज्ज स णीचो जीवयरासिं णिहंतूण॥ वही १०।२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'साधु' कहलाने योग्य नहीं है।[1] इसीलिए रयणसार में कहा है कि हे भिक्षु! यदि तुम्हारे हाथ पर रखा हुआ आहार तपे हुए लोहे के पिण्ड के समान शुद्ध है तो उसे दिव्य नौका के समान जानकर ग्रहण कर।[2] इस तरह विचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले मुनियों को आरोग्य तथा आत्मस्वरूप में सुस्थित रहने के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, बल और वीर्य–इन छह बातों का पर्यालोचन करते हुए विशुद्ध आहार में प्रवृत्त होना चाहिए।[3]

आहार के अन्तराय :

दोषों आदि की तरह आहार त्याग के कारणभूत बत्तीस अन्तरायों का भी निम्नलिखित प्रतिपादन किया गया है।[4]

१, काक—आहारार्थ गमन करते हुए या आहार लेते समय कौआ, वक आदि पक्षी बीट कर दें तो वह काक अन्तराय है।

२. अमेध्य—आहार को जाते समय विष्ठा आदि अपवित्र मल पैर आदि में लग जाना।

३. छर्दि—वमन हो जाना।

४. रोधन—आहार जाते समय कोई रोक दे।

५. रुधिर—अपने या अन्य के शरीर से रक्तस्राव होता दिखना।

६. अश्रुपात—दुःख, शोक से अपने या पर के आँसू गिरना।

७. जान्वधः परामर्श—जंघा के नीचे भाग का स्पर्श हो जाना।

८. जानूपरि व्यतिक्रम—घुटनों से ऊपर के अवयवों का स्पर्श हो जाना।

९. नाभ्यधो निर्गमन—दाता के घर का दरवाजा छोटा होने पर नाभि से नीचे शिर करके आहारार्थ जाना।

१०. प्रत्याख्यात सेवना—जिस वस्तु का त्याग हो उसका भक्षण हो जाना।

११. जंतुवध—कोई जीव सामने हो किसी जीव का वध कर दे।

१२. काकादि पिण्डहरण—आहार करते समय हाथ से कौआ आदि के द्वारा आहार का छिन जाना।

१३. पाणि-पिण्डपतनं—पाणिपात्र से ग्रास मात्र भी गिर जाना।

१४. पाणौ जन्तुवध—आहार करते समय किसी जन्तु का पाणिपुट में स्वयं आकर मर जाना।

---

१. उत्तराध्ययन २०।४७.

२. रयणसार ११३.

३. अनगार धर्मामृत ५।६५.

४. मूलाचार, ६।७६-८१ वृत्तिसहित.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५. मांसादि दर्शन—भोजन करते समय मांस, मद्य आदि दिख जाना।

१६. उपसर्ग—किसी प्रकार का उपसर्ग हो जाना।

१७. पादान्तर जीव—दोनों पैरों के मध्य से किसी पंचेन्द्रिय जीव का निकल जाना।

१८. भाजनसंपात—दाता के हाथ से कोई वर्तन गिर जाना।

१९. उच्चार—आहार करते समय मल विसर्जित हो जाना।

२०. प्रस्रवण—मूत्र विसर्जित होना।

२१. अभोज्य गृहप्रवेश—आहारार्थ भ्रमण के समय चाण्डालादि के घर में प्रवेश हो जावे तो यह अन्तराय है।

२२. पतन—आहार के समय मूर्च्छा आदि से साधु का गिर जाना पतन नामक अन्तराय है।

२३. उपवेशन—किसी कारण से भोजन करते-करते बैठ जाना।

२४. सदंश—कुत्ते, बिल्ली आदि के काटने पर।

२५. भूमि संस्पर्श—सिद्ध-भक्ति कर लेने के बाद यदि हाथ से भूमि का स्पर्श हो जावे।

२६. निष्ठीवन—आहार करते समय कफ, थूक आदि का निकलना।

२७. उदर-कृमि-निर्गमन—यदि उदर से कृमि (कीड़े) निकल पड़े।

२८ अदत्तग्रहण—दाता के दिये बिना ही कोई वस्तु ग्रहण कर लेना।

२९. प्रहार—अपने ऊपर या अन्य किसी पर तलवार आदि का प्रहार हो जावे।

३०. ग्रामदाह—यदि ग्राम आदि में अग्नि लग जावे।

३१. पादेन किञ्चित् ग्रहण—मुनि द्वारा भूमि पर पड़ी कोई वस्तु पैर से उठाकर ग्रहण कर लेना।

३२. करेण-किञ्चित्-ग्रहण—साधु के द्वारा अपने ही हाथ से गृहस्थ की किसी वस्तु का ग्रहण कर लेना।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों से सर्वत्र भोजन में अन्तराय होता है। ये आहार-त्याग के लिए कारणभूत हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से आहार त्याग के कारण हैं जैसे—राजा का भय या अन्य भय, लोकनिन्दा, संयम और निर्वेदभाव के लिए।[1] कुछ ग्रन्थकारों ने चाण्डालादि का स्पर्श, कलह, इष्ट-मरण, साधर्मिक का सन्यासपूर्वक मरण, किसी प्रधान पुरुष का मरण तथा मौन भंग आदि को भी आहार त्याग का कारण माना है।[2]

---

१. मूलाचार ६।८१.

२. मूलाचार वृत्ति ६।८१, अनगार धर्मामृत ५।५९-६०, मूलाचार प्रदीप २।२९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहार-ग्रहण-विधि :

एषणा समिति, स्थितभोजन, एकभक्त तथा अन्य मूलगुण एवं बत्तीस अन्तराय आदि के स्वरूप विश्लेषण के आधार पर श्रमण की आहार ग्रहण-विधि की जानकारी मिल जाती है। मुनि को अपने संकल्प आदि के अनुसार जब आहार-ग्रहण की विधि सिद्ध हो जाती है तब वे उस दाता श्रावक के घर में योग्य स्थान पर दीवाल, स्तम्भादि आश्रय के बिना अपने पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर तथा समपाद खड़े हो पैर रखने, जूठन गिरने और दाता के खड़े होने रूप तीन प्रकार की भूमि शुद्धिपूर्वक अपने हाथों की अंजुलिपुट को ही पात्र बनाकर उसी (पाणिपात्र) से आहार ग्रहण करने का विधान है।[1] अतः मुनि को सद्गृहस्थ आदि दूसरे के घर में, नवकोटि परिशुद्ध अपने पाणिपात्र में, सद्गृहस्थ आदि रूप दूसरे के द्वारा दिया हुआ विशुद्ध आहार ग्रहण करने का विधान है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने भी यही बात कही है कि परिग्रह के नाम पर श्रमण बाल के अग्रभाग के बराबर भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते। वे एक ही स्थान पर खड़े होकर दूसरों के द्वारा दिया गया प्रासुक अन्न अपने पाणिपात्र से ग्रहण करते हैं।[3] जबतक श्रमण खड़े होकर अपने हाथों को ही पात्र बनाकर भोजन करने की सामर्थ्य रखता है, तभी तक आहार की प्रवृत्ति करता है अन्यथा नहीं। इस प्रतिज्ञा के निर्वहणार्थ तथा इन्द्रिय-संयम और प्राणि-संयम के पालन हेतु स्थित (खड़े होकर) भोजन का विधान है।[4]

तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है—जिस प्रकार भूमि, बीज आदि कारणों में गुणवत्ता होने से विशेष फलोत्पत्ति देखी जाती है उसी प्रकार विधिविशेष आदि से दान के फल में विशेषता होती है।[5] वस्तुतः दान की क्षमता और दान की पात्रता का आधार नवधाभक्ति है। अतः अपराजितसूरि ने कुछ आहार दाताओं के द्वारा प्रदत्त आहारदान के ग्रहण का मुनि को निषेध किया है, जैसे—बालक को स्तनपान कराती या गर्भिणी स्त्री, रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ, अन्धा, गूँगा, दुर्बल, भयातुर, शंकालु, अतिनिकटवर्ती एवं दूरवर्ती मनुष्य, लज्जा से पराङ्मुखी या घूंघट युक्त स्त्री, जिसका पैर जूते पर रखा हो या जो ऊँचे

---

१. मूलाचार १।३४, भ० आ० गाथा १२०६ विजयोदयाटीका पृष्ठ १२ ४.
२. भुंजंतिपाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि—मूलाचार ९।४५.
३. सुत्तपाहुड गाथा १७.
४. अनगार धर्मामृत ९।९३.
५. तत्त्वार्थवार्तिक ९।३९।६ पृष्ठ ५५९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान पर खड़ा हो—ऐसे व्यक्तियों द्वारा साधु को कभी आहार-ग्रहण नहीं करना चाहिए।[1] किन्तु श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान (आहारदान की विधि का पूर्ण ज्ञान) निर्लोभता. क्षमा और सत्त्व—इन सात गुणों से युक्त आहारदाता के द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करना चाहिए।[2] अकलंकदेव ने दाता की विशेषतायें इस प्रकार बतलाई हैं—पात्र में ईर्ष्या न होना, त्याग में विषाद न होना, देने की इच्छा करनेवाले में या जिसने दान दिया है, सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा न करना, निदान नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना आदि दाता की विशेषतायें हैं।[3]

मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन आदि गुण जिनमें पाये जायें वे श्रमण सच्चे पात्र हैं।[4] रयणसार में कहा है कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, महाव्रती मुनि, आगम में रुचि रखनेवाले और तत्त्व विचारकों के भेद से हजारों प्रकार के पात्र हैं किन्तु जिन मुनियों में उपशम, निरीहता, ध्यान, अध्ययन आदि महान् गुण होते हैं वे उत्तम पात्र कहे जाते हैं।[5] ऐसे उत्तम पात्र को आहारदान के लिए उनका प्रतिग्रह, उच्चस्थान प्रदान, पाद प्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम आदि क्रियाओं को विधि कहते हैं।[6]

इस प्रकार विधिपूर्वक दाता द्वारा दिये गये अशन, पान, खाद्य, भोज्य, लेह्य एवं पेय आदि पदार्थों का अच्छी तरह प्रतिलेखन कर अर्थात् अच्छी तरह शोधकर श्रमण अपने पाणिपात्र से ग्रहण करते हैं।[7]

आहार की मात्रा (आहार-परिमाण) :

आहारदाता का यह कर्त्तव्य है कि शीत या उष्ण काल या ऋतु के अनुसार तथा मुनि की वात, पित्त या कफ-प्रधान प्रकृति जानकर, परिश्रम, व्याधि, कायक्लेश तप और उपवास आदि देख-जानकर उन्हें तदनुसार आहार देना

---

१. भ० आ० गाथा १२०६ की विजयोदया टीका पृष्ठ १२०४.

२. श्रद्धा तुष्टिर्भक्ति विज्ञानमलब्धता क्षमा सत्त्वम्।
यस्यैते सप्तगुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥
—संयम प्रकाश : पूर्वार्द्ध किरण १. पृ० ९८ से उद्धृत.

३-४. तत्त्वार्थवार्तिक ७।३९ पृ० ५५९.

५. रयणसार ११४, ११५.

६. तत्त्वार्थवार्तिक ७।३९। १ पृ० ५५९.

७. असणं जदि वा पाणं खज्जं भोजं च लिज्ज पेज्जं वा।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु॥ मूलाचार ९।५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाहिए।[1] क्योंकि—आहार उदरस्थ होकर पाचन क्रिया द्वारा शरीर में प्राण-धारणादि शक्ति पैदा करता है। तदनुसार उसकी संयम-यात्रा सधती है किन्तु मुनि को भी शरीर से कार्य लेने हेतु मात्रा से अधिक आहार कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि जैसे प्रचण्ड पवन के साथ प्रचुर ईंधन वाले वन में लगा दावानल शान्त नहीं होता, वैसे ही प्रकाम (यथेच्छ) भोजी की इन्द्रियाग्नि कभी शान्त नहीं होती। अतः ब्रह्मचर्य के लिए प्रकाम भोजन कभी भी हितकर नहीं है।[2] मनुस्मृति में भी कहा है—बहुत अधिक भोजन करना स्वास्थ्य, दीर्घायु, स्वर्गप्राप्ति और पुण्य में बाधक है। संसार इसका विरोध करता है, अतः इसका परित्याग करे।[3] आ० वट्टकेर ने तो यहाँ तक कह दिया है कि प्रतिदिन परिमित और प्रशस्त आहार लेना श्रेष्ठ है, किन्तु अनेक बार आहार लेना या अनेक प्रकार उपवास करना ठीक नहीं है। अतः श्रमण को प्रमाण के अनुसार ही विशुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिए[4]।

आहार-ग्रहण की मात्रा निर्धारित करते हुए कहा है कि पेट के चार भाग हैं। इनमें से दो भागों को अन्न से, तीसरे भाग को जल से पूरित करना चाहिए। तथा चतुर्थ भाग वायु संचरण के लिए खाली छोड़ देना चाहिए।[5] संयम-यात्रा को निर्विघ्न चलाने और शरीर को निरोग रखने की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है। जहाँ तक आहार ग्रहण की मात्रा या प्रमाण का प्रश्न है उसके लिए वट्टकेर ने लिखा है कि साधारण पुरुष को अधिक से अधिक बत्तीस ग्रास (कवल) प्रमाण आहार ग्रहण करना चाहिए।[6] भगवती आराधना में कहा है कि बत्तीस-ग्रास प्रमाण आहार पुरुष के पेट को पूरा भरने वाला होता है तथा स्त्रियों के कुक्षि-

---

१. रयणसार २३.

२. उत्तराध्ययन ३२।११.

३. अनारोग्यम् अनायुष्यम् अस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥ मनुस्मृति २।५७.

४. कल्लं कल्लं पि वरं आहारो परिमिदो पसत्थो य।
ण य खमण पारणाओ बहवो बहुसो बहुविधो य॥ मूलाचार १०।४७.

५. अद्धमसणस्स सव्वि जणस्स उदरस्स तदियमुदयेण।
वाऊँ संचरट्ठं चउत्थमवसंसये भिक्खू॥ मूलाचार ६।७२.
तथा देखिए काश्यपसंहिता, खिलस्थान, ५३-५४।

६. बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदि आहारो।
एगकवलादिहिं तत्तो ऊणियगहणं उमोदरियं॥ मूलाचार ५।१५३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरक आहार का परिमाण अट्ठाईस ग्रास प्रमाण होता है।[1] एक कवल (ग्रास) का प्रमाण एक हजार चावल[2] अथवा मुर्गी के एक अण्डे प्रमाण माना गया हैं।[3] औपपातिक सूत्र में भक्तपान अवमौदर्य तप के प्रसंग में कहा है कि आठ ग्रास ग्रहण करने वाला अल्पाहारी, बारह ग्रास ग्रहण करने वाला अपार्द्ध अवमौदर्य, सोलह ग्रास वाला अर्द्ध अवमौदर्य, चौबीस ग्रास वाला पौन अवमौदर्य तथा इकतीस ग्रास ग्रहण करने वाले को किञ्चित अवमौदर्य होता है[4]।

आहार (पिंड) सम्बन्धी दोष :

मुनियों की आहार-चर्या जितनी कठोर है उससे भी ज्यादा कठिन है उसके दोषों को टालना। श्रमणधर्म के मूलभूत अहिंसा आदि मूलगुण तथा विविध प्रकार के उत्तरगुणों का निर्विघ्न पालन करना इसका उद्देश्य है। आहार या पिंड के उद्गम, उत्पादन, ग्रहण आदि में होने वाले दोषों की सम्भावना को आहार या पिंड सम्बन्धी दोष कहते हैं। मूलाचार में सभी पिण्ड दोष संक्षेप में द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के बताये हैं। उद्गम आदि दोष सहित तथा अधःकर्म युक्त आहार द्रव्यगत पिण्डदोष कहा जाता है। भाव से अर्थात् आत्म-परिणामों की अशुद्धि से अशुद्ध आहार भावगत दोषयुक्त है। अतः भावशुद्धि भी यत्नपूर्वक करना चाहिए, क्योंकि भावशुद्धि से ही सर्व तपश्चरण और ज्ञान-दर्शन आदि व्यवस्थित होते हैं।[5]

सामान्यतः आहार की विविधता के कारण आहार सम्बन्धी दोष भी अनेक हो सकते हैं किन्तु मुख्य रूप से ये आठ प्रकार के दोष हैं[6]—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, इंगाल (अंगार), धूम और कारण। इनका स्वरूप इस प्रकार है[7]—

---

१. बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होइ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला॥ भगवती आराधना २११.

२. सहस्रतंदुलमात्रः कवल आगमे पठितः—मूलाचार वृत्ति ५।१३५.

३,४. औपपातिक सूत्र १९.

५. सव्वेति पिंडदोसो दव्वे भावे समासदो दुविहो।
दव्वगदो पुण दव्वे भावगदो अप्पपरिणमो॥ मूलाचार सवृत्ति ६।६९.

६. उग्गम उप्पादण एसणं च संयोजणं पमाणं च।
इंगालं धूम कारण अट्ठविहा पिण्डसुद्धी दु॥ मूलाचार ६।२.

७. मूलाचारवृत्ति ६।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **उद्गम दोष**—गृहस्थ-दाता के द्वारा जिन अभिप्रायों आदि से दोष उत्पन्न होते हैं।

२. **उत्पादन दोष**—पात्र अर्थात् मुनि में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होता है या कराया जाता है उस आहार के निमित्त होने वाले अनुष्ठान विशेष से लगने वाले दोष।

३. **एषणा (अशन) दोष**—जिन पारिवेशक—परोसने वालों से भोजन किया जाता है उनकी अशुद्धियाँ अशन (एषणा) दोष हैं। अथवा साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा लगने वाले आहार सम्बन्धी दोष "एषणा" के दोष कहलाते हैं। ये विधिपूर्वक आहार न लेने-देने और शुद्धाशुद्ध की छानबीन न करने से पैदा होते हैं।

४. **संयोजना दोष**—परस्पर में विरुद्ध शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष आदि पदार्थों को मिलाकर भोजन करने से या मिलाने मात्र से होने वाले दोष।

५. **प्रमाण दोष**—आहार की मात्रा (प्रमाण) का उल्लंघन करना (मात्रा से अधिक भोजन ग्रहण करना) प्रमाण दोष है।

६. **इंगाल (अंगार) दोष**—'यह भोज्य बड़ा स्वादिष्ट है, मुझे कुछ और मिले तो बड़ा अच्छा रहे'—इस प्रकार आहार में अतिलालच से भोजन करने वाले साधु को जो दोष लगता है (जो कि अंगार के समान माना गया है) वह इंगाल या अंगार दोष है।

७. **धूम दोष**—इंगाल दोष से विपरीत अर्थात् 'यह भोज्य बड़ा खराब है, मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता'—इस प्रकार निंदा करके आहार लेने से होने वाले दोष, जो कि धुआँ के समान है—धूम दोष कहलाता है।

पिण्डनिर्युक्ति में अंगार और धूम दोषों के विषय में कहा है कि जो ईंधन जलते हुए अंगारदशा को प्राप्त नहीं होता वह धूम सहित होता है और वही ईंधन जलने पर अंगार हो जाता है। इसी तरह यहाँ राग से ग्रस्त मुनि का भोजन अंगार है क्योंकि वह चारित्र रूपी ईंधन के लिए अंगार तुल्य है और द्वेष से युक्त साधु का भोजन सधूम है, क्योंकि वह भोजन के प्रति निन्दात्मक कलुषभाव रूप धूम से मिश्रित है।[1]

८. **कारण दोष**—विरुद्धकारणों से आहार लेना कारण दोष है।

उपर्युक्त आठ दोषों से रहित आठ प्रकार की पिण्डशुद्धि होती है। किन्तु इन आठ दोषों में भी कुछ के अनेक उपभेद हैं। जैसे उद्गम दोष के सोलह, उत्पादन दोष के सोलह, एषणा (अशन) दोष के दस तथा ग्रासैषणा (परिभोगैषणा)

१. पिण्डनिर्युक्ति ६५७, ६५८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के संयोजना, प्रमाण, इंगाल और धूम—ये चार भेद हैं। इस प्रकार आहार सम्बन्धी कुल छयालीस (१६ + १६ + १० + ४ = ४६) दोष हैं।

अधःकर्म दोष—मूलाचार तथा उसकी वृत्ति में अधःकर्म (आधाकर्म) दोष को इन छयालीस दोषों से पृथक् तथा आठ प्रकार की पिण्डशुद्धि से बाह्य "महादोष" रूप कहा गया है।[1] यह अधःकर्म छह जीवनिकायों का वध करने वाला होने से निकृष्ट व्यापार रूप है। और इसमें प्राणियों की विराधना होने से यह अधोगति का भी कारण है अतः इसे अधःकर्म कहा जाता है। क्योंकि गृहस्थाश्रित यह अधःकर्म महादोष पंचसूनाओं से सहित होता है। अर्थात् कंडणी (ऊखली), पेषणी (चक्की), चुल्ली (चूल्हा), उदकुम्भ (जल भरने के बड़े-बड़े अलिंजर आदि) और प्रमार्जनी (झाड़ या बुहारी)—ये पंचसूनायें हैं।[2] इनके द्वारा कूटना, पीसना, रसोई करना, जल भरना और बुहारी देना—ये आरम्भ (हिंसा) युक्त क्रियायें होती हैं। इनसे छह जीवनिकायों की विराधना होती है। और इस प्रकार जीवों की विराधना तथा मारण आदि से स्व-पर निमित्त बनाया गया आहार अधःकर्म से दूषित है। वस्तुतः मुनि के निमित्त से बनाये हुए भोजन में पाँच सूनाओं से प्राणियों की हिंसा होती है, इसलिए इसे आधाकर्म कहते हैं। जो जिह्वास्वाद लोलुपी मुनि ऐसा आहार करता है वह श्रावक होने के भी योग्य नहीं है।[3] अतः छयालीस दोषों से तथा अधःकर्म से रहित निर्दोष आहार ग्रहण का विधान है।

आहार सम्बन्धी दोषों के छयालिस भेद :

आहार सम्बन्धी दोषों के छयालीस भेदों का विवेचन प्रस्तुत है—

उद्गम दोष :

आहार सम्बन्धी उद्गम दोष के सोलह प्रकार हैं—औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्रावर्तित, प्रादुष्कार, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्तक, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोह, अच्छेद्य और अनिसृष्ट।[4]

---

१. गृहस्थाश्रितं पंचसूनासमेतं तावत्सामान्यभूतमष्टविधपिण्डशुद्धि बाह्यं महादोषरूपमधःकर्म कथ्यते। मूलाचारवृत्ति ६।३.

२. कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।
बीहेदव्वं णिच्चं तहि जीवरासी से मरदि॥ मूलाचार १०।३५.

३. मूलाचार ६।५, १०।३६.

४. आधाकम्मुद्देशिय अज्झोवज्झेय पूदिमिस्से य।
ठविदे बलि पाहुडिदे पादुक्कारे य कीदे य।
पामिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिण्ण मालआरोहो।
अच्छिज्जे अणिसट्ठे उग्गमदोसा दु सोलसिमे॥
—मूलाचार ६।३-४. वृत्ति सहित.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **औद्देशिक**—देवता या पाखण्डी या इन दोनों के निमित्त या सामान्य साधु के निमित्त तैयार किया आहार औद्देशिक दोष युक्त है। पात्रानुसार इसके चार भेद इस प्रकार हैं—(१) उद्देश्य—जो कोई भी आयेगा उन सबको मैं आहार दूँगा—इस प्रकार सामान्य उद्देश्य से साधित आहार उद्देश्य है।[२] (२) समुद्देश—जो भी पाखण्डी आयेंगे उन सबको मैं भोजन कराऊँगा—इस प्रकार पाखण्डी के उद्देश्य से बनाया गया भोजन समुद्देश है। (३) आदेश—जो कोई श्रमण अर्थात् आजीवक, तापस, रक्तपट (बौद्ध भिक्षु), परिव्राजक अथवा छात्र आयेंगे उन सभी को मैं आहार दूंगा—इस प्रकार श्रमण के निमित्त बनाया गया भोजन आदेश कहलाता है। (४) समादेश—जो कोई भी निर्ग्रन्थ साधु आयेंगे उन सभी को आहार दूंगा—इस प्रकार निर्ग्रन्थों के उद्देश्य से बनाया आहार समादेश हैं।[१]

२. **अध्यधि दोष** :—श्रमण को आया हुआ जानकर अपने लिए पकते हुए चावलादि में (संयमी को देने के लिए) और भी अधिक चावल, पानी आदि मिला देना अथवा जब तक भोजन तैयार न हो जाये तब तक उन्हें रोक लेना अध्यधि दोष है[२] इसे साधिक दोष भी कहते हैं।

३. **पूतिकर्म दोष** :—अप्रासुक द्रव्य से मिश्र हुआ प्रासुक-द्रव्य भी पूतिकर्म-दोष से दूषित हो जाता है। यह चूल्हा, ओखली, कलछो, वर्तन और गन्ध के निमित्त से पाँच प्रकार का होता है।[३]

४. **मिश्रदोष** :—पाखण्डियों और गृहस्थों के साथ संयत मुनियों को भी सिद्ध हुआ अन्न देना मिश्र दोष है।[४]

५. **स्थापित दोष** :—जिस बर्तन में भोजन पकाया था, पकाने वाले उस बर्तन से अन्य बर्तन में निकाल कर अपने घर में (रसोई घर से अन्यत्र) अथवा अन्य के घर में रखना स्थापित दोष है।[५]

६. **बलि दोष** :—यक्ष, नाग आदि देवों के निमित्त बनाये गये नैवेद्य में से अवशिष्ट (बचे हुए) नैवैद्य को बलि कहा गया है। उसे मुनि को आहार में देना अथवा संयतों के आने के लिए बलिकर्म करना बलि-दोष है।[६]

---

१ मूलाचार ६।६.

२. जावदियं उद्देसो पासंडीत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य हवे समादेसो॥
—मूलाचार ६।७. वृत्ति सहित, पिण्डनिर्युक्ति गाथा २३०.

३-६. मूलाचार वृत्ति सहित ६।८-१४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. **प्राभृत (प्रावर्तित) दोष** :—काल की वृद्धि या हानि करके आहार देना प्राभृत दोष है। इसे प्रावर्तित दोष भी कहते हैं। क्योंकि इसमें काल की हानि और वृद्धि से परिवर्तन किया जाता है। इस तरह आहार देने में दातार को क्लेश, बहुविघात और बहुत आरम्भ आदि दोष देखे जाते हैं अतः यह दोष है। प्राभृत के दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म। काल की हानि-वृद्धि की अपेक्षा इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं।[1]

दिवस, पक्ष, महीना और वर्ष का परावर्तन करके जो आहार दान दिया जाता है वह बादरप्राभृत हानि और वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का है। जैसे शुक्ल पक्ष की अष्टमी को जो आहार देने का संकल्प था उसे अपकर्षण करके अर्थात् कम (हानि) करके शुक्ला पंचमी को दे देना। अथवा शुक्ला पचमी को देने के संकल्प का उत्कर्षण (वृद्धि) करके शुक्ला अष्टमी को आहार देना।

इसी प्रकार पूर्व, अपर तथा मध्य बेला का परावर्तन करके आहार देने से सूक्ष्मप्राभृत के दो भेद हैं। अर्थात् अपराह्न बेला में देने योग्य ऐसा कोई मंगल प्रकरण था किन्तु संयत के आगमन आदि के कारण उस काल का अपकर्षण करके पूर्वाह्न बेला में आहार दे देना। वैसे ही मध्याह्न में देना था किन्तु पूर्वाह्न अथवा अपराह्न में दे देना—यह सूक्ष्मप्राभृत दोष काल की हानि-वृद्धि की अपेक्षा दो प्रकार का हो जाता है।

८. **प्रादुष्कार दोष** :—आहारार्थ साधु के आने पर बर्तन आदि यहाँ-वहाँ ले जाना तथा उन्हें माँजना अथवा मण्डप आदि खोल देना, दीवालों को लीप-पोत कर साफ करना, दीपक जलाना आदि प्रादुष्कार (प्राविष्करण) नामक दोष है। इसके संक्रमण और प्रकाशन—ये दो भेद हैं। भोजन और भाजन (बर्तन) आदि एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाना संक्रमण है। तथा बर्तन व भोजन आदि का प्रकाशन करना अर्थात् भस्म आदि से माँजना या जल से धोना अथवा उन बर्तनों को फैलाकर रख देना प्रकाशन है :[2]

९. **क्रीततर दोष** :—आहारार्थ संयत मुनि के आ जाने पर (आहार देने के निमित्त) उसी समय अपनी अथवा पराई सचित्त वस्तुयें जैसे गाय, भैंस आदि देकर और उससे आहार लाकर साधु को देना। इसी तरह स्वमन्त्र या परमन्त्र अथवा स्व-विद्या या पर-विद्या किसी को देकर उसके बदले आहार लाकर मुनिको देना क्रीत दोष है। इसके द्रव्य और भाव—ये दो भेद हैं। इसमें सचित्त वस्तुयें 'द्रव्य' हैं तथा विद्या-मन्त्र आदि 'भाव' हैं।[3]

---

१. मूलाचार वृत्तिसहित ६।८-१४.
२. वही, ६।१५ वृत्ति सहित.
३. वही, ६।१६ वृत्ति सहित.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. **प्रामृष्य (ऋण) दोष**—ओदन (भात) आदि कोई वस्तु दूसरे से ऋण (कर्ज) लेकर आहार में देना प्रामृष्य दोष है। इस प्रकार के कार्य को लघुऋण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—वृद्धि (ब्याज) सहित और वृद्धि रहित। अर्थात् उधार लाये हुए अन्नादि को बाद में ब्याज समेत देना अथवा बिना ब्याज के उतना ही लौटा देना—ये दो भेद हैं। इसमें दाता को क्लेश और परिश्रम आदि करना पड़ता है अतः यह दोष है।[1]

११. **परिवर्त (परावर्त) दोष**—संयतों को देने के लिए एक अनाज के बदले दूसरा अनाज लेकर अर्थात् व्रीहि के भात आदि से शालि के भात आदि लेकर आहार देना परिवर्त दोष है।[2]

१२. **अभिघट दोष**—पंक्तिवद्ध सात घर के अतिरिक्त अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि को देना अभिघट दोष है। इसके दो भेद हैं—देशाभिघट तथा सर्वाभिघट। एक देश से आये हुए भात आदि देशाभिघट हैं। इसके आचिन्न और अनाचिन्न—ये दो भेद हैं। घर की सीधी पंक्ति से तीन अथवा सात घर से आयी हुई योग्य आहार रूप वस्तु आचिन्न (ग्रहणीय) है तथा इससे भिन्न अर्थात् यत्र-तत्र स्थित घरों से आयी हुई अन्न रूप वस्तु अनाचिन्न (अग्रहणीय) है, क्योंकि यहाँ-वहाँ से आने में ईर्यापथ शुद्धि न होने के कारण दोष देखा जाता है।

सब ओर से आया हुआ भात आदि अन्न को सर्वाभिघट कहते हैं। इसके चार भेद हैं—स्वग्राम, परग्राम, स्वदेश और परदेश। जिस ग्राम में मुनि ठहरे हों वह स्वग्राम है, उससे भिन्न को परग्राम कहते हैं। पूर्व और अपर मुहल्ले से वस्तु का लाना प्रथम स्वग्राम नामक सर्वाभिघट दोष है। इसी तरह अन्य भेद भी जानना चाहिए। अर्थात् परग्राम से लाकर स्वग्राम में देना, स्वदेश से स्वग्राम में, परदेश से लाकर स्वग्राम अथवा स्वदेश में देना। इसमें प्रचुर मात्रा में ईर्यापथ दोष देखा जाता है।[3]

१३. **उद्भिन्न दोष**—ढके हुए या मुद्रा से बन्द वस्तुएँ (लाक्षा आदि से मुद्रित अथवा आजकल की तरह बन्द डिब्बों आदि में आने वाला खाद्य पदार्थ) जैसे औषधि, घी, शक्कर आदि को उनके बन्द भाजन (पात्रों) का ढक्कन या मुख खोलकर आहार में देना उद्भिन्न दोष है।[4]

---

१. मूलाचार ६।१७ वृत्ति सहित.

२-३. मूलाचार ६।१८-२१ वृत्तिसहित.

४. पिहिदं लंछिदयं वा ओसहघिदसक्करादि जं दव्वं।
उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं॥ वही ६।२२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४. **मालारोहण दोष**—नसैनी (काठ को सीढ़ी), काठ आदि के द्वारा माल अर्थात् घर के ऊपरी भाग पर चढ़कर वहाँ पर रखी हुई पुआ आदि वस्तु को लाकर देना मालारोहण दोष है।[1]

१५. **आछेद्य दोष**—संयत को भिक्षार्थ आया देख, राजा या चोर आदि से डरकर या निर्बल से छीनकर लाया हुआ आहार देना आच्छेद्य या आछेद्य दोष है।[2]

१६. **अनीशार्थ दोष**—अनीश अर्थात् अप्रधान, अर्थ (कारण) है जिस ओदनादिक भोज्य पदार्थ का वह भोजन अनीशार्थ कहलाता है। इसमें एक दान देता है और दूसरा निषेध करता है—इस प्रकार के अप्रधान दातारों से दिया हुआ आहार लेना अनीशार्थ दोष है। इसके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। ईश्वर अनीशार्थ दोष का अर्थ है जो स्वामी (ईश्वर) दान देना चाहता है, फिर भी नहीं दे पाता, अन्य लोग (अमात्य, पुरोहित आदि) विघ्न कर देते हैं। यदि ऐसा दान मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके ईश्वर अनीशार्थ दोष होगा। इसके चार भेद है—सारक्ष, व्यक्त, अव्यक्त तथा संघाटक। जो आरक्षों के साथ रहे वह सारक्ष है। व्यक्त अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी या बुद्धिमान, अव्यक्त अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला तथा व्यक्ताव्यक्त रूप पुरुष संघाटक कहा जाता है।

जिस दान का अप्रधान (अनीश्वर) पुरुष हेतु होता है वह दान अनीश्वर अनीशार्थ दोष है। इसके तीन भेद हैं—व्यक्त, अव्यक्त और संघाटक। वस्तुतः अनीश्वर दानादि का स्वामी नहीं होता किन्तु व्यक्त अर्थात् प्रेक्षापूर्वकारी (बुद्धिमान्) के द्वारा दिया गया आहार यदि मुनि ग्रहण करते हैं तो उनके व्यक्त अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोष होता है। इसी तरह अव्यक्त अर्थात् अबुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले के द्वारा दिया गया दान यदि मुनि लेते हैं तो उन्हें अव्यक्त अनीश्वर नामक अनीशार्थ दोष होता है। तथा संघाटक अर्थात् व्यक्ताव्यक्त अनीश्वर द्वारा दिया गया आहार लेने में संघाटक अनीश्वर नामक अनिशार्थ दोष है क्योंकि इसमें अपाय देखा जाता है।[3]

उत्पादन दोष :

आहार के उत्पादन सम्बन्धी सोलह दोष हैं। धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, पूर्वस्तुति, पश्चात् स्तुति,

---

१-२. मूलाचार ६।२३-२४.

३. अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सरमह णिस्सरं चदुवियप्पं।
पढमिस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ।। मूलाचार ६।२५. वृत्तिसहित.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग और मूलकर्म ।[1]

१. **धात्री दोष**—धात्री अर्थात् माता के समान बालक का लालन-पालन आदि कार्य करने वाली धाय । अतः धात्री कार्य करके या उसका उपदेश देकर आहार ग्रहण करना धात्री दोष है । धात्री के पाँच भेद हैं—(१) मार्जन धात्री—बालक को स्नान कराने वाली धाय, (२) मण्डन धात्री अर्थात् बच्चों को सजाने-सँवारने वाली धाय, (३) क्रीडनधात्री अर्थात् बालकों को क्रीडा कराने, रमाने वाली धाय, (४) क्षीरधात्री—जो बालक को दूध पिलाती है वह स्तनपायिनी क्षीरधात्री, तथा (५) जन्मदेनेवाली या सुलानेवाली अम्बधात्री कहलाती है । जो इन पाँच प्रकार के धात्री-कर्म करके या इनके उपदेश करके आहार आदि उत्पन्न कराते हैं उनको धात्री नामक उत्पादन दोष लगता है ।[2]

१. **दूत दोष**—स्वग्राम से परग्राम अथवा स्वदेश से परदेश में जलमार्ग स्थलमार्ग अथवा आकाशमार्ग से जाते समय किसी सम्बन्धी या गृहस्थ के वचनों (सन्देश) को पहुँचा देना दूतकर्म दोष है ।[3]

३. **निमित्त दोष**—निमित्त ज्ञान के आठ भेद हैं—१. व्यंजन अर्थात् तिल, मशक आदि, २. अंग (शरीरादि के अवयव), ३. स्वर, ४. छिन्न (खड्ग आदि का प्रहार या कपड़े आदि का छेद होना या कट-फट-जाना), ५. भूमि, ६. अंतरिक्ष, ७. लक्षण और ८. स्वप्न । इन निमित्तों के द्वारा शुभाशुभ बतलाकर बदले में उनके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करना निमित्त दोष है ।[4]

४. **आजीव दोष**—जाति, कुल, शिल्प, तपःकर्म और ईश्वरता—इन्हें बतलाकर जो आजीविका करता है अर्थात् दाता द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करता है तो उसे आजीव दोष होता है ।[5]

५. **वनीपक दोष**—कुत्ता, कृपण, अतिथि, ब्राह्मण, पाखण्डी, श्रमण (आजीवक) और कौवा—इन्हें दान आदि करने से पुण्य होता है या पाप ? ऐसा पूछे जाने पर 'पुण्य होता है'—यदि मुनि दाता के अनुकूल ऐसा वचन बोल देता है और दाता प्रसन्न हो उन्हें आहार देता है तथा मुनि उसे ग्रहण करता है तो दीनता आदि के कारण यह वनीपक दोष होता है ।[6]

---

१. धादीदूदणिमित्ते आजीवं वणिवग्गे य तेगिंछे ।
कोधो माणो मायो लोही य हवंति दस एदे ॥
पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य ।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य ॥ मूलाचार ६।२६,२७.

२. मज्जणमंडणधादी खेल्लावणखीरअंबधादी य ।
पचविधधादिकम्मेणुप्पादो धादिदोसो दु ॥ वही ६।२८.

३. वही ६।२९. ४. वही ६।३०. ५-६ वही ६।३१-३२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. **चिकित्सा दोष** :—चिकित्सा शास्त्र के आठ भेद हैं—(१) कौमार (बालवैद्य अर्थात् मासिक, सांवत्सरिक आदि पीड़ा देने वाले ग्रहों के निराकरण के लिए उपायभूत शास्त्र, (२) तनुचिकित्सा, (३) रसायन, (४) विष, (५) भूत (६) क्षारतन्त्र (सड़े हुए घाव आदि का शोधन करने वाली चिकित्सा), (७) शलाकिक अर्थात् शलाका से होने वाली चिकित्सा तथा (८) शल्य चिकित्सा। इनके द्वारा गृहस्थ का उपकार करके उनसे आहारादि लेना चिकित्सा दोष है।[1]

७-१०. **क्रोध, मान, माया और लोभ दोष** :—इन दोषों के माध्यम से भिक्षा ग्रहण करना।[2] यहाँ आचार्य वट्टकेर ने इन चारों दोषों के चार उदाहरण (घटनाओं सहित) इस प्रकार बताये हैं—(१) हस्तिकल्प नामक पत्तन (नगर) में किसी साधु ने क्रोध करके आहार का उत्पादन कराके ग्रहण किया। (२) वेन्नवट नगर में किसी संयत ने मान करके, (३) वाराणसी नगरी में किसी साधु ने माया करके तथा (४) रासियाण (राशियान देश या स्थान) में अन्य किसी संयत ने लोभ दिखाकर आहार उत्पन्न कराया और ग्रहण किया।[3]

११-१२. **पूर्व एवं पश्चात् संस्तुति दोष** :—तुम दानपति, अथवा यशस्वी हो—इस प्रकार दाता के सामने उसकी प्रशंसा करना तथा उसके दान देना भूल जाने पर उसे याद करा देना पूर्वसंस्तुति दोष है। इसी तरह दान लेकर पुनः प्रशंसा करना पश्चात्-संस्तुति दोष है।[5]

१३-१४ **विद्या तथा मंत्र दोष** :—जो साधित करने पर सिद्ध होती हैं उन्हें साधितसिद्ध विद्या कहते हैं तथा जो पढ़ते ही सिद्ध हो अर्थात् जो मंत्र पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाता है वह पठितसिद्ध मन्त्र है। इन विद्याओं एवं मन्त्रों को प्रदान करने की आशा देकर तथा उनका माहात्म्य बतलाकर दाता का आहार दान हेतु प्रेरित कर आहार ग्रहण करना अथवा आहार दायक (दाता) देवी-देवताओं को विद्या तथा मन्त्र से बुलाकर उनको आहार के लिए सिद्ध करना विद्या मन्त्र दोष है।[6]

---

१. मूलाचार ६।३३. २. वही ६।३४.

३. कोधो य हत्थिकप्पे माणो वेणायडम्मि णयरम्मि।
माया वाणारसिए[4] लोहो पुण रासियाणम्मि ॥ वही ६।३५, वृत्ति सहित.

४ कारंजा की हस्तलिखित प्रति में "वाराणसिए" पाठ है।

५. मूलाचार ६।३६, ३७.

६. मूलाचार ६।३८-४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५ चूर्ण दोष :—नेत्रों के लिए अंजनचूर्ण और शरीर को भूषित करने वाले भूषणचूर्ण—इन चूर्णों को बताकर आहार उत्पन्न कराना चूर्णदोष है।[1]

१६ मूलकर्म दोष :—अवशों का वशीकरण करना और वियुक्तजनों का संयोग कराके आहार उत्पन्न कराना मूलकर्म दोष है।[2]

—इस प्रकार ये सोलह उत्पादन दोष हैं।

एषणा (अशन) विषयक दस दोष : —

शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छोटित (त्यक्त)—ये दस अशन दोष हैं।[3]

१. शंकित दोष :—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—ये चार प्रकार के आहार हैं। इनके विषय में अध्यात्म (चित्त) या आगम में ऐसा सन्देह कि यह योग्य है या अयोग्य ?—ऐसा संदेह रखते हुए उसी आहार को ग्रहण करना शंकित दोष है।[4]

२. म्रक्षित दोष :—चिकनाई युक्त हाथ, बर्तन या कलछी-चम्मच से दिया गया भोजन म्रक्षित दोष युक्त है। इसमें समूर्च्छन आदि सूक्ष्म जीवों की विराधना का दोष देखा जाता है।[5]

३. निक्षिप्त दोष :—सचित्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, बीज एवं त्रस जीव तथा इन पर रखी हुई आहार योग्य वस्तु भी सचित्त (चित्तकर सहित जीवयुक्त तथा अप्रासुक) हो जाती है। इन जीवकायों की अपेक्षा से वह वस्तु भी छह भेद रूप है। ऐसे आहार को लेना निक्षिप्त दोष है।[6] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अंकुर शक्ति के योग्य गेहूँ आदि धान्य बीज कहलाता है क्योंकि ये बीज जीवों की उत्पत्ति के योग्य तथा योनिभूत होने के कारण इन्हें सचित्त कहा है।

४. पिहित दोष :—जो सचित्त वस्तु से अथवा अचित्त भारी वस्तु से ढका हो उसे खोलकर दिया गया आहार लेना पिहित दोष है।[7]

५. संव्यवहार दोष :—दान देने के लिए यदि बर्तन आदि को शीघ्रता से बिना देखे खींचकर उसमें रखी आहार योग्य वस्तु दी जाने पर ग्रहण करना संव्यवहार दोष है।[8]

१-२. मूलाचार ६।४१-४२.

३. संकिदमक्खिदणिक्खिदणिक्खिदपिहिदं संववहरणदायगुम्मिस्से।
अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसाइं दस एदे॥ वही ६।४३.

४-५. वही, ६।४४, ४५.

६-८. वही, ६।४६-४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. **दायक दोष** :—धाय, मद्यपायी, रोगी, मृतक के सूतक सहित, नपुंसक, पिशाचग्रस्त, नग्न, मलमूत्र करके आये हुए, मूर्छा का रोगी या मूर्छित, वमन करके आये हुए, रुधिर सहित, वेश्या, श्रमणी (आर्यिका), तेल मालिश करने-वाली, अतिबाला (अतिमुग्धा), अतिवृद्धा, खाती या चबाती हुई, गर्भिणी (पाँच महीने या इससे ऊपर गर्भ वाली), अंधलिका (अंधी), किसी के आड़ में खड़ी हुई, बैठी हुई, ऊँचे-नीचे खड़ी हुई महिला आदि द्वारा दिया गया आहार दायक दोष युक्त है। तथा फूँकना, जलाना, सारण करना (अग्नि में लकड़ियाँ डालना), प्रच्छादन (अग्नि को भस्म आदि से ढकना), विध्यापन (अग्नि को जल आदि से बुझाना), निर्वात (लकड़ी आदि को अग्नि से हटाकर समाप्त कर देना) घट्टन (कुड्य आदि वस्तु विशेष से अग्नि को दबा देना) इत्यादि अग्निकार्य करते हुए आकर अहार देना भी दायक दोष है। तथा लीपने, मांजने-धोने का कार्य करके एवं दूध पीते हुए बालक को छोड़कर आहार-दान करना दायक दोष है।[1]

७. **उन्मिश्र दोष** :—पृथ्वी, जल, हरितकाय, बीज एवं सजीव त्रस—इन पाँचों से मिश्र हुआ आहार उन्मिश्र दोष युक्त होता है।[2]

८. **अपरिणत दोष** :—तिलोदक (तिल का धोवन), तण्डुलोदक, उष्णोदक, चणोदक (चने का धोवन), तुषोदक तथा अविध्वस्त जल जो परिणत नहीं हुआ है (अग्न्यादि से अपरिपक्व) उसे ग्रहण करना अपरिणत दोष है।[3] यहाँ अविध्वस्त से तात्पर्य है—अपने वर्ण, गंध, रस को नहीं छोड़ा है ऐसा जल, अन्य भी उसी प्रकार से हरड़ आदि के चूर्ण से प्रासुक नहीं किये हैं अथवा जल में हरड़ आदि का चूर्ण इतना थोड़ा डाला है कि वह जल अपने रूप, गंध और रस से परिणत नहीं हुआ है, ऐसा जल ग्रहण करना अपरिणत दोष है।[4]

९. **लिप्त दोष** :—गेरु, हरिताल, सेटिका (सेलखड़ी अर्थात् सफेद मिट्टी या खड़िया), मनशिल (आमपिष्ट अथवा चावल आदि का चूर्ण अर्थात् आटा) सप्रवाल (अपक्व शाक अथवा अप्रासुक जल) इन वस्तुओं से लिप्त या गीले हाथ अथवा वर्तन से आहार देना लिप्त दोष है।[5]

१०. **छोटित (त्यक्त या परित्यजन) दोष** :—हाथ की अंजुलि से बहुत कुछ नीचे गिराते हुए या इष्ट पदार्थों को ग्रहण करते हुए तथा प्रतिकूल पदार्थों को गिराते हुए अथवा गिरते हुए दिया गया आहार ग्रहण करना त्यक्त दोष है।

ये दस अशन दोष सावद्य (हिंसा) करने वाले होने से त्याज्य हैं क्योंकि इनसे जीवदया का पालन भी नहीं होता और लोक-निन्दा भी होती है।[6]

---

१. मूलाचार ६।४९-५२.
२. वही ६।५३.
३. वही ६।५१.
४. मूलाचार वृत्ति ६।५४.
५. वही ६।५५.
६. वही, वृत्ति सहित ६।५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयोजनादि चार दोष :

आहार के छयालीस दोषों में बयालीस दोषों का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ भोजन सम्बन्धी ग्रासैषणा (परिभोगैषणा) के संयोजना, प्रमाण, अंगार और धूम—इन चार दोषों का विवेचन प्रस्तुत है—

१. संयोजना दोष :—भोजन और पानी आदि को परस्पर मिला देना संयोजना दोष है। जैसे ठण्डा भोजन उष्ण जल में मिला देना अथवा ठण्डे जल आदि पदार्थ उष्ण भात आदि से मिला देना। अन्य भी परस्पर विरुद्ध वस्तुओं को मिला देना संयोजना दोष है।[१]

२. प्रमाण दोष :—अतिमात्र (अतिक्रमण करके) आहार लेना प्रमाण दोष है। व्यंजन आदि आहार से उदर के दो भाग पूर्ण करना और जल से उदर का तीसरा भाग पूर्ण करना तथा उदर का चतुर्थ भाग खाली रखना प्रमाणभूत आहार कहलाता है। इससे भिन्न जो अधिक आहार ग्रहण करते हैं उनके प्रमाण या अतिमात्र नामक आहार दोष होता है। प्रमाण से अधिक आहार लेने पर स्वाध्याय नहीं होता है, षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन भी शक्य नहीं होता है। ज्वर आदि रोग भी उत्पन्न होकर संतापित करते हैं तथा निद्रा और आलस्य आदि दोष भी होते हैं।[२]

३. अंगार दोष :—गृद्धियुक्त आहार लेना अंगार दोष है। अर्थात् जो मूर्छित होता हुआ (आहार में गृद्धता रखता हुआ) आहार लेता है उसके अंगार नामक दोष होता है क्योंकि उसमें अतीव गृद्धि देखी जाती है।[३]

४. धूम दोष :—बहुत निन्दा, क्रोध और द्वेष करते हुए आहार लेना धूम दोष है। अर्थात् यह भोजन विरूपक है, मेरे लिए अनिष्ट है—ऐसी निन्दा करके भोजन करना धूम दोष है क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्तरंग में संक्लेश देखा जाता है।[४]

आहार सम्बन्धी ये छयालीस दोष हैं। जिनका एकत्र विवेचन श्रमणाचार विषयक शौरसेनी प्राकृत के ग्रन्थों में मिलता है। अर्धमागधी मूल आगम साहित्य में भी इनका विस्तृत और स्पष्ट विवेचन मिलता है किन्तु एकत्र रूप में नहीं अपितु प्रकीर्ण रूप में, जैसे[५] आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्वतर, पूति-कर्म क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत—ये स्थानाङ्ग (९.६२) में बतलाए गए हैं। धात्री-पिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्त-पिण्ड, आजीव-पिण्ड, वनीपक-

---

१-२. मूलाचार ६।५७ वृत्तिसहित.

३-४. वही ६।५८ वृत्तिसहित.

५. दसवेआलियं : अध्ययन ५ का आमुख पृष्ठ १७९ (जैन विश्वभारती, लाडनूं)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिण्ड, चिकित्सा-पिण्ड, कोप-पिण्ड, मान-पिण्ड, माया-पिण्ड, लोभ-पिण्ड, विद्या-पिण्ड, मन्त्र-पिण्ड, चूर्ण-पिण्ड, योग-पिण्ड और पूर्व-पश्चात् स्तव—ये निशीथ (उद्दे० १२) में बतलाए गए हैं। परिवर्त का उल्लेख आयारचूला (१.२१) में मिलता है। अङ्गार, धूम, संयोजना, प्राभृतिका—ये भगवती सूत्र (७.१) में मिलते हैं। मूलकर्म दोष प्रश्नव्याकरण (संवर १.१५) में है। उद्भिन्न, मालापहृत, अध्वतर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित—ये दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलते हैं। कारणातिक्रान्त उत्तराध्ययन (२६.३२) और प्रमाणातिरेक भगवती (७.१) में मिलते हैं।

इन दोषों का प्रायः एकत्र विवेचन श्वेताम्बर परम्परा के ही पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ९२-९३, ४०८-४०९, ५०२), प्रवचनसारोद्धार (गाथा ५६५-५६८) तथा पञ्चाशक (विवरण १३ गाथा ५-६, १८-१९ एवं २६) आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है।

आहार सम्बन्धी दोषों का उपर्युक्त विवेचन श्रमणाचार विषयक प्रायः सम्पूर्ण जैन ग्रन्थों में मिलता है, जिन्हें टालकर मुनि को आहार ग्रहण का विधान है। बौद्ध परम्परा के पालि दीघनिकाय के महासीहनादसुत्त में "अचेलकस्सप" नामक नग्न परिव्राजक (जो सम्भवतः एक जैन साधु है) के उल्लेख प्रसंग में उसके आत्म शुद्धि के मार्ग-स्वरूप तप या कठोर तपश्चर्या के अभ्यास की प्रशंसा की है। तथा जिसे भिक्षा-स्वरूप भोजन ग्रहण करने के लिए अनेक प्रतिबन्धों का पालन करने वाला बताया है। ये प्रतिबन्ध इस प्रकार हैं—"....."वह उससे जो उसे बुलाता है भिक्षा नहीं लेता। वह निमन्त्रण स्वीकार नहीं करता तथा वह विशेष रूप से उसी के लिए पकाये और लाये गये, भोजन पकाने वाले पात्र से तत्काल निकाले गये, दण्डधारी व्यक्तियों तथा भोजन करने वालों के बीच से लाये हुए, गर्भवती स्त्री तथा बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री द्वारा लाये हुए तथा जहाँ मक्खियाँ भिनक रहीं है, उस स्थान से लाये हुए भोजन को नहीं स्वीकार करता। वह या तो केवल एक ही घर जाता है या भोजन का एक कौर ही निवाला खाता है"। वह एक-एक दिन बीच देकर"दो-दो दिन"सात-सात दिन"आधे-आधे मास पर भोजन करता है।[1]

दीघनिकाय के इस उल्लेख को हम जैन परम्परा के आहार सम्बन्धी उन दोषों का प्राचीन उल्लेख मान सकते जिन दोषों से रहित विशुद्ध आहार ग्रहण का विधान श्रमण विषयक जैन साहित्य में विशेष देखने को मिलता है।

१. दीघनिकाय (१. सीलक्खन्धवग्गो) आमुख पृ० १४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार श्रमणों का आहार तथा उनकी आहार-चर्या के प्रायः सभी पक्षों पर यहाँ विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार मुनि आदि आचरण करके मूलगुणों और उत्तरगुणों आदि का पालन करते हुए जीवन-निर्वाह योग्य यथाकृत आहार ग्रहण करते हैं तथा जीवन को संयम, त्याग और तपोमय बनाकर अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल होते हैं।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विहार-चर्या

विहार चर्या श्रमण जीवन की एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण चर्या है क्योंकि बिना किसी विशेष कारण के वे स्थायी रूप से किसी नियत स्थान पर निवास नहीं करते।[1] श्रमण को भारण्डपक्षी की तरह वन, अटवी और ग्रामानुग्राम आदि में अनासक्त एवं अप्रमत्त भाव से निरन्तर विचरण करते हुए[2] अपनी साधना में लीन रहने का विधान है। वस्तुतः 'चर्या' का अर्थ मूलगुण और उत्तरगुण रूप चारित्र है।[3] विहार-चर्या के १–विहरण अर्थात् पैरों द्वारा चलन-क्रिया या पाद-यात्रा की चर्या[4], २–जीवन चर्या[5] तथा ३–सम्यक् रूप से समस्त यतिक्रिया करना[6] अर्थ किये गये हैं। मूलाचारवृत्ति में अनियतवास अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय की विशुद्धि के लिए समान रूप से सभी स्थानों पर सतत् भ्रमण करते रहने को विहार चर्या कहा है[7]। तथा शिवार्य के अनुसार जो श्रमण वसतिका, उपकरण, गाँव, नगर, गण और श्रावक जनों—इन सबमें सर्वत्र अप्रतिबद्ध (ममत्वरहित) रूप से रहना अनियत विहार है।[8] अगस्त्यसिंह ने भी सदा एक स्थान में न रहने और सतत् विहार करते रहने को अनियतवास कहा है।[9]

इस प्रकार अनिकेतवास, समुदान चर्या, अज्ञात कुल में भिक्षा ग्रहण, एकान्तवास, उपकरणों की अल्पता अथवा अक्रोध भाव और कलह का वर्जन रूप विहार चर्या

---

१. बृहत्कल्प भाष्य का० १।३६.

२. भारण्ड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो—उत्तराध्ययन ४।६.

३. चरिया चरित्तमेव, मूलुत्तरगुण समुदायो—दशवै० जिनदासचूर्णि पृष्ठ ३७०.

४. विहरण विहारो, सो य मासकप्पाइ, तस्सविहारस्स चरणं विहारचरिया —वही पृ० ३७१.

५. दशवैकालिक अगस्त्य० चूर्णि द्वितीय चूलिका गाथा ५.

६. विहरणं विहारः—सम्यक् समस्तयतिक्रियाकरणम्—द्वादशकुलक विवरण.

७. विहारोऽनियतवासो दर्शनादिनिर्मलीकरण निमित्तं सर्वदेशविचरणम् —मूलाचारवृत्ति ९।३.

८. भगवती आराधना १५३ पृ० ३५०.

९. अणिययवासो वा जतो ण णिच्चमेगत्थ वसियव्वं किन्तु विहरितव्वं—दशवैकालिक —अगस्त्य० चूर्णि द्वितीय चूलिका गाथा ५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्त रूप में करने का विधान है।[1] अतः अपरिग्रही मुनि को बिना किसी अपेक्षा के हवा की भाँति लघुभूत होकर मुक्तभाव से ग्राम, नगर, वन आदि से युक्त पृथ्वी पर समान रूप से विचरण करते रहना चाहिए।[2]

विहार चर्या का महत्त्व :

सम्यग्दर्शन की शुद्धि, स्थितिकरण, रत्नत्रय की भावना एवं अभ्यास तथा शास्त्रकौशल एवं समाधिमरण के योग्य क्षेत्र का अन्वेषण, तीर्थंकरों के जन्म, निर्वाण आदि कल्याणक स्थलों के दर्शनों का सहज लाभ श्रमण को इस विहार चर्या अर्थात् अनियत विहार से प्राप्त होता है। शिवार्य ने कहा है—अनेक देश में विहार करने से क्षुधा-भावना, चर्या-भावना आदि का पालन होता है। अनेक देशों का परिज्ञान अर्थात् अन्यान्य देशों में मुनियों के भिन्न-भिन्न आचार का ज्ञान, विभिन्न भाषाओं में जीवादि पदार्थों के प्रतिपादन का चातुर्य प्राप्त होता है।[3] अनेक देशों में विहार करते रहने से चर्या, भूख, प्यास, शीत और उष्ण का दुःख संक्लेश रहित भाव से सहन हो जाता है। वसति में ममत्त्व नहीं होता। संविग्नतर साधु (संसार का स्वरूप जानकर इस संसार में आगमन के प्रति जिसका मन अत्यन्त भीत है ऐसे साधु), प्रियधर्मतर साधु[4] तथा अवद्यभीरुतर साधु (जो थोड़े से भी अशुभयोगों को नहीं होने देता वह साधु)—इन तीन प्रकार के साधुओं को देखकर सदा विहार करने वाला साधु स्वयं भी धर्म पर अतिशय प्रेम करता है और उसमें अधिक स्थिर धर्म को धारण करने वाला होता है—अनियतवास से परोपकार होता है अर्थात् परस्पर में एक साधु दूसरे विशिष्ट साधुओं को देखकर स्वयं भी विशिष्ट बनते हैं। अनियत विहारी मुनि उत्तम चारित्र के धारक होने से उनको देखकर अन्य मुनि भी उत्तम चारित्र एवं योग के

---

१. अणिएववासो समुदाणचरिया अन्नायउंछं पइरिक्कयाय।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥
—दशवै० द्वितीय चूलिका गाथा ५.

२. मुत्ता णिरावेक्खा सच्छंदविहारिणो जहा वादो।
हिंडंति णिरुव्विग्गा णयरायरमंडियं वसुहं ॥ मूलाचार ९।३१.

३. णाणादेसे कुसलो णाणादेसे गदाण सत्थाणं।
अभिलाव अत्थकुसलो होदि य देसप्पवेसेण ॥—भ० आ० १४८.

४. धर्म के सम्यक् पालन से नये कर्मों का संवर होता है आगे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है तथा धर्म इहलोक सुख और मोक्ष सुख देनेवाला है—इस प्रकार के धर्म और धर्मफल में जिनका चित्त सदा लीन रहे वे प्रियधर्मतर साधु हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धारक तथा सम्यक् लेश्यावाले बनते हैं।[1] इस तरह सतत् अनियत विहार से जहाँ अनासक्त वृत्ति से युक्त रहते हुए अपनी आत्म साधना में निरन्तर वृद्धि होती है वहीं अधिकाधिक ज्ञानार्जन और जनकल्याण की भावना के कार्यान्वयन का योग मिलता है।

विहारशील श्रमण के भाव और कर्त्तव्य

विहारशील श्रमण के परिणाम विशुद्ध होते हैं। वे उपशांतकषाय युक्त, दैन्यभावरहित, उपेक्षाबुद्धियुक्त होने से उपसर्ग सहन करने में समर्थ होते हैं। माध्यस्थभाव, निस्पृह एवं निभृत अर्थात् कछुवे के सदृश अंग संकुचित करने आदि गुणों से युक्त तथा कामभोगादि में आदर रहित होते हैं।[2] जैसे माता अपने पुत्रों के प्रति दयाभाव युक्त होती है वैसे श्रमण भी इस भूतल पर विहार करते हुए किसी भी प्राणी को कदापि पीड़ा नहीं देते अपितु सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया सम्पन्न होते हैं। इसीलिए पापभीरू श्रमण विहार करते हुए भी पाप-कर्मों से नहीं बंधते क्योंकि वे सावद्य क्रियाओं और परिणामों का सर्वथा त्याग करते हैं।[3] इस तरह विहारशील श्रमण विशुद्ध दया सम्पन्न तथा विशुद्ध परिणामयुक्त होते हैं। कहा भी है—जो कल्पनीय (उद्गम आदि दोषों से शुद्ध आहारादिक) और अकल्पनीय विधि को जानता है, संसार से भयभीत संयमी जन जिसके सहायक हैं और जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनय से युक्त कर लिया है, वह मुनि राग-द्वेष से दूषित लोक में भी राग-द्वेष से अछूता रहकर विहार करता है।[4] मूलाचार में कहा है कि विहार करते हुए श्रमण को मार्ग में सचित्त (शिष्य आदि रूप), अचित्त (शास्त्रादि रूप) तथा मिश्र (पुस्तकादि सहित शिष्य)—इन तीनों प्रकार के जो कुछ भी द्रव्य प्राप्त हों, उन सबके ग्रहण करने के योग्य आचार्य होता है अर्थात् उन सब द्रव्यों का स्वामी अनेक गुणों से युक्त आचार्य होता है।[5] अतः श्रमण को चाहिए कि मार्ग में प्राप्त सभी प्रकार के द्रव्यों को अपने आचार्य के लिए समर्पित कर दे।

---

१. भगवती आराधना १४७, १४६, १४४.

२. उवसंतादीणमणा उवक्खसीला हवंति मज्झत्था।
णिहुदा अलोलमसठा अबिहिया कामभोगेसु॥ मूलाचार ९।३८.

३. वही, ९।३२, ३४.

४. कल्प्याकल्प्यविधिज्ञः संविग्नसहायको विनीतात्मा।
दोषमलिनेऽपि लोके प्रविहरति मुनिर्निरुपलेपः॥ प्रशमरति प्रकरण १३९.

५. जंतेणंतरलद्धं सच्चित्ताचित्तमिस्सगं दव्वं।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवं गुणो सोवि॥ मूलाचार ४।१५७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवैकालिक में कहा है कि साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन, आसन, उपाश्रय, स्वाध्याय भूमि ये सब मुझे ही तब देना जब मैं लौटकर आऊँ। इसी प्रकार भक्त-पान मुझे ही देना—यह प्रतिज्ञा भी न कराए। गाँव, कुल, नगर या देश में कहीं भी ममत्वभाव न करे।[1]

विहार योग्य क्षेत्र तथा मार्ग

इस संसार में सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़े सब प्रकार के अनन्तानन्त जीवों का निवास है। अतः हमारी हलन-चलन तथा अन्यान्य प्रवृत्तियों से अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा हो जाती है—इसी बात को ध्यान में रखकर एक बार गौतम गणधर ने तीर्थंकर महावीर से पूछा कि जब जीवों की विभिन्न प्रवृत्तियों से किसी न किसी प्रकार के जीवों की हिंसा हो जाती है तब हम कैसी प्रवृत्ति करें अर्थात् कैसे चले ? कैसे खड़े हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे खाए ? कैसे बोलें ? जिससे पापबंध न हो। तब भगवान् महावीर बोले—यतनापूर्वक (अप्रमदाचार अर्थात् सावधानीपूर्वक) चलने, यतनापूर्वक खड़े होने, यतनापूर्वक बैठने, यतनापूर्वक सोने, यतनापूर्वक खाने और यतनापूर्वक बोलने वाला पापकर्म का बन्धन नहीं करता।[2] तथा अयतनापूर्वक उक्त प्रवृत्तियों को करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्म का बंध होता है।[3] जो भिक्षु यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए दयादृष्टि से ही सभी प्राणियों को देखने वाला होता है उन्हें नवीन कर्मबंध नहीं होता तथा पूर्वकर्म नष्ट होते हैं।[4]

उपर्युक्त आचार-विचार को ध्यान में रखकर श्रमण को योग्य क्षेत्र तथा मार्ग में विचरण करना चाहिए। संयमी को प्रासुक क्षेत्र और सुलभवृत्ति अर्थात् जहाँ शुद्ध आहार-जल आदि सहज रूप में उपलब्ध हों वह क्षेत्र स्वयं को और अन्य मुनियों को सल्लेखना के योग्य समझकर—ऐसे क्षेत्रों में विहार करना योग्य है।

---

१. न पडिन्नवेज्जा समणासणाइं सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा॥
—दशवैकालिक द्वितीय चूलिका गाथा ८.

२. कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि॥
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ॥मूलाचार १०।१२१-१२२.
—दशवै० ४।७-८.

३. दशवैकालिक ४।१-६.

४. मूलाचार १०।१२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ गमन करने में जीवों को बाधा न हो अर्थात् त्रस और हरितकाय की बहुलता और पानी, कीचड़ की अधिकता जिस क्षेत्र में न हो वह क्षेत्र देश-देशान्तर में अनियत विहारी साधु के विहार और सल्लेखना आदि के योग्य होता है।[1] विहार योग्य प्रासुक मार्ग के विषय में वट्टकेर ने कहा है कि जो मार्ग बैलगाड़ी, हाथी की सवारी, डोली, रथ, घोड़े, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी, स्त्री तथा पुरुष आदि के आवागमन से सदा व्यस्त रहता हो, सूर्यादि के आतप से व्याप्त तथा हल आदि से जोता गया हो ऐसे मार्ग और क्षेत्र विचरण के योग्य हैं।[2]

गमनयोग में अपेक्षित सावधानी

ईर्यासमिति के वर्णन प्रसंग में यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि विहार आदि के समय मुनि को किस प्रकार गमन करना या चलना चाहिए और उसमें किस प्रकार की सावधानी अपेक्षित है ? क्योंकि श्रमण की प्रत्येक क्रिया योग-युक्त होती है अतः उनकी गमन क्रिया गमनयोग कही जाती है। जीव हिंसा की विविध-क्रियाओं के त्याग के साथ-साथ प्रत्येक जीवन-व्यवहार में सावधानी की भी पूरी आवश्यकता होती है। अतः गमन आदि करते समय श्रमण युग-प्रमाण भूमि को देखते हुए चले, बीज, घास, जल, पृथ्वी, त्रस आदि जीवों का परिवर्जन करते हुए चले। सरजस्क पैरों से अंगार, गोबर, कीचड़ आदि पर न चले। वर्षा, कुहासा गिरने के समय न चले। जोर से हवा बह रही हो अथवा कीट-पतंग आदि सम्पातिम प्राणी उड़ते हों उस समय न चले। ऊपर-नीचे देखता हुआ, बातें करता और हँसता हुआ न चले। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर, ईंट पर पैर रखकर कर्दम या जल को पार न करे। खड़े होने के लिए श्रमण सचित्त भूमि पर खड़ा न हो, जहाँ खड़ा हो वहाँ से खिड़कियों आदि की ओर न झाँके, खड़े-खड़े पैरों को असमाहित भाव से न हिलाये-डुलाए अर्थात् विक्षेप न करते हुए खड़े होना चाहिए। पूर्ण संयम से खड़ा रहे, हरित्, उदक, उत्तिङ्ग तथा पनक पर खड़ा न हो। बैठने के लिए सचित्त भूमि या आसन पर न बैठे। (पिच्छिका से) प्रमार्जन किए बिना न बैठे। गलीचे, दरी आदि पर न बैठे। गृहस्थ के घर न बैठे। हाथ-पैर, शरीर और इन्द्रियों को नियंत्रितकर बैठे। उपयोगपूर्वक बैठे। बैठे-बैठे हाथ-पैरादि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, संकोचना आदि अयतना है। शयन हेतु बिना प्रमार्जित भूमि आदि पर न सोये। अकारण दिन में न सोये। सारी रात न सोये। प्रकाम (प्रगाढ़) निद्रा-सेवी न हो। पार्श्व (करवट) आदि बदलते समय या

---

१. भा० आ० विजयोदया १५२.

२. मूलाचार ५।१०७-१०९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अङ्गों को फैलाते समय निद्रा छोड़कर शय्या और शरीर का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करना चाहिए।[1]

रात्रि विहार का निषेध—प्रत्येक कार्य समय पर करने का श्रमणाचार में बहुत महत्व है। सूर्योदय के बाद से सूर्यास्त के पहले तक विहार करने का विधान है। इसके बाद जैसी भी स्थिति हो उसे रात्रि में प्रासुक स्थान में ठहरना आवश्यक है। श्रमण जहाँ रात्रि में ठहरे उसके आसपास निर्धारित सीमा तक आवश्यकता होने पर मल-मूत्र विसर्जन के लिए प्रासुक स्थान पर जा सकता है। मूलाचार में इसकी विधि भी बताई गई है।[2] कल्पसूत्र में कहा है साधुओं और साध्वियों को रात्रि में अथवा विकाल अर्थात् सान्ध्य समय में तथा सूर्योदय के पहले विहार करना नहीं कल्पता।[3] बृहत्कल्प में भी रात्रि विहार का निषेध किया है। साथ ही यह भी कहा कि स्वाध्याय, ध्यान और मल-मूत्र विसर्जनार्थ बाहर जा सकते हैं किन्तु अकेला जाना नहीं कल्पता[4]। क्योंकि रात्रि में पंथगमन[5] करने में भी अनेक दोष हैं।[6] भगवती सूत्र के उल्लेखों के आधार पर रात्रि विहार के निषेध का यह कारण भी है कि रात्रि में अप्कायिक सूक्ष्म जीवों की वृष्टि होती रहती है। दिन में गर्मी के कारण नीचे पहुँचने के पहले ही सूक्ष्म अप्काय नष्ट हो जाती है किन्तु रात्रि में नष्ट होने की सम्भावना कम रहने से नीचे गिरती है।[7] इन सबके अतिरिक्त रात्रि विहार न करने से श्रमण लोक निन्दा, अन्यान्य दुर्घटनाओं तथा अनेक विवादों आदि से बच जाता है और रात्रि विश्राम से दिन में विहार आदि की थकान से विश्रान्ति प्राप्त करता है। तथा सामायिक, प्रतिक्रमण आदि आवश्यकों को निर्विघ्न सम्पन्न करता है।

नदी आदि जलस्थानों में प्रवेश तथा नाव-यात्रा

श्रमण को विहार करते समय अनेक प्रसंग ऐसे भी आते हैं जब नदी आदि जलस्थान पार करके आगे जाना आवश्यक हो जाता है ऐसी अवस्था में दिगम्बर

१. दशवैकालिक अध्ययन ४ सूत्र १८-२३, गाथा १-६ तथा दशवैकालिक की अगस्त्यसिंहचूर्णि पृष्ठ ९१-९२, जिनदासचूर्णि पृष्ठ १५८, १५९. हारिभद्रीय टीका पृष्ठ १५६, १५७, (दसवेआलियं:टिप्पण ४।१२८ पृष्ठ १५९).
२. मूलाचार ५।१२६. (विशेष के लिए देखें : यही ग्रन्थ पृष्ठ ८३-८४.
३. नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा राओ वा वियाले वा अद्धाण गमणाए एत्तए—कल्पसूत्र सूत्र १३ पृ० ६९.
४. बृहत्कल्प १।४५, ४७.
५. जिसके बीच में ग्राम-नगर आदि कुछ भी न हों उसे पंथ कहते हैं।
६. संघदासगणि का बृहत्कल्पभाष्य गाथा ३०३८-३१००.
७. भगवई १।६।२५६. सूरियपदं पृष्ठ ४५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और श्वेताम्बर-दोनों ही परम्पराओं में विधान के उल्लेख मिलते हैं। शिवार्य और अपराजितसूरी ने कहा है कि जल में प्रवेश करते समय पैर आदि में लगी हुई सचित्त और अचित्त कीचड़, धूल आदि को दूर कर देना चाहिए तथा जल से निकलकर जब तक पैर न सूखे तब तक जल के पास ही ठहरना चाहिए। वहाँ से तुरन्त जाना नहीं चाहिए। यदि बड़ी नदी को पार करना हो तो इस ओर (किनारे या पार) सिद्ध वन्दना अथवा कायोत्सर्ग करे। इस बात का भी ध्यान रखे कि श्रमण जब नाव पर चढ़े तब यह नियम कर ले कि जब-तक मैं नदी के पार न पहुँचूं तब-तक के लिए शरीर, भोजन और उपकरणों आदि सबका त्याग करता हूँ। इस प्रकार प्रत्याख्यान ग्रहण करके चित्त को समाहित करे तब नौका पर चढ़े और तट पर पहुँचकर कायोत्सर्ग करे। इसी प्रकार महाकांतार (बड़े जंगलों) में प्रवेश करते और उससे बाहर निकलते समय भी चारों प्रकार के आहार आदि का त्याग रूप नियम करने का विधान है[1]। आचारांग में कहा कि पैरों से चलकर पार न किया जा सके—यदि इतना जल हो तो नाव में बैठकर नदी पार कर सकते हैं किन्तु वह नाव ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यग्गामिनी न हो। उत्कृष्ट एकाध योजन से अधिक लम्बी दूरी न हो तथा गृहस्थ उसे सहर्ष ले जाने के लिए तैयार हो तो विधिपूर्वक नाव पर साधु चढ़ सकते हैं। यदि रास्ते में भारभूत समझकर नाव का स्वामी साधु को जल में डालना चाहे तो उन्हें स्वयं उतर जाना चाहिए। किन्तु हाथों-पैरों द्वारा तैरना नहीं कल्पता। कदाचित् बहते-बहते स्वयं किनारा आ जाए तो बाहर निकल जाना चाहिए[2]।

साधु-साध्वी के निमित्त खरीदी गयी या उनके सत्कारकर्ता द्वारा तैयार की गई नाव से पार नहीं होते। नाव के मालिक की आज्ञा से नाव में बैठ सकते हैं। साधु को नाव चलाने या धक्का आदि देने, नाव के छेद बन्द करने आदि कार्यों को नहीं करना चाहिए। यदि नाव वाला साधु को पानी में फेंक दे तो उसे तैर-कर किनारे पहुँचना चाहिए। पानी से निकलकर वह तब तक खड़ा रहे जब तक अपने आप उसका शरीर न सूख जाये[3]। पैरों से चलकर पार करने योग्य नदी आदि को पार करने तक चारों प्रकार के आहार त्याग करने का आचारांग में भी विधान है[4]।

---

१. भ० आ० १५२. विजयोदया टीका सहित पृष्ठ १९३-१९४(सोलापुर संस्करण)
२. आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध अध्ययन ३ उद्देश्यक १-२ (अंगसुत्ताणि भाग १. पृष्ठ १४२-१४४.
३. अनगार–धर्मामृत : प्रस्तावना पृष्ठ १९. (पं० कैलाशचंद शास्त्री)
४. आचारांग २।३।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणों के ठहरने योग्य स्थान—वसतिका

श्रमण एकान्तवासी होते हैं। ऐसे ही श्रमण निर्विघ्न रहकर आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लीन रहकर मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकते हैं। समिति-गुप्ति का पालन करते हैं।[1] अतः श्रमण को ठहरने के लिए ध्यान और ध्येय में विघ्न के कारणभूत स्त्री, पशु और नपुंसक आदि से रहित प्रदेश विविक्त स्थान योग्य होता है[2]। क्योंकि पूजा-प्रतिष्ठा के अनिच्छुक संसार, शरीर और विषयों से उदासीन आभ्यन्तर तप में कुशल, शान्त और उपशमशील (मन्दकषाय) महा पराक्रमी तथा क्षमादि परिणाम युक्त श्रमण को श्मशानभूमि, गहन वन, निर्जन स्थान, महाभयानक उद्यान तथा अन्य ऐसे ही एकान्त स्थानों में रहना चाहिए[3]। मूलाचार के अनुसार गिरि-कन्दराओं, श्मशानभूमि, शून्यागार, वृक्षमूल आदि वैराग्यवर्धक स्थानों में श्रमण ठहरते हैं।[4] क्योंकि कलह, व्यग्रता बढ़ाने वाले शब्द, संक्लेश भाव, मन की व्यग्रता, असंयत जनों का संसर्ग, तेरे-मेरे का भाव, ध्यान तथा अध्ययन आदि में विघ्न—इन दोषों का सद्भाव विविक्त वसतिकाओं में नहीं होता[5]।

भगवती आराधना में श्रमण के ठहरने योग्य उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त उन वसतिकाओं में भी ठहरना योग्य माना गया है जो उद्गम, उत्पादन एवं एषण दोषों से रहित निर्जन्तुक हों। संस्कार (सजावट) रहित उस वसतिका में प्रवेश एवं बहिर्गमन की सुविधा हो, अपने उद्देश्य से जिसमें लिपाई-पुताई आदि नहीं कराई हो, जिसकी दीवार मजबूत हो, कपाट सहित हो, गाँव के बाहर ऐसे स्थान में स्थित हो जहाँ बाल, वृद्ध और चार प्रकार के गण (संघ) अर्थात् मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका आ-जा सकता हो—ऐसी वसतिका; उद्यानघर गुफा अथवा शून्यघर में श्रमण ठहर सकते हैं।[6] शून्यघर, पहाड़ की गुफा, वृक्षमूल आगन्तुकों के लिए बनाये गये वेश्म (अतिथिशाला), देवकुल, शिक्षाघर, किसी के द्वारा न बनाया गया स्थान, आरामघर (क्रीडा के लिए आये हुए लोगों के ठहरने के लिए बने आवास)—ये सब विविक्त वसतिकाओं के अन्तर्गत आते हैं।[7]

---

१. भगवती आराधना २३२-२३३.

२. धवला १३। ५, ४, २६ पृ० ५८।८.

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४४६, ४४७.

४. गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खु णिसेवेऊ॥ मूलाचार १०।५९., बोधपाहुड ४२.

५. भगवती आराधना—२३२.

६. वही ६३६-६३८.

७. सुण्णाघरगिरिगुहारुक्खमूल आगंतुगारदेवकुले।
अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विवित्ताइं॥ भ० आ० २३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण जिस वसतिका में ठहरते हैं उसमें जिस आसन या प्रासुक स्थान पर वे रात्रि शयन करते हैं उसे संस्तर कहते हैं। उसका प्रतिलेखन करके उस संस्तर पर शयन करने का विधान है। सायंकाल और प्रातःकाल के समय जबकि हाथ की रेखायें स्पष्ट दिख रही हों ऐसे प्रकाश में संस्तर और आवास का प्रतिलेखन कर लेना चाहिए।[1] मूलाचारवृत्ति में चार प्रकार के संस्तर बताये हैं—भूमि, शिला, फलक और तृणसंस्तर।[2]

श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र में श्रमण को ठहरने योग्य निम्नलिखित वसतिकाओं का उल्लेख है—देवगृह, सभा, प्रपा (पानीशाला), आवसथ (परिव्राजकगृह), वृक्षमूल, आरामगृह, कन्दरा, आकर, गिरिगुफा, कर्मगृह, उद्यान, यानशाला, कुप्पशाला (गृहोपकरणशाला), यज्ञमण्डप (विश्रामस्थल), शून्यगृह, श्मशान, लयन और आपण। इनके अतिरिक्त सचित्त जल, मृत्तिका, बीज, वनस्पति एवं त्रस जीवों के संसर्ग से रहित, गृहस्थों द्वारा स्वयं के लिए बनवाये हुए, प्रासुक, एषणीय एकान्तयुक्त तथा स्त्री, पशु और पंडक (नपुंसक) से वर्जित तथा प्रशस्त-निर्दोष वसति में ठहरना कल्पता है।[3]

ठहरने के अयोग्य (वर्जनीय) क्षेत्र—जिन स्थानों या क्षेत्रों में कषाय की उत्पत्ति, आदर का अभाव, इन्द्रिय विषयों की अधिकता, स्त्रियों का बाहुल्य, दुःखों और उपसर्गों का बाहुल्य हो ऐसे क्षेत्रों का भिक्षु वर्जन (त्याग) करे, अर्थात् ऐसे स्थानों में नहीं ठहरना चाहिए।[4] गाय आदि तिर्यंचनी, कुशील स्त्री, भवनवासी, व्यंतर आदि सविकारणी देवियाँ, असंयमी गृहस्थ—इन सबके निवासों का अप्रमत्त श्रमण शयन करने, ठहरने या खड़े होने आदि के निमित्त सर्वथा त्याज्य समझते हैं[5]। जो क्षेत्र राजा विहीन हो या जहाँ का राजा दुष्ट हो, जहाँ कोई प्रव्रज्या (दीक्षा) न लेता हो, जहाँ सदा संयमघात की सम्भावना बनी रहती हो—ऐसे क्षेत्रों का श्रमण को परित्याग करना चाहिए[6]।

---

१. मूलाचार ४।७२.
२. मूलाचारवृत्ति ४।७२.
३. कल्पसूत्र, सूत्र ३७ पृष्ठ ११२.
४. जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुलं।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ॥ मूलाचार १०।५८.
५. वही ५।१६०.
६. वही १०।६०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य वट्टकेर ने ही स्पष्ट कहा है जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर—ये पाँच आधार (अनुग्रह करने में कुशल) नहीं हों वहाँ रहना उचित नहीं है।[1]

भगवती आराधना के अनुसार गंधर्व (गायन) शाला, नृत्यशाला, गजशाला, अश्वशाला, कुम्भकारशाला, यन्त्रशाला, शंख, हाथी-दांत आदि का काम करने वालों का स्थान, कोलिक, धोबी, बाजा बजाने वाले, डोम, नट आदि के घरों के समीप तथा राजमार्ग के समीप के स्थानों पर, चारणशाला, कोट्टकशाला (पत्थर का काम करने वालों का स्थान), कलालों का स्थान, रजकशाला, रसवणिक्शाला (आरा से लकड़ी आदि चीरने का काम करने वालों का स्थान), पुष्पवाटिका, मालाकार का स्थान, जलाशय के समीप का स्थान—ये सब वसति के योग्य नहीं हैं।[2] कल्पसूत्र में भी कहा है कि जो वसति अधःकर्म से व्याप्त होती है तथा सिंचन, सम्मार्जना (झाड़ू) से कचरा झाड़ना, जाले हटाना, घास बिछाना, पुताई करना, लेपन करना, सुन्दरता के लिए बार-बार गोबर आदि से लीपना, ठण्ड दूर करने के लिए अग्नि जलाना, बर्तन-भाण्ड इधर से उधर रखना आदि कार्य सावद्य क्रियाओं से युक्त होते हैं और जहाँ भीतर-बाहर असंयम की वृद्धि होती है ऐसी वसति में ठहरना नहीं कल्पता।[3] तथा साधुओं और साध्वियों को एक ही द्वारवाले, एक ही आने-जाने के मार्गवाले ग्राम में यावत् राजधानी में एक ही समय दोनों को निवास करना नहीं कल्पता।[4] मूलाचार के अनुसार भी विरतों (मुनियों) को आर्यिकाओं के उपाश्रय (वसतिका) में ठहरकर शयन, स्वाध्याय, आहार और व्युत्सर्ग आदि करना नहीं कल्पता।[5]

वसतिका में प्रवेश और वहिर्गमन की विधि

श्रमण के सामान्य आचरण रूप औघिक समाचार (सम्यक् आचरण) के इच्छाकार, मिथ्याकार तथाकार, आसिका, निसीहि (निषेधिका), पृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दन, सनिमंत्रणा और उपसम्पत्—इन दस भेदों[6] में आसिका और निषेधिका—इन दो समाचारों का प्रयोग क्रमशः वसतिका में प्रवेश करते समय और

१. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य ॥ मूलाचार ४।१५५.
२. भगवती आराधना ६३३-६३४.
३. कल्पसूत्र : सूत्र १७ पृष्ठ ११२.
४. वही, सूत्र १२ पृ० ६८.
५. मूलाचार १०।६१.
६. मूलाचार ४।१२५-१२७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उससे बाहर जाते समय करते हैं। पूर्वोक्त सभी प्रकार की वसतिकाओं में ठहरने हेतु प्रवेश के समय णिसीहि (निसीहि या निषेधिका) और उनसे जाते समय आसिका समाचार करने का मुनि को विधान है[1] क्योंकि इन प्रदेशों या स्थानों के स्वामी या अदृश्य रूप से रहने वाले उन स्थानों के अधिष्ठाता देवों की अनुमति के लिए 'णिसीहि' शब्द के उच्चारण पूर्वक 'मैं यहाँ प्रविष्ट हो रहा हूँ'—यह विज्ञप्ति देनी चाहिए ताकि उनका अनादर न हो। क्योंकि जिस स्थान का कोई मनुष्य स्वामी होता है उससे तो साक्षात् पूछकर ही मुनि प्रविष्ट होगा किन्तु जिस स्थान का कोई मनुष्य स्वामी न हो ऐसे पर्वत की कन्दरा, गुफा आदि स्थानों में प्रवेश करते समय 'निसीहि' शब्द का उच्चारण करके मुनि उसमें प्रवेश करते हैं। 'निसीहि' शब्द का अर्थ पाप की निवृत्ति भी होता है। अर्थात् मेरे गमनादि से जो पाप-क्रिया हुई हो उससे मैं निवृत्ति की भावना भाता हूँ। आज भी श्रावक-जन तक जैनमन्दिरों में प्रवेश करते समय "निःसही" शब्द का उच्चारण करते हैं जो कि पूछकर प्रवेश करने रूप पूर्वोक्त आशय का सूचक लगता है।

जिस तरह इन स्थानों में प्रवेश के समय 'णिसीहि' कहकर प्रवेश करने का विधान है उसी तरह इन वसतिका स्थानों से जाते समय 'आसिया' (आसिका) शब्द के उच्चारण द्वारा "मैं यहाँ से जा रहा हूँ अब आप विराजिए"—इस रूप विज्ञप्ति करने का विधान है। उस स्थान के अधिष्ठाता देव या गृहस्थ स्वामी से पूछकर जाने और उस स्थान के स्वामी को वह स्थान सौंप देने के लिए 'आसिका' शब्द का उच्चारण करते हैं। आशीर्वादात्मक होने से भी इसे आसिका समाचार कहते हैं।

अहिंसा महाव्रत की दृष्टि से यह भी विधान है कि जिस वसतिका में ठहरें वह स्थान उष्ण या शीतल हो सकता है अतः जब भी वहाँ से बाहर निकलें तब उससे पूर्व अपनी पिच्छिका से अपने शरीर का प्रमार्जन भी करना चाहिए ताकि शीतकाय और उष्णकाय के जीवों को परस्पर प्रतिकूल वातावरण से बाधा न हो। इसी तरह श्वेत, लाल या काले गुणवाली भूमियों में से किसी एक से गुजरकर दूसरी में प्रवेश हो तब कमर से नीचे प्रमार्जन करना चाहिए। अन्यथा विरुद्ध योनि के संक्रम से पृथ्वीकायिक जीवों को और उस भूमि में उत्पन्न हुए त्रस जीवों को बाधा होती है।[2]

---

१. कंदरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसीहियं कुज्जा।
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥मूलाचार ४।१३४.
तथा और भी देखें—भावपाहुडटीका ७८ पृ० २२९, अनगारधर्मामृत ८।१३०.

२. भगवती आराधना गाथा १५२ की विजयोदयाटीका पृष्ठ १९३ (सोलापुर संस्करण १९७८.) मूलाराधना टीका पृ० ३४४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकाकी विहार और उसका निषेध

श्रमण जीवन में प्रतिक्षण जाग्रत रहने की आवश्यकता होती है। संघ में रहकर साधना करने से बाह्य सहायक साधन उपलब्ध रहते हैं जिससे साधना निर्विघ्न चलती है। किन्तु साधु-वेष धारण करके भी संघ में न रहकर अथवा अपनी कमजोरियों को दूर न करके उनकी पूर्ति हेतु संघ से अलग होकर स्वच्छंद प्रवृत्ति हेतु एकाकी विहार करना श्रमण के लिए निषिद्ध है। जैन शास्त्रों में गृहीतार्थ और अगृहीतार्थ संश्रित—मात्र ये दो प्रकार के विहार बताये हैं। इन दो के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार अर्थात् एकाकी या अन्य तीसरे विहार का विधान जिनेन्द्रदेवों ने नहीं किया है। गृहीतार्थ विहार का अर्थ है जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता होकर चारित्र पालन करते हुए देशान्तरों में विहार (गमन) करना। तथा अगृहीतार्थ संश्रित विहार से तात्पर्य जीवादि तत्त्वों के ज्ञान के बिना भी चारित्र का पालन करते हुए देशान्तर गमन अर्थात् विभिन्न क्षेत्रों में विहार करना है।[1] एकाकी विहार का निषेध करते हुए आचार्य वट्टकेर ने कहा है कि गमन, आगमन शयन, आसन, वस्तुग्रहण, आहार ग्रहण, भाषण, मलमूत्रादि विसर्जन—इन सब कार्यों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला कोई भी श्रमण मेरा शत्रु भी हो तो वह भी एकाकी विहार न करे।[2] क्योंकि अपने गुरु और संघ के अनुशासन में रहकर साधना न करके शयन, आसन, वस्तुग्रहण, भिक्षाग्रहण, मल-मूत्र विसर्जन, बोलना तथा गमनागमन अर्थात् देशान्तर विचरण आदि कार्यों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करना एकाकी विहार है। कहा भी है—आचार्यकुल (श्रमणसंघ) को छोड़कर जो श्रमण एकाकी होकर स्वच्छन्द विहार करता है, बोलता है और उपदेश (शिक्षा) दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करता वह पापश्रमण है।[3] तथा जो साधु पहले शिष्यपना प्राप्त किये बिना ही स्वयं आचार्यत्व धारण कराने हेतु उतावले रहते हैं वे ऐसे पूर्वापर विवेक रहित साधु अंकुशहीन मत्त हाथी की तरह भ्रमण करने वाले ढोढाचार्य (ढुंढायरिओ) ही कहे जाने योग्य हैं।[4] अतः जो दुर्जनवचनों से युक्त पूर्वापर विचार रहित भाषण करता है उनके वचन नगर के गन्दे नालों से बहने वाले पानी की तरह सदा कूड़ा-कचरा धारण करने वाले (दुर्गन्धित और मैले)

१. गिहिदत्थे य विहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥मूलाचार ४।१४८.

२. सच्छंदगदागदीसयणणिसयणादाणभिक्खवोसरणे।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तवि एगागी ॥ वही ४।१५०.

३. मूलाचार १०।६८.

४. आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥ वही १०।६९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। जैसे आम का वृक्ष दुराश्रय के द्वारा निम्बत्व (कडुवेपन) को प्राप्त होता है वैसे ही धर्मानुराग में आलसी (मंदसंवेगी) तथा समाचारहीन (अपुष्टधर्मी) मुनि का आश्रय करने से अच्छे मुनियों में भी ये दोष आ जाते हैं। अतः इन दोषों से युक्त मुनियों का संग कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि घोड़े की लीद के समान बाहर से अच्छा किन्तु जो अन्दर से कुथित (निंद्य और घृणित) भावयुक्त है, और बाह्य में बगुले के सदृश क्रिया और चारित्र से युक्त है उस मुनि के बाह्य वृक्षमूल आदि योग धारण भी किसी काम का नहीं है।[1]

अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए जो मुनि स्वच्छन्द होकर एकाकी विहार में प्रवृत्त होता है वह दोष प्रकट होने के भय से संघ में अन्यश्रमणों के साथ रहने से डरता है। भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य ने इस प्रकार के श्रमण को यथाछन्द नामक पापश्रमण कहा है। यथा —यथाइन्द्रिय और कषाय के दोष से अथवा सामान्य योग से विरक्त होकर जो चारित्र से गिर जाता है वह साधुसंग (संघ) से अलग हो जाता है। साधुसंघ से निकलकर पूर्वाचार्यों द्वारा अकथित (नहीं कहे गये) आगम विरुद्ध मार्ग की अपनी इच्छानुसार कल्पना करता है। इन्द्रिय और कषाय की प्रबलता के कारण वह आगम को प्रमाण नहीं मानता और अपनी इच्छा के अनुसार जिनेन्द्र द्वारा कहे गये अर्थ को विपरीत रूप से ग्रहण करता है।[2] इस प्रकार श्रमण ऋद्धि गारव[3] रस गारव[4] और सात गारव[5]—इन तीन प्रकार के गारव के कारण अभिमानी हो जाते हैं तथा गृद्धि, कुटिलता, आलस्य, उद्योगरहित, लोभ और पापबुद्धि स्वभाव के कारण गच्छ (ऋषि समुदाय या संघ) में रहते हुए भी अपनी शिथिलाचार प्रवृत्ति के कारण सभी के साथ रहना नहीं चाहते।[6]

---

१. मूलाचार १०।७१, ७०, ७३.

२. भगवती आराधना गाथा १३१०-१३१२.

३. गारव को गौरव भी कहते हैं। अर्थात् दूसरों को तिरस्कृत एवं हीन प्रगट करने के लिए गर्व या अभिमान वश स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करना। ऋद्धि गारव से तात्पर्य है शिष्य, पुस्तक, पिच्छी और कमण्डलु आदि मेरे उपकरण जितने सुन्दर हैं वैसे अन्य मुनियों के नहीं—ऐसा गर्व करना और दूसरों को तिरस्कृत करना।

४. मुझे आहारादि में सुस्वादु और अच्छे पदार्थ मिलते हैं—ऐसा गर्व करना रस गारव है।

५. मैं बड़ा ही सुखी हूँ। इत्यादि गर्व करना सात गारव है।

६. गारविओ गिद्धियो माइल्लो अलसलुद्धणिद्धमो।
गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो॥ मूलाचार ४।१५३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकाकी विहार का निषेध क्यों ?

संघ के मध्य में उत्तमार्थ (मोक्ष) की आराधना करना सरल होता है।[1] क्योंकि आचार्य उस संघ के नायक होते हैं जो निरन्तर सावधान रहते हैं। उनके द्वारा साधुवर्ग को बार-बार सन्मार्ग में लगाया जाता है। आचार्य अपने द्वारा भावना आदि में नियुक्त उस साधुवर्ग की इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी अनेक जंगली हिंसक जानवरों से रक्षा करता है। और इस तरह संसाररूपी महावन को पार किया जा सकता है किन्तु जो साधु चारित्रभ्रष्ट साधुओं की क्रिया करता है वह असंयमी होकर साधुसंघ से बाहर होकर मोक्षमार्ग से दूर हो जाता है।[2] इसीलिए अनेक दोषों के कारण एकाकी विहार का निषेध किया गया है एकाकी विहार में अनेक दोष हैं यथा—गुरु की निन्दा, श्रुताध्ययन का व्युच्छेद. तीर्थ (जिन शासन) में मलिनता, मूर्खता (जड़ता), विह्वलता (आदुलता), पार्श्वस्थता तथा आत्मनाश भी सम्भव है। काँटे, स्थाणु, क्रोधयुक्त कुत्ते. बैल, सर्प तथा अन्यान्य हिंसक जानवर, म्लेच्छ, विष, अजीर्ण (विसूचिका या हैजा) आदि के द्वारा आत्मघात रूप विपत्तियों के प्रसंग भी उपस्थित हो सकते हैं।[3] एकलविहारी श्रमण का आज्ञाकोप (अतिप्रसंग), मिथ्यात्वाराधन, आत्मनाश, सम्यग्दर्शन[4] ज्ञान-चरित्र इन गुणों का विघात एवं संयम की विराधना—ये पाँच पापस्थान माने गये हैं। श्वेताम्बर परम्परा में भी कहा है कि एकाकी विहार में स्त्री-प्रसंग की सम्भावना, कुत्ते आदि जानवरों और शत्रुओं का भय रहता है। भिक्षा की विशुद्धि नहीं रहती महाव्रतों के पालन में जागरूकता नहीं रहती। अतः एकाकी न रहकर साथ (संघ) में रहना चाहिए।[5] कहा भी है कि मुनि गुरुकुल (गुरु की आज्ञा में अथवा गच्छ या गण) में रहे, स्वच्छंद विहारी होकर अकेला न विचरे[6] गुरुकुल में रहने

---

१. सक्का हु संघमज्जे साहेदुं उत्तम अट्ठं—भ० आ० गाथा १५५५.
२. वही गाथा १२८४-१२८५. १२८८.
३. मूलाचार ४।१५१, १५२,
४. आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादसाओय।
संजमविराहणाविय एदे दुणिकाइया ठाणा।। वही ४।१५४.
५. एगागियस्स दोसा इत्थी साणे तहेव पडिणीए।
भिक्ख विसोहिमहव्वय तम्हा सेविज्ज दोगमणं ।।उत्तराध्ययन की आचार्य नेमिचन्द्र कृत टीका पत्र २१४ पद उद्धृत गाथा। (उत्तरज्झयणाणि भाग २ पृ० १२२.)
६. उत्तराध्ययन ११।१४ वृहद्वृत्ति ३४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्र में स्थिरता आती है। वे मुनि धन्य हैं जो जीवन पर्यन्त 'गुरुकुल वास' नहीं छोड़ते।[1]

एकल विहारी कौन ?—जो मुनि बहुत काल से दीक्षित हैं, ज्ञान, संहनन और भावना से बलवान् ऐसे मुनि एकल विहारी हो सकते हैं।[2] अर्थात् जो श्रमण बहुत काल से दीक्षित रहकर बारह प्रकार के तप की आराधना करते हैं, बारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता हैं अथवा उस काल-क्षेत्र के अनुकूल आगम (सूत्र) के ज्ञाता हैं तथा प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों (सूत्रों) के भी ज्ञाता हैं। शरीर की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव बल रूप सत्त्व एवं धैर्य से युक्त हैं। शरीरादि से भिन्न एकत्व भावना में तत्पर हैं। वज्र-वृषभ-नाराच आदि तीन संहननों में से किसी उत्तम संहनन के धारक हैं, धृति युक्त क्षुधादि बाधाओं को सहन करने में समर्थ है : ऐसे श्रमण को ही एकल विहारी होने की जिनेन्द्रदेव ने आज्ञा दी है।[3] अन्य साधारण मुनियों के लिए और विशेषकर इस पंचम काल में एकाकी विहार का विधान नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा के स्थानाङ्ग सूत्र में एकलविहार प्रतिमा के अन्तर्गत एकलविहारी होने के लिए आठ मानदण्ड उल्लिखित हैं १–श्रद्धावान् २–सत्यवान् ३–मेधावी (श्रुतग्रहण की मेधा से सम्पन्न), ४–बहुश्रुतत्व, ५–शक्तिमान् (तपस्या, सत्त्व अर्थात् भय और निद्रा को जीतने का अभ्यास, सूत्र, एकत्व और बल—इन पाँच तुलाओं से जो अपने को तोल लेता है वह शक्तिमान् है), ६–अल्पाधिकरण (अकलहत्व) ७–धृतिमान् और ८–वीर्यसम्पन्नता—ये आठ योग्यतायें एकाकी विहार हेतु अनिवार्य हैं[4]। कभी-कभी कहीं ऐसी स्थिति सामान्य श्रमण को को आ सकती है कि संयम-निष्ठ साधुओं का योग प्राप्त न हो तो संयमहीन के साथ रहना श्रेयस्कर नहीं होता, भले ही कदाचित् उसे अकेले रहने की स्थिति आ जाए। इसी बात को ध्यान में रखते हुए श्वेताम्बर परम्परा के ही दशवैकालिक में कहा है—यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला

---

१. णाणस्स होइ भागी थिरयरगो दंसणे चरित्ते य ।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुंचंति ।। उत्तराध्ययन ११।१४ की चूर्णि पृष्ठ १९८.

२. ज्ञानसंहननस्वांत भावना बलवन्मुनेः ।
चिरप्रव्रजितस्यैक विहारस्तु मतः श्रुते ।।आचारसार. २७.

३. तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदि समग्गो य ।
पविआआगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ।। मूलाचार वृत्ति सहित ४।१४९.

४. ठाणं ८।१. पृष्ठ ७८७. तथा ८२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निपुण साथी साधु न मिले तो पाप कर्मों का वर्जन करता हुआ काम-भोगों में अनासक्त रह अकेला ही विहार करे।[1] सामान्य श्रमण के लिए यह कथन आपवादिक हो सकता किन्तु एकाकी विहार प्रत्येक मुनि के लिए विहित नहीं है। जिसका ज्ञान समृद्ध होता है, शारीरिक संहनन सुदृढ होता है वह आचार्य की अनुमति पाकर ही एकल-विहार प्रतिमा स्वीकार कर सकता है।[2]

इस प्रकार एकाकी विहार का दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में साधारण साधु के लिए निषिद्ध है। किन्तु जिनकल्पी अथवा इसके जैसे अनेक गुणों से युक्त तथा उपर्युक्त मानदण्ड सम्पन्न विशिष्ट श्रमण को एकाकी विहार का भी विधान है।

उपसंहार—विहारचर्या विषयक उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूलाचारकार आदि ने इस सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन किया है। वस्तुतः श्रमणों की प्रत्येक चर्या संयम और समिति पूर्वक होती है। श्रमणाचार पालन में राग-द्वेषादि जिन कारणों से दूषण की सम्भावना रहती है, उन सबसे वे दूर रहते हैं। एक स्थान पर स्थिरवास भी राग-द्वेष की अभिवृद्धि में बहुत सहायक होता है। अतः वे स्थिरवास को छोड़कर विहार चर्या में निरन्तर लीन रहते हैं। सम्पूर्ण जीवन एक स्थान से दूसरे स्थान विहार करते हैं। चाहे वह ग्राम हो या नगर, भयानक जंगल हो या गुफा सर्वत्र हवा की भाँति अप्रमत्तभाव से नंगे पैर ही पैदल विचरण करते रहते हैं। किसी प्रकार के वाहन का प्रयोग नहीं करते। ऐसे ही अनियत विहारी श्रमण जल्दी ही रत्नत्रय की भावना और उसके अभ्यास, शास्त्र कौशल तथा समाधिमरण के योग्य क्षेत्र, गुरु आदि की प्राप्ति सहज में ही कर लेते हैं। महान् जैन धर्म, संस्कृति और साहित्य की जो प्राचीन काल से ही समृद्ध एवं अविछिन्न परम्परा आज तक प्रवाहित है उसके अन्तः में ऐसे ही अगणित श्रमणों का महान् त्याग है। वे कितने सामर्थ्यशील श्रमण होंगे जो श्रमणाचार का विशुद्धतापूर्वक पालन करते हुए धर्म एवं ज्ञान के प्रचार तथा विपुल एवं विविध साहित्य के प्रणयन में तत्पर रहते थे। इन श्रमणों के अनियत विहार चर्या से अनासक्त प्रवृत्ति में वृद्धि, ज्ञानायतन, धर्मायतन का विकास तथा विभिन्न श्रमणों, आचार्यों के अनुभव एवं सम्पर्कों से ज्ञानार्जन, शास्त्राभ्यास का लाभ एवं कल्याणकारी तत्त्वों के प्रसार-प्रचार द्वारा स्व-पर कल्याण की भावना में अभिवृद्धि होती है। अतः वर्षावास

---

१. न या लभेज्जा निउणं सहायं गुणाधियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥
—दशवेआलियं द्वितीय चूलिका गाथा २०. पृ० ५२२, ५३०.

२. वही, टिप्पणी ३१. पृ० ५३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं अन्य विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त श्रमणों को सदा विहार करते रहने का विधान है ।

मूलाचारकार ने जहाँ श्रमण के लिए अनियत विहार की विवक्षा की है वहीं एकाकी विहार की घोर निन्दा भी की है । इसमें मुख्य यही दृष्टि रही है कि एकाकी विहार में संयम की विराधना सतत् बनी रहती है । जबकि ससंघ अथवा दो से अधिक श्रमणों के साथ विहार करने में ऐसी सम्भावना नहीं रहती । वस्तुतः संयम पालन में परस्पर के आदर्शों और प्रेरणाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । इससे श्रमण अनेक दोषों से स्वाभाविक रूप में बचा रहता है । इसी दृष्टि से एकाकी विहार का निषेध किया गया ।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार

श्रमणाचार के प्रसंग में सामान्यतः श्रमणों के आचार, विचार, विधि-निषेध और प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्यवस्था और उसके आधार को व्यवहार कहा जाता है। व्यवहार के अन्तर्गत मुनि के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के निर्देश होने से मुमुक्षु की प्रवृत्ति-निवृत्ति को भी व्यवहार कहा जाता है। सामान्य आचार को भी व्यवहार कहा गया है। जैन आचारशास्त्रों में मुनियों के सम्यक् आचार या व्यवहार के लिए 'समाचार' सामाचार, समाचारी तथा सामाचारी शब्दों का प्रयोग मिलता है। आचार, व्यवहार एवं इतिकर्त्तव्यता को समाचारी कहते हैं। मूलाचार में समाचार शब्द के चार अर्थ किये गये हैं—समता भाव का आचार, सम्यक्-आचार, समस्त श्रमणों का अहिंसा महाव्रतादि रूप समान आचार तथा समान परिमाण युक्त आचार।[1]

आचार विषयक प्रायः सभी शास्त्रों से 'व्यवहार' शब्द 'प्रायश्चित्त' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।[2] यह व्यवहार श्रमण संघ की व्यवस्था का आधार-बिन्दु रहा है, जिसके माध्यम से चतुर्विध संघ को निरन्तर जागरूक, अप्रमत्त और विशुद्ध रखने का प्रयत्न किया जाता है। अतः चारित्र की आराधना तथा आत्मिक विकास में व्यवहार का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्रमण का जीवन-व्यवहार

जीवन-व्यवहार अध्यात्मशोध का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। सच्चा श्रमण समाज से जितना लेता है उससे कहीं अधिक देता है। उसके दैनंदिन जीवन-व्यवहार में पूर्ण स्वावलम्बन रहता है। मात्र शरीर की आवश्यकता को पूरा करने के लिए भौतिक साधनों का कम से कम उपयोग करता है। वह इनका अर्जन और संचय भी नहीं करता। उनके जीवन का प्रत्येक क्षण और व्यवहार आत्मोत्कर्ष की साधना के निमित्त अट्ठाईस मूलगुणों के परिपेक्ष्य में होता है। उनके आचार-विचार का सर्वस्व अहिंसा पर आधारित है। प्रत्येक व्यवहार यत्नाचार पूर्वक, मन, वचन और काय की विशुद्धता से युक्त होता है। हित, मित और प्रिय वाक्-व्यवहार उनके जीवन का प्रमुख अंग है। अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की सम्पूर्णता उनके श्रामण्य का प्रमुख अंग है। गमन, भाषण, आहार, वस्तुओं को उठाना-

१. समदा सामाचारो समो व आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं सामाचारो दु आचारो॥ मूलाचार ४।१२३.

२. व्यवहारं-प्रायश्चित्तं....भ० आ० विजयोदया ४५०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखना एवं मल-मूत्रादि का विसर्जन—ये सभी कार्य पूर्ण सावधानी से समितिपूर्वक करते हैं। जितेन्द्रिय रहते हुये सामायिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग—इन छः आवश्यक कार्यों में यथाविधि सतत् संलग्न रहते हैं।

अनियत विहारी वे श्रमण गुफा, वन या ऐसी एकान्त वसतिका में ठहरते हैं जहाँ प्राणी मात्र को जाने-आने में किसी तरह की बाधा न होती हो। आहार भी गृहस्थ के स्वेक्षापूर्वक देने पर अपने हाथों की अंजुलिपुट बनाकर खड़े-खड़े दिन में एक बार ग्रहण करते हैं। केश बढ़ने पर उन्हें कैंची आदि से काटते नहीं हैं, अपितु अपने हाथों से उनका लुंचन कर लेते हैं। स्नान आदि नहीं करते। पैदल नंगे पैर ही चलते हुए ग्रामानुग्राम आदि स्थानों में सदा विहार करते हैं, किसी प्रकार की सवारी का उपयोग नहीं करते। वस्त्राभूषणों को मूर्छा (आसक्ति या ममत्व-भाव) का कारण समझकर उनका सर्वथा त्यागकर देते हैं और सब ऋतुओं में नग्न रहते हैं। भूमि या इस जैसे निर्जन्तुक स्थानों पर सोते हैं, दातौन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। गृहस्थों से अधिक ममत्व न बढ़े इसके लिए वे एक स्थान पर निरन्तर बहुत अधिक नहीं ठहरते हैं। इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुणों का पालन श्रमण जीवन के कसौटीपूर्ण व्यवहार हैं। इन्हीं की मर्यादाओं के अन्तर्गत वे अपने समस्त व्यवहारों में प्रवृत्त होते हैं।

मूलगुणों के अतिरिक्त उत्तरगुणों के व्यवहार से श्रमण जीवन में पूर्णता आती है। इनमें दस धर्म एवं बारह प्रकार के तपों का आचरण, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच आचारों का पालन तथा निरन्तर वैराग्यवृद्धि हेतु बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का चिन्तन करते हुए आत्म-कल्याण में ये श्रमण सदा केन्द्रित रहते हैं। कलुषता, मोह, इच्छा, राग-द्वेष आदि अशुभ भाव, तथा पाप के कारणभूत विकथाओं के भाषण का त्याग, बंधन, छेदन, संकोचन, प्रसारण आदि रूप शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं से युक्त होकर गुप्ति का पालन करते हैं। प्रमाद रहित तथा संयमघातक कार्यों को छोड़कर अपने श्रामण्य जीवन में समतापूर्वक बाईस परीषहों को स्वेच्छापूर्वक सहते हैं। सभी प्राणियों से उनका सहज मैत्रीभाव होता है। वे पूर्ण अपरिग्रही होते हैं अतः औषधि, आहार आदि का दान तो वे नहीं कर सकते किन्तु सभी प्राणियों को अभयदान देते हैं। मूलाचार में कहा है—मुनि मरण के भय से भयभीत सभी जीवों को अभयदान (जीवनदान) देता है क्योंकि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव का मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से घात नहीं करता, न किसी प्रकार की बाधा पहुँचाता है इसलिए यही अभयदान सभी दानों में उत्तम तथा सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग-अनुष्ठानों या आचरणों में प्रधान है।[1] जिसने समस्त जीवों को प्रीति का आश्रय देकर अभयदान दिया है उस महात्मा ने सब तप और सब दान किये हैं।[2]

इस प्रकार श्रमण के समस्त जीवन व्यवहार का लक्ष्य मूलगुणों, उत्तरगुणों एवं शीलगुणों आदि का विशुद्धतापूर्वक पालन करते हुए सम्पूर्ण आध्यात्मिक विकास पर केन्द्रित होता है। व्यवहार (लोक व्यवहार) की शुद्धि के लिए और परमार्थ की सिद्धि के लिए क्रमशः लौकिक और अलौकिक जुगुप्सा (निन्दा, गर्हा या घृणा) का त्याग कर देना चाहिए।[3]

सामान्य व्यवहार

श्रमण के सम्पूर्ण व्यवहार समदृष्टि की प्राप्ति के लिए होते हैं। वे जीवन-मरण, लाभ-अलाभ इष्ट-अनिष्ट, स्वजन-परजन, संयोग-वियोग इत्यादि में राग-द्वेषरहित होकर समत्वयोग की साधना करते हैं।

सत्रह प्रकार का संयमपूर्ण व्यवहार श्रमण की सहज प्रवृत्ति का द्योतक है। इसके अन्तर्गत पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा वनस्पति--ये पाँच स्थावर काय तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय—ये चार त्रसजीव–इनकी रक्षा से नौ प्रकार का प्राणिसंयम तथा तृणादिक का छेदन न करके अजीव काय की रक्षा, अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन, उपेक्षासंयम, अपहृतसंयम तथा मन, वचन व काय का संयम—ये आठ प्रकार का संयम—इस प्रकार कुल सत्रह प्रकार के संयम का वे निरन्तर प्रयत्नमन से पालन करते हैं।[4] कहा भी है—श्रमण को संयम (चारित्र) की विराधना न करते हुए लोक व्यवहार का शोधन प्रायश्चित्तादि द्वारा करना चाहिए। तथा व्रतों को भंग न करते हुए व्यवहार निन्दा का भी परिहार कर देना चाहिए। अर्थात् जिस कार्य से लोक में एवं विशिष्ट जनों में निन्दा होती हो उस कार्य का त्याग कर देना चाहिए और अहिंसादि व्रतों की कभी विराधना न करते हुए व्यवहार शुद्धि का पालन करें[5]। तेरह प्रकार की क्रियाओं में पाँच

---

१. मरणभयभीरूआणं अभयं जो देहि सव्वजीवाणं।
तं दाणाण वि दाणं तं पुण जोगेसु मूलजोगं पि॥ मूलाचार १०।४८.

२. ज्ञानार्णव ८।५४.

३. ववहारसोहणाए परमट्ठाए तहा परिहरउ।
दुविहा चावि दुगंछा लोइय लोगुत्तरा चेव॥ मूलाचार १०।५५.

४. मूलाचार ५।२१९-२२०.

५. संजममविराधंतो करेउ ववहारसोधणं भिक्खू।
ववहारदुगंछावि य परिहरउ वदे अभंजंतो॥वही १०।५७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति अथवा पंचनमस्कार, षड् आवश्यक तथा चैत्यालय आदि में प्रवेश करते समय तीन बार 'निःसही' शब्द एवं उससे निकलते समय 'असिही' शब्द का उच्चारण—इस प्रकार इन तेरह क्रियाओं[1] का पालन भी व्यावहारिक जीवन में संयम की रक्षार्थ एवं अपने धर्म का विशुद्धिपूर्वक पालन करना चाहिए ।

संयम को बढ़ाने के लिए आठ शुद्धियों का विधान किया गया है । भिक्षा, ईर्या, शयन-आसन, विनय, व्युत्सर्ग, वचन, मन और काय शुद्धि ।[2] इन आठ शुद्धियों में भी मन अथवा भाव शुद्धि का विशेष महत्त्व है क्योंकि आचार के विकास का मूल भावशुद्धि ही है । कहा भी है—सब शुद्धियों में भावशुद्धि ही प्रशंसनीय है । जैसे स्त्री पुत्र का आलिंगन भी करती है और पति का भी किन्तु दोनों के भावों में बहुत अन्तर है ।[3] अतः प्रत्येक व्यवहार में भाव शुद्धि होना आवश्यक है । काय शुद्धि से तात्पर्य है वस्त्राभूषणों से रहित ऐसा नग्न रूप जैसे जन्म के समय बालक का होता है । किसी अंग में कोई विकार न हो, सर्व सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति तथा मूर्तिमान् प्रशमगुणवाला हो । इससे न तो स्वयं को दूसरों से और न दूसरों को अपने से भय होता है ।[4]

श्रमणों की दैनिकचर्या में समय की मर्यादा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है । सभी कार्य अपने निर्धारित सही समय पर करने से अनेक दोष और बाधायें दूर ही रहती हैं । अतः कहा भी है 'काले कालं समायरे' अर्थात् सभी कार्य ठीक समय पर करना चाहिए ।[5] उत्तराध्ययन में कहा भी है कि काल की प्रतिलेखना से (स्वाध्याय आदि धर्म-क्रिया के लिए उपयुक्त समय का ध्यान रखने से) जीव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय करता है ।[6]

---

१. भावपाहुड टीका, ७८, पृ० २२९, अनगार धर्मा० ८।१३०.

२. भिक्षेर्याशयनासनविनय व्युत्सर्गवाङ्मनस्तनुषु ।
तन्वन्नष्टसु शुद्धि यतिरपहृतसंयमं प्रथयेत् ॥अन० धर्मा० ६।४९.

३. सर्वासामेव शुद्धीनां भावशुद्धिः प्रशस्यते ।
अन्यथाऽऽलिङ्गचतेऽपत्यमन्यथाऽऽलिङ्गचते पतिः ॥
—अन० धर्मा० पृ० ४४७ के टिप्पण से उद्धृत.

४. अन० धर्मा० ६।४९ ज्ञानदीपिका टीका ।

५. दशवैकालिक ५।२।४.

६. उत्तराध्ययन २९।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पसूत्र में कहा है कि साधु और साध्वी को आचार्य, उपाध्याय यावत् गणावच्छेदक रत्नाधिक (दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ) से अथवा इनमें से पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरवर्ती से पूछकर और उनकी आज्ञा प्राप्त करके बारह प्रकार के तपों में से किसी भी उदार (प्रधान), कल्याणमय, शिवस्वरूप, धन्य मांगलिक, सश्रीक (केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी का जनक), महाप्रभावजनक, कषाय रूपी कीचड़ को धोने वाले, कर्ममल की विशुद्धि करने वाले तप को अङ्गीकार करके विचरना कल्पता है। एवं अशन, पान खाद्य और स्वाद्य को ग्रहण करना और उसका परिभोग करना कल्पता है। इसी प्रकार उच्चारप्रस्रवण (मल-मूत्र) का त्याग, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग अथवा धर्म-जागरण तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कार्य भी आचार्य आदि की आज्ञा से करना कल्पता है। इस प्रकार समस्त कार्य गुरु की आज्ञा पूर्वक ही करना चाहिए।[1]

घर-परिवार और अन्य सभी सांसारिक वस्तुओं और व्यवहारों आदि का पूर्णरूप से त्याग करके ही श्रमण-धर्म में दीक्षा ग्रहण की जाती है अतः श्रमण अव्यवहारी अर्थात् लोक-व्यवहार से परे होता है। कहा भी है कि श्रमण को लोक व्यवहार से रहित, एकाकी, ध्यान में एकाग्रचित्त, आरम्भ, कषाय और बाह्य परिग्रह से रहित, प्रयत्नपूर्वक क्रिया करने वाला तथा असंग रूप में रहना चाहिए।[2] भिक्षु को विशुद्ध भिक्षा ग्रहण करने वाला, अरण्यवासी, अल्पाहारी, अल्पभाषी, दुःख सहन करनेवाला, नींद को जीतने वाला, मैत्री भाव धारण करने वाला तथा वैराग्य भावना का अच्छी तरह चिन्तन करने वाला होना चाहिए।[3]

श्रमण आत्मोत्थान करके सांसारिक प्राणियों को भी अपने मंगलमय उपदेश द्वारा सन्मार्ग दिखाते हुए जिनोपदिष्ट तत्त्वार्थों के चिन्तन-मनन, और उनके प्रसार में भी लगे रहते हैं। उनकी आवश्यकतायें इतनी अल्प होती हैं कि उन्हें किसी से कोई भी वस्तु की याचना नहीं करनी पड़ती और न किसी के ऊपर भार बनकर रहते हैं। आत्मतत्व के चिन्तन-मनन, तथा मोक्षमार्ग की आराधना करना ही उनका स्वभाव होता है। और धर्मकथाओं के अतिरिक्त अन्यत्र वे अपना समय व्यर्थ नहीं जाने देते।[4]

---

१. कल्पसूत्र : सूत्र ३८ पृष्ठ ११६.

२. अव्यवहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ॥ मूलाचार १०।५.

३. भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥ मूलाचार १०।४.

४. भगवती आराधना वि० टी० ६०९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांग में कहा है कि निम्नलिखित आठ बातों के विषय में श्रमणों को अधिक से अधिक उद्यम, प्रयत्न एवं श्रम करना चाहिए—

श्रमणों को न सुने हुए धर्म को सुनने, सुने हुए धर्म को ग्रहण करने एवं याद रखने, संयम द्वारा आते हुए नए कर्मों को रोकने, तपस्या द्वारा पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा करते हुए आत्म शुद्धि करने, नए शिष्य संग्रह करने, नए शिष्यों को साधु का आचार एवं गोचर सिखाने, ग्लान साधुओं की अग्लानता से सेवा करने तथा सार्धमिक साधुओं में परस्पर कलह होने पर निष्पक्ष रहकर उसे शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।[1]

सम्यक्-आचार (समाचार)

सम्यक् आचार को समाचार या सामाचार तथा सामाचार के भाव को "सामाचारी" कहते हैं। समाचार के दो भेद हैं—औघिक और पदविभागी।[2] सामान्य आचरण को औघिक[3] तथा सूर्योदय से लेकर अहोरात्र (सम्पूर्ण दिन-रात) तक जो निरन्तर आचरण करते हैं उस सम्पूर्ण आचार को पदविभागी समाचार कहते हैं।[4] इनमें औघिक समाचार तथा इसके भेद-प्रभेदों के निम्न-लिखित विवेचन से श्रमण के सामान्य आचार अर्थात् व्यवहार सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है। औघिक समाचार के दस भेद इस प्रकार हैं।[5]

१. **इच्छाकार**—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय तथा व्रतादि को सहर्ष स्वीकार करना तथा उनके अनुकूल स्वेच्छा से प्रवृत्ति करना इच्छाकार है। संयम एवं ज्ञान के उपकरण और तपादि उपकरण के लिए किसी वस्तु के माँगने में एवं योग-ध्यान आदि के करने में इच्छाकार करना चाहिए।[6]

२. **मिथ्याकार**—अशुभ भावों द्वारा व्रतादि में हुए अतिचारों के लिए 'जं दुक्कडं तु मिच्छा' अर्थात् 'दुष्कृत मिथ्या हो'—ऐसा कहकर उन अतिचारों से दूर होना और उन्हें पुनः कभी न करना। इस प्रकार जो दुष्कृत अर्थात् पाप

---

१. स्थानांग ३।४।२१०.
२. दुविहो समाचारो ओघोविय पद विभागिओ चेव।
दसहा ओघो भणिओ अणेगहा पदविभागीय ॥मूलाचार ४।१२४.
३. औघिकः सामान्यरूपः। वही वृत्ति ४।१२४.
४. वही ४।१३० वृत्ति सहित।
५. इच्छा मिच्छाकारो तधाकारो य आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा छंदण सणिमंत्रणाय उपसंपा ॥ वही ४।१२५.
६. संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे।
जोगग्गहणादीसु य इच्छाकारो दु कायव्वो ॥मूलाचार ४।१३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है वह मिथ्या होवे, पुनः उस दोष को करना नहीं चाहता है और भाव से प्रतिक्रमण कर चुका है इस प्रकार दुष्कृत के होने पर मिथ्याकार होता है।[1]

३. **तथाकार**—गुरु द्वारा सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन होने पर 'तहेव' (तथैव) अर्थात् आपने जो कहा वैसा ही है इस प्रकार कहकर अनुराग व्यक्त करना। अर्थात् गुरु के मुख से वाचना के ग्रहण करने में, उपदेश सुनने में और गुरु द्वारा सूत्र तथा अर्थ के कथन में "अवितहमेदत्ति" अर्थात् जो आप के द्वारा कहा गया यह सत्य ही है—'ऐसा कहना तथा पुनः सुनने की इच्छा रखना तथाकार है।[2]

४. **आसिका**—वसतिका आदि से निकलते समय वहाँ के गृहस्थ या देवता आदि से 'आसिका' कहकर जाना अथवा पाप-क्रियाओं से मन को हटाना। अतः कन्दरा, पुलिन (नदी या सरोवर का जल रहित स्थान जिसे सैकत भी कहते हैं) तथा गुफा आदि रूप ठहरने आदि के स्थान से निकलते समय आसिका करना चाहिए।[3]

५. **निषेधिका**—वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित देव या गृहस्थ आदि से स्वीकृति लेकर अर्थात् 'निस्सही' ऐसा शब्द कहकर वहाँ प्रवेश करना और ठहरना अथवा सम्यग्दर्शन आदि में स्थिर भाव रखना निषेधिका है। अर्थात् कन्दरा, पुलिन, गुफा आदि में प्रवेश करते समय निषेधिका करना चाहिए। वस्तुतः वसतिका आदि में प्रवेश करते समय वहाँ पर स्थित व्यन्तर आदि देवों के प्रति यह कहकर प्रवेश करना कि "मैं यहाँ प्रवेश करता हूँ, आप अनुमति दीजिए।" इस प्रकार की विज्ञप्ति को निषेधिका कहते हैं।[4] आचारसार में कहा है—हम यहाँ पर इतने दिन तक रहे, अब जाते हैं। तुम लोगों का कल्याण हो"—इस प्रकार व्यन्तरादिक देवों को इष्ट आशीर्वाद देना आशीर्वचन है। मुनि जिस गुफा में या जिस वसतिका में ठहरते हैं उसके अधिकारी व्यंतरादिक देव से पूछकर ठहरते हैं और जाते समय उनको आशीर्वाद

---

१. जं दुक्कडं तु मिच्छा तं णेच्छदि दुक्कडं पुणो कादुं।
भावेण य पडिकंतो तस्स भवे दुक्कडे मिच्छा॥ मूलाचार ४।१३२.

२. वायणपडिच्छणाए उपदेशे सुत्तअत्थकहणाए।
अवितहमेदत्ति पुणो पडिच्छणाए तधाकारो॥वही ४।१३३.

३. कन्दरपुलिणगुहादिसु पवेसकाले णिसोहियं कुज्जा।
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा॥वही ४।१३४.

४. अनगार धर्मामृत ८।१३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दे जाते हैं। मुनियों के ये दोनों ही समाचार है। तुम्हारी कृपा से हम यहाँ ठहरते हैं। तुम किसी प्रकार का उपद्रव मत करना, इस प्रकार जीवों को तथा व्यन्तरादिक देवों को उपद्रव का निषेध करना निषिद्धिका नामक समाचार नीति है।[1]

६. **आपृच्छा**—आतापनादि योग-ग्रहण, शरीर शुद्धि, पठन-पाठन तथा ग्राम या नगर में आहारार्थ जाने इत्यादि कार्यों को करने से पहले आचार्य आदि से विनय एवं वन्दनापूर्वक पूछना एवं उनकी आज्ञा-ग्रहण करना आपृच्छा है।[2]

७. **प्रतिपृच्छा**—साधर्मिक तथा गुरुओं आदि से जो पुस्तकादि उपकरण पहले लिये थे, उन्हें वापस देकर, उन्हें पुनः ग्रहण करने के अभिप्राय से पुनः पूछना। अथवा कोई बड़े कार्य का अनुष्ठान करना हो तो गुरु आदि से पूछकर पुनः साधुओं से पूछना प्रतिपृच्छा है।[3]

८. **छन्दन**—जिनकी जो पुस्तक, पिच्छी आदि उपकरण ग्रहण किये हैं। उनके अनुकूल ही उनका उपयोग करना अथवा वंदना, विनय और सूत्र का अर्थ पूछने में गणधर आदि की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना छन्दन है।[4]

९. **निमन्त्रणा**—अन्य किसी से पुस्तकादि उपकरण के ग्रहण की इच्छा हो तो गुरुओं तथा साधर्मिक साधुओं से विनयपूर्वक पुनः याचना करना अथवा ग्रहण कर लेने पर विनयपूर्वक उनसे निवेदन करना निमन्त्रणा है।[5]

१०. **उपसंपत्**—उपसंपत् का अर्थ है उपसेवा अर्थात् अपना निवेदन करना, गुरुओं को अपना आत्मसमर्पण करना। गुरु, आचार्य के प्रति अथवा गुरुकुल या गुरुओं के आम्नाय (संघ) में, गुरुओं के विशाल पादमूल में 'मैं आपका हूँ'—इस प्रकार से आत्मसमर्पण करना और उनके अनुकूल प्रवृत्ति या आचरण करना उपसंपत् है।[6] इसके पाँच भेद हैं—[7] १. विनयोपसंपत्—अन्य संघ से

---

१. आचारसार २।११.
२. वही ४।१३५.
३. जं किंचि महाकज्जं करणीयं पुच्छिऊण गुरु आदी।
पुणरवि पुच्छदि साहू तं जाणसु होदि पडिपुच्छा॥ मूलाचार ४।१३६.
४. वही ४।१३७.
५. गुरुसाहम्मियदव्वं पुच्छयमण्णं च गेण्हिदुं इच्छे।
तेसिं विणयेण पुणो णिमंतणा होइ कायव्वा॥ वही ४।१३८.
६. मूलाचार ४।१३९ की वृत्ति तथा ४।१२६-१२८ की वृत्ति
७, वही ४।१३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आये प्राघूर्णिक या पादोष्ण (आगन्तुक अतिथि श्रमण) का विनय और उपचार करना, उचित आसन, संस्तर आदि देना, प्रिय वचन कहना, उनकी आवासभूमि, मार्ग आदि के विषय में पूछना, उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना। २. क्षेत्रोपसंपत्—संयम, तप, गुण, शील, श्रम तथा नियमादि की जिस क्षेत्र में वृद्धि हो उस क्षेत्र में रहना। ३. मार्गोपसंपत्—संयम, तप, ज्ञान और ध्यान से युक्त आगन्तुक श्रमणों और अपने संघ के श्रमणों से परस्पर मार्ग में आने-जाने से सम्बन्धित कुशल समाचार (सुख प्रश्न) पूछना। ४. सुखदुःखोपसंपत्—साधु का सुख:दुख के समय वसतिका, आहार और औषधि आदि से यथायोग्य उपचार करना, इसके विषय में पूछना तथा "मैं आपका ही हूँ" अर्थात् आपके सुखदुःख मेरे हैं, आप आज्ञा कीजिए—इस तरह के वचन कहना, उनके कष्ट दूर करना। तथा ५. सूत्रोपसंपत्—सूत्रों के अध्ययन में प्रयत्न करना। इसके तीन भेद हैं—सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ—इनके ग्रहण में प्रयत्न करना।[1]

श्वेताम्बर परम्परा के स्थानांग (१०।१०२), भगवती (२५।७), उत्तराध्ययनसूत्र (२६।१-७) तथा आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में इन दसविध समाचार का विवेचन "सामाचारी" के रूप में है।[2] स्थानांग सूत्र में इनके नाम इस प्रकार हैं—इच्छा, मिथ्या, तथाकार, आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छन्दना, निमन्त्रणा और उपसंपदा।[3]

१. इच्छा—कार्य करने या कराने में इच्छाकार का प्रयोग।

२. मिथ्या—भूल हो जाने पर स्वयं उसकी आलोचना करना।

३. तथाकार—आचार्य के वचनों को स्वीकार करना।

४. आवश्यकी—उपाश्रय के बाहर जाते समय "आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ"—ऐसा कहना।

५. नैषेधिकी—कार्य से निवृत्त होकर आए तब ऐसा कहना कि "मैं निवृत्त हो चुका हूँ।"

६. आपृच्छा—अपना कार्य करने की आचार्य से अनुमति लेना।

८. छन्दना—आहार के लिए साधर्मिक साधुओं को आमन्त्रित करना।

---

१. वही ४।१४०-१४४.

२. उत्तरज्झयणाणि भाग २. (टिप्पण) २६।१-७ पृष्ठ १७८-१८०, टिप्पण सं० १.

३. इच्छा मिच्छा तहक्कारो, आवस्सिया य णिसीहिया।
आपुच्छणा य पडिपुच्छा, छंदणा य णिमंत्रणा।।
उवसंपया य काले सामायारी दसविहा उ।। ठाणं १०।१०२ पृष्ठ ९२७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. निमन्त्रणा—"मैं आपके लिए आहार आदि लाऊँ ?—इस प्रकार गुरु आदि को निमंत्रित करना।

१०. उवसंपदा—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष प्राप्ति के लिए कुछ समय तक दूसरे आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करना।

उत्तराध्ययन में इनके नाम और क्रम इस प्रकार हैं—आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, अभ्युत्थान और उपसंपदा।[1] इस क्रम एवं नाम में कुछ भिन्नता है। स्थानांग के प्रथम तीन सामाचारी का इसमें छठा, सातवाँ और आठवाँ क्रम है। तथा 'निमंत्रणा' को इसमें 'अभ्युत्थान' कहा गया है।

उत्तराध्ययन तथा आवश्यक निर्युक्ति में इनका अर्थ इस प्रकार किया है—अपने ठहरने के स्थान से बाहर निकलते समय "आवस्सियं" का उच्चारण करना आवश्यकी है तथा प्रवेश करते समय 'निस्सिहियं' का उच्चारण करना, नैषेधिकी है। अपने कार्य के लिए गुरु से अनुमति लेना आपृच्छना तथा दूसरों के कार्य के लिए अनुमति लेना प्रतिपृच्छना है। आवश्यक निर्युक्ति में प्रथम या द्वितीय बार किसी भी प्रवृत्ति के लिए गुरु से आज्ञा प्राप्त करने को आपृच्छा कहा है तथा प्रयोजनवश पूर्व-निषिद्ध कार्य करने की आवश्यकता होने पर गुरु से उसकी आज्ञा प्राप्त करने को प्रतिपृच्छा कहा है।[2] गुरु के द्वारा किसी कार्य पर नियुक्त किए जाने पर उसे प्रारम्भ करते समय पुनः गुरु की आज्ञा लेना भी प्रतिपृच्छा है।[3] आहार के लिए सार्धार्मिक साधुओं, गुरु आदि को आमन्त्रित करना छन्दना है। दूसरों का कार्य अपनी सहज अभिरुचि से करना और अपना कार्य करने के लिए दूसरों को उनकी इच्छानुकूल विनम्र निवेदन करना इच्छाकार है।

वस्तुतः संघीय व्यवस्था में परस्पर सहयोग लिया-दिया जाता है, किन्तु वह बल-प्रेरित न होकर इच्छा-प्रेरित होता है। क्योंकि बल-प्रयोग का सर्वथा वर्जन है। अतः बड़ा साधु छोटे साधु से और छोटा साधु बड़े साधु से कोई काम कराना चाहे तो उसे इच्छाकार का प्रयोग करना चाहिए कि 'यदि आपकी इच्छा हो तो मेरा काम आप करें'—ऐसा कहना चाहिए।[4] दोष की निवृत्ति के

---

१. उत्तराध्यन २६।१-४.

२. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ६९७.

३. उत्तराध्ययन वृहद् वृत्ति, पत्र ५३४.

४. आणा बलाभिओगो निग्गंथाणं न कप्पए काउं।
इच्छा पउंजिअव्वा, सेहे रायणिए य तहा।।
—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ६७७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए आत्मनिन्दा करना मिथ्याकार है। तथाकार के विषय में आवश्यक निर्युक्ति में कहा है कि—जो मुनि कल्प और अकल्प को जानता है, महाव्रत में स्थित होता है, उसे 'तथाकार' का प्रयोग करना चाहिए। गुरु जब सूत्र पढ़ाऐं सामाचारी आदि का उपदेश दें, सूत्र का अर्थ बताएँ अथवा कोई बात कहें तब तथाकार का यह कहकर प्रयोग करना चाहिए कि 'आप जो कहते हैं वह अवितथ है—सच है।' गुरुजनों की पूजा अर्थात् सत्कार के लिए आसन से उठकर खड़े होना अभ्युत्थान है। अभ्युत्थान के स्थान पर मूलाचार में सनिमंत्रण है। दसवीं उपसंपदा सामाचारी का अर्थ है—किसी विशिष्ट प्रयोजन से अर्थात् ज्ञान,दर्शन और चारित्र की विशेष प्राप्ति के लिए कुछ समय तक दूसरे आचार्य के पास रहना।

उपसंपदा के अन्तर्गत एक दूसरे आचार्य के यहाँ गण, संघ आदि में ज्ञान ध्यानादि की विशेष साधना करने की सुविधा थी क्योंकि प्राचीन काल में साधुओं के अनेक गण थे और निम्नलिखित तीन कारणों से एक गण का साधु दूसरे गण में जा सकता था। १. ज्ञानार्थ उपसंपदा—ज्ञान की वर्त्तना (पुनरावृत्ति या गुणन), संधान (त्रुटित ज्ञान को पूर्ण करने और ग्रहण (नया ज्ञान प्राप्त करने) के लिए उपसंपदा स्वीकार की जाती है उसे 'ज्ञानार्थ उपसंपदा २. दर्शन की वर्त्तना (स्थिरीकरण), संधान और दर्शन विषयक शास्त्रों के ग्रहण के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती है वह 'दर्शनार्थ उपसंपदा' है तथा ३. वैयावृत्त्य और तपस्या की विशिष्ट आराधना के लिए जो उपसंपदा स्वीकार की जाती है वह चारित्रार्थ उपसंपदा है।[२]

इस प्रकार औघिक समाचार के उपर्युक्त विवेचन से श्रमण एवं आचार्यों के परस्पर व्यवहार-सम्बन्धी विविधताओं का ज्ञान सहज ही हो जाता है।

द्वितीय पदविभागी समाचार के अन्तर्गत वीर्यवान् समर्थ श्रमण सूर्योदय से लेकर सारे दिन और रात अर्थात् अहोरात्र की परिपाटी में नियमादि का निरन्तर आचरण करता हुआ अपने गुरु से सम्पूर्ण श्रुत को पढ़कर और भी ज्ञान प्राप्ति हेतु दूसरे आचार्य के पास जाने के लिए वह विनय और प्रयत्न पूर्वक अपने गुरु से पूछता है—'हे गुरो! मैं आपके चरण प्रसाद से आज्ञापूर्वक अन्य शास्त्रपारंगत आचार्य के पास ज्ञानायतन (उच्च ज्ञान प्राप्ति) हेतु जाना चाहता हूँ।' इस प्रकार तीन, पाँच अथवा छह बार तक वह शिष्य अपने गुरु से पूछता

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ६८९.

२. वही गाथा ६९८, ६९९ (उत्तराध्ययणाणि भाग २. टिप्पण पृ० १८० से)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। तब आज्ञा मिलने पर ही वह अन्य संघ में जाता है। विनयपूर्वक पुनः पुनः आज्ञा माँगने से शिष्य-श्रमण का विनय और उत्साह प्रगट होता है।[1]

श्रमणों के परस्पर व्यवहार :

सांसारिक प्राणी चाहे वे गृहस्थ हो या साधु, सभी परस्पर किसी न किसी रूप में बंधे हुए हैं। साधु के व्यवहार भी अपने सार्धमिकों से प्रभावित होते रहते हैं। किसी न किसी प्रसंगों पर एक दूसरे के साहाय्य की आवश्यकता भी होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दो प्रकार के मुनि बतलाये हैं—शुभोपयोगी और शुद्धोपयोगी। इनमें शुभोपयोगी श्रमण शुद्धात्मा के अनुरागी होते हैं। अतः वे शुद्धात्मयोगी श्रमणों का वन्दन, नमस्कार, उनके लिए उठना, उनके पीछे-पीछे जाना तथा उनकी वैयावृत्य आदि करते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। दूसरों के अनुग्रह की भावना से दर्शन-ज्ञान के उपदेश में प्रवृत्ति, शिष्यों का ग्रहण, उनका संरक्षण, तथा जिनपूजा के उपदेश में प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनि करते हैं। किन्तु जो शुभोपयोगी मुनि ऐसा करते हुए अपने संयम की विराधना करता है वह गृहस्थधर्म में प्रवेश करने के कारण मुनिपद से च्युत हो जाता है। इसलिए प्रत्येक प्रवृत्ति संयम के अनुकूल ही होना चाहिए क्योंकि प्रवृत्ति संयम की सिद्धि के लिए ही की जाती है।[2] श्रमण के परस्पर में ज्येष्ठता, लघुता तथा पद आदि की अपेक्षा यथायोग्य अनुकूल आदर-सत्कार, वैयावृत्य तथा अन्य सहयोग विषयक विविध व्यवहार होते हैं। वीरनन्दिकृत आचारसार में कहा है कि शिष्य साधु गुरुओं के सामने नहीं बैठते अपितु उनकी दायीं-बायीं ओर बैठते हैं। कुछ पूछना आवश्यक हो तो शान्ति से पूछते हैं और उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करते हैं। यदि कोई शिष्य अपने गुरुओं को शास्त्रादि कोई वस्तु दे तो दोनों हाथों से विनयपूर्वक देना चाहिए और गुरु आदि से शास्त्रादि कोई वस्तु लेना हो तो दोनों हाथों से विनयपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।[3]

श्वेताम्बर परम्परा में श्रमणों के स्वाध्याय, उपधि, भोजन आदि के पारस्परिक सम्बन्ध एवं व्यवहार को 'सम्भोग' शब्द से अभिहित किया जाता है।

---

१. कोई सव्व समत्थो सगुरु सुदं सव्वमागमित्ताणं।
बिणएणुवक्कमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण ॥
तुज्झं पाद पसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ ॥ मूलाचार ४।१४५-१४६.

२. प्रवचनसार २।५-२४८.

३. आचारसार ६४-६५ पृष्ठ ३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा एक मंडली में भोजन करने वाले सांभोगिक कहलाते हैं। यह प्रतीकात्मक अर्थ है। किन्तु स्वाध्याय, भोजन आदि सभी मंडलियों में जिसका सम्बन्ध होता है वह सांभोगिक कहलाता है।[1] निशीथ भाष्य के अनुसार स्थितिकल्प, स्थापना कल्प और उत्तरगुणकल्प—ये कल्प (आचार-मर्यादा) जिनके समान होते हैं, वे मुनि सांभोगिक कहलाते हैं और जिन मुनियों के ये कल्प समान नहीं होते वे असांभोगिक कहलाते हैं। तथा जिनका स्वाध्याय, आहारआदि सभी मंडलियों से सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है वह विसांभोगिक है।[2] साम्भोगिक निम्न-लिखित बारह प्रकार के है।[3]

(१) उपधि-सम्भोग—मर्यादा के अनुसार संयम, ज्ञान आदि विषयक वस्तुएँ आवश्यकतानुसार श्रमणों को कार्यवश देना-लेना।

(२) श्रुत-सम्भोग—परस्पर एक दूसरे को ज्ञान देना एवं शास्त्राध्ययन करवाना। इसके अन्तर्गत समानकल्प वाले साधुओं को श्रुत की वाचना दी जाती है। और वाचना देने में समर्थ प्रवर्तिनी न हो तो साध्वियों को आचार्य वाचना देते हैं।[4]

(३) भक्तपान सम्भोग—इसमें समान कल्पवाले साधुओं के साथ एक मंडली में बैठकर भोजन करना तथा एक दूसरे की लायी हुई भिक्षा को परस्पर में ग्रहण करना।

(४) अंजलिप्रग्रह (प्रणाम) सम्भोग—यथायोग्य परस्पर एक दूसरे की वंदना या सम्मान करना।

---

१. ठाणं ५।४६ टिप्पण पृष्ठ ६२०.

२. णितिकप्पम्मि दसविहे, ठवणाकप्पे य दुविधमण्णयरे।
उत्तरगुणकप्पम्मि य, जो सरिकप्पो स सम्भोगो॥
—निशीथभाष्य गा० २१४९.

३. दुवालसविहे सम्भोगे पण्णत्ते, तं जहा—
उवही सुअभत्तपाणे, अंजलीपग्गहेत्ति य।
दायणे य निकाए अ, अब्भुट्ठाणेत्ति आवरे॥
कितिकम्मस्स य करणे, वेयावच्चकरणे इअ।
समोसरणं संनिसेज्जा य, कहाए अ पबंधवे॥ समवायांग १२।३.—
व्यवहारसूत्र उद्देश्य--५. निशीथचूर्णि उद्देश्य—५.

४. संजतीण जइ आइरियं मोत्तुं अण्णा पवत्तिणामातो वायंति णत्थि, आयरिओ वायणातीणि सव्वाणि एताणि देति न दोसः॥—निशीथचूर्णि पृ० ३४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) दान-सम्भोग—समान कल्प के साधुओं को उपधि, आहार, शिष्य आदि देना दान कहा जाता है। एक ही संघ के भिक्षु अपने शिष्यों को आपस में एक दूसरे को दे सकते हैं।

(६) निकाचन (निमंत्रण) सम्भोग—समान कल्प वाले श्रमण परस्पर में आहार, उपधि आदि के लिए निमंत्रित कर सकते हैं।

(७) अभ्युत्थान-सम्भोग—ज्येष्ठ श्रमणों के आगमन पर अपने आसन से उठकर उन्हें सम्मान देना, आसन प्रदान करना।

(८) कृतिकर्मकरण (वन्दना)—दीक्षा-ज्येष्ठ आचार्यादि को वन्दन करना, विनय एवं आदर करना।

(९) वैयावृत्यकरण (सहयोग दान)—वृद्ध, रोगी आदि श्रमणों का सम्मान एवं सावधानी पूर्वक वैयावृत्य करना उसके अनुसार शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की समस्याओं के समाधान में योग देना चाहिए।

(१०) समवसरण (सम्मिलन) सम्भोग—इसके अनुसार समान कल्प वाले साधु एक साथ मिलते हैं। प्रवचन आदि के अवसर पर परस्पर एक दूसरे के यहाँ जाते हैं।

(११) सन्निषद्या-सम्भोग—आसन आदि का देना। साम्भोगिक श्रमणों का एक साथ बैठकर प्रवचन, शास्त्र चर्चा आदि करना। इसके अनुसार दो साम्भोगिक आचार्य निषद्या पर बैठकर श्रुत परिवर्तन आदि करते हैं।

(१२) कथाप्रबन्ध-सम्भोग—परस्पर साथ बैठकर धार्मिक विषयों पर विचार करना। इसके द्वारा कथा सम्बन्धी व्यवस्था दी जाती है।

इस प्रकार सम्भोग के इन बारह भेदों के द्वारा समानकल्पी श्रमणों के परस्पर व्यवहार की मर्यादा निश्चित की गई है। इनका अतिक्रमण करने पर समानकल्पी साधु का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया जाता है।

वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार : श्रमणों में परस्पर वैयावृत्य सम्बन्धी व्यवहार भी महत्वपूर्ण होते हैं। श्रमण के दो भेद हैं—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। इनमें शुभोपयोगी श्रमण सराग चारित्रधारी होता है। वे अर्हन्तादि में भक्ति, साधुजनों में वात्सल्य तथा आदर भाव रखते, आचार्यादि की वन्दना, सेवा करते हैं। ये सब कार्य संयम की साधना की दृष्टि से ही विधेय हैं।[1] षट्कायिक जीवों की विराधना किये बिना ऋषि, मुनि, यति और अनगार—इस चतुर्विध संघ का वह श्रमण सदा उपकार करता है और वह सराग चारित्र वाले श्रमणों में

---

१. प्रवचनसार ३।४५-४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान भी होता है।[1] श्रमणों को यथायोग्य वैयावृत्य भी करनी चाहिए। यह विधान शुभोपयोगी श्रमण को ही विधेय है। शुद्धोपयोगी श्रमण इन सबसे परे होता है। सामान्य श्रमण तो अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की अपेक्षा किये बिना ही उपसर्ग से पीड़ित वृद्धावस्था के कारण क्षीणकाय वाले श्रमणों की वैयावृत्य करता है।[2] मूलाचार में कहा है गुणाधिक, श्रमण, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, साधुगण, कुल, चतुर्विधसंघ और समनोज्ञ (सुखासीन) इन मुनियों पर किसी प्रकार की आपत्ति या उपद्रव आये[3] तो वसति, स्थान, आसन तथा उपकरण—इनका प्रतिलेखन द्वारा उपकार करना, आहार, औषधि आदि से, मलादि दूर करने से और उनको वन्दना आदि के द्वारा वैयावृत्ति करना चाहिए।

आगन्तुक श्रमण का भी ये कर्तव्य है कि गच्छ में ग्लान-रोगादिक से पीड़ित मुनि तथा गुरु-आचार्य आदि ज्येष्ठ-मुनि, बालमुनि अर्थात् नवदीक्षित या पूर्वापर विवेक रहित मुनि, वृद्ध अथवा दीक्षाधिक मुनि तथा शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार आदरपूर्वक यथायोग्य वैयावृत्य करे, ऐसा करने का विधान भी किया गया है।[4] रोग, क्षुधा, तृषा अथवा श्रम से आक्रान्त श्रमण को देखकर साधु के अनुसार वैयावृत्यादि श्रमण को अवश्य करनी चाहिए।[5] रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणों की वैयावृत्य में शुभोपयुक्त लौकिक जनों के साथ श्रमणों को बातचीत भी निन्दित नहीं है। यह प्रशस्तभूत चर्या रोगसहित होने के कारण श्रमणों को गौण होती है तथा गृहस्थों को मुख्य।[6] क्योंकि समाधि पैदा करने, विचिकित्सा (ग्लानि) दूर करने, प्रवचन वात्सल्य प्रकट करने तथा सनाथता अर्थात् निःसहायता या निराधारता की अनुभूति न होने देने के लिए वैयावृत्य की जाती है।[7]

वंदना सम्बन्धी परस्पर व्यवहार : आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है शरीर, कुल, जाति और इन सभी की संयुक्त रूप से वन्दना नहीं की जाती, क्योंकि गुणहीन की वन्दना कौन करता है ? गुणों के बिना न तो श्रमण होता है और न

---

१. प्रवचनसार ३।४९.
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४५९.
३. गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले।
साहुगण कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥ मूलाचार ५।१९४.
४. वही, ४।१७४.
५. प्रवचनसार ३।५२.
६. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २५४.
७. तत्त्वार्थवार्तिक ९।२४।१७ (द्वितीय भाग) पृ० ६२४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक हो। जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप तथा विनय में निरन्तर लीन रहते हैं, तथा गुणधारक जनों आदि के गुणों का बखान करते हैं वे वन्दना करने योग्य (पूज्य) हैं। इस कथन के अनुसार वन्दना इस विचार पूर्वक करना चाहिए कि मैं तपस्वी श्रमणों को, उनके शील, गुण (मूलगुणों तथा उत्तरगुणों) ब्रह्मचर्य, और मुक्तिगमन को सम्यक्त्व सहित शुद्ध भाव से वन्दना करता हूँ।[1] वंदना या विनय के अन्तर्गत श्रमण की आयु दीक्षा ग्रहण के समय से मानी जाती है। यदि जन्म से कम उम्र का श्रमण दीक्षा काल में ज्येष्ठ है तो दीक्षाकाल में लघु श्रमण को (भले ही वह उम्र में बड़ा हो) उस दीक्षा ज्येष्ठ श्रमण की यथायोग्य वन्दना करने का विधान है। श्रमणों में परस्पर अभिवादन-वन्दनादि व्यवहार या परस्पर के सहयोग से सम्पन्न होने वाली धार्मिक क्रियाओं अथवा समतापूर्वक चलने वाले व्यवहार रूप अनुष्ठान को 'सामाचारी' के अन्तर्गत कहा गया है।

विनय और इसके भेद-प्रभेदों का विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में किया जा चुका है। औपचारिक कायिक-विनय के अन्तर्गत आचार्यादि ज्येष्ठ श्रमण के आगमन पर आदर से उठना, सन्नति अर्थात् मस्तक से नमस्कार करना, आसन दान देना, अनुप्रदान अर्थात् पुस्तक, पिच्छिकादि उपकरण देना, कृतिकर्म प्रतिरूप—अर्थात् श्रुतभक्ति आदि पूर्वक कायोत्सर्ग करना, योग्यतानुसार विनय एवं वैयावृत्य करना, अपना आसन त्याग करना, तथा अनुव्रजन—अर्थात् प्रस्थान के समय उनके पीछे पीछे जाना[2]—ये सब श्रमणों के विनय सम्बन्धी व्यवहार हैं। विनय के पात्र गुणधरों और शीलधरों की वन्दना करना चाहिए। ये इसलिए वन्दनीय हैं क्योंकि ये चारित्र, ध्यान और अध्ययन में तत्पर, क्षमादि धर्मों से युक्त, पंचमहाव्रतधारी, संयम और धैर्य गुणों के धनी, आगम के ज्ञाता-दृष्टा, तथा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—इन सबमें सदा तत्पर रहते हैं अतः इन सबकी विनय-वन्दना में सदा उद्यत होना चाहिए।[3] वन्दना करने वाले श्रमण को भी पंचमहाव्रतों के पालन में एवं धर्म तथा उसके फल में आनन्द मानने वाला, आलस्य और मानरहित तथा दीक्षा में लघु होना चाहिए तभी दीक्षा में ज्येष्ठ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधरादि की कृतिकर्म-विनय करने से उस श्रमण के कर्मों की निर्जरा होती है।[4]

---

१. दंसण पाहुड क्रमशः गाथा २७, २३ तथा २८.
२. मूलाचार ५।१८५.
३. वही, ७।९८-९९.
४. वही, ७।९३-९४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र में अधिक गुण वाले श्रमण यदि गुणहीन श्रमणों के साथ वन्दनादि क्रियायें करते हैं तो वे मिथ्यात्व से युक्त और चारित्र से भ्रष्ट माने जायेंगे।[१] अतः जो श्रद्धा से रहित, चारित्रहीन, अपवादशील एवं साधुत्व से विपरीत हैं उनके साथ तथा लौकिक जनों के साथ समाचारी नहीं करना चाहिए।[२] असंयत जनों या असंयमी की वन्दना नहीं करनी चाहिए।[३] जैसे अविरत माता-पिता, गुरु, राजा, अन्यतीर्थक तापसी, तथा पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसंज्ञ और मृगचरित्र—इन पाँच पापश्रमणों, कुदेवों तथा देश-विरत श्रावकों आदि की भी वन्दना नहीं करनी चाहिए।[४] विविध शास्त्रों का ज्ञाता यदि कुमत और कुशास्त्र की प्रशंसा करता है तो वह शील, व्रत तथा ज्ञान से रहित माना जाता है। इनकी वन्दना भी अनुचित है।[५] किन्तु जो सहजोत्पन्न यथाजात रूप को देखकर मान्य नहीं करता तथा उसकी विनय नहीं करता अपितु मत्सर भाव रखता है—ऐसे संयम प्रतिपन्न श्रमण को भी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।[६] आयास पूर्वक प्रयास से आते हुए मुनि को देखकर साधुओं को वात्सल्य के लिए, जिनेन्द्रदेव की आज्ञा पालन करने के लिए तथा उस मुनि का संग्रह करने (अपनाने) के लिए, उसे प्रणाम करने के लिए तत्क्षण खड़े हो जाना चाहिए और सात कदम आगे जाकर परस्पर प्रणाम करके आगन्तुक के प्रति करने योग्य कर्त्तव्य करने के लिए रत्नत्रय की कुशलता पूछना चाहिए।[७]

तपो ज्येष्ठ मुनियों और तप में भक्ति तो करनी ही चाहिए किन्तु शेष छोटे तपस्वियों की अवहेलना (तिरस्कार) भूलकर भी नहीं करनी चाहिए।[८] जो दीक्षा में एक रात्रि भी बड़े हैं वे रात्र्यधिक दीक्षा गुरु, श्रुतगुरु और तप में अपनेसे ज्येष्ठ मुनियों में तथा दीक्षा में एक रात्रि न्यून भूमिकाओं वाले ऊन-

---

१. प्रवचनसार ३।६८.
२. नयचक्र ३३८.
३. असंजदं ण वंदे—दंसण पाहुड २६.
४. णां वंदेज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व।
देशविरद देवं वा विरदो पासत्थणगं वा ।। मूलाचार ७।९५, अनगार धर्मामृत ८।५२.
५. शील पाहुड १४.
६. दंसण पाहुड २४.
७. मूलाचार ४।१६०-१६१, प्रवचनसार ३।६१-६२.
८. वही, ५।१७४, भगवती आराधना ११७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रात्रिक मुनियों में, आर्यिकाओं में तथा श्रावकों में यथायोग्य अप्रमत्त भाव से विनय करना चाहिए ।[1]

वंदना-(विनय) की विधि—वन्दना करने की मुद्रा और विधि के विषय में वट्टकेर ने कहा है कि सर्वप्रथम श्रमण अपने सब अंगो तथा भूमि का पिच्छिका से प्रमार्जन करे । फिर पिच्छी हाथ में लेकर तथा उसे मस्तक के पास रखकर पश्वर्द्धशय्या की मुद्रा में नम्रीभूत होकर 'मैं वन्दना करता हूँ'—इस प्रकार मुख से उच्चारण करके वन्दना करना चाहिए ।[2] अनगार धर्मामृत में कहा है पिच्छी सहित दोनों हाथों को अंजलीबद्ध करके उसे हृदय के मध्य स्थापित करे, और पर्यंकासन या वीरासन से एकाग्रमन होकर स्वाध्याय करना चाहिए । यदि स्वाध्याय करने में असमर्थ हो तो उसी प्रकार से वन्दना करनी चाहिए । खड़े होकर वन्दना करने की शक्ति नहीं है तो पर्यंकासनपूर्वक बैठकर पूर्ववत् पिच्छी सहित अंजलि जोड़कर वन्दना करनी चाहिए ।[3] मूलाचार में भी कहा है पर्यंक अथवा वीरासन से बैठकर चक्षु से पुस्तक को, पिच्छी से भूमि का और प्रासुक जल से हाथ-पैर का सम्मार्जन करे और दोनों हाथों को मुकुलित करके प्रमाण करे तब सूत्र तथा अर्थ के योग से युक्त अपनी शक्ति से स्वाध्याय करे[4] । इस तरह जो मुनि स्वाध्याय करने में असमर्थ होता है वह उसी विधि से देव वन्दना करता है । यद्यपि देव वन्दना खड़े होकर की जाती है किन्तु अशक्त होने से बैठकर भी वन्दना कर सकता है ।

सामायिक एवं देववन्दना के समय अंजलि और हाथ शुद्ध करके सावधान और एकाग्र अन्तःकरण सहित तथा आकुलता रहित होकर आगमानुसार सामायिक, देववन्दनादि करना चाहिए ।[5] वन्दनीय श्रमण और वन्दनकर्ता—इन दोनों के बीच बाधा रहित एक हाथ (हस्तमात्र) का अन्तर होना चाहिए । जिससे वन्दना बिना बाधा के सम्पन्न हो सके । अपनी पिच्छिका से भूमि, शरीर आदि का स्पर्श एवं प्रमार्जन करके, वन्दना की याचना करे अर्थात् 'मैं वन्दना करता हूँ'—इस

---

१. रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ अज्जासु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जहारिओ सो कायव्वो अप्पमत्तेण ।। मूलाचार ५।१८७.

२. आचारसार २।६१. मूलाचार ७।१०१.

३. सप्रतिलेखन मुकुलित वत्सोत्सङ्गितकरः सपर्यङ्कः ।
कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ।। अनगार धर्मामृत ९।४३.

४. पलियंकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अंजलीकदपणामो ।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पठिदव्वो आदसत्तीए ।। मूलाचार ५।८४.

५. मूलाचार ७।३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञप्ति सहित इच्छाकार पूर्वक वन्दना करनी चाहिए।[1] जिसकी वन्दना की जाती है उन गुरु को भी ऋद्धि और वीर्य आदि के गर्व से रहित, शुद्धभाव से कृतिकर्म करने वाले को हर्ष उत्पन्न करते हुए वन्दना स्वीकृत करना चाहिए। ऐसा करने से वन्दना करने वाले श्रमण के मन में भी धर्म और धर्मफल के विषय में हर्ष उत्पन्न होता है।[2]

वन्दना या विनय आदि के लिए श्रमण को योग्य काल, अवसर या प्रसंग का ध्यान रखना भी आवश्यक है। जैसे—आलोचना अथवा आलोचना कार्य, सामायिकादि आवश्यक क्रिया के समय, प्रश्न पूछनें के पूर्व, पूजन, स्वाध्याय, अपराध—इन प्रसंगों में गुरु आचार्यादि गुणज्येष्ठ की वंदना करनी चाहिए।[3] शरीरशुद्धि, भिक्षा, विहार के समय तथा चैत्य, नगर, गाँव आदि से वसतिका या विहार में आचार्यादि के आगमन पर भी उनकी अभ्युत्थान पूर्वक वन्दना करना चाहिए। आचार्य के अभाव में उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, [4]गणधर आदि पूज्य एवं ज्येष्ठश्रमण की वन्दना करना चाहिए। इनके अभाव में जिसकी हितकर प्रवृत्ति हो एवं जिसे पूज्य समझें उसी की वन्दना करनी चाहिए।[5] एकान्त भूमिप्रदेश में पर्यंकासन आदि रूप में शान्त मन से सम्मुख बैठे गुरु, आचार्य आदि की मेधावी मुनि को विज्ञप्ति पूर्वक अर्थात् वन्दना की प्रार्थना करके वन्दना (कृतिकर्म) करना चाहिए।[6] आचारसार में कहा है प्रातः कालीन देव वंदना के अनन्तर सभी साधु विधिवत् कृतिकर्म आचार्य की वंदना करते हैं तब आचार्य भी अपनी पिच्छिका उठाकर उन श्रमणों के प्रति-नमोस्तु करते हुए प्रतिवंदना करते हैं।[7]

आर्यिकाओं द्वारा आचार्यादि की वन्दना की विधि के विषयमें मूलाचार में कहा है कि पाँच हाथ की दूरी से आचार्य की, छह हाथ की दूरी से उपाध्याय

---

१. मूलाचार ७।११२.
२. वही, ७।११३.
३. आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूयणे य सज्झाए।
अवराधे य गुरुणं बंदणमेदेसु ठाणेसु॥ वही, ७।१०२.
४. कुन्द० मूलाचार ७।१२२.
५. वही, ७।१२३.
६. मूलाचार ७।१०१.
७. विगौरवादिदोषेण सपिच्छांजुलिशालिना।
सदब्जसूर्याचार्येण कर्त्तव्यं प्रतिवंदनम्॥ आचारसार पृ० ३६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की और सात हाथ की दूरी से श्रमण की वंदना आर्यिका को गवासन से ही बैठकर करनी चाहिए।[1]

मूलाचार के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय आचार्य, उपाध्याय, और साधु आदि ही श्रमण संघ में होते थे किन्तु परवर्ती काल में श्रमण बनने की भूमिका तैयार करने हेतु क्रमशः क्षुल्लक-क्षुल्लिका और ऐलक—जैसे साधु-पूर्व की भूमिका हेतु लघु पदों का सृजन हुआ जो आज भी विद्यमान है। यद्यपि समय की दृष्टि से काफी प्राचीन (मूलाचार के आसपास का) माने जाने वाले ग्रन्थ "भगवती आराधना" में क्षुल्लक, क्षुल्लिकाओं रूप बाल मुनियों के उल्लेख संघ के अन्तर्गत मिलते हैं।[2] इनकी परस्पर वन्दना आदि के विषय में आचारसार में कहा है कि ऐलक-क्षुल्लक परस्पर में 'इच्छामि' करते हैं। मुनियों को 'नमोऽस्तु' करते हैं और आर्यिकाओं को 'वंदामि' करते हैं। ब्रह्मचारी गण या श्रावक भी मुनियों को 'नमोऽस्तु', आर्यिकाओं को 'वंदामि' करते हैं, ये मुनि, आर्यिका भी व्रतियों को समाधिरस्तु' अथवा 'कर्मक्षयोऽस्तु' ऐसा आर्शीर्वाद देते हैं। अव्रती श्रावक-श्राविकाओं को 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' 'शुभमस्तु' या 'शांतिरस्तु' ऐसा आर्शीवाद देते हैं। अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा वंदित होने पर उन्हें धर्मलाभोऽस्तु और निम्न जाति के लोगों द्वारा वन्दना किये जाने पर "पापक्षयोऽस्तु' ऐसा कह-कर आर्शीवाद देते हैं।[3]

कब वन्दना न करें?—श्रमणों को यथावसर वन्दना करने का विधान है। किन्तु यदि वंदनीय आचार्य आदि एकाग्रचित्त हैं, वन्दनकर्ता की ओर पीठ किये हैं, प्रमत्त में रत, आहार, नीहार तथा मल-मूत्र विसर्जन आदि अवसर पर कभी वन्दना नहीं करना चाहिए।[4]

---

१. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति॥ मूलाचार ४।१९५.

२. खुड्डा य खुड्डियाओ''''भ० आ० ३९६.

३. नमोऽस्त्विति नतिः शस्ता समस्तमतसम्मता।
कर्मक्षयः समाधिस्तेऽस्त्वित्यार्यार्यजने नते॥
धर्मवृद्धिः शुभं शान्तिरस्त्वित्याशीरगारिणी।
पापक्षयोऽस्त्विति प्राज्ञैश्चाण्डालादिषु दीयताम्॥
आचारसार ६६-६७ पृ० ३७-३८.

४. वाक्खितपराहुतं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो।
आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि॥ मूलाचार ७।१००.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दना सम्बन्धी व्यवहार का विशेष विवेचन तृतीय अध्याय के वन्दना आवश्यक में किया जा चुका है। वन्दना सम्बन्धी विवेचन से यह भी ज्ञात होता है कि वन्दना की विशुद्ध विधि के लिए सजगता की बहुत आवश्यकता होती है।

इस प्रकार वैयावृत्य और विनय विषयक परस्पर व्यवहारों का यह विवेचन आचार तथा व्यवहार शास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। वैयावृत्य विषयक पूर्वोक्त विवेचन में यह भी दृष्टिगोचर होता है कि ज्येष्ठ श्रमण तथा आचार्यादि की वैयावृत्य तो स्वाभाविक है किन्तु लघु श्रमण भी यदि क्षीणकाय या अस्वस्थ हो जाये तो आचार्य या अन्य ज्येष्ठ श्रमणों को उसकी यथायोग्य वैयावृत्य करने का विधान है।

निषिद्ध व्यवहार :

श्रमण को अपने लक्ष्य प्राप्ति में बाधक किसी भी कार्य को मन, वचन और काय से न करने का विधान है। बाल, वृद्ध, श्रान्त या ग्लान सभी श्रमणों का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वे उसी प्रकार अपने योग्य आचरण करें जिससे मूल (श्रमणत्व या मूलगुणादि) का ही उच्छेद न हो।[1] अपने गुरु के विरुद्ध कभी आचरण नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाले श्रमण बहुमोही, कुत्सित् शील एवं आचरण से युक्त होकर असमाधि से मरण करने वाले होने के कारण अनन्तसंसारी होते हैं।[2] श्रमण जीवन की कुछ आवश्यकतायें जैसे आहार, उपधि और शय्या को शुद्धि किये बिना सेवन करने से श्रमण मूलस्थान अर्थात् गृहस्थावस्था को प्राप्त होकर 'श्रामण्य तुच्छ' (समणपोल्लो) अर्थात् यतित्वविहीन कहलाने लगता है।[3] तथा उसका कायोत्सर्ग, मौन, अभ्रावकाश एवं आतापन योग आदि किसी प्रयोजन के भी नहीं।[4] अतः जो श्रमण शास्त्रविहित अनुष्ठान में प्रवृत्ति करने वाला है वह सबसे पहले निषिद्ध आचरणों से निवर्तित हो, क्योंकि कारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है। जब तक कारण का सम्पूर्ण नाश नहीं होता तब तक कार्य से छुटकारा नहीं मिल सकता।

मंत्र, तंत्र, ज्योतिष आदि के प्रयोग का कड़ा निषेध करते हुए रयणसार में कहा है—जो श्रमण मंत्र, तंत्र तथा भूत-प्रेत आदि विद्याओं का प्रदर्शन कर अपनी उपजीविका करता है धन-धान्य आदि ग्रहण तथा राजा की सेवा करता है

---

१. प्रवचनसार ३।३०.

२. मूलाचार २।७१.

३. पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो।। वही १०।२५.

४. वही १०।२७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह समस्त श्रमणों को दूषित करने वाला संसक्त-श्रमण है।[1] उत्तराध्ययन में भी कहा है कि जो श्रमण लक्षणशास्त्र (शरीर के लक्षणों, चिह्नों को देखकर शुभाशुभ फल कहने वाले सामुद्रिक शास्त्र), स्वप्नशास्त्र और अंग विद्या का प्रयोग करते हैं उन्हें श्रमण नहीं कहा जा सकता—ऐसा आचार्यों ने कहा है।[2] बौद्ध परम्परा में भी कहा है कि अंग-निमित्त, उत्पाद, स्वप्न, लक्षण आदि विद्यायें "तिर्यक् विद्या" हैं। इनसे आजीविका करने वाले की "मिथ्या आजीविका" है तथा जो इनसे परे होता है वही 'आजीव-परिशुद्धि शील' है।[3]

परिग्रह एवं सावद्य कार्यों में आसक्त, क्रोध, मान, माया और लोभ-कषायों से युक्त श्रमण लोक-व्यवहार में भले ही चतुर रहें पर वे सम्यक्त्व से रहित ही होते हैं।[4] अत्यन्त क्रोध, चंचलता, चारित्र में आलस्य, दूसरे के अप्रत्यक्ष में दोष कहना, पिशुनता, दीर्घकषाय, दंभ, परपीडन, मारण आदि मंत्रशास्त्र अर्थात् हिंसा पोषक शास्त्रों का सेवन तथा आरम्भ इत्यादि दोषों से युक्त श्रमण चाहे वह चिरकाल से ही दीक्षित क्यों न हो—ऐसे श्रमण से सदाचारी श्रमण को सदा बचना चाहिए। धर्म से युक्त, असंवृत्ती, नीच तथा लौकिक-अलौकिक क्रियाओं के विवेकज्ञान से रहित दीर्घकाल से प्रवर्जित श्रमणों के भी संसर्ग से बचने के लिए कहा गया है।[5]

निषिद्ध वचन व्यवहार :

लिंगपाहुड में कहा गया है कि श्रमण का वेष धारण करके, नाचना, गाना, बजाना, बहुमान से गर्वित होकर कलह, विवाद आदि करना, द्यूत-क्रीडा, कन्दर्पादि भावनाओं का चिन्तन, मायाचार, व्यभिचार, भोजन में रसगृद्धि, बिना ईर्यापथशुद्धि के चलना, महिला वर्ग, शिष्य एवं गृहस्थों के प्रति राग भाव रखना इत्यादि दोषों या इनमें से कोई एक भी दोष से युक्त श्रमण भावों से विनष्ट हुआ पार्श्वस्थ श्रमण है, यथार्थ साधु नहीं। तथा वह तिर्यग्योनि और नरक का पात्र ही है।[6] उत्तराध्ययन में कहा

---

१. रयणसार ९६, चारित्रसार १४४.

२. जे लक्खणं च सुविणं च अंगविज्जं च जे पउंजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति एवं आयरिएहिं अक्खायं॥ उत्तराध्ययन ८।१३.

३. विसुद्धिमग्ग १।१, पृ० ३०-३१.

४. रयणसार ९७.

५. मूलाचार १०।६४-६७.

६. लिंगपाहुड गाथा—३।६।१२।१५।१७।१८।२०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि स्त्रियों को त्यागने वाला अनगार उनमें आसक्त न हो। भिक्षु धर्म को पेशल अर्थात् एकान्त कल्याणकारी मनोज्ञ जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे।[1]

वचनों के विषय में वट्टकेर ने कहा है कि दुर्जन वचनों से डरना चाहिए क्योंकि पूर्वापर देखे बिना बोलने वाला श्रमण नगर की नालियों में बहने वाले कचरे के समान वचनों को बहाते रहते हैं।[2]

स्थानांग सूत्र में कहा है कि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को निम्नलिखित छह अवचन (गर्हित वचन) नहीं बोलना चाहिए—१. अलीक (असत्य) वचन, २. हीलित (अवहेलना युक्त) वचन, ३. खिसित (मर्मवेधी) वचन, ४. परुष (कटुक) वचन, ५. अगारस्थित वचन—अर्थात् यह मेरा पुत्र, मेरी माता इत्यादि प्रकार के सम्बन्ध सूचक वचन। तथा ६. उपशांत कलह को उभाड़ने वाला वचन।[3]

दशवैकालिक के "वाक्यशुद्धि" नामक सप्तम अध्ययन में किस प्रकार की भाषा न बोले आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा हैं कि परुष (कठोर) और महान् भूतोपघाती सत्य भाषा भी न बोलना चाहिए क्योंकि इनसे पापकर्म का बन्ध होता है। काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर—इस तरह दूसरे के मन को चोट लगने वाली भाषा न बोले। प्रज्ञावान मुनि रे, होल! रे गोल! ओ कुत्ते, ओ वृषल। ओ द्रमक! ओ दुर्भग —ऐसे वचन न बोले। इसी प्रकार हे दादा-दादी, नाना-नानी, पिता, चाचा, भानजा आदि सम्बोधन पूर्वक किसी पुरुष या स्त्री को आमंत्रित न करे अपितु प्रयोजनवश यथायोग्य गुण-दोष का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे। इसी प्रकार गायें दुहने योग्य, बैल दमन करने, वहन करने तथा रथ योग्य हैं—ऐसा न बोले। उद्यान, पर्वत और वन में जाकर मुनि इस प्रकार न कहे कि ये वृक्ष प्रासाद, स्तम्भ, तोरण, घर, अर्गला, नौका आदि के योग्य हैं। ये फल पक्व हैं, पकाकर खाने योग्य हैं, तोड़ने योग्य हैं, नदियाँ भरी हुई हैं। आपने बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा पकाया आदि रूप सावद्य वचनों का प्रयोग साधु को नहीं करना चाहिए। सावद्य का अनुमोदन करने वाली, अवधारणी और पर-उपघातकारिणी भाषा, क्रोध, लोभ, भय, मान या हास्यवश न बोले और वाक्यशुद्धि को भली भाँति समझकर दोष युक्त वाणी का प्रयोग न

---

१. उत्तराध्ययन ८।१९.

२. विहेदव्वं णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टजिब्भस्स।
वरणयरणिग्गमं पिव वयणकयारं बहंतस्स॥ मूलाचार १०।७१.

३. स्थानांग सूत्र ६।१००.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करे। मित और दोष-रहित वाणी सोच-विचार कर बोलने वाला साधु सत्पुरुषों में प्रशंसा को प्राप्त करता है।[1]

अन्य निषिद्ध व्यवहार:—श्रमणों को पार्श्वस्थादि श्रमणों की वन्दना का निषेध है।[2] इनके आगमन पर उठकर खड़े होना भी योग्य नहीं है। सुखेच्छा से अपने आचार में शिथिल श्रमणों के आगमन पर अभ्युत्थान करने से कर्मबंध होता है तथा प्रमाद की स्थापना से शिथिलाचार एवं पार्श्वस्थादि श्रमणों में वृद्धि हो सकती है।[3]

इन सब निषिद्ध व्यवहारों के अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के व्यवहार निषिद्ध हैं। जैसे शरीर-संस्कार, चिकित्सा आदि। वट्टकेर ने कहा है स्त्री, पुत्रादि के स्नेह बंधन को तोड़ने वाले श्रमण अपने शरीर के प्रति ममत्व नहीं रखते। अतः मुख, नेत्र, अंगमर्दन, मुष्टि एवं काष्ठयन्त्र से शरीर का ताड़न-पीड़न, धूप-संस्कार, वमन, विरेचन, अञ्जन, अभ्यंग, मर्दन, लेपन, नासिका कर्म, वस्ति-कर्म, शिरावेध आदि रूप में किसी भी प्रकार का शरीर संस्कार नहीं करना चाहिए।[4]

श्रमण को यदि शरीर में किसी प्रकार के रोग या उससे उत्पन्न कष्ट की वेदना होती है तो औषधि से उसके निराकरण की चेष्टा नहीं करता अपितु समता-पूर्वक सहन करते हुए चारित्र परिणाम में ही दृढ़ रहना चाहता है।[5] क्योंकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि शरीर रोगों का आयतन है। मूलाचार में कहा है कि सिर, कुक्षि आदि में वेदना उत्पन्न होने पर श्रमण उसे सहन करते हैं। किसी तरह की चिकित्सा की इच्छा नहीं करते अपितु दृढ़ चारित्र के बल से उसे सहते हैं।[6] किसी व्याधि के होने पर वे पुनः पुनः यही चिन्तन करते हैं कि यह शरीर तो सैकड़ों व्याधियों से निर्मित घर है अतः इससे क्षणभर भी मोह नहीं करना चाहिए।[7] शरीर के विषय में प्रतिकार रहित होकर उपस्थित व्याधि

---

१. दशवैकालिक–सप्तम अध्ययन.
२. मूलाचार ७।९७, दंसण पाहुड २३.
३. भगवती आराधना वि० टी० ११६.
४. मूलाचार ९।७०-७२, दशवैकालिक ३।३।९.
५. वही ५।२१९-२२०.
६. वही ९।७३.
७. रोगाणं आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥ वही ९।७७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और रोगों को धैर्यपूर्वक सहना चाहिए।[1] क्योंकि कहा भी है कि काल, क्षेत्र, मात्रा, द्रव्य का भारीपना और हल्कापना तथा अपनी शक्ति को जानकर जो भोजन करता है, उसे औषधि से प्रयोजन ही क्या ? अर्थात् उसे कभी औषधि लेने की आवश्यकता ही नहीं।[2] श्रमण के लिए तो जिनेन्द्रदेव के वचन ही रोगों को दूर करने के लिए औषधि, विषय सुखों के लिए विरेचन का कार्य करने वाले अमृत तुल्य हैं तथा जरा, मरण, व्याधि, वेदना आदि सभी दुःखों का क्षय करने वाले होते हैं।[3] अतः जिनेन्द्रदेव के वचनों में दृढ़ श्रद्धान रखने वाले श्रमण सम्यक् चारित्र का पालन करते हुए मृत्यु काल उपस्थित होने पर भी जिन वचनों का उल्लंघन करके कोई भी अयोग्य क्रिया करने की इच्छा तक नहीं करते।[4]

उत्तराध्ययन में भी कहा है कि रोग उत्पन्न होने पर वेदना से पीड़ित साधु दीनता रहित होकर अपनी बुद्धि को स्थिर करे और उत्पन्न रोग को समभाव से सहन करे। आत्मशोधक मुनि चिकित्सा का अभिनन्दन न करे। चिकित्सा न करना और न कराना—यही निश्चय से उसका श्रामण्य है। तथा जो मन्त्र, मूल (जड़ी-बूटी) और विविध वैद्यचिन्ता (वैद्यक उपचार) नहीं करता वह भिक्षु है।[5] प्रश्न व्याकरण सूत्र में साधु को पुष्प, फल, कन्दमूल तथा सब प्रकार के बीज औषध, भैषज्य, भोजन आदि के लिए अग्राह्य बतलाये हैं। क्योंकि ये जीवों की योनियाँ हैं। उनका उच्छेद करना साधु के लिए अकल्पनीय है।[6]

आहार के सोलह उत्पादन दोषों में चिकित्सा भी एक दोष है। जिसका अर्थ—औषधि आदि बताकर आहार प्राप्त करना है। श्रमण के लिए इसके द्वारा आहार की गवेषणा करना निषिद्ध है।[7] भिक्षु चिकित्सा, मन्त्र, मूल, भैषज्य के निमित्त भिक्षा प्राप्त न करे।[8] चिकित्साशास्त्र को जैन श्रमण के लिए पापश्रुत

---

१. मूलाचार ९।७४.

२. काल क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुलाघवं स्वबलम्।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य॥ प्रशमरतिप्रकरण ८।१३७.

३. वही ९।७५.

४. वही ९।७६.

४. उत्तराध्ययन २।३२-३३.

५. वही १५।८.

६. प्रश्नव्याकरण दशम अध्ययन पंचम संवरद्वार, (अंगसुत्ताणि भाग ३. पृ० ७०५-७०६.

७. मूलाचार ६।२६, निशीथ १३।६९.

८. प्रश्न व्याकरण संवरद्वार १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है।[1] जबकि बौद्ध परम्परा में चिकित्सा के निमित्त सावद्य-निरवद्य तथा भक्ष्य-अभक्ष्य आदि कुछ भी खाने पीने का उल्लेख मिलता है।[2]

रात्रि मौन :—दिगम्बर परम्परा के मुनियों के आचार में वर्तमान काल में देखा जाता है कि ये मुनि नियमतः रात्रि में मौन धारण कर लेते हैं। यद्यपि मूलाचार अथवा इसके समकक्ष अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इस तरह का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता और वर्तमान समय में श्वेताम्बर परम्परा के साधुओं में भी रात्रि मौन का प्रचलन प्रायः देखने में नहीं आता। किन्तु यह सत्य है कि संसार से विरक्त मुनि को रात्रि में मौन धारण से महाव्रत, षडावश्यक, तप, संयम और त्रिगुप्ति आदि के निर्विघ्न पालन में बहुत बल मिलता है। मुनि अल्प निद्रा ही करते हैं किन्तु उनकी इस नींद को योग-निद्रा कहा जाता है और जब साधु प्रतिमायोग आदि धारण करते हैं तो 'मौन' स्वतः हो जाता है। अतः रात्रि में मौन धारण करना साधुत्व की दृष्टि से सर्वथा योग्य है।

प्रायश्चित्त सम्बन्धी व्यवहार :

जैन आचारशास्त्र में प्रायश्चित्त को 'व्यवहार' शब्द से अभिहित किया जाता है। प्रायश्चित्त के व्यवहार से चारित्र शुद्धि होती है।

आचार्य के गुणों में एक व्यवहार पटु गुण भी है। व्यवहार पटु से तात्पर्य है जो प्रायश्चित्त का ज्ञाता हो, जिसने बहुत बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा हो और स्वयं भी उसका प्रयोग किया हो उसे व्यवहारी कहते हैं।[3] प्रायश्चित्त के लिए प्राकृत भाषा में पायच्छित्त और पच्छित्त—ये दोनों शब्द प्राप्त हैं। प्रायश्चित्त में प्राय का अर्थ है "लोक" तथा चित्त उसके मन को कहते हैं उस चित्त के ग्राहक अथवा उस चित्त को शुद्ध करने वाला कर्म प्रायश्चित्त कहलाता है।[4] जो पाप का छेद (विनाश) करता है वह पायच्छित्त है। एवं प्रायः जिससे चित्त शुद्ध होता है वह 'पच्छित्त' है।[5] अकलंकदेव ने 'प्रायश्चित्त' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करते हुए कहा है प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्। अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्, अपराध

१. स्थानांग ९.२७.

२. महावग्ग ६.१.२-१० पृ० २१६-२१८.

३. अनगारधर्मामृत ९।७८ ज्ञानदीपिका टीका।

४. (क) भ० आ० ५३१.

(ख) प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं॥ वही, विजयोदयाटीका ५३१.

५. जीतकल्पभाष्य गाथा १-५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशुद्धिरित्यर्थः[1] अर्थात् प्रायः=साधुलोक, जिस क्रिया में साधुओं का चित्त हो वह प्रायश्चित्त है। अथवा प्रायः = अपराध का शोधन जिससे हो वह प्रायश्चित्त है।

अकलंकदेव ने प्रायश्चित्त के विषय में ही कहा है कि लज्जा और परतिरस्कार आदि के कारण दोषों का निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता तो अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब न रखने वाले कर्जदार की तरह दुःख का पात्र बनना पड़ता है। बड़ी से बड़ी दुष्कर तपस्यायें भी आलोचना के बिना उसी प्रकार इष्टफल नहीं दे सकती जैसे विरेचन से शरीर की मलशुद्धि किये बिना खाई गई औषधि। आलोचना करके भी यदि गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना संवारे धान्य की तरह महाफलदायक नहीं हो सकता। आलोचना युक्त चित्त से किया गया प्रायश्चित्त साफ किये गये दर्पण में रूप की तरह निखरकर चमक जाता है।[2] अतः सदाचारी कुलीन साधु को अपने गुरु के समक्ष अपने दोषों की आलोचना अवश्य करनी चाहिए। गुरु में भी इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह आलोचक से उसके दोषों को स्वीकार करा सके। आलोचना से पहले गुरु को अपने विषय में दयाद्रवित या प्रसन्न नहीं करना चाहिए, ताकि वे अल्प प्रायश्चित्त दें।

शिवार्य ने कहा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, करण परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रवज्या काल, आगम और पुरुष को जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए।[3] १. द्रव्य-प्रतिसेवना आदि के द्वारा अपराध का निदान जानकर प्रायश्चित्त देना चाहिए। २. प्रायश्चित्त देते समय क्षेत्र का भी ज्ञान होना चाहिए कि यह क्षेत्र जल बहुल है या जल की कमी वाला है अथवा साधारण है। ३. काल का ज्ञान होना भी आवश्यक है कि यह ग्रीष्म काल है या शीत अथवा साधारण। ४. क्षमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि अथवा क्रोधादि भाव हैं। ५. करण परिणाम से तात्पर्य है प्रायश्चित्त करने के परिणाम। यह प्रायश्चित्त क्यों लेना चाहता है? क्या यह साथ रहने के लिए प्रायश्चित्त में प्रवृत्त हुआ है अथवा यश, लाभ या कर्मों की निर्जरा के लिए प्रवृत्त हुआ है। इत्यादि रूप में उसके भावों का ज्ञान भी आवश्यक है। ६. प्रायश्चित्त में उसका उत्साह कैसा है यह भी जानना चाहिए। ७. प्रायश्चित्त लेने वाले के शरीर में

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक ९-२२।१ पृष्ठ ६२०.

२. वही पृष्ठ ६२१.

३. दव्वं खेत्तं कालं भावं करणपरिणममुच्छाहं।
संघदणं परियायं आगमपुरिसं च विण्णाय ॥ भगवती आराधना ४५२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कितना बल है ? तदनुकूल ही प्रायश्चित्त देना चाहिए । ८. प्रवज्या ग्रहण किये कितना समय हुआ है—यह भी जानना चाहिए । ९. आगमों का ज्ञान अल्प है या बहुत । १०. प्रायश्चित्त ग्रहण करने वाला पुरुष वैराग्य में तत्पर है या नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त द्रव्य क्षेत्रादि दस के विषय में विचारकर प्रायश्चित्त देना चाहिए ।[1]

सापेक्ष प्रायश्चित्त दान के लाभ और निरपेक्ष प्रायश्चित्त दान की हानि की ओर संकेत करते हुए जीतकल्प भाष्य में जिनभद्रगणि ने कहा गया है कि प्रायश्चित्तदान में दाता को दयाभाव रखना चाहिए तथा जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति की ओर भी ध्यान रखना चाहिए । ऐसा होने पर ही प्रायश्चित्त का प्रयोजन सिद्ध होता है तथा प्रायश्चित्त करने वाले की संयम में दृढ़ता हो सकती है । ऐसा न करने से प्रायश्चित्त करने वाले में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और वह संयम में स्थित होने के बजाय संयम का सर्वथा त्याग ही कर देता है । प्रायश्चित्त देने में इतना अधिक दया भाव भी नहीं रखना चाहिए कि प्रायश्चित्त का विधान ही भंग हो जाए और दोषों की परम्परा इतनी अधिक बढ़ जाए कि चारित्र शुद्धि हो ही न सके । बिना प्रायश्चित्त के चारित्र स्थिर नहीं रह सकता । तथा चारित्र के अभाव में तीर्थ चारित्र शून्य हो जाता है । चारित्रशून्यता से निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती । निर्वाणलाभ का अभाव हो जाने पर कोई दीक्षित भी नहीं होगा । दीक्षित साधुओं के अभाव में तीर्थ भी नहीं बनेगा ।

इस प्रकार प्रायश्चित्त के अभाव में तीर्थ टिक ही नहीं सकता । अतः जहाँ तक तीर्थ की स्थिति है वहाँ तक प्रायश्चित्त की परम्परा चलनी ही चाहिए ।[2] इसलिए शिवार्य ने कहा है कि सब तीर्थंकरों की यह आज्ञा है कि गुरु से अपने अपराध को निवेदन करके, वे जो प्रायश्चित्त कहें उसे ग्रहण करके शुद्धि करना चाहिए ।[3]

व्यवहार के पाँच भेद हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ।[4]

१. ग्यारह अंगों में प्रतिपादित प्रायश्चित्त को आगम व्यवहार कहते हैं ।

---

१. भगवती आराधना विजयोदया टीका ४५२.

२. जीतकल्पभाष्य गाथा ३००-३१८. (जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३ पृ० २०५.)

३. सव्वे वि तिण्णसंगा तित्थयरा केवल अणंतजिणा ।
छदुमत्थस्स विसोधिं दिसंति ते वि य सदा गुरुसयासे ।। भ० आ० ५२९.

४. क. आगमसुद आणा धारणा य जीवो य हुंति ववहारा ।
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिदिट्ठा ।। भगवती आराधना ४५१.
ख. अनगारधर्मामृत की ज्ञानदीपिका टीका ९।७८-७९ पृ० ६८२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. चौदह पूर्वों में प्रतिपादित प्रायश्चित्त को श्रुत कहते हैं।[1]

३. **आज्ञा**—जैसे कोई आचार्य समाधि लेना चाहते हैं किन्तु पैरों में चलने की शक्ति नहीं है तब वे देशान्तर में स्थित प्रायश्चित्त के ज्ञाता किसी अन्य आचार्य के पास अपने तुल्य ज्येष्ठ शिष्य को भेजकर और उसके मुख से अपने दोषों की आलोचना कराकर उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्त को यदि स्वीकार करते हैं तो यह आज्ञा व्यवहार है।

४. **धारणा**—वही अशक्त आचार्य दोष लगने पर वहीं रहते हुए पूर्व निश्चित प्रायश्चित्त यदि करते हैं तो वह धारणा व्यवहार है।

५. **जीत**—बहत्तर पुरुषों के स्वरूप को लेकर वर्तमान आचार्यों ने जो शास्त्र में कहा है कि वह जीत व्यवहार है।[2]

उपर्युक्त पाँच प्रकार के प्रायश्चित्त में से यदि आगम विद्यमान है तो आगम के अनुसार ही प्रायश्चित्त देना चाहिए। आगम न हो तो श्रुत के अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस प्रकार क्रमिक प्रायश्चित्त देने का विधान है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक आगमों में उपर्युक्त पाँच व्यवहार का विवेचन विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है।[3] वस्तुतः व्यवहार संचालन में आगमपुरुष का प्रथम स्थान है। उसकी अनुपस्थिति में श्रुतपुरुष व्यवहार का प्रवर्तन करता है। उसकी अनुपस्थिति में आज्ञापुरुष, उसकी अनुपस्थिति में धारणापुरुष और धारणापुरुष की अनुपस्थिति में जीत पुरुष व्यवहार का प्रवर्तन करता है।

१. **आगम व्यवहार**—व्यवहारभाष्य के अनुसार जो छत्तीस गुणों में कुशल, आचार आदि आलोचनार्ह आठ गुणों से युक्त, अठारह वर्णनीय स्थानों का ज्ञाता, दस प्रकार के प्रायश्चित्तों को जानने वाला, आलोचना के दस दोषों का विज्ञाता, व्रत षट्क और काय षट्क को जानने वाला तथा जो जातिसम्पन्न आदि दस गुणों से युक्त है—वह आगम व्यवहारी होता है।[4]

२. **श्रुत व्यवहार**—जो वृहत्कल्प और व्यवहार को बहुत पढ़ चुका है और उनको सूत्र तथा अर्थ की दृष्टि से निपुणता से जानता है, वह श्रुत व्यवहारी कहलाता है।[5]

---

१. भ० आ० की मूलाराधना टीका ४५१.
२. वही, ४५१ तथा अनगार धर्मामृत ज्ञानदीपिका टीका ९।७८-७९ पृ० ६८३.
३. पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—आगमे, सुते, आणा, धारणा, जीते। —स्थानांग ५।१२४. जीतकल्प भाष्य ७-१०९.
४. व्यवहार भाष्य गाथा ३२८-३३४.
५. वही गाथा ६०५-६०७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **आज्ञा व्यवहार**—कोई आचार्य भक्त प्रत्याख्यान अनशन में व्यापृत है। वे जीवनगत दोषों को शुद्धि हेतु अन्तिम आलोचना के आकांक्षी हैं। वे सोचते हैं—आलोचना देने वाले आचार्य दूरस्थ हैं। मैं अशक्त हूँ, अतः उनके पास नहीं जा सकता और वे यहाँ आने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति से आज्ञा व्यवहार का प्रयोग करके योग्य शिष्य के माध्यम से, दूरस्थ आचार्य से प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं।[1]

४. **धारणा व्यवहार**—किसी गीतार्थ आचार्य ने किसी समय किसी शिष्य के अपराध की शुद्धि के लिए जो प्रायश्चित्त किया हो, उसे याद रखकर, वैसी ही परिस्थिति में उसी प्रायश्चित्त विधि का उपयोग करना धारणा व्यवहार कहलाता है।[2] उद्धारणा (छेद सूत्रों से उद्धृत अर्थपदों को निपुणता से जानना), विधारणा (विशिष्ट अर्थपदों को स्मृति में धारण करना), संधारणा (धारण किये हुए अर्थपदों को आत्मसात् करना), और संप्रधारणा (पूर्ण रूप से अर्थपदों को धारण कर प्रायश्चित्त का विधान करना)—ये धारणा के ही पर्यायवाची शब्द हैं।[3]

५. **जीत व्यवहार**—किसी आचार्य के गच्छ में किसी कारणवश कोई सूत्रातिरिक्त प्रायश्चित्त प्रवर्तित हुआ और वह बहुतों द्वारा अनेक बार अनुवर्तित हुआ हो तो उस प्रायश्चित्त-विधि को 'जीत' कहा जाता है।[4] सामान्यतः किसी अपराध के लिए आचार्यों ने एक प्रकार का प्रायश्चित्त-विधान किया। दूसरे समय में देश, काल, धृति, संहनन, बल आदि देखकर उसी अपराध के लिए जो दूसरे प्रकार का प्रायश्चित्त-विधान किया जाता है, उसे जीत व्यवहार कहते हैं।[5] इसका मूल आधार आगमादि न होकर केवल परम्परा ही होती है अतः जिस जीत व्यवहार से चारित्र की शुद्धि होती हो उसी का आचरण करना चाहिए।

इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के आगमों और उनकी व्याख्याओं में व्यवहार के उपर्युक्त पाँच भेदों का विवेचन किया गया है।

भगवती आराधना में कहा है कि—सम्पूर्ण प्रायश्चित्त विधि को जानते हुए मुनि को अपनी उत्कृष्ट विशुद्धि के लिए पर की साक्षीपूर्वक शुद्धि करना चाहिए।

---

१. व्यवहार भाष्य उद्देश्यक १०, गाथा ६१०-६१५, ६२७, ६२८, ६६०-६६१, ६७३.

२. स्थानांग वृत्ति पत्र ३०२.

३. व्यवहारभाष्य उद्देश्यक १० गाथा ६७५-६७८.

४. स्थानांग वृत्ति पत्र संख्या ३०२.

५. ठाणं ५।१२४ की टिप्पण ८६, पृ० ६३३:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि अपनी और दूसरे की साक्षीपूर्वक विशुद्धि उत्कृष्ट मानी जाती है।[1] ऐसा न करने से सब केवल अपनी ही साक्षी पूर्वक शुद्धि करने लगेंगे और ऐसा करने पर वे शुद्ध नहीं हो सकेंगे। लोग प्रायः देखा-देखी करने वाले होते हैं। आचार्य आदि की साक्षी पूर्वक शुद्धि में माया-शल्य दूर होता है। मान कषाय जड़ से उखड़ जाती है। गुरुजन के प्रति आदर भाव व्यक्त होता है। उनके अधीन रहकर व्रताचरण करने से मोक्षमार्ग की ख्याति होती है।[2]

श्रमण और गृहस्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध

श्रमण जीवन लौकिक व्यवहारों से परे होता है किन्तु उनकी भिक्षाचर्या, वैयावृत्त्य आदि कार्य बिना गृहस्थों के नहीं सधते। अतः श्रमणों को गृहस्थों के साथ अपनी मर्यादाओं के अन्तर्गत सम्पर्क आवश्यक होता है। वट्टकेर ने सामायिक आवश्यक के प्रसंग में कहा है कि गृहस्थधर्म अपरम (जघन्य) है क्योंकि आरम्भ (हिंसा) आदि प्रवृत्तियों की प्रमुखता होने से यह संसार का कारणभूत है।[3] दशवैकालिक में कहा है कि गृहस्थ से परिचय या संसर्ग नहीं करना चाहिए।[4] क्योंकि स्नेह आदि दोषों की संभावना को ध्यान में रखकर गृहस्थ के साथ परिचय करने का निषेध किया है और कुशल-पक्ष की वृद्धि के लिए साधुओं के साथ संसर्ग रखने का उपदेश किया है।[5]

असंयत जन, माता-पिता, असंयत गुरु, राजा, अन्य तीर्थ या देशविरत श्रावक, यक्षादि देव तथा पार्श्वस्थादि पाँच प्रकार के पाप श्रमणों की विरत मुनि को वन्दना नहीं करने का विधान है।[6] दशवैकालिक के अनुसार साधु गृहस्थ की वैयावृत्त्य न करे। अभिनन्दन, वंदन और पूजन न करे। मुनि संक्लेश-रहित साधुओं के साथ रहे जिससे कि चरित्र की हानि न हो।[7] भगवती आराधना में श्रमण को मिथ्यादृष्टि जनों के साथ मौन रहने तथा शान्त परिणामी मिथ्यादृष्टि जनों या स्वजनों के साथ अल्प-भाषण करने अथवा न बोलने का

१. एवं जाणंतेण वि प्रायच्छित्तविधिमप्पणो सव्वं।
कादव्वादपरविसोधणाए परसक्खिगा सोधी॥ भ० आ० ५३१.
२. वही, विजयोदया टीका ५३१, ५३६.
३. गिहत्थधम्मोऽपरमत्ति णिच्चा कुज्जा वुधो अप्पहियं पसत्थं। मूलाचार ७।१३.
४. गिहिसंथवं न कुज्जा—दशवै० ८।५२.
५. दशवै० हारिभद्रीय टीका पत्र २३७.
६. णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंद अण्णतित्थं व।
देसविरद देवं वा विरदो पासत्थपणगं वा॥ मूलाचार ७।९५.
७. दशवैकालिक द्वितीय चूलिका गाथा ९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्देश है। स्वजनों से इसलिए बोले कि मेरे वचन सुनकर सम्यग्दर्शन आदि को ग्रहण करेंगे। यदि ऐसी सम्भावना हो तब धर्म का उपदेश दे, नहीं तो मौन ही रहे।[1] रयणसार में कहा है लौकिक जनों की संगति से अत्यन्त वाचालता की प्रवृत्ति होती है तथा वह कुटिल और दुर्भावनायुक्त हो जाता है। इसलिए मन-वचन-काय से देखभाल कर लौकिक जनों की संगति छोड़ देना चाहिए।[2] विरत मुनि को गृहस्थ की वंदना न करने का विधान है किन्तु ज्येष्ठ और लघु मुनियों तथा आर्यिकाओं की तरह मुनि को योग्य गृहस्थों की भी अप्रमत्त भाव से यथायोग्य वाचिक और मानसिक विनय करने का उल्लेख है।[3] अतः अपने को श्रेष्ठ समझ छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष, आदि गृहस्थों का कभी तिरस्कार भी नहीं करना चाहिए।[4]

तरुण श्रमण को युवा स्त्री के साथ कथा व हास्यादि मिश्रित वार्तालाप का कड़ा निषेध किया है। इसका उल्लंघन करने पर आज्ञाकोप, अनवस्था (मूल ही का विनाश), मिथ्यात्व-आराधन, आत्मनाश और संयम विराधना—इन पाँच दोषों का भागी होना पड़ता है।[5] जो श्रमण महिला वर्ग तथा गृहस्थों एवं शिष्यों से राग करता है तथा निर्दोष प्राणियों को दोष लगाता है स्वयं दर्शन एवं ज्ञान से रहित है, उसे तिर्यञ्च योनि का पशु कहा गया है।[6] श्रमण को केवल स्वाध्यायभावना में आसक्त होकर, परोपदेश देकर, स्व-पर समुद्धार, जिनाज्ञा का पालन, वात्सल्य, प्रभावना, जिन वचनों में भक्ति तथा तीर्थ की अव्युच्छित्ति जैसे शुभ कार्यों एवं गुणों में प्रवृत्त रहना चाहिए[7] और जहाँ तक इन गुणों में दूषण की सम्भावना न हो वहीं तक श्रावकों के साथ उनका सम्बन्ध रहना चाहिए।

वस्तुतः मुनि, आर्यिका तथा श्रावक, श्राविका रूप संघ में श्रमण और श्रावक दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों ही जैन धर्म के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। अतः श्रावक के साथ मुनि का सम्पर्क आहार चर्या, वैयावृत्य, धर्मोपदेश आदि के समय होना स्वाभाविक है किन्तु यह सम्पर्क 'लक्ष्य की एकता' के कारण है।

१. भ० आ० १७४. विजयोदया टीका सहित।
२. रयणसार ४२.
३. मूलाचार ५।१८७.
४. दशवैकालिक ८।२१।५२.
५. मूलाचार ४।१७९.
६. लिंग पाहुड १७-१८.
७. भगवती आराधना १११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः ऐसा निरपेक्ष व्यवहार या सम्पर्क रखना चाहिए जिससे अपने धर्म की साधना में किञ्चित् मात्र भी बाधा न पहुँचे। क्योंकि असावधानीवश धार्मिकता के बहाने संसार के प्रपञ्च में प्रवेश और झुकाव हो सकता है। और यह भी तथ्य है कि श्रमणों में सांसारिक आकर्षण प्रथमतः सांसारिकजनों के निमित्त से भी बढ़ते हैं।

श्रावक द्वारा आहार दान :—चार प्रकार के दान हैं—आहार, औषधि, शास्त्र (ज्ञान) और अभय। सागार-धर्मामृत में कहा है कि मुनियों को तप तथा श्रुतज्ञान में उपकारक निर्दोष आहार, औषधि, वसतिका और शास्त्र आदि अर्थात् पिच्छी, कमण्डलु आदि देकर उपकृत करना चाहिए।[1] इन चारों वस्तुओं को देने से चार प्रकार का वैयावृत्य होता है।[2] यद्यपि श्रेष्ठता की दृष्टि से गृहस्थ धर्म की अपेक्षा श्रमण धर्म ही श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि मानव जीवन का लक्ष्य है—आत्म कल्याण पूर्वक मुक्ति प्राप्ति और बिना श्रमण वेश धारण किये यह सम्भव नहीं है। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक का यह प्रथम मनोरथ होता है कि "मैं कब घर छोड़कर श्रमण बनूँ"।[3] और उत्तम श्रावक अपने इस मनोरथ को इसी जीवन में पूरा करने हेतु प्रयत्न करता है। फिर भी गृहस्थाश्रम की अपनी महत्ता है। श्रमण का जीवन व्यवहार बाह्य रूप में गृहस्थों के आधार पर चलता है। महाभारत में भी कहा है जैसे सभी जीव माता का सहारा लेकर जीवन यापन करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रम का आश्रय लेकर ही जीवन यापन करते हैं।[4] क्योंकि स्व-पर कल्याण के लिए अपने शरीर का भरण-पोषण आवश्यक है और उसकी पूर्ति गृहस्थ द्वारा प्रदत्त आहार दान से होती है। श्रमण निर्दोष भिक्षावृत्ति पर निर्भर है। पूर्णतः अपरिग्रही श्रमण को स्वयं आहार निर्माण के उपक्रम का विधान नहीं है क्योंकि जो पचन-पाचन अथवा उसकी अनुमोदना करके तथा षट्काय के जीवों का घात करके अधःकर्म से बना आहार लेता है वह अज्ञानी, लोभी श्रमण जिह्वेन्द्रिय के वशीभूत होकर न तो

---

१. तपःश्रुतोपयोगीनि निरवद्यानि भक्तितः।
मुनिभ्योऽन्नौषधावासपुस्तकादीनि कल्पयेत् ॥ सागारधर्मामृत २।६९.

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ११७.

३. कया णं अहं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारितं पव्वइस्सामि।
—स्थानांग ३।४।२१०. ठाणं पृष्ठ २५७

४. यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
यथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः॥
—महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण पद के योग्य है और न श्रावक पद के योग्य है।[1] तथा जो श्रमण जहाँ चाहे या जिस किसी स्थान पर उपलब्ध आहार, उपधि आदि ग्रहण कर लेता है वह श्रमण के गुणों से रहित संसार को बढ़ाने वाला है।[2] अतः श्रमण को अपने धर्म के अनुरूप ही आहार आदि सम्बन्धी प्रवृत्ति करना चाहिए। ताकि श्रमण धर्म और श्रावक-धर्म—दोनों की सार्थकता और महत्ता बनी रहे।

श्रमण का शरीर अस्वस्थ हो जाय तो श्रावक औषध, पथ्य, भोजन और जल द्वारा मर्यादा के अनुसार श्रमण के शरीर को व्रतपरिपालन के योग्य स्वस्थ करने का प्रयत्न करता है। इसलिए कहा जाता है कि श्रमणों का धर्म उत्तम श्रावक के निमित्त से ही चलता है।[3] मनुस्मृति में कहा है—जिस प्रकार वायु के सहारे सब जीव जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ के सहारे अन्य आश्रम रहते हैं।[4] भिक्षा में जो अन्न दिया जाता है यदि वह आहार लेने वाले श्रमण के तपश्चरण और स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला होता है तो वह द्रव्य की विशेषता कहलाती है।[5] आहारदान से तीन दान सिद्ध होते हैं—आहारदान, ज्ञानदान और अभयदान। क्योंकि प्राणियों को भूख, प्यास रूप व्याधि प्रतिदिन होती है, किन्तु आहार के बल से ही श्रमण रात-दिन शास्त्र का अभ्यास करता है और प्राणों की भी रक्षा।[6] अतः प्रासुक अन्न तथा उपधि—इन दोनों को जो (गृहस्थ) आत्मशुद्धिपूर्वक देता है, तथा जो ग्रहण करता है उन दोनों को महान् फल प्राप्त होता है।[7]

श्रावक को श्रमण के लिए दान देने की नौ विधियाँ हैं—श्रमण को ठहराना, उच्च आसन पर बैठाना, पैर धोना, पूजा स्तुति करना और प्रणाम करना—ये पाँच तथा मन, वचन, काय और आहार की शुद्धता ये चार।[8] शीत, उष्ण, वायु, श्लेष्म इन प्रकृतियों में उसकी कौन सी प्रकृति है? कायोत्सर्ग या गमना-

---

१. मूलाचार १०।३६, ३५, ४१.
२. मूलाचार १०।४०.
३. पद्मनन्दि पंचविंशतिका ७।९-१०.
४. यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते इतराश्रमः॥ मनुस्मृति ३.७७.
५. चारित्रसार २८.
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा ३६३-३६४.
७. फासुगदाणं फासुगउवधिं तह दो वि अत्तसोधिए।
जो देदि जो य गिण्हदि दोण्हं पि महप्फलं होइ॥ मूलाचार १०।४५.
८. वसुनन्दि श्रावकाचार २२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गमन से कितना परिश्रम हुआ है ? शरीर में ज्वरादि पीड़ा तो नहीं है ? उपवास से कण्ठ शुष्क तो नहीं है ? इत्यादि बातों का विचार करके उसके उपचार स्वरूप श्रावक को दान देना चाहिए। हित-मित, प्रासुक अन्न-पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण आदि दान योग्य वस्तुएँ हैं।[1]

श्रमण को आहारार्थ श्रावक के घर जाकर बैठना ठीक नहीं है।[2] ऐसा व्यवहार भी नहीं करना चाहिए कि आहार में दोष उत्पन्न हों। श्रावक को मंजन, मंडन, क्रीडन आदि का उपदेश देकर, परदेश का समाचार कहकर, मसा, तिल आदि अष्टांगनिमित्त बताकर, अपनी जाति, कुल, तपश्चर्यादि बताकर, अनुकूल वचन कहकर, औषधि बताकर, क्रोध, मान, माया, और लोभ से, दाता की पूर्व प्रशंसा एवं पश्चात् स्तुति करके, आकाशगामिनी-विद्या, सर्प-विच्छू आदि के मंत्र सिखाकर, शरीर शुद्धि हेतु चूर्ण आदि बताकर और किसी को वश में करने की युक्ति बताकर आहार ग्रहण करने से या भिक्षा प्राप्त करने से आहार के उत्पादन दोषों का उस श्रमण को भागी बनना पड़ता है।[3]

श्रमण के दस स्थितिकल्प :

शास्त्रसम्मत साधु समाचार को कल्प (कप्प) कहते हैं तथा उस कल्प में स्थिति को स्थितिकल्प कहते हैं। साधु का आचार, विचार, मर्यादा, नीति, सामाचारी तथा इनके नियम, विधि—ये कल्प शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं। इस प्रकार संयममार्ग में प्रवृत्ति करने वाले जिससे समर्थ बनते हैं उसे कल्प कहते हैं।[4] सामर्थ्य, वर्णना, काल, छेदन, करण, औपम्य और अधिवास—इन अर्थों में भी कल्प शब्द प्रयुक्त होता है।[5] वसुनन्दि ने कल्प शब्द का "विकल्प" अर्थ किया है।[6] वैदिक परम्परा में आचार के नियमों के लिए कल्प शब्द का प्रयोग किया गया है। जैन परम्परा में साधु के आचार को कल्प कहते हैं।

कल्प के अनेक प्रकार से भेद-प्रभेदों का विवेचन किया गया है। कल्प के

---

१. रयणसार—२३-२४.
२. भगवती आराधना वि० टी० ६०९, पृ० ८०७.
३. मूलाचार ६।२८-४१.
४. कल्पन्ते—समर्था भवन्ति संयमाध्वनि प्रवर्तमाना अनेनेति कल्पः—कल्पसूत्र कल्पलता टीका (आ० घासीलालकृत) का मंगलाचरण पृष्ठ ६-७.
५. सामत्थे वण्णणा काले छेयणे करणे तहा।
ओवम्मे अहिवासे य कप्पसद्दो वियाहिओ॥ पञ्चकल्प महाभाष्य १५४.
६. कल्पो विकल्पः—मूलाचार टीका १०।१८ पृ० १०५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो भेद भी किये गये हैं—जिनकल्प और स्थविर कल्प। शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों में कल्प के इन भेदों का उल्लेख कम मिलता है किन्तु अर्धमागधी प्राकृत के ग्रन्थों में इन भेदों का विस्तृत विवेचन मिलता है। दिगम्बर परम्परा के देवसेन विरचित भावसंग्रह में इन भेदों का विवेचन इस प्रकार है—

१. **जिनकल्प**—जो उत्तम संहननधारी हैं, पैर में काँटा लग जाने अथवा आँखों में धूल आदि गिर जाने पर स्वयं नहीं निकालते किन्तु कोई निकालता है तो मौन रहते हैं। वर्षा में गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार पूर्वक कायोत्सर्ग में स्थित हो जाते हैं। ग्यारह अंगधारी ये धर्मध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर रहते हैं। सम्पूर्ण कषायों के त्यागी, मौनव्रती और गुफाओं में ठहरने वाले होते हैं। जो बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह और स्नेह रहित होते हैं—ऐसे वाग्गुप्त एवं निस्पृही यतिपति विचरण करते हुए "जिन" के समान होने से जिनकल्प में स्थित कहलाते हैं।[1]

२. **स्थविर कल्प**—भावसंग्रह में कहा है—अनगार मुनियों का स्थविर-कल्प भी भगवान् जिनेन्द्रदेव ने प्रतिपादित किया है। जो पाँच प्रकार के चेल अर्थात् वस्त्र का त्याग करता है, अकिंचनवृत्ति, प्रतिलेखन-पिच्छिका ग्रहण, पंच-महाव्रत धारण, स्थित भोजन, एकभक्त, श्रावक द्वारा दिया गया भोजन करपात्र में ग्रहण करना, अयाचकवृत्ति, बारह तपों में सदा उद्युक्त, षडावश्यकों का सदा पालन, क्षितिशियन, केशलोंच, जिनवर की मुद्रा धारण, संहनन की अपेक्षा से इस दुषमा काल में पुर, नगर, ग्राम में निवास—इन सब चर्याओं को करने वाले स्थविर कल्प स्थित साधु कहे जाते हैं। जिससे चर्या (चारित्र) का भंग न हो ऐसे ही उपकरण ग्रहण करते हैं। साधु समुदाय अर्थात् संघ सहित विहार करते तथा अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-प्रभावना करते हुए भव्य जीवों को धर्मोपदेश एवं शिष्यों का ग्रहण और पालन करते हैं। आगे बताया है कि इस दुःषम काल में शरीर संहनन और गुणों की क्षीणता के कारण मुनि नगर, पुर, और ग्राम में रहने लगे हैं फिर भी तप की प्रभावना करते हुए ये धीर-वीर पुरुष महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साही हैं।[2]

---

१. दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
जो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स॥
जत्थ य कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का॥
.....जिण इव विहरन्ति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा॥
—भावसंग्रह गाथा ११९-१२३.

२. थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर परम्परा में कहा है कि जो संघ में रहकर साधना करते हैं, उनकी आचार-मर्यादा को स्थविरकल्प स्थिति कहा जाता है। सत्रह प्रकार के संयम का पालन, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की परम्परा का विच्छेद न होने देना, इसके लिए शिष्यों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र में निपुण करना तथा वृद्धावस्था में जंघाबल क्षीण होने पर स्थिरवास करना—ये सब स्थविरकल्प के मुख्य अंग हैं।[1] जिनकल्प स्थिति से तात्पर्य यह कि जो विशेष साधना के लिए संघ से अलग होकर रहते हैं उनकी आचार-मर्यादा को जिनकल्पस्थिति कहा जाता है। ये अकेले रहते हैं, शारीरिक शक्ति, मानसिक दृढ़ता से सम्पन्न, धृतिमान और अच्छे संहनन से युक्त होते हैं। वे सभी प्रकार के उपसर्ग सहने में समर्थ तथा परिषहों का सामना करने में निडर रहते हैं।[2] कल्पसूत्र टीका में कहा है काल की दृष्टि से इस पाँचवें आरे (पंचम काल) में जिनकल्प विच्छिन्न है।[3]

दिगम्बर और श्वेताम्बर[4] दोनों ही जैन परम्पराओं में श्रमण के निम्नलिखित दस स्थितिकल्पों का विवेचन प्राप्त होता है—

अच्चेलकुद्देसिय सेज्जाहररायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समण[5] कप्पो[6] ॥

आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर (शय्याधर, शय्यागृह) पिंड त्याग, राजपिंड त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास तथा पर्या (पर्युषण)—ये दस कल्प

पंचमहव्वयधरणं ठिदिभोयण एयपत्त करपत्तो।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥
.....संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह विहु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण उच्छरिया ॥
—भावसंग्रह गाथा १२४-१३१.

१. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ६४८५.
२. वही गाथा ६४८४; वृत्ति सहित।
३. कल्पसूत्र (आ० घासीलाल जी महाराजकृत टीका १) पृष्ठ ९-१०.
४. (क) आचेलक्कं उद्देसियं सिज्जायरपिंडे रायपिंडे किइकम्मे महव्वए पज्जायजेट्ठे, पडिक्कमणे मासनिवासे पज्जोसवणा—कल्पसूत्र सूत्र १ पृ० ८.
(ख) आचेलक्कुद्देसिय सिज्जायर—रायपिंड—किइकम्मे।
वय—जेट्ठ—पडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पे ॥ आवश्यक निर्युक्ति १२१.
५. मूलाचार की हस्तलिखित कारंजा वाली प्रति तथा भ० आ० ४२१ में "पज्जोसवणकप्पो" पाठ है।
६. मूलाचार १०।१८. भ० आ० ४२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। भगवती आराधना में इन दस स्थिति कल्पों को आचार्य के आचारवत्त्व गुण के वर्णन प्रसंग में इनका उल्लेख करते हुए कहा है कि जो इन दस स्थितिकल्पों में सम्यक् स्थित है वह आचारवान् है।[1] अनगार धर्मामृत में आचार्य के छत्तीस गुणों (आचारवान् आदि आठ, बारह तप, दस स्थितिकल्प तथा छह आवश्यक)[2] के अन्तर्गत इन कल्पों की गणना की गई है। जबकि मूलाचार और श्वेताम्बर परम्परा में सर्वसाधारण श्रमणों के लिए इन कल्पों का उल्लेख है।[3]

उपर्युक्त दस स्थितिकल्पों को स्थित और अस्थित—इन दो भेदों में भी विभाजित किया गया है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के प्रायः प्रमुख ग्रन्थों में इन दो भेदों का उल्लेख नहीं मिलता। शय्यातर पिंड, व्रत, ज्येष्ठ, और कृतिकर्म—ये चार कल्प 'स्थित' तथा आचेलक्य, औद्देशिक, प्रतिक्रमण, राजपिंड, मास और पर्युषणा—ये छह कल्प 'अस्थित' कल्प के अन्तर्गत हैं।[4] भगवती सूत्र में कल्प सामान्य के ही स्थित और अस्थित—ये दो भेद माने गये हैं।[5]

सभी तीर्थंकरों के समय में सभी साधु अनिवार्य रूप से 'स्थित' कल्पों का पालन करते हैं तथा शेष छह 'अस्थित' कल्पों का पालन प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों को छोड़कर शेष मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधु तथा विदेह के साधु इन्हें पालते भी हैं और नहीं भी पालते हैं। इसीलिए ये 'अस्थित' कल्प कहे जाते हैं।[6] भगवान् पार्श्व के समय में सामायिक संयम की व्यवस्था थी किन्तु भ० महावीर ने उसके स्थान पर छेदोपस्थापनीय संयम की व्यवस्था की। इस दृष्टि से भ० पार्श्व के समय पूर्वोक्त चार कल्प अनिवार्य तथा शेष छह कल्प ऐच्छिक होते हैं। यह सामायिक संयम की मर्यादा है। भ० महावीर ने उक्त दस कल्पों को श्रमण के लिए अनिवार्य बना दिया। फलतः छेदोपस्थापनीय संयम की मर्यादा में से दसों कल्प अनिवार्य हो गये।[7]

---

१. दसविह ठिदिकप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सायरिओ—भ० आ० ४२०.

२. अनगार धर्मामृत ९।७६.

३. (क) मूलाचार १०।१८.
(ख) आवश्यक निर्युक्ति मलयगिरि वृत्ति—१२१, बृहत्कल्पभाष्य ६३-६४, पञ्चाशक विवरण १७.

४. पञ्चाशक प्रकरण १७।७-९.

५. भगवती २५।६।२९९:

६. देखें—अनगार धर्मामृत पृ० ६८५ का विशेषार्थ (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ११९७०)

७. ठाणं: टिप्पण ६।३९ पृ० ७०२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दस स्थिति कल्पों का विवेचन इस प्रकार है—

१. **अच्चेलक्क (आचेलक्य)** :—चेल शब्द वस्त्र का पर्यायवाची है। यहाँ चेल का ग्रहण परिग्रह का उपलक्षण है। अतः वस्त्रादि समस्त परिग्रह का त्याग आचेलक्य है।[1] कल्पसूत्र टीका में कहा है—जिसके चेल अर्थात् वस्त्र न हो वह अचेल तथा अचेल का भाव आचेलक्य या अचेलता है।[2] मूलाचार तथा भगवती आराधना में आचेलक्य, केशलुञ्चन, शरीर संस्कार एवं ममत्व त्याग, और प्रतिलेखन—ये चार प्रकार के लिंगकल्प (लिंग भेद) औत्सर्गिक लिंग में माने गये हैं।[3] आचेलक्य कल्प के कारण ही साधु निर्ग्रन्थ कहा जाता है। तथा इसी कल्प से दस धर्मों का पालन सुगमता से होता है।

चेल का उपलक्षण परिग्रह है जिसके निमित्त से क्रोध होता है और इसके अभाव में उत्तम क्षमा धर्म का पालन किया जा सकता है। इसी प्रकार से मार्दव आदि धर्मों का पालन होता है।[4] श्रमणों के लिए अचेलकत्व गुण मोक्ष-यात्रा के साधनभूत रत्नत्रय और गुणीपने का चिह्न है। इससे श्रावकों को दानादि में प्रवृत्ति भी होती है। आत्म-स्थिरता गुण उत्पन्न होता है। साथ ही गृहस्थों से भिन्नता दिखती है। परिग्रह का लाघव अप्रतिलेखन, गतभयत्व, सम्मूर्छन जीवों का बचाव और परिकर्म अर्थात् कार्यों का त्याग—ये सब गुण आचेलक्य कल्प में हैं।[5] स्थानांग सूत्र में पांच स्थानों पर आचेलक्य को प्रशस्त बताया है—१. अचेलक के प्रतिलेखना अल्प होती है। २. उसका लाघव प्रशस्त होता है। ३. उसका रूप (वेष) वैश्वासिक—विश्वास के योग्य होता है ४. उसका तप अनुज्ञात अर्थात् जिनानुमत होता है। तथा ५. उसके विपुल इन्द्रिय निग्रह होता है।[6] इस प्रकार श्रमण जीवन में आचेलक्य स्थितिकल्प का प्रमुख स्थान है।

---

१. (क) अचेलकत्वे वस्त्राद्यभावः—मूलाचार वृत्ति १०।१८.
(ख) चेलग्रहणं परिग्रहोपलक्षणं तेन सकलपरिग्रह त्याग: आचेलक्यमित्युच्यते—
—भगवती आराधना वि० टीका ४२१.

२. न विद्यते चेलं—वस्त्रं यस्यासौ अचेलकः तस्य भावः आचेलक्यम्।
—कल्पसूत्र टीका पृष्ठ २२.

३. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चतुव्विधो होदि उस्सग्गे॥ भ० आ० ७९.
—मूलाचार १०।१७.

४. भ० आ० वि० टीका ८२.

५. वही ८२-८३.

६. स्थानांग ५।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **उद्देसिय (औद्देशिक) त्याग**—श्रमणों के उद्देश्य से बनाया गया भोजनादि औद्देशिक कहलाता है। इस विषय में निर्दिष्ट आचार औद्देशिक कल्प है। श्रमण के उद्देश्य से बनाया गया आहार, वसतिका आदि के ग्रहण का उन्हें निषेध है।[1] क्योंकि औद्देशिक आहार के ग्रहण में अनेक दोष हैं। इसके ग्रहण से त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है अतः साधु को इस प्रकार का आहार कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए।[2]

३. **सेज्जाहर (शय्यागृह/शय्यातर) पिण्ड त्याग**—इस तृतीय कल्प से तात्पर्य है स्थानदाता से भक्तपान लेने का त्याग। जो वसतिका बनाता है, जो उसे सुसंस्कृत करता है तथा जो वसतिका न तो बनाता है और न सुसस्कृत करता है किन्तु मात्र वसति देते हुए कहता है कि यहाँ ठहरिये। ये तीनों शय्यातर कहलाते हैं। इनका पिण्ड अर्थात् भोजन, उपकरण आदि शय्यातर पिण्ड है तथा इनका पिण्ड ग्रहण न करना सेज्जाहर पिण्ड त्याग कल्प है। क्योंकि इनका पिण्ड ग्रहण करने से राग-द्वेषादि की उत्पत्ति होती है। चूँकि शय्यातर धर्मफल के लोभ से छिपाकर आहार आदि देने की योजना कर सकता है इससे औद्देशिक आहार ग्रहण का दोष आता है। अथवा जो दरिद्र या लोभी होने से पिण्ड देने में असमर्थ है वह लोक-निन्दा के भय से श्रमण को ठहरने के लिए वसतिका ही नहीं देगा। आहार और वसति देनेवाले पर यति का स्नेह भी हो सकता है कि इसने हमारा बहुत उपकार किया। किन्तु शय्यातर का पिण्ड ग्रहण न करने में ये दोष नहीं हैं।[3] सूत्रकृतांग में इसे "सागरिय पिण्ड" भी कहा है।[4] कल्पसूत्र टीका में कहा है कि शय्यातर के यहाँ से आहार आदि ग्रहण करना और उसका उपभोग करना साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता।[5] निशीथ भाष्य में शय्यातर से तात्पर्य श्रमण को शय्या (वसतिका) आदि देकर संसार-समुद्र को तैरने वाला गृहस्थ बतलाया है। इसके अशन, पान, खाद्य, स्वाद्यादि आहार तथा अन्य वस्तुओं को अकल्पनीय कहा है।[6]

४. **रायपिण्ड (राजपिण्ड) त्याग**:—राजा तथा राजा के सदृश जो भी

---

१. मूलाचार वृत्ति १०।१८.
२. भगवती आराधना वि० टी० ४२१, प्रश्नव्याकरण संवर द्वार १।५, सूत्रकृताङ्ग १।९।१४, उत्तरा०—२०।४७.
३. भ० अ० वि० टीका ४२१.
४. सूत्रकृतांग १।९।१६.
५. कल्पसूत्र, सूत्र ४ कल्पमंजरी टीका पृ० ३६.
६. निशीथ भाष्य गाथा ११।५१-५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाऋद्धिधारी हैं उनके यहाँ आहारादि का ग्रहण राजपिण्ड है।[1] राजपिण्ड का ग्रहण न करना राजपिण्डत्याग कल्प है। मूलाचारवृत्ति में कहा है कि जिस आहार से शरीर, बल और वीर्य उत्पन्न हो उस आहार का त्याग करना अथवा स्वार्थ के लिए दानशाला का आहार स्वीकार न करना राजपिण्ड त्याग है।[2] अपराजितसूरि ने राजपिण्ड ग्रहण में दो दोष बताये हैं—प्रथम आत्मसमुत्थ (स्वयंकृत) और द्वितीय परसमुत्थ (परकृत)। द्वितीय के दो भेद हैं मनुष्यकृत और तिर्यञ्चकृत। राजा के घर में तिर्यञ्च जीवों का काफी संग्रह रहता है। इससे उनके घर आहारार्थ जाने पर आत्मविपत्ति आ सकती है तथा सेवक, दास-दासी, योद्धा, कोतवाल आदि के बाहुल्य से वहाँ प्रवेश कठिन होता है। तथा मत्त,, प्रमत्त और हर्ष से उत्फुल्ल दास आदि यति को देखकर हँसते हैं, चिल्लाते हैं रोकते हैं, अवज्ञा करते हैं। वहाँ के वस्त्राभूषण आदि को दूसरे चुराकरके यह दोष लगा सकते हैं कि यहाँ साधु आये थे। राजा का श्रमणों पर विश्वास है ऐसा जानकर कुछ ईर्ष्यालु लोग श्रमण का रूप धारणकर दुष्ट काम कर सकते हैं और श्रमणों पर दोषारोपण कर सकते हैं।

राजकुल में आहार का शोधन नहीं होता। बिना देखा और छीना हुआ आहार ग्रहण करने से आत्मसमुत्थ दोष लगता है। सदोष आहार लेने से इंगाल दोष होता है। अन्यान्य दोष भी आते हैं अतः राजा के आहारादि ग्रहण का निषेध है। किन्तु यह भी कहा है कि कोई ऐसा कारण उपस्थित हो कि साधु का मरण बिना भोजन के होता हो और साधु के मरण से श्रुत का विच्छेद होता हो तो राजपिण्ड ले सकते हैं ताकि श्रुत का विच्छेद न हो।[3] रसलोलुपता से बचने के लिए भी इस चतुर्थकल्प का विधान है। एषणाशुद्धि इस कल्प की आत्मा है।

५. **किदिकम्मं (कृतिकर्म)** : चारित्र में स्थित साधु के द्वारा गुरुओं की विनय करना[4] अथवा स्वयं वन्दनादि कार्य में उद्योग करना कृतिकर्मकल्प है।[5] दीक्षा, संयम और सद्गुणों में ज्येष्ठ श्रमणों के आगमन पर अभ्युत्थानपूर्वक आदर करना, उन्हें बहुमान देना, उनके हितोपदेशों को श्रद्धा एवं नम्रभाव

---

१. भ० आ० वि० टीका ४२१.
२. मूलाचारवृत्ति १०।१८.
३. भ० आ० वि० टीका ४२१.
४. भगवती आराधना वि० टीका ४२१.
५. कृतिकर्मस्तेन वंदनादिकरणे उद्योगः—मूलाचारवृत्ति १०।१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकार करना कृतिकर्म कल्प है[1] चारित्र सम्पन्न मुनि को अपने गुरु और अपने से बड़े मुनियों की विनय एवं शुश्रूषा करना चाहिए।[2]

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमणों और श्रमणियों को कल्याण मंगल, धर्मदेव और ज्ञानस्वरूप पर्याय ज्येष्ठ को वन्दना करना, नमस्कार करना, सत्कार, सम्मान करना तथा उनकी उपासना करना कल्पता है।[3] साधुओं और साध्वियों को दीक्षा पर्याय की ज्येष्ठता के अनुसार कृतिकर्म (वन्दना) करना कल्प्य है। किन्तु साधुओं को साध्वियों का कृतिकर्म करना नहीं कल्पता। साध्वियों को साधुओं का कृतिकर्म करना कल्पता है। आचार्यों और उपाध्यायों को गण में पर्याय ज्येष्ठता के अनुसार कृतिकर्म करना और कराना कल्पता है। बहुसंख्यक साधुओं, गणावच्छेदकों, आचार्यों, उपाध्यायों को जो एक साथ विचरते हों उन्हें पर्याय ज्येष्ठता के अनुसार कृतिकर्म करना कल्पता है। इसी प्रकार स्थविरों, प्रवर्तकों, गणियों और गणधरों के विषय में भी समझना चाहिए।[4] साधुओं को साधुओं के प्रति और साध्वियों को साध्वियों के प्रति दीक्षा-पर्याय की ज्येष्ठता के अनुसार कृतिकर्म करना चाहिए। क्योंकि इससे चरण-करण-क्रिया में उपयोग रखने वाले मुनि अनेक भवों से संचित अनन्त कर्मों का क्षय करते हैं।[5]

६. वद (व्रत) कल्प : व्रत से तात्पर्य विरति[6] अर्थात् असत् प्रवृत्ति की विरति। जानकर और स्वीकार करके पापों से विरत होना व्रत है।[7] अकरण, निवृत्ति, उपरम, विरति[8] वृत्तिकरण, छादन और संवर—ये सब एकार्थक शब्द हैं।[9] अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों से आत्मा को सुसंस्कृत करना अर्थात् व्रतों में निश्चल रहना, उनके साथ आत्मा को जोड़ना अर्थात् विधिपूर्वक महाव्रतों का पालन करना व्रतकल्प है।[10] अपराजितसूरि ने कहा है जो आचेलक्य आदि पूर्वोक्त

---

१. कल्पसमर्थनम् गाथा १२ प० २.
२. भ० अ० वि० टीका ४२१.
३. कल्पसूत्र सूत्र ८ पृ० ६०.
४. कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका सहित सूत्र ६ पृ० ४१-४५.
५. वही पृ० ४८.
६. ....विरतिव्रतम्—तत्त्वार्थसूत्र ७।१.
७. णाऊण अब्भुवेच्चय पावाणं विरमणं वदं होई—भ० अ० वि० टीका ४२१ में उद्धृत गाथा।
८. तत्त्वार्थभाष्य ७।१.
९. भ० आ० वि० टीका ४२१.
१०. मूलाचारवृत्ति १०।१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी कल्पों को पालता है तथा जिसे सभी जीवों का स्वरूप मालूम हुआ है ऐसे मुनि को नियम से व्रत इस प्रकार देना चाहिए—गुरुजनों के स्वयं रहते हुए आचार्य स्वयं स्थित होकर सामने स्थित विरत स्त्रियों को श्रावक-श्राविका वर्ग को व्रत प्रदान करें तथा अपने बायीं ओर स्थित विरतों को व्रत प्रदान करे। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में रात्रिभोजनत्याग नामक छठे व्रत के साथ पाँच महाव्रत होते हैं।[1] वैसे भी यह कल्प सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में होता है।

७. **जेट्ठ (ज्येष्ठ) कल्प** : दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो बड़े हों उन्हें ज्येष्ठ कहते हैं तथा इनके लिए निर्मित विधि-विधान का नाम ज्येष्ठ कल्प है। मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत और संयतासंयत—इन गुण-स्थानों के कारण श्रमण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ अर्थात् सभी को पूज्य होते हैं। बहुकाल से दीक्षित आर्यिका से भी आज का दीक्षित श्रमण श्रेष्ठ और ज्येष्ठ माना जाता है।[2] पुरुष संग्रह, उपकार और रक्षण करता है। पुरुष ने जगत् में धर्म की स्थापना की है। अतः सभी आर्यिकायें श्रमण की विनय करती हैं।[3] कल्पसूत्र की कल्पलता टीका में उद्धत गाथा के अनुसार भी शतवर्ष की दीक्षिता आर्यिकाओं को आज का नवदीक्षित श्रमण भी वन्दनीय और पूज्य है।[4] इसी में कहा है 'नो कप्पइ निग्गंथाणं'—साधु को साध्वियों की वन्दना करना नहीं कल्पता। अपितु "कप्पइ निग्गंथीणं" साधुओं की वन्दना करना साध्वियों को कल्पता है।[5] साध्वी चाहे अल्पकाल की दीक्षित हो अथवा चिरकाल की, सभी साध्वियों को साधु की वन्दना करनी चाहिए, चाहे साधु चिरकाल का ही दीक्षित हो अथवा अल्पकाल का। क्योंकि सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में धर्म पुरुष-प्रधान होता है।[6]

वस्तुतः इस ज्येष्ठ कल्प के विधान का उद्देश्य यह है कि श्रमणों और श्रमणियों को परस्पर में यथायोग्य वन्दना करना चाहिए। आचार्य और उपाध्याय गण में स्थित साधुओं को पर्याय-ज्येष्ठता के अनुसार स्वयं वन्दना करें और दूसरों

---

१. भ० आ० वि० टीका ४२१.
२. मूलाचारवृत्ति १०।१८.
३. भ० आ० वि० टी० ४२१.
४. वरिससयदिक्खिआए अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदणनमं सणेण विणएण सो पुरुषो॥
५. कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका सूत्र ६ पृ० ४१-४५.
६. सव्वाहि संजईहि किइकम्मं संजयाण कायव्वं।
पुरिसुत्तरिओ धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि॥
—कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका सहित पृष्ठ ४४. स्थानांग टीका ६।५३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से करावें। यदि सम्पदा के अभिमान के कारण ऐसा नहीं करते-कराते तो गण में कलह उत्पन्न होता है और आचार्य–उपाध्याय का अपमान भी होता है।[1]

८. **पडिक्कमणं (प्रतिक्रमण) कल्प** :—अचेलकत्वादि कल्प में रहते हुए श्रमण को जो अतिचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण कल्प का विधान है।[2] दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमणों के द्वारा आत्मा का चिन्तन करना, संस्कार करना प्रतिक्रमण कल्प है।[3] साधु-साध्वियों को उभयकाल प्रतिक्रमण करना कल्पता है।[4] चौबीस तीर्थंकरों में से मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक नहीं। वे प्रतिक्रमण करते भी हैं और नहीं भी करते। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य सब प्रतिक्रमण दण्डकों को पढ़ते हैं अर्थात् अतिचार नहीं लगने पर भी उन्हें प्रतिक्रमण करना आवश्यक होता है।[5]

९. **मासं (मासस्थिति) कल्प** :—वर्षाकाल और ऋतुबद्धकाल—विहार की दृष्टि से वर्षा काल को इन दो भागों में विभक्त किया गया है। अतः वसन्त आदि छह ऋतुओं में से प्रत्येक ऋतु में एक मास पर्यन्त एक स्थान पर निवास करना और एक मास विहार करना मास अथवा मासैकतावासित्व कल्प है। वस्तुतः एक स्थान पर चिरकाल ठहरने पर नित्य ही उद्गम दोष लगता है। उसे टाला नहीं जा सकता। एक स्थान पर ही बहुत समय तक रहने से क्षेत्र प्रतिबद्धता, सुखशीलता, आलसीपना, सुकुमारता की भावना तथा ज्ञान, भिक्षा ग्रहण आदि दोष लगते हैं।[6]

मूलाचारवृत्ति में कहा है जहाँ वर्षायोग करना हो वहाँ की लोक-स्थिति जानने तथा अहिंसादि महाव्रतों के परिपालनार्थ वर्षायोग धारण करने के पूर्व उस स्थान में एक मास रहना तथा वर्षायोग समाप्ति के पश्चात् भी श्रावकों के अनुग्रह, विज्ञप्ति को देखते हुए उनके संक्लेश परिणामों के परिहरणार्थ वहाँ एक मास मात्र और ठहरना अथवा प्रत्येक ऋतु में एक माह ठहरना तथा एक माह विहार करना अथवा वर्षाकाल में योग-ग्रहण तथा चार-चार महीनों में नंदीश्वर, आष्टाह्निक

---

१. कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका सहित सूत्र ६ पृ० ४१-४५.
२. भ० आ० वि० टीका ४२१.
३. मूलाचार वृत्ति. १०।१८.
४. कल्पसूत्र सूत्र ९. पृ० ६२.
५. भ० आ० वि० टीका ४२१.
६. वही.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना मासश्रमण कल्प है।[1] वैसे साधारणतया मुनियों को निरन्तर विहार करने का विधान है और सामान्यतः वह ग्राम में एक रात्रि तथा नगरों में पांच रात्रि से अधिक नहीं ठहर सकता[2] किन्तु ऋतुबद्धकाल की दृष्टि से इस मासकल्प का विधान है।

१०. **पर्युषणा कल्प** :—मूलाचार में पज्जो (पर्या) कल्प से भी इसका उल्लेख है। वर्षाकाल के चार मास के लिए भ्रमण (विहार) का त्यागकर एक ही स्थान पर रहना पर्युषणा कल्प है।[3] मूलाचार वृत्तिकार के अनुसार पर्युपासना करना अर्थात् तीर्थंकरों के पंचकल्याणक स्थानों तथा निषद्यकाओं का सेवन करना पर्याकल्प है।[4] स्थानांग वृत्ति में पज्जोसवणा के संस्कृत रूप किये गये है— १. पर्यासवना—जिससे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी ऋतुबद्ध पर्यायों का परित्याग किया जाता है। २—पर्युपशमना—जिसमें कषायों का उपशमन किया जाता है। ३. पर्युषणा—जिसमें सर्वथा एक क्षेत्र में जघन्यतः सत्तरह दिन और उत्कृष्टतः छह माह ठहरा जाता है।[5] इस कल्प का उद्देश्य चातुर्मास (वर्षावास) में एक ही स्थान पर निवास करना है क्योंकि वर्षा ऋतु के समय पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवों से व्याप्त रहती है। अतः ऐसे समय विहार करने से महान् असंयम होता है। आत्म-विराधना की भी पदे-पदे सम्भावना रहती है। अतः पर्युषणा कल्प का विधान है।[6]

वर्षावास :

वर्षावास मुनिचर्या का अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण योग है। इसीलिए इसे वर्षायोग अथवा चातुर्मास भी कहा जाता है। श्रमण के पूर्वोक्त दस स्थितिकल्पों में अन्तिम पर्युषणा कल्प है। जिसके अनुसार वर्षा काल के चार महीने भ्रमण का त्याग करके एक स्थान पर रहने का विधान है।[7] वर्ष के बारह महीनों को मौसम की दृष्टि से प्रमुख तीन भागों में विभाजित किया गया है १. ग्रीष्म—

---

१. मूलाचार वृत्ति १०।१८.
२. मूलाचार ९।१९.
३. भ० आ० वि० टीका ४२१.
४. मूलाचार वृत्ति १०।१८.
५. स्थानांग वृत्ति १०।११५. पृ० ४८५.
६. भ० आ० वि० टीका ४२१.
७. वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः।
—भ० आ० वि० टी० ४२१, पृ० ६१८. मूलाचारवृत्ति १०।१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़। २. वर्षा—श्रावण, भाद्रपद, अश्विन तथा कार्तिक। ३. शीत—मार्गशीर्ष, पौष, माघ तथा फाल्गुन। यद्यपि ये तीनों ही विभाजन चार-चार माह के हैं किन्तु वर्षाकाल के चार महीनों का एकत्र नाम चातुर्मास, वर्षावास आदि रूप में प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर परम्परा में "पर्युषणा कल्प" नाम से वर्षावास का वर्णन प्राप्त होता है। बृहत्कल्पभाष्य में इसे 'संवत्सर' कहा गया है।[1] वस्तुतः वर्षाकाल में आकाश मण्डल में घटाएँ छायी रहती हैं तथा प्रायः वर्षा भी निरन्तर होती रहती है। इससे यत्र-तत्र भ्रमण या विहार के मार्ग रुक जाते हैं, नदी, नाले उमड़ पड़ते हैं। वनस्पतिकाय आदि हरित्काय मार्गों और मैदानों में फैल जाती है। सूक्ष्म-स्थूल जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं। अतः किसी भी परजीव की विराधना और आत्म विराधना (घात) से बचने के लिए श्रमण धर्म में वर्षा काल में एकत्र-वास का विधान किया गया है। यही समय एक स्थान पर स्थिर रहने का सबसे उत्कृष्ट समय होता है। श्रमण और श्रावक—दोनों के लिए इस चातुर्मास का धार्मिक तथा आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से महत्त्व है। इसीलिए श्रमण या उनके संघ के चातुर्मास (वर्षा योग) को श्रावक उसी प्रकार प्रिय और हितकारी अनुभव करते हैं जिस प्रकार चकवा चन्द्रोदय को, कमल सूर्य को और मयूर मेघोदय को।

वर्षावास का औचित्य—अपराजितसूरि ने कहा है कि वर्षाकाल में स्थावर और जंगम सभी प्रकार के जीवों से यह पृथ्वी व्याप्त रहती है। उस समय भ्रमण करने पर महान् असंयम होता है। वर्षा और शीत वायु (झंझावात) से आत्मा की विराधना होती है। वापी आदि जलाशयों में गिरने का भय रहता है। जलादि में छिपे हुए ठूँठ, कण्टक आदि से अथवा जल, कीचड़ आदि से कष्ट पहुँचता है।[2] आचारांग में कहा है वर्षाकाल आ जाने पर तथा वर्षा हो जाने से तथा बहुत से प्राणी उत्पन्न हो जाते हैं, बहुत से बीज अंकुरित हो जाते हैं। मार्गों में बहुत से प्राणी एवं बीज उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत हरियाली उत्पन्न हो जाती है। ओस और पानी बहुत स्थानों में भर जाता है। काई आदि स्थान-स्थान पर व्याप्त हो जाती है। बहुत से स्थानों पर कीचड़ या पानी से मिट्टी गीली हो जाती है। मार्ग रुक जाते हैं, मार्ग पर चला नहीं जा सकता। मार्ग सूझता नहीं है अतः इन परिस्थितियों को देखकर मुनि को वर्षा काल में एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार नहीं करना चाहिए। अपितु वर्षाकाल में

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १।३६.

२. भ० आ० वि० टीका ४२१ पृ० ६१८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथावसर प्राप्त वसति में ही संयत रहकर वर्षावास व्यतीत करें।[1] बृहत्कल्पभाष्य के अनुसार वर्षावास में गमन करने से षट्कायिक जीवों का घात तो होता ही है साथ ही वृक्ष की शाखा आदि सिर पर गिरने, कीचड़ में रपट जाने, नदी में बह जाने, काँटा आदि लगने के भय रहते हैं।[2]

श्रमण को प्रत्येक कल्पनीय कार्य करते समय अहिंसा और विवेक की दृष्टि रखना अनिवार्य है। वर्षाकाल में विहार करते रहने में अनेक बाधाओं के साथ ही जीव-हिंसा की बहुलता सदा रहती है इसीलिए वर्षाकाल के चार माह तक एक स्थान पर स्थिर रहकर वर्षायोग धारण का विधान है। इस प्रकार जैन परम्परा के साथ ही प्रायः सभी भारतीय परम्पराओं के धर्मों में साधुओं को वर्षाकाल के चार माह में एक स्थान पर स्थित रहकर धर्म-साधन करने का विधान है।

वर्षायोग ग्रहण एवं उसकी समाप्ति की विधि :—यद्यपि मूलाचार आदि प्राचीन ग्रन्थों में वर्षायोग ग्रहण आदि की विधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु उत्तरवर्ती ग्रन्थ अनगार धर्मामृत में कहा है कि आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम पहर में पूर्व आदि चारों दिशाओं में प्रदक्षिणा क्रम से लघु चैत्यभक्ति चार बार पढ़कर सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्ति-भक्ति करते हुए आचार्य आदि साधुओं को वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए। तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के पिछले पहर में इसी विधि से वर्षायोग को छोड़ना चाहिए।[3] आगे बताया है कि वर्षायोग के सिवाय अन्य हेमन्त आदि ऋतुओं में अर्थात् ऋतुबद्ध काल में श्रमणों का एक स्थान में एक मास तक रुकने का विधान है। जहाँ चातुर्मास करना अभीष्ट हो वहाँ आषाढ़ मास में वर्षा-योग के स्थान पर पहुँच जाना चाहिए। तथा मार्गशीर्ष महीना बीतने पर वर्षा-योग के स्थान को छोड़ देना चाहिए। कितना ही प्रयोजन होने पर भी वर्षा योग के स्थान में श्रावण कृष्णा चतुर्थी तक अवश्य पहुँच जाना चाहिए। इस तिथि का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। तथा कितना ही प्रयोजन होने पर भी कार्तिक शुक्ला पंचमी तक वर्षा योग के स्थान से अन्य स्थान को नहीं जाना चाहिए। यदि किसी दुर्निवार उपसर्ग आदि के कारण वर्षायोग के उक्त प्रयोग में अतिक्रम करना पड़े तो साधु को प्रायश्चित्त लेना चाहिए।[4]

---

१. आचारांग सूत्र २।३।१।१११.
२. बृहत्कल्पभाष्य भाग ३ गाथा २७३६-२७३७.
३. अनगार धर्मामृत ९।६६-६७.
४. अनगार धर्मामृत ९।६८-६९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्षायोग धारण के विषय में श्वेताम्बर परम्परा के कल्पसूत्र में कहा है कि मासकल्प से विचरते हुए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को आषाढ़ मास की पूर्णिमा को चातुर्मास के लिए वसना कल्पता है। क्योंकि निश्चय ही वर्षाकाल मे मास-कल्प विहार से विचरने वाले साधुओं और साध्वियों के द्वारा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की विराधना होती है।[1] कल्पसूत्रनिर्युक्ति में भी कहा है कि आषाढ़ मास की पूर्णिमा तक नियत स्थान पर पहुँचकर श्रावण कृष्ण पंचमी से वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए। उपयुक्त क्षेत्र न मिलने पर श्रावण कृष्ण दसमी से पाँच-पाँच दिन बढ़ाते-बढ़ाते भाद्र शुक्ल पंचमी तक तो निश्चित ही वर्षावास प्रारम्भ कर देना चाहिए, फिर चाहे वृक्ष के नीचे ही क्यों न रहना पड़े। किन्तु इस तिथि का उल्लंघन नहीं होना चाहिए।[2]

वर्षावास का समय :

सामान्यतः आषाढ़ से कार्तिक पूर्वपक्ष तक का समय वर्षा और वर्षा से उत्पन्न जीव-जीवाणुओं तथा अनन्त प्रकार के तृण, घास और जन्तुओं के पूर्ण परिपाक का समय रहता है। इसीलिए चातुर्मास (वर्षावास) की अवधि आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि से आरम्भ होकर कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की पश्चिम रात्रि तक मानी जाती है।

वर्षावास के समय में एक सौ बीस दिन तक एक स्थान पर रहना उत्सर्ग मार्ग है। विशेष कारण होने पर अधिक और कम दिन भी ठहर सकते हैं।[3] अर्थात् आषाढ़ शुक्ला दसमी से चातुर्मास करने वाले कार्तिक की पूर्णमासी के बाद तीस दिन तक आगे भी सकारण एक स्थान पर ठहर सकते हैं। अधिक ठहरने के प्रयोजनों में वर्षा की अधिकता, शास्त्राभ्यास, शक्ति का अभाव अथवा किसी की वैयावृत्य करना आदि हैं।[4] आचारांग में भी कहा है कि वर्षाकाल के चार माह बीत जाने पर अवश्य विहार कर देना चाहिए, यह तो श्रमण का उत्सर्ग मार्ग है। फिर भी यदि कार्तिक मास में पुनः वर्षा हो जाए और मार्ग आवागमन के योग्य न रहे तो चातुर्मास के पश्चात् वहाँ पन्द्रह दिन और रह सकते हैं।[5]

समय की दृष्टि से वर्षावास के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन भेद

---

१. कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा एवं विहेणं विहाररेणं विहरमाणाणं आसाढपुण्णिमाए वासावासं वसित्तए—कल्पसूत्र : सूत्र १७ पृ० ७४ (कल्प-मंजरी टीका सहित।

२. कल्पसूत्र निर्युक्ति गाथा १६, कल्पसूत्र चूर्णि पृ० ८९.

३. भ० आ० वि० टीका ४२१. ४. वही.

५. आचारांग २।३।१।११३ पृ० १०६४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताये हैं।[1] इनमें सांवत्सरिक प्रतिक्रमण (भाद्रपद शुक्ला पंचमी) से कार्तिक पूर्णमासी तक सत्तर दिनों का जघन्य वर्षावास कहा जाता है। श्रावण से कार्तिक तक—चार माह का मध्यम चातुर्मास है तथा आषाढ़ से मृगसर तक छह माह का उत्कृष्ट वर्षावास कहलाता है। इसके अन्तर्गत आषाढ़ बिताकर वहीं चातुर्मास करें और मार्गशीर्ष में भी वर्षा चालू रहने पर उसे वहीं बितायें।[1] स्थानांग वृत्ति मे कहा है कि प्रथम प्रावृट् (आषाढ़) में और पर्युषणा कल्प के द्वारा निवास करने पर विहार न किया जाए। क्योंकि पर्युषणाकल्प पूर्वक निवास करने के बाद भाद्र शुक्ला पंचमी से कार्तिक तक साधारणतः विहार नहीं किया जा सकता किन्तु पूर्ववर्ती पचास दिनों में उपयुक्त सामग्री के अभाव में विहार कर भी सकते हैं।[2]

बृहत्कल्पभाष्य में वर्षावास समाप्त कर विहार करने के समय के विषय में कहा है कि जब ईख बाड़ों के बाहर निकलने लगें, तुम्बियों में छोटे-छोटे तुंबक लग जायें, बैल शक्तिशाली दिखने लगे, गाँवों की कोचड़ सूखने लगे, रास्तों का पानी कम हो जाए, जमीन की मिट्टी कड़ी हो जाय तथा जब पथिक परदेश को गमन करने लगें तो श्रमण को भी वर्षावास की समाप्ति और अपने विहार करने का समय समझ लेना चाहिए।[3]

वर्षावास के योग्य स्थान : श्रमण को वर्षायोग के धारण का उपयुक्त समय जानकर धर्म-ध्यान और चर्या आदि के अनुकूल योग्य प्रासुक स्थान पर चातुर्मास व्यतीत करना चाहिए। आचारांग सूत्र में चातुर्मास-योग्य स्थान के विषय में कहा है कि वर्षावास करने वाले साधु या साध्वी को उस ग्राम-नगर खेड़, कर्वट, मडंब, पट्टण, द्रोणमुख, आकर (खदान), निगम, आश्रय, सन्निवेश या राजधानी की स्थिति भलीभाँति जान लेनी चाहिए। जिस ग्राम-नगर यावत् राजधानी में एकान्त में स्वाध्याय करने के लिए विशाल भूमि न हो, मल-मूत्र त्याग के लिए योग्य विशाल भूमि न हो, पीठ (चौकी) फलक, शय्या एवं संस्तारक की प्राप्ति सुलभ न हो और न प्रासुक (निर्दोष) एवं एषणीय आहार-पानी ही सुलभ हो, जहाँ बहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्र और भिखारी पहले से आए हुए हों और भी दूसरे आनेवाले हों, जिससे सभी मार्गों पर जनता की अत्यन्त भोड़ हो और साधु-साध्वी को भिक्षाटन, स्वाध्याय, शौच आदि आवश्यक कार्यों के लिए अपने स्थान से सुखपूर्वक निकलना और प्रवेश करना भी कठिन हो,

---

१. ठाणं: टिप्पण ५।६१-६२. पृ० ६२५.

२. स्थानांगवृत्ति पृ० २९४, २९५.

३. बृहत्कल्पभाष्य भाग २, १।१५३९-४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय आदि क्रिया भी निरुपद्रव न हो सकती हो, ऐसे ग्राम-नगर आदि में वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाने पर भी वर्षावास व्यतीत न करे।[1]

कल्पसूत्र-कल्पलता के अनुसार वर्षावास के योग्य स्थान में निम्नलिखित गुण होना चाहिए—जहाँ विशेष कीचड़ न हो, जीवों की अधिक उत्पत्ति न हो, शौच-स्थल निर्दोष हो, रहने का स्थान शान्तिप्रद एवं स्वाध्याय योग्य हो, गोरस की अधिकता हो, जनसमूह भद्र हो, राजा धार्मिक वृत्ति का हो, भिक्षा सुलभ हो, श्रमण-ब्राह्मण का अपमान न होता हो इत्यादि।[2]

वर्षावास में भी विहार करने के कारण :

अपराजितसूरि के अनुसार वर्षा धारण कर लेने पर भी यदि दुर्भिक्ष पड़ जाए, महामारी फैल जाये, गाँव अथवा प्रदेश में किसी कारण से उथल-पुथल हो जाए, गच्छ का विनाश होने के निमित्त आ जाये तो देशान्तर में जा सकते हैं। क्योंकि ऐसी स्थिति में वहाँ ठहरने से रत्नत्रय की विराधना होगी। आषाढ़ की पूर्णमासी बीतने पर प्रतिपदा आदि के दिन देशान्तर गमन कर सकते हैं।[3] स्थानांगसूत्र में इसके पाँच कारण बताये हैं—१. ज्ञान के लिए। २. दर्शन के लिए, ३. चारित्र के लिए, ४. आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु के अवसर पर तथा ५. वर्षाक्षेत्र से बाहर रहे हुए आचार्य अथवा उपाध्याय का वैयावृत्य करने के लिए।[4] और भी कहा है कि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को प्रथम प्रावृट् चातुर्मास के पूर्वकाल में ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए। किन्तु इन पाँच कारणों से विहार किया भी जा सकता है—१. शरीर, उपकरण आदि के अपहरण का भय होने पर, २. दुर्भिक्ष होने पर, ३. किसी के द्वारा व्यथित किये जाने पर अथवा ग्राम से निकाल दिये जाने पर, ४. बाढ़ आ जाने पर तथा ५. अनार्यों द्वारा उपद्रुत किये जाने पर।[5]

इस प्रकार वर्षावास के विषय में जैन आचार शास्त्रों में यह विवेचन प्राप्त होता है। श्रमण के वर्षावास का समय उसी प्रकार कषायरूपी अग्नि एवं मिथ्यात्व रूपी ताप को त्याग एवं वैराग्य की शीतल धारा से तथा स्वाध्याय और

---

१. आचारांग सूत्र २।३।१।४६५.
२. कल्पसूत्र-कल्पलता पं० ३।१. तथा कल्पसमर्थनम् गाथा २६.
३. भ० आ० वि० टीका ४२१, अनगार धर्मामृत ज्ञानदीपिका ९।८०-८१ पृ० ६८९.
४. ठाणं ५।१०० पृष्ठ ५७५.
५. वही ५।९९ पृष्ठ ५७४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान की जलवृष्टि से शान्त करने का होता है जिस प्रकार जल की शीतलधारा बरसकर धरती की तपन शान्त करती है ।

इस तरह व्यवहार के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रमणों को अपने समस्त व्यवहारों के प्रति सदा सजग रहना आवश्यक है विहित व्यवहारों का प्रयोग तथा निषिद्ध सभी व्यवहारों का त्याग श्रमण जीवन की विशेषता है । सामान्य जनजीवन के लौकिक व्यवहारों से वे सर्वथा मुक्त रहते हैं । क्योंकि उनका लक्ष्य व्यवहारों में उलझे रहना नहीं अपितु आत्म-कल्याण करना है । वैसे सामान्य रूप में जैनधर्म व्यवहारिक जीवन की सर्वथा उपेक्षा नहीं करता क्योंकि इसमें श्रमण एवं श्रावक दोनों के कर्तव्यों में अन्तर किया है । श्रावक आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से बच नहीं सकता । इसी कारण श्रमण तथा श्रावक दोनों का सम्पूर्ण जीवन उनकी आध्यात्मिक स्थिति के अनुसार पूर्णतः या आंशिक रूप से इसी सिद्धान्त से नियंत्रित होता है ।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्याय

श्रमण संघ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचम अध्याय

श्रमण संघ

जैन धर्म में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों की एक लम्बी परम्परा है। तीर्थंकरों के जीवन और उनके संघ के विषय में जानकारी हेतु जब उपलब्ध तद्विषयक साहित्य का अध्ययन करते हैं तो प्रत्येक तीर्थंकर के समय एक सुव्यवस्थित श्रमण संघ की झलक दिखलाई पड़ती है। भगवान् महावीर के सुसंगठित श्रमण संघ की सम्यक् परम्परा प्राचीनकाल से अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है। आज भी इसी पथ पर श्रमणों एवं आर्यिकाओं का संयमपूर्ण जीवन साधना पथ पर गतिशील है।

स्वरूप :

गुण समूह को संघ कहते हैं, कर्मों के विमोचक को संघ कहा जाता है। दर्शन, ज्ञान और चरित्र में जो संघात (रत्नत्रय की समन्विति अथवा मेल) को प्राप्त है उसे संघ कहते हैं।[1] सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के समुदाय को संघ कहते।[2] संघ को 'प्रवचन' शब्द से भी अभिहित किया जाता है। जिसमें रत्नत्रय का प्रवचन-उपदेश किया जाता है ऐसे मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविका के समूह का नाम संघ है।[3] ये ही श्रमण संघ के चार अंग हैं। इसे ही चतुर्विध संघ कहते हैं तथा ऋषि, मुनि, यति और अनगार—इनका समुदाय चातुर्वर्ण्य संघ है।[4] इस प्रकार जो श्रम अर्थात् तपस्या

---

१. संघो गुण संघाओ संघो य विमोचिओ य कम्माणं।
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो॥ भ० आ० ७१४.

२. (क) रत्नत्रयोपेत श्रमणगणः संघ—सर्वार्थसिद्धि ६।१३ पृ० ३३१.
(ख) सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय भावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः सङ्घ इति कथ्यते—तत्त्वार्थवार्तिक ६।१३।३ पृ० ५२३.

३. प्रवचनं संघः। सर्व एव प्रोच्यते रत्नत्रयं यस्मिन्निति शब्दव्युत्पत्तौ संघवाची भवति प्रवचन शब्दः—भ० आ० विजयोदया टीका गाथा ४९३. पृ० ७१६.

४. (क) चादुव्वण्णस्स चातुर्वर्ण्यस्य श्रमणसंघस्य। अत्रश्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राहाः। अथवा श्रमणधर्मानुकूल श्रावकादिचतुर्वर्णसंघः। —प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २४९.
(ख) ऋष्यार्यिका श्रावक श्राविकानिवहः संघः—भावपाहुड टीका ७८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं वे श्रमण हैं तथा ऐसे श्रमणों के समुदाय को श्रमण संघ कहते हैं।[1] वस्तुतः गुणों का समूह रूप संघ समस्त प्राणियों को सुख देनेवाला, निकट भव्य जीवों का आधार तथा माता-पिता की तरह क्षमा प्रदान करने वाला होता है।[2]

सामान्यतः चातुर्वर्ण्य संघ चतुर्विध संघ का ही पर्यायवाची माना जाता है। ऋद्धि प्राप्त श्रमण ऋषि कहे जाते हैं। इनके चार भेद हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धिधारी ऋषि राजर्षि कहे जाते हैं। बुद्धि, ऋद्धि और औषधि ऋद्धिधारी ब्रह्मर्षि हैं। गगन गमन ऋद्धि से सम्पन्न साधु देवर्षि तथा केवलज्ञानी भगवान् परमर्षि कहलाते हैं।[3]

संघ की महत्ता—'संघ' शब्द स्वयं अपने आप में एकता, सुव्यवस्था, सुसंगठन और शक्ति का द्योतक है। एकाकी जीवन का अपना विशेष महत्त्व नहीं होता बल्कि अनाचार की ओर प्रवृत्ति की सदा आशंका बनी रहती है। विशेषकर जिन्हें लौकिक आचार-विचार और व्यवहार से अलग, आत्म-कल्याण के लिए त्याग और संयममय जीवन इसी संसार में रहकर व्यतीत करना है, उन्हें तो संघ में रहकर ही अपने धर्म का निर्विघ्न पालन अनिवार्य हो जाता है। इन्हीं सब दृष्टियों से श्रमणों को एकाकी विहार का निषेध करके ससंघ रहने और विहार करने का विधान है। बृहत्कल्पभाष्य में संघस्थित श्रमण को ज्ञान का अधिकारी बताया है। वही दर्शन व चारित्र में विशेष रूप से स्थिर होता है।[4] वस्तुतः उपशम को ही श्रमण धर्म का सार कहा है। इस सांसारिकता के बीच एकल विहार युक्त जीवन में विशुद्धतापूर्वक अपने धर्म का निर्वाह कठिन है। क्योंकि श्रमण धर्म का आचरण करते हुए किसी प्रकार की कषायों की उत्कटता होती है तो ईख के पुष्प की तरह उसके व्रत-नियम सब निरर्थक हो जाते हैं।[5] अतः संघ में रहकर ज्ञान, ध्यान आदि द्वारा आत्मकल्याण रूप अपने लक्ष्य को प्राप्त करना श्रेयस्कर है।

शिवार्य ने ठीक ही कहा है कि जैसे आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से साधु समुदाय की धारणा होती है,

---

१. श्रमयन्ति तपस्यन्ति इति श्रमणाः तेषां समुदायः श्रमणसंघः—भ० आ० वि० टीका ५१० पृ० ७३०.

२. भ० आ० ७१३.

३. प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति गाथा २४९.

४. नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य—बृहत्कल्पभाष्य ५७१३.

५. बृहत्कल्पसूत्र १।३४, दशवै० निर्युक्ति ३०१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि साधु ही संघ है। साधुओं से भिन्न कोई संघ नाम की वस्तु नहीं है।[1] यहाँ धारणा का अर्थ है अपने धर्म-कर्म की शक्ति को भ्रष्ट करने वाले निमित्तों को दूर करके उसको शक्ति प्रदान करना। इसी को वैयावृत्त्य भी कहते हैं।

मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ अथवा ऋषि, मुनि, यति और अनगार रूप चातुर्वर्ण्य संघ चारों गतियों (नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव) में भ्रमण का नाशक हैं। अतः नवप्रसूता गाय जैसे अपने बछड़े पर वात्सल्य करती है वैसे ही प्रयत्न पूर्वक संघ पर वात्सल्य भाव रखना चाहिए।[2] क्योंकि संघ भयभीत जनों के लिए आश्वासन देता है। वह निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत, समता के कारण शीतगृहतुल्य, अविषमदर्शी होने के कारण माता-पिता तुल्य तथा सब प्राणियों के लिए शरणभूत होता है अतः संघ से डरना नहीं चाहिए।[3] नन्दिसूत्र के अनुसार संघ कमलवत् है, कर्मरज रूपी जलराशि से वह कमल की तरह ऊपर अलिप्त ही रहता है। श्रुतरत्न (ज्ञान या आगम) उसके दीर्घनाल, पंचमहाव्रत उसकी स्थिर कर्णिका तथा उत्तरगुण उसकी मध्यवर्ती केशर (पराग) है, जो श्रावक रूपी भ्रमरों से सदा घिरा रहता है, जिनदेव रूपी सूर्य के तेज से प्रबुद्ध होता है तथा जिसमें श्रमणगण रूपी सहस्र पत्र होते है।[4] मूलाचारकार ने गृहस्थ धर्म एवं श्रावक का भी अनेक प्रसंगों में उल्लेख किया है।[5]

संघ व्यवस्था के आधार

तीर्थंकर महावीर के श्रमण संघ की व्यवस्था गणतन्त्रीय पद्धति पर आधारित थी और यही परम्परा आज तक चली आ रही है। संघ-व्यवस्था का मूल लक्ष्य अहिंसा, स्वतंत्रता और सापेक्षता के आधार पर आत्म-कल्याण करना है। विशाल संघ के सुचारु संचालन हेतु संघ के कार्यों को विभाजित करके व्यवस्था करना आवश्यक होता है ताकि आत्मकल्याण के मार्ग में किसी को किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। इसके लिए आचार्य आवश्यकतानुसार उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक, गणी, गणधर और गणावच्छेदक आदि पदों का सृजन और तदनुकूल योग्य श्रमणों को इन पर प्रतिष्ठित करता था।

---

१. साधुस्स धारणाए वि होइ तह चेव धारिओ संघो।
साधू चेव हि संघो ण हु संघो साहुवदिरित्तो॥ भ० आ० ३२६.

२. चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छेगावी जहा गिद्धी॥ मूलाचार ५।६६.

३. व्यवहार भाष्य ३२६.

४. नन्दिसूत्र स्थविरावली ७-८.

५. मूलाचार ७।३३, ३४, ३५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विध संघ में आर्यिका का द्वितीय स्थान है। श्रमणों और आर्यिकाओं—सभी का नेतृत्व करने वाला 'आचार्य' होता है। आचार्य ही श्रमण संघ का प्रमुख होता है। आत्म-कल्याण के इच्छुक योग्यजनों को वैराग्य, संयम आदि की दृढ़ता के आधार पर दीक्षित करना तथा संघ के सम्पूर्ण नेतृत्व एवं मार्ग-दर्शन प्रदान करना आचार्य का ही कार्य है। आचार्य ही योग्यताओं के आधार पर संघ के विभिन्न कार्य विभाजित करते हैं।

संघ में आचार्य के पश्चात् उपाध्याय का स्थान है। विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन आदि रूप ज्ञान के विकास का दायित्व 'उपाध्याय' पर होता है। संघ की विभिन्न इकाईयों में गण की व्यवस्था का कार्य 'प्रवर्तक' करते थे। धर्म प्रचार तथा संघ-विकास का कार्य 'गणावच्छेदक' करते थे। गण में दीक्षित साधुओं की भावना को गतिशील बनाना और आधृति उत्पन्न हो जाने पर पुनः धृति उत्पन्न करने का कार्य 'स्थविर' करता था। आर्यिका संघ का दायित्व प्रवर्तनी, गणिनी अथवा आर्यिका-प्रमुखा पर होता था। प्रवचनसार में कहा है[1] कि विशाल श्रमण संघ में दीक्षागुरु और निर्यापक दोनों पृथक्-पृथक् भी होते थे। श्रमण वेष धारण के समय जो प्रव्रज्या (दीक्षा) देते हैं वे 'दीक्षा गुरु' हैं तथा संयम के सर्वथा या एकदेश भङ्ग (छेद) होने पर प्रायश्चित्त देकर आगम के वैराग्यवर्धक वचनों द्वारा उन छेदों का निवारण करके पुनः निर्दोष संयम मार्ग में स्थापित करते हैं वे 'निर्यापक' कहलाते हैं। इन्हें ही उपस्थापक, शिक्षागुरु या श्रुतगुरु भी कहते हैं। इस तरह विशाल संघ में दीक्षा गुरु (आचार्य) के अतिरिक्त छेदोपस्थापक आचार्य भी होते थे। किन्तु छोटे श्रमणसंघ में एक ही आचार्य दोनों काम करते हैं।

गण, गच्छ, कुल रूप संघ की विभिन्न इकाईयों में गच्छ से तात्पर्य साथ-साथ रहने वाले श्रमणों के समूह से है। जितने श्रमण एक साथ रहकर विहार एवं चातुर्मास करते हैं उनके समूह को 'गच्छ' कहते हैं। विभिन्न गच्छ मिलकर 'कुल' का रूप धारण करते हैं। एक ही आचार्य के शिष्य-प्रशिष्यों के समूह को 'कुल' कहा जाता है। कुलों में एक ही प्रकार की आचार-विचार प्रणाली का अनुसरण करने से—ये सब मिलकर 'गण' का रूप धारण कर लेते हैं और गण का समूह संघ कहलाता है।

उपर्युक्त संघ व्यवस्था प्राचीन काल में तब प्रचलित थी जब संघ बहुत

---

१. लिंगग्गहणे तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावणा समणा॥
—प्रवचनसार २१०. दोनों टीकाओं सहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशाल होते थे अतः बड़े संघों के सुचारु संचालन के लिए विभिन्न इकाईयों और पदों की आवश्यकता होती थी किन्तु अब उन विशाल संघों का अभाव होने से गण, गच्छ, कुल एवं इनके स्वरूप की परम्परा भी प्रायः कम है। फिर भी संघीय व्यवस्था के प्रमुख आधार आज भी वही हैं। इसके लिए षडावश्यकों का पालन, आहार, विहार, व्यवहार और तप आदि के विधान श्रमण संघ की दिनचर्या में सम्मिलित होने से उनकी सामुदायिकता, स्वतंत्रता और आत्मोत्कर्ष की भावना का दिनों-दिन विकास होता रहता है। वस्तुतः जैन श्रमण संघ में संघीय नेतृत्व एवं गणतंत्रीय स्वरूप का जैसा सम्यक् विकास मिलता है वैसा अन्य परम्पराओं में दुर्लभ है।

संघ के आधार :

मूलाचार में कहा है कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर— ये संघ के पाँच आधार हैं। जहाँ ये आधार नहीं है वहाँ रहना उचित नहीं है।[1] क्योंकि सम्पूर्ण संघ का कुशल संचालन इन्हीं के आधार से होता है। शिष्यों को दीक्षा और अनुशासन रूप अनुग्रह करने में कुशल आचार्य होते हैं। धर्म के उपदेशक उपाध्याय कहलाते हैं जिनके पास आकर अध्ययन-अध्यापन का कार्य सम्पन्न होता है। संघ का प्रवर्तन करने वाले प्रवर्तक होते हैं। जिनसे आचरण स्थिर होते हैं ऐसे मर्यादा के उपदेशक को स्थविर तथा जो गण को धारण करते हैं अर्थात् गण के रक्षक को गणधर कहते हैं।[2] इन पाँच आधारों से ही संघ की परिपूर्णता एवं प्रतिष्ठा रहती है :—

संघ के इन पाँच आधारों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है।

१. आचार्य :

श्रमण परम्परा में संघ नायक के रूप में आचार्य (आयरिय) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नमस्कार महामंत्र में आचार्य परमेष्ठी को 'णमो आयरियाणं' कहकर उनकी महनीयता और महत्ता प्रकाशित की गई, जो कि अप्रतिम गौरव का सूचक है। आचार्य पर ही ऋषि, मुनि, यति और अनगार रूप चातुर्वर्ण्य संघ अथवा मुनि, आर्यिका एवं श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के संगठन, संवर्द्धन, अभिरक्षण, अनुशासन एवं उसके सर्वाङ्गीण विकास का सामूहिक एवं प्रमुख दायित्व होता है। वस्तुतः आचार्य दीपक के समान होता है। जैसे एक दीपक स्वयं दीप्त रहकर उससे सैकड़ों दीप प्रज्ज्वलित हो जाते हैं वैसे

---

१. तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य॥ मूलाचार ४।१५५.

२. सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघ वट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो॥ वही ४।१५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही आचार्य स्वयं प्रकाशमान रहकर दूसरों को प्रकाशित करते हैं।[1] इसीलिए आचार्य को सम्पूर्ण संघ का 'नेत्र' भी कहते हैं।[2]

स्वरूप :

आचार्य का सीधा सम्बन्ध आचार से है इसीलिए शिवार्य ने कहा है कि जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य—इन पाँच आचारों का स्वयं निरतिचार पालन करता है और इनमें दूसरों को प्रवृत्त करता है वह आचार्य है।[3] मूलाचार में भी कहा गया है कि जो सर्वकाल सम्बन्धी आचार को जानता है तथा आचरण योग्य का स्वयं आचरण करता है और अन्य साधुओं को आचरण में प्रवृत्त करता है उसे आचार्य कहते हैं। क्योंकि जिस कारण आचार्य पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं आचरण करते हुए सुशोभित होते हैं उसी प्रकार अपने द्वारा आचरित आचार दूसरों को दिखाते हुए सुशोभित होने के कारण उनका 'आचार्य' नाम सार्थक है।[4]

'आचार्य' शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करते हुए आचार्य वीरसेन ने षट्-खण्डागम की धवला टीका के आदिमंगल रूप नवकार मंत्र की व्याख्या में कहा है—'पञ्चविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः।' अर्थात् जो पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और दूसरे साधुओं से पालन कराते हैं उन्हें 'आचार्य' कहते हैं।[5] अपराजितसूरि के अनुसार "पञ्चस्वाचारेषु ये वर्तन्ते पराश्च वर्तयन्ति ते आचार्याः। अर्थात् जो पाँच आचारों में स्वयं प्रवृत्त होता है और दूसरों को भी प्रवृत्त कराता है वे आचार्य हैं।[6] पूज्यपाद के अनुसार 'आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्यः—अर्थात् जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह आचार्य कहलाता है।[7] वसुनन्दि के अनुसार "आचर्यतेऽस्मादाचार्यः' अर्थात् जिनसे आचरण ग्रहण किया जाता है उन्हें आचार्य कहते हैं।[8]

---

१. जह दीवा दीवसयं पईप्पए सो उ दिप्पए दीवो।
दीव समा आयरिया अप्पं च परं च दीवंति॥
—आचारांग निर्युक्ति गाथा ८, चंदगविज्झं पइण्णयं गाथा ३०.

२. स एव भवसत्ताणं चक्खुभूए वियाहिए—गच्छाचार पयन्ना अधि० १.

३. भ० आ० गाथा ४१८., देखें—आवश्यकनिर्युक्ति ९९४.

४. मूलाचार ७।८, ९.

५. धवला १।१, १, १, ४८।८.

६. भगवती आराधना विजयोदया टीका ४४४.

७. सर्वार्थसिद्धि ९।२४।४.

८. मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर परम्परा के अनेक व्याख्या ग्रन्थों में भी 'आचार्य' शब्द के व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ प्रस्तुत किये गये हैं। जिनदासगणि महत्तर ने आवश्यक चूर्णि में कहा है—'आङ मर्यादाभिविध्यो चरिर्गत्यर्थे, मर्यादया चरन्तीत्याचार्याः, आचारेण वा चरन्तीत्याचार्याः' आवश्यक सूत्र की मलयगिरि वृत्ति के अनुसार 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'चर गति-भक्षणयोः आङ् पूर्व आचर्य्यते कार्यार्थिभिः सेव्यते इत्याचार्यः ऋवर्ण व्यंजनाद्याणिति।[1]

भगवतीसूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि के अनुसार—"आ मर्यादया तद्-विषयविनयरूपया चर्य्यन्ते सेव्यन्ते- जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकांक्षिभिरित्या-चार्याः अथवा आचारो ज्ञानाचारादिः पञ्चधा। 'आ' मर्यादया वा चारो विहारः, आचारस्तत्र साधवः स्वयं करणात्प्रभाषणात्प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः।[2] अर्थात् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित आगम ज्ञान को हृदयंगमकर उसे आत्मसात् करने की उत्कण्ठा वाले शिष्यों द्वारा जो विनयादिपूर्ण मर्यादापूर्वक सेवित हों उन्हें आचार्य कहते हैं। यही आचार्य के लक्षणों में कहा है कि जो सूत्र और अर्थ—उभय के ज्ञाता हों, उत्कृष्ट कोटि के लक्षणों से युक्त हों, संघ के लिए मेढि अर्थात् आधारस्तम्भ के समान हों, जो अपने गण, गच्छ अथवा संघ को समस्त प्रकार के संतापों से पूर्णतः विमुक्त रखने में सक्षम हों तथा जो अपने शिष्यों को आगमों की गूढार्थ सहित वाचना देते हों, उन्हें आचार्य कहते हैं।[3]

आचार्य वीरसेन ने 'आचार्य' के लक्षण बतलाते हुए कहा है जो प्रवचन रूपी समुद्र-जल के मध्य स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु के समान निष्कम्प हैं, जो शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, जो वर्य (श्रेष्ठ) हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं—ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं। ऐसे ही आचार्य संघ के संग्रह में कुशल, सूत्रार्थ में विशारद होते हैं, जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही है, जो सारण (आचरण), वारण (निषेध), और शोधन (व्रतों की शुद्धि) करने वाली क्रियाओं में निरन्तर उद्युक्त हैं, वे आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं।[4]

---

१. आवश्यकसूत्र मलयगिरि वृत्ति द्वितीय.

२. भगवती सूत्र वृत्ति १. १. १. मंगलाचरण।

३. सुत्तत्थविउलक्खण–जुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ॥
—भगवतीसूत्र अभयदेवसूरि कृत वृत्ति १. १. १. मंगलाचरण में उद्धृत.

४. षट्खण्डागम धवला टीका १।११, १।२९-३०-३१ तथा ४९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पसूत्र टीका के अनुसार—जिनशासन के अर्थ का उपदेशक होने के कारण मोक्ष के अभिलाषी शिष्य विनयपूर्वक जिसकी सेवा करते हैं, वह सूत्रार्थ का दाता मुनिवर 'आचार्य' कहलाते हैं। सूत्र और अर्थ अथवा सूत्रों के अर्थ का ज्ञाता, प्रशस्त लक्षणों से युक्त, गच्छ के आधारभूत और गण की चिन्ता नहीं करने वाले आचार्य सूत्रार्थ का व्याख्यान करते हैं।[1]

दशवैकालिक चूर्णि में कहा है—सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरु पद पर स्थापित होता है वह आचार्य कहलाता है।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त स्वरूप के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य अनेक विशिष्ट गुणों से युक्त होते हैं। क्योंकि साधुओं की दीक्षा-शिक्षा के देने वाले, उनके दोषों का निवारण करके सद्गुणों में प्रवृत्त कराने वाले, अनेक गुण-विशिष्ट, संघ नायक साधु को ही आचार्य कहते हैं। वीतराग होने के कारण पंचपरमेष्ठी में उनका स्थान है और उनमें किञ्चित् देवत्व भी माना गया है।[3]

योग्य आचार्य से ही संघ की प्रतिष्ठा होती है तथा योग्य आचार्य के संघ में रहकर साधना और संयम द्वारा मुनि निर्विघ्नपूर्वक स्व-पर कल्याण के अपने लक्ष्य को पूर्ण करता है। योग्य आचार्य ही अपने कौशल से उन्मार्गगामी शिष्यों को शीघ्र ही सन्मार्ग पर लगा लेते हैं। अभयदेवसूरि ने कहा है कि "अविधि-पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले शिष्य को मार्ग पर लाने के लिए भी उपालम्भ देना चाहिए।[4] क्योंकि आचार्य संघ के नायक हैं जो निरन्तर सावधान हैं। उनके द्वारा बार-बार सन्मार्ग में लगाया गया वह आराधक साधु समुदायरूपी महावन को पार करता है। वह संघपति आचार्य अपने द्वारा भावना आदि में नियुक्त साधु समुदाय की इन्द्रिय रूपी चोरों से और कषायरूपी अनेक हिंसक जंगली जानवरों से रक्षा करता है।[5]

आचार्य के विशिष्ट गुण :

श्रमणत्व (साधुत्व) की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय, और साधु—सभी समान होते हैं और सामान्य रूप से मूलगुणों तथा उत्तरगुणों का पालन सभी को समान रूप से करना होता है किन्तु आचार्य संघ का प्रधान होता है अतः उसमें अनेक विशिष्ट गुण आवश्यक माने गये हैं। भगवती आराधना में कहा है आचार्य को

---

१. कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका पृष्ठ ४९.
२. दशवैकालिक (अगस्त्यसिंह) चूर्णि ९।३।१.
३. नियमसार तात्पर्यवृत्ति १४६. बोधपाहुड १।१.
४. ज्ञाताधर्मकथा विवरण १।१ पृष्ठ ७७.
५. भ० आ० १२८२-१२८७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकुर्वीत (कर्ता), आयापाय-दर्शनोद्यत, (रत्नत्रय के लाभ और विनाश को दिखाने वाला), अवपीडक (उत्पीलक), अपरिस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रथितकीर्ति (प्रसिद्ध कीर्तिशाली) तथा निर्यापन—इन सभी गुणों से विशिष्ट होना चाहिए।[1]

वट्टकेर ने आचार्य को निम्नलिखित गुणों से युक्त माना है—संग्रह और अनुग्रह (शिक्षा देकर योग्य बनाने) में कुशल, सूत्रार्थ विशारद, प्रथित कीर्ति, क्रियाओं के आचरण में तत्पर, ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलने वाला, गंभीर, दुर्धर्ष (प्रवादियों द्वारा परिभव-तिरस्कार नहीं किये जा सकने वाले), शूर, धर्म की प्रभावना करने वाला, क्षमागुण में पृथ्वी, सौम्यता में चन्द्रमा तथा निर्मलता में समुद्र के समान आचार्य होते हैं।[2]

मूलाचार में आचार्य के उपर्युक्त गुण बतलाये हैं किन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में में उल्लिखित इन गुणों की निश्चित छत्तीस संख्या का स्पष्ट उल्लेख नहीं है जब कि इन सभी गुणों का प्रतिपादन प्रसंगानुसार मूलाचारकार ने किया अवश्य है। विभिन्न आचार्यों ने आचार्य के गुणों की संख्या 'छत्तीस' स्वीकार अवश्य की है किन्तु ये छत्तीस गुण कौन-कौन हैं—इनमें सभी आचार्य एक मत नहीं हैं। भगवती आराधना में आचार्य के छत्तीस गुणों का उल्लेख है—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस स्थितिकल्प, बारह तप और छह आवश्यक।[3] अपराजितसूरि के अनुसार आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह तप, पाँच समिति तथा तीन गुप्ति—ये छत्तीस गुण हैं।[4] आशाधर ने अट्ठाईस मूलगुण तथा आचारवत्त्व आदि

---

१. आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव॥
अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ॥ भ० आ० ४१९, ४२०.

२. संगहणुग्गहकुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती।
किरिआचरण सुजुत्तो गाहुय आदेज्जवयणो य॥
गंभीरो दुद्धरिसो सूरो धम्मप्पहावणासीलो।
खिदिससिसायरसरिसो कमेण तं सो दु सपत्तो॥ मूलाचार ४।१५८, १५९.

३. आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
बारस तव छावासय छत्तीस गुणा मुणेयव्वा॥
भ० आ० ५२८, अन० धर्मा० ९।७६.

४. अष्टौ ज्ञानाचाराः दर्शनाचाराश्चाष्टौ, तपो द्वादशविधं, पंच समितयः, तिस्रो गुप्तयश्च षट्त्रिंशद्गुणाः।—भ० आ० विजयोदया टीका ५२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठ गुण—ये छत्तीस गुण अथवा दस आलोचना गुण, दस प्रायश्चित्त गुण, दस स्थिति गुण और छह जीत गुण—इस प्रकार छत्तीस गुणों का उल्लेख किया है।[1]

आचारवत्त्व आदि आठ गुण :

१. **आचारवत्त्व**—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य— इन पाँच प्रकार के आचारों का स्वयं पालन करना और दूसरों से पालन करवाना।

२. **आधारवत्व**—श्रुत (आगम) का असाधारण ज्ञान।

३. **व्यवहारपटु**—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत—इन पाँच प्रकार के व्यवहार अर्थात् प्रायश्चित्त को तत्त्वरूप से विस्तार के साथ जानता है तथा जिनने अनेक आचार्यों को प्रायश्चित्त देते देखा है और स्वयं दूसरों को प्रायश्चित्त दिया है वे आचार्य व्यवहारवान् हैं।[2]

४. **प्रकुर्वित्व (पकुव्वओ)**—समाधिमरण कराने और ऐसे श्रमणों की पूर्ण सजगता से वैयावृत्त्य करने एवं कराने में कुशल।

५. **आयापायदेष्टा**—सरलभावों से आलोचना करने वाले क्षपक के गुणों तथा दोषों को बतलाने में कुशल।

६. **उत्पीलक** (अवव्रीडक)—छिपाये गये (गुह्य) अतिचारों को भी प्रगट कराने में समर्थ।

७. **अपरिस्रावी**—श्रमणों द्वारा आलोचित गोप्यदोष को दूसरों पर प्रकाशित न करके पानी के घूँट की तरह पीने वाले।

८. **सुखावह**—श्रमणों को समाधिमरण के समय क्षुधादि दुःखों से घबड़ाकर विमुख न होने देने के लिए उत्तम कथाओं द्वारा उन दुःखों का उपशमन करने वाले।[3]

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहारभाष्य में प्रायश्चित्तों के वर्णन प्रसंग में आलोचनार्ह की विशेषतायें बतलाते हुए कहा है कि आलोचनार्ह निरपलापी होता है और इन आठ विशेषणों से युक्त होता है जो पूर्वोक्त आचार्य के आठ गुणों के समान हैं। यथा--आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, अपव्रीडक, प्रकुर्वी, निर्यापक, अपायदर्शी और अपरिस्रावी।[4]

---

१. भ० आ० मूलाराधना टीका ५२८.

२. भ० आ० ४५१.

३. अनगारधर्मामृत ९।७६-७७.

४. व्यवहारभाष्य गाथा ३३६-३४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त आठ गुणों के अतिरिक्त आचेलक्य, औद्देशिक का त्याग, शय्या-गृह त्याग, राजपिण्ड का त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासस्थिति और पर्युषण--ये दस स्थितिकल्प। बारह तप और छह आवश्यकों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। इस तरह आचार्य के छत्तीस गुण प्रतिपादित हैं।

आचार्य की गणि सम्पदायें :

स्थानांग में आचार्य को आठ प्रकार की गणि सम्पदाओं से युक्त बतलाया गया है--१. आचार सम्पदा, २. श्रुत सम्पदा, ३. शरीर सम्पदा, ४. वचन सम्पदा, ५. वाचना सम्पदा- ६. मति सम्पदा, ७. प्रयोग सम्पदा (वाद कौशल) और ८. संग्रह परिज्ञा (संघ व्यवस्था में निपुणता।[1] इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेदों सहित प्रतिपादन किया गया है।[2]

१. आचार संपदा--इसके अन्तर्गत १. संयमध्रुवयोगयुक्तता--अर्थात् चारित्र में सदा समाधियुक्त होना। २. असंप्रग्रह--जाति, श्रुत आदि मदों का परिहार। ३. अनियतवृत्ति, ४. वृद्धशीलता--शरीर और मन की निर्विकारता, अचंचलता।

२. श्रुत संपदा--इसके अन्तर्गत--१. बहुश्रुतता, २. परिचितसूत्रता, ३. विचित्रसूत्रता--स्व और पर दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में निपुणता अथवा उत्सर्ग और अपवाद को जाननेवाला, ४. घोषविशुद्धिकर्ता--अपने शिष्यों को सूत्र उच्चारण का स्पष्ट अभ्यास कराने में समर्थता।

३. शरीर सम्पदा--१. आरोहपरिणाहयुक्तता--आरोह = ऊँचाई, परिणाह = विशालता अर्थात् शरीर का उचित ऊँचाई और विशालता से सम्पन्न होना। २. अनवत्रपता--अलज्जनीय अंगवाला होना। ३. परिपूर्ण इन्द्रियता, ४. स्थिरसंहननता।

४. वचन सम्पदा--१. आदेय वचनता--जिसके वचनों को सभी स्वीकार करते हों। २. मधुरवचनता--३. अनिश्रितवचनता--मध्यस्थवचन, ४. असंदिग्ध-वचनता।

---

१. अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता तं जहा--आचारसंपया, सुयसंपया, सरीर-संपया, वयणसंपया, वायणासंपया, मतिसंपया, पओगसंपया, संगहपरिण्णा णाम अट्ठमा--स्थानांग सूत्र ८।१५.

२. (क) दशाश्रुतस्कंध दशा ४.
(ख) स्थानांगवृत्ति पत्र ४०१. (ठाणं ८।१५ की टिप्पण पृ० ८२७-८२९ प्रकाशक--जैन विश्व भारती, लाडनूं वि० सं० २०३३ से उद्धृत)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. वाचना सम्पदा—१. विदित्वोद्देशन—शिष्य की योग्यता को जानकर उद्देशन करना। २. विदित्वा समुद्देशन—शिष्य की योग्यता जानकर समुद्देशन करना। ३. परिनिर्वाप्यवाचना—पहले दी गई वाचना को पूर्ण हृदयंगम कराके आगे की वाचना देना। ४. अर्थ निर्यापणा—अर्थ के पौर्यापर्य का बोध कराना।

६. मति सम्पदा—(बुद्धि-कौशल)—१. अवग्रह, २. ईहा, ३ अवाय, ४. धारणा—ये चार मति सम्पदायें हैं।

७. प्रयोग सम्पदा (वाद-कौशल)—१. आत्मपरिज्ञान—वाद या धर्मकथा में अपने सामर्थ्य का परिज्ञान, २. पुरुष परिज्ञान—वादी के मत का ज्ञान, परिषद् का ज्ञान। ३. क्षेत्र परिज्ञान—वाद करने के क्षेत्र का ज्ञान। ४. वस्तु परिज्ञान—वाद-काल में निर्णायक के रूप में स्वीकृत सभापति आदि का ज्ञान।

८. संग्रह-परिज्ञा—(संघ व्यवस्था में निपुणता)—

१. बालादियोग्यक्षेत्र—व्यवहारभाष्य में इसके स्थान पर 'बहुजनयोग्य क्षेत्र' शब्द दिया है।[1] तथा इसके दो अर्थ किये हैं। १—वर्षा ऋतु के लिए सम्पूर्ण संघ के योग्य विस्तीर्ण क्षेत्र का निर्वाचन करने वाला। २—जो क्षेत्र, बालक, दुर्बल, ग्लानतथा प्राघूर्णकों के लिए उपयुक्त हो।

२. पीठ-फलग संप्राप्ति—पीठ-फलग-चौकी आदि की उपलब्धि करना।

३. कालसमानयन—यथासमय स्वाध्याय, भिक्षा आदि की व्यवस्था।

४. गुरुपूजा—यथोचित विनय की व्यवस्था बनाए रखना।

इस प्रकार उपर्युक्त आठ गणि सम्पदाओं के बत्तीस भेदों का विवेचन आगमों में मिलता है। इनके अतिरिक्त आगम व्यवहारी की चार "विनय प्रतिपत्तियों" का भी उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार हैं।[2]

१. आचारविनय—आचार विषयक विनय सिखाना।

२. श्रुतविनय—सूत्र और अर्थ की वाचना देना।

३. विक्षेपणा विनय—जो धर्म से दूर हैं, उन्हें धर्म में स्थापित करना, जो स्थित है उन्हें प्रव्रजित करना, जो च्युतधर्मा हैं, उन्हें पुनः धर्मनिष्ठ बनाना और उनके लिए हित सम्पादन करना।

४. दोषनिर्घात विनय—क्रोध-दोष-कांक्षा-विनयन के लिए प्रयत्न करना।

---

१. व्यवहार सूत्र उद्देशक १०, भाष्यगाथा २९०.

२. व्यवहारसूत्र उद्देशक १० भाष्यगाथा ३०३, ३०५-३२७. (ठाणं ५।१२४ की टिप्पण पृ० ६३० के आधार पर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराधिकारी आचार्य

आचार्य अपने संघ का नायक होता है। जब वह यह अनुभव करने लगता है कि इस आयुष्य का कोई भरोसा नहीं और संघ का विकास नेतृत्व के वैशिष्ट्य पर आधारित है अतः अपने पद का सुयोग्यतम उत्तराधिकारी आवश्यक है। जिसे संघ का दायित्व उस उत्तराधिकारी को सौंपकर निःशल्य रूप में आत्मसाधना में लीन हो सकें। आचार्य के उत्तराधिकारी को बालाचार्य, युवाचार्य आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहार सूत्र में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने की योग्यताओं के विषय में कहा है कि जो कम से कम पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला, श्रमणाचार में कुशल, प्रवचन में प्रवीण, प्रज्ञाबुद्धि में निष्णात, आहारादि के उपग्रह में कुशल, अखण्डाचारी, सबल दोषों से रहित, भिन्नतारहित आचार का पालन करने वाले, निःकषाय चारित्र वाले, अनेक सूत्रों और आगमों आदि में पारंगत श्रमण, आचार्य अथवा उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित होने के योग्य हैं।[1]

ऐसा भी उल्लेख है कि जब आचार्य रोग आदि की गिल्यता को प्राप्त हो जाये तो अपने शिष्यों को बुलाकर कहते थे कि मेरा आयुष्य पूर्ण होने के बाद इन योग्यताओं वाले अमुक श्रमण को इस पद पर प्रतिष्ठित करना। यदि वह इस पद के योग्य परीक्षा में असफल रहे तो दूसरे को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करना।[2] आचार्य द्वारा निर्दिष्ट साधु को उस समय पदवी के योग्य होने की अवस्था में ही पदवी प्रदान करना चाहिए, अयोग्यता की अवस्था में नहीं। कदाचित् उसे पदवी प्रदान कर दी गई हो किन्तु उसमें आवश्यक योग्यता न हो तो अन्य साधुओं को उससे कहना चाहिए कि तुम इस पदवी के अयोग्य हो अतः इसे छोड़ दो। ऐसी अवस्था में यदि वह पदवी छोड़ देता है तो उसे किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है।[3]

उत्तराधिकारी की नियुक्ति विधि : भगवती आराधना में उत्तराधिकारी आचार्य की नियुक्ति के सन्दर्भ में कहा है[4] कि सल्लेखना करने के इच्छुक गणस्थ आचार्य को गण (संघ) का हित सोचना चाहिए। इस कारण आचार्य को अपनी आयु की स्थिति-विचारकर सम्पूर्ण संघ को और बालाचार्य को बुलाकर शुभ दिन,

---

१. व्यवहारसूत्र ३।५.

२. व्यवहारसूत्र ४।१३.

३. व्यवहार भाष्य चतुर्थ उद्देश्य (जै० सा० का बृ० इतिहास भाग ३ पृ० २६३).

४. भगवती आराधना गाथा २७४ से ३५८ (विजयोदयाटीका सहित)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ करण, शुभ नक्षत्र और शुभलग्न तथा शुभ देश में, गच्छ का पालन करने योग्य गुणों से विभूषित अपने समान भिक्षु का विचार करने के पश्चात् वह धीर आचार्य 'अल्पकथा' अर्थात् इस विषय में अल्प वक्तव्य रूप उपदेश देकर उस बालाचार्य के लिए अपना गण विसर्जित करते (सौंपते) हैं। अर्थात् अपना पद छोड़कर सम्पूर्ण गण को बालाचार्य के लिए छोड़ देते हैं। और इस तरह बालाचार्य ही यहाँ से उस गण का आचार्य समझा जाता है।

आचार्य समस्त अर्थात् चतुर्विध संघ से कहते हैं कि ज्ञान-दर्शन और चारित्रात्मक धर्मतीर्थ की व्युच्छित्ति न हो अतः सब गुणों से युक्त जानकर इसे मैंने अपना उत्तराधिकारी बनाया है। अब यह तुम्हारा आचार्य है। आप सब इस गण का पालन करें। इतना कहकर उस बालाचार्य को अनुज्ञा करते हैं। वे अपने द्वारा स्वीकृत उस आचार्य को संघ के मध्य में स्थापित करके तथा स्वयं अलग होकर बाल और वृद्ध मुनियों से भरे उस गण से मन, वचन और काय पूर्वक क्षमा याचना करते हैं। वे कहते हैं दीर्घकाल तक साथ रहने से उत्पन्न हुए ममता, स्नेह, द्वेष और राग वश जो कटु और कठिन (कड़े) वचन कहे गये हों उन सबके प्रति मैं क्षमा याचना करता हूं। समस्त संघ भी वन्दना करके, पंचांग नमस्कार पूर्वक संसार के दुःखों से रक्षा करने वाले, सबको प्रिय, उत्तम क्षमादि दस धर्मों में स्वयं प्रवृत्त और दूसरों को प्रवृत्त कराने वाले आचार्य से मन, वचन और काय पूर्वक क्षमा याचना करता है।

इसके बाद वे आचार्य पद से अन्तिम रूप में अनेक प्रकार की अच्छी शिक्षा रूप उपदेश चतुर्विध संघ के समक्ष प्रदान करते हुए कहते हैं कि जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये सूत्र आदि अर्थ में जो निपुण है, जिसने प्रायश्चित्त शास्त्र सुना है वह आचार्य अपने प्रयोजन की चिन्ता करते हुए भी जिन भगवान् की आज्ञा से गण की चिन्ता करता है। क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति में स्थित सभी श्रमणों और गृहस्थों को मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बढ़ाने वाला विहार तथा उत्तरोत्तर उन्नत अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार शुभ तिथि आदि से युक्त काल और देश में गणाधिपति आचार्य और गण को भी स्नेह सहित, माधुर्य युक्त, सारवान होने से गम्भीर, सुख से समझ में आने वाली चित्त को आनन्द दायक और हितकारी शिक्षा देते हैं।

नवनियुक्त आचार्य को उद्बोधन : शिक्षा देने के बाद वे आचार्य नव नियुक्त उत्तराधिकारी आचार्य को आशीर्वाद देते हैं और मार्मिक रूप में कर्त्तव्य बोध कराते हुए कहते हैं कि "उत्पत्ति स्थान में छोटी सी भी उत्तम नदी जैसे विस्तार के साथ बढ़ती हुई समुद्र तक जाती है उसी प्रकार तुम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शील और गुणों में सदा वृद्धि को प्राप्त होते रहो। तुम मार्जार अर्थात् विलाव के शब्द की तरह आचरण मत करना। क्योंकि विलाव का शब्द पहले जोर का होता है, फिर क्रम से मन्द हो जाता है। उसी प्रकार रत्नत्रय को भावना को पहले बड़े उत्साह से करके पीछे धीरे-धीरे मन्द मत करना। और इस तरह अपना और अपने संघ--इन दोनों का विनाश मत करना। प्रारम्भ में ही कठोर तप की भावना में लगकर आप और गण को भी उसी में लगाकर दुश्चर होने से विनाश को प्राप्त होंगे। क्योंकि जो जलते हुए अपने घर को भी आलस्यवश बचाना नहीं चाहता, उस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि वह दूसरे के जलते हुए घर को बचायेगा। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र विषयक अतिचारों को दूर करो। धार्मिकों और मिथ्यादृष्टियों के साथ विरोध नहीं करना चाहिए। चित्त की शान्ति भंग करने वाला वाद-विवाद भी नहीं करना चाहिए। क्रोधादि कषायें अपनी और दूसरे की मृत्यु में कारण होती है अतः ये विषरूप हैं और हृदय को जलाने के कारण वे आग की तरह हैं अतः उन्हें छोड़ना चाहिए।

आचार्य समझाते हुए आगे कहते हैं आगम के सारभूत रत्नत्रय में जो गण को और अपने को स्थापित करता है वही गणधर (आचार्य) कहलाता है। मेरे अधीन बहुत मुनि हैं अतः अपने आप में गणी होने का घमण्ड मत करना। जो उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण अथवा वसति को स्वीकार करता है उसके न तो प्राणिसंयम है और न इन्द्रियसंयम। अतः वह न तो यति है और न गणधर।

हमारा यह आचार्य (गुरु) आलोचित दोषों को दूसरे से नहीं कहता--ऐसा मानकर शिष्यों के द्वारा प्रकट किये अपराधों को किसी अन्य से मत कहो। कार्यों में समदर्शी ही रहो। और **बाल तथा वृद्ध यतियों से भरे गण की अपनी आँख की तरह रक्षा करो।** जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो अथवा वह दुष्ट हो उस क्षेत्र को त्याग दो, जिस क्षेत्र में प्रव्रज्या न हो अथवा संयम का घात हो उस क्षेत्र को त्याग दो। दुःसह परीषहों से और तीक्ष्ण आक्रोशवचन रूपी काँटों से पराभूत होकर भी धर्म की धुरा के भार को मत त्यागो। बाल और वृद्ध मुनियों से भरे हुए गण में सर्वज्ञ की आज्ञा से सदा अपनी शक्ति और भक्ति से वैयावृत्य करने में तत्पर रहो। क्योंकि सर्वज्ञदेव की आज्ञा है कि वैयावृत्य करना चाहिए। जैसे आचार्य की धारणा से संघ की धारणा होती है वैसे ही एक साधु की धारणा से अर्थात् वैयावृत्य करने से साधु समुदाय की धारणा होती है।

वृद्ध, अनशन आदि तप में तत्पर तपस्वी, बहुश्रुत और प्रमाण माना जाने वाला भी साधु आर्या स्त्री के संसर्ग से लोकापवाद का भागी होता है। अतः जो इनका ही नहीं अपितु बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप और कुरूप सभी प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के स्त्रीवर्ग में प्रमाद रहित होता है वही साधु ब्रह्मचर्य को जीवन पर्यन्त पार लगाता है।

इस प्रकार अच्छे-बुरे आश्रय के कारण पुरुष गुण-दोष को प्राप्त होता है अतः प्रशस्तगुण युक्त आधार (आश्रय) ही अपनाना चाहिए।

गण, गच्छ, कुल और इनके प्रमुख

मूलाचारकार ने जहाँ आचार्य के अनेक विशिष्ट गुणों का वर्णन किया है वहाँ संघ की विशेषताओं का भी काफी अच्छा प्रतिपादन किया है। साथ ही गण, गच्छ और कुल का भी उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से यह भी अवश्य स्पष्ट होता है कि वट्टकेर तथा वसुनन्दि की दृष्टि में संघ, गण, गच्छ और आदि में अन्तर स्पष्ट नहीं था। इस तरह के अन्तर का इन्होंने उल्लेख भी नहीं किया। किन्तु वट्टकेर कषाय के वशीभूत होकर संघ को तोड़ने वाली तथा एकाकी विहार आदि की प्रवृत्तियों के घोर विरोधी थे। इसीलिए उन्होंने आचार्य के सानिध्य में संघ में ही रहकर आत्म कल्याण करने के लिए पदे-पदे प्रेरित किया है। कुछ शिथिलाचारी साधु कषाय के वशीभूत होकर अन्त समय में संघ छोड़कर गण में प्रविष्ट हो जाते थे उनके विषय में क्षोभ व्यक्त करते हुए वट्टकेर ने कहा है कि गण में प्रवेश की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है क्योंकि विवाह से तो राग की ही उत्पत्ति होती है किन्तु गण तो अनेक दोषों की खान (उत्पत्ति स्थान) है।[1] फिर भी संघ की इकाई की दृष्टि से यदि गण, गच्छ आदि अपने स्वरूप और उद्देश्य के अनुसार कार्य करते हैं तो इनकी अपनी महत्ता है। क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार है—

गण और उसके प्रमुख—तीन पुरुषों के समुदाय[2] अथवा स्थविर-मर्यादा के उपदेशक या श्रुत में वृद्ध श्रमणों (स्थविरों) की सन्तति (परम्परा) या उनके समूह को गण कहते हैं।[3] कुल के समुदाय अथवा जिसमें तीन कुल के समुदाय शामिल हों वह गण है। गण में सम्मिलित होने के लिए श्रमण को अटूट श्रद्धा, मेधा, नम्रता, अपरिग्रह एवं बहुश्रुत आदि गुणों से युक्त होना अपेक्षित है।[4] गण

---

१. वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसणं।
विवाहे राग उप्पत्ति गणो दोसाणमागरो॥ मूलाचार १०।९२.

२. धवला १३।५, ४, २६।६३।८, त्रैपुरुषिको गणः—मूलाचार वृत्ति ४।१५३.

३. सर्वार्थसिद्धि ९।२४, पृ० ४४२, तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ९।२४, भाव पाहुड टीका ७८.

४. स्थानांगसूत्र पृ० ३५३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रमुख को गणाचार्य, गणी या गणधर कहते हैं । आचारांग की शीलांगवृत्ति में कहा है—जो आचार्य नहीं किन्तु बुद्धि से आचार्य के सदृश हों एवं गुरु की आज्ञा से साधु-समूह (श्रमण-गण) को लेकर पृथक् विहार करते हों वे गणधर कहलाते हैं ।[1] श्रुत ज्ञानावरण के प्रकृष्ट क्षयोपशम के निमित्त से गण के धारण करने में समर्थ होना गणधरत्व है ।[2]

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहार भाष्य में कहा है जैसे गाड़ी के धुरे के बिना चक्र नहीं चलता, वैसे ही गणाचार्य के बिना गण नहीं चलता ।[3] कल्पसूत्र टीका में कहा है—जो सूत्रार्थ का पूर्ण ज्ञाता हो, प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, व्यवहार-कुशल, जाति और कुल से सम्पन्न, गम्भीर, लब्धिमान्, उपदेशादि द्वारा शिष्यादिकों के संग्रह में तथा उपसंग्रह—से अनुग्रह करने में तत्पर हो तथा साध्वाचार में कुशल और विशिष्ट तप करने वाला और जिन-शासनानुरागी को गणी कहा जाता है ।[4] गच्छाचार पइन्ना में कहा है ज्ञान, दर्शन, और चारित्र इन तीनों में सम्पन्न, समयसारों में प्रेरक जो अपने को गण में प्रतिष्ठित करता है वह गणी (गणाचार्य)[5] है । इस प्रकार विशाल संघ से आचार्य की आज्ञानुसार निर्धारित श्रमणों के साथ अपने सम्यक् उद्देश्य की पूर्ति हेतु अलग विचरण करें वह श्रमणों का समूह गण है तथा उसके प्रमुख गणी या गणाचार्य हैं ।

गच्छ और उसके प्रमुख

वट्टकेर ने वैयावृत्य के प्रसंग में गच्छ का उल्लेख करते हुए आगन्तुक श्रमण द्वारा गच्छ में रहने वाले गुरु, बाल, वृद्ध, क्षीण शक्तिक और शैक्ष मुनियों की अपनी शक्ति के अनुसार प्रयत्नपूर्वक वैयावृत्ति करने को कहा है ।[6] वसुनन्दि ने ऋषियों के समूह (ऋषिकुल) को[7] अथवा चातुर्वर्ण्य श्रमण संघ को 'गच्छ' कहा

---

१. नो आयरिओ पुण जो, तारिसओ चेव होइ बुद्धीए ।
साहुगणं गहिऊणं, वियरइ सो गणहरो होइ ।।
आचाराङ्ग शीलांगवृत्ति २, १, १०, २७९ पृ० ३२२.

२. तत्त्वार्थ वार्तिक ८।१२।४१.

३. प्राकृत साहित्य का इतिहास पृ० २१८ से उद्धृत.

४. कल्पसूत्र : कल्पमञ्जरी टीका १-२, पृष्ठ ५४.

५. गच्छाचार पइन्ना ७।२०.

६. गच्छे वेज्जावच्चं गिलाणगुरु बालबुड्ढसेहाणं ।
जहजोगं कादव्वं सगसत्तीए पयत्तेण ।। मूलाचार ४।१७४.

७. गच्छ ऋषिकुलं—मूलाचार वृत्ति ४।१८५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं अथवा सात पुरुषों या तीन पुरुषों के समुदाय को 'गच्छ' कहा है।[१] मुख्यतः सात पुरुषों के समूह को गच्छ कहा जाता है।[२] धवला के अनुसार तीन पुरुषों का समुदाय गण है इसके ऊपर अर्थात् तीन से ज्यादा पुरुष का समूह गच्छ कहलाता है।[३] जिस गच्छ में ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की वृद्धि होती रहती है वही गच्छ उन्नत और धर्म ऋद्धि से महान् ऋद्धिशाली कहा जाता है वही गच्छ रत्न उत्पन्न करने वाले रत्नाकर के सदृश है, जिसमें रत्नत्रय उत्पन्न होते है, मात्र संख्या बढ़ाने से नहीं।[४] किन्तु जो गौरव से सहित आहार में लम्पट, मायाचारी, आलसी, लोभी तथा धर्म रहित है ऐसा शिथिल मुनि गच्छ में रहते हुए भी साधु समूह को नहीं चाहता। और जो प्रियधर्म, दृढ़धर्म आदि रूप विशिष्ट गुणों से रहित है वह आचार्य यदि आर्यिकाओं का आचार्यत्व करता है तो उसके चार काल (दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषण और आत्मसंस्कार रूप चार काल) विराधित होते हैं और गच्छ की विराधना हो जाती है।[५] अतः गच्छ के प्रमुख को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। गच्छ के प्रमुख गच्छाचार्य कहलाते हैं। इनका कार्य गच्छ के आचार की रक्षा करते हुए स्वयं श्रेष्ठ आचार का पालन करना है। किन्तु जो आचार्य मुँह से मीठा बोलता हुआ गच्छ के आचार की रक्षा नहीं करता वह गच्छ का अपकारी होता है। और जो मात्र मीठा ही न बोलकर समय आने पर ताड़ना के द्वारा भी गच्छ के आचार की रक्षा करता है वह कल्याणरूप आनन्द का देने वाला है।[६]

मूलाचार और इसकी वृत्ति में उल्लिखित 'गच्छ' के अध्ययन से ज्ञात होता संघ, गण और गच्छ में अन्तर स्पष्ट नहीं है।

कुल और उसके प्रमुख—एक ही आचार्य की शिष्य सन्तति (परम्परा) का नाम कुल है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य-परम्परा को कुल कहते हैं।[७] प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि लौकिक

---

१. ऋषि समुदाये चातुर्वर्ण्य श्रमण संघे वा सप्तपुरुषकस्त्रिपुरुषको वा गच्छः
—मूलाचारवृत्ति ४।१७४.

२. साप्तपुरुषिको गच्छः—मूलाचार वृत्ति ४।१५३.

३, तिपुरिसओ गणो। तदुवरि गच्छो। धवला १३।५, ४, २६।६३।८।
—मूलाचार वृत्ति ४।१५३

४. बृहत्कल्पभाष्य २११०-२१२२.

५. मूलाचार ४।१५३, १८५.

६. गच्छाचार पइन्ना–१७.

७. सर्वार्थसिद्धि ९।२४, पृ० ४४२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोषों से रहित जो जिनदीक्षा के योग्य होता है वह कुल है।[1] स्थानांग टीका के अनुसार कई गच्छों के समूह से कुल का निर्माण होता है।[2] कुल का एक प्रमुख होता है। मूलाचार में कहा है कि जब कोई श्रमण अन्य आचार्य के पास विशेष अध्ययन आदि के लिए जाता तो वे आचार्य इस नवागन्तुक श्रमण के परिचय में नाम, गुरु आदि के साथ ही 'कुल' की जानकारी भी प्राप्त करते थे।[3]

इनके अतिरिक्त भी जैन साहित्य में निम्नलिखित आचार्यों के उल्लेख मिलते हैं।

एलाचार्य :—गुरु (आचार्य) के पश्चात् जो श्रमण चारित्र का क्रम (उपदेश) श्रमणों और आर्यिकाओं को कहता है उसे अनुदिस या एलाचार्य कहते हैं।[4]

निर्यापकाचार्य :—देश संयम और सकलसंयम इन दोनों के छेद की शुद्धि के लिए प्रायश्चित देकर जो संवेग और वैराग्यवर्धक परमागम के वचनों द्वारा श्रमणों का संवरण करते हैं। उन्हें निर्यापक कहते हैं। इन्हें ही शिक्षागुरु या श्रुतगुरु भी कहते हैं।[5] निर्यापक संसार भीरु, पापकर्म भीरू या सर्वजिनागम के ज्ञाता होते हैं। और ऐसे ही निर्यापकाचार्य के पादमूल में समाधिमरणोद्यमी श्रमण आराधना की सिद्धि करता है। समाधिमरण का इच्छुक श्रमण तो पाँच से सात सौ योजन से भी अधिक विहार करके ऐसे शास्त्रोक्त निर्यापक का अन्वेषण करते हैं[6] क्योंकि निर्यापकत्व गुणधारक आचार्य ही समाधिमरण साधकर श्रमण का मन आह्लादित कर सकते हैं।[7] मूलाचार तथा इसकी वृत्ति में कहा है कि जैसे कर्णधार से रहित उत्तम रत्नों से भरी नौकायें नगर के समीप किनारे आकर भी प्रमाद के कारण डूब जाती हैं—वैसे साधु (क्षपक) रूपी नौकाएँ भी सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्ररूपी रत्नों से परिपूर्ण हैं और सिद्धि के समीप तक आ चुकी हैं, फिर भी निर्यापकाचार्य के बिना प्रमाद के निमित्त से वे क्षपक रूपी नौकाएँ संसार समुद्र में डूब जाती है। अतः इस तरफ सावधानी अपेक्षित है।[8]

---

१. प्रवचनसार ता० वृ० २०३, पृ० २७६.
२. स्थानांग टीका (अभयदेव सूरि) पृ० ५१६.
३. मूलाचार ४।१६६.
४. अनुगुरोः पश्चाद्दिशति विधत्ते चरणक्रममित्यनुदिक् एलाचार्यस्तस्मै विधिना—भ० आ० की मूलाराधना टीका १७७. पृष्ठ ३९५.
५. प्रचनसार ता० वृ० २१०.
६. भ० आ० ४००–४०१.
७. वही ५०६. विजयोदया सहित.
८. मूलाचार वृत्तिसहित २।८८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके अतिरिक्त नवनियुक्त उत्तराधिकारी आचार्य भी होते हैं जिन्हें बालाचार्य कहा जाता है। आवश्यक निर्युक्ति में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन निपेक्षों की दृष्टि से आचार्य के चार भेद किये हैं।[1] महानिशीथ में भावाचार्य को तीर्थंकर के समान समझने का निर्देश है।[2]

२. **उपाध्याय** : श्रमणसंघ में आचार्य के बाद उपाध्याय का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। नवकार में भी पंचपरमेष्ठी के रूप में उपाध्याय का चतुर्थ स्थान है। अर्थ और सूत्र के अधिकारी आचार्य और उपाध्याय होते हैं। अर्थ वाचना आचार्य देते हैं और सूत्र की वाचना देने का कार्य उपाध्याय करते हैं[3]। पास में आकर जिनसे अध्ययन किया जाए वे उपाध्याय है।[4] जिनके समीप जिनप्रवचन पढ़ा जाता है, वे सूत्र-प्रदाता मुनिवर उपाध्याय कहलाते हैं।[5]

आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने 'उज्झा' (उपाध्याय) पद की निर्युक्ति में कहा गया है कि 'उ' अर्थात् उपयोगकरण 'ज्झा' अर्थात् ध्यानकरण। इसप्रकार उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले को 'उज्झा' कहते हैं।[6] जो द्वादशांग का स्वयं अध्ययन करता है तथा दूसरों को वाचना रूप से उपदेश देता है उसे 'उपाध्याय' कहते हैं।[7] अपराजितसूरि के अनुसार उपाध्याय असमस्त श्रुतज्ञान के धारी, रत्नत्रय के अतिचारों के ज्ञाता, स्वाभाविक बुद्धिमान और जितेन्द्रिय महात्मा होते हैं। ये विवेच्य वस्तु का समस्त अङ्गोपाङ्ग स्वरूप, दृष्टान्त एवं युक्तिपूर्वक विवेचन करने वाले तथा कुपित क्षपक को भी अपनी मधुर वाणी से प्रसन्न करने वाले होते हैं।[8]

वस्तुतः जिनोपदिष्ट द्वादश अंग रूप श्रुत को स्वाध्याय कहा जाता है तथा

---

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ९८७-९८८.
२. जे ते भावायरिया ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा ...। महानिशीथ अ० १.
३. अत्थं वाएइ आयरियो, सुत्तं वाएइ उवज्झाओ। वृत्ति– अर्थप्रदा आचार्याः, सूत्रप्रदा उपाध्यायाः—ओघनिर्युक्ति वृत्ति।
४. उपेत्यास्मादधीयते उपाध्यायः—मूलाचार वृत्ति ४-१५५.
५. उप = समीपम् आगत्य अधीयते जिनप्रवचनं यस्मात्स उपाध्यायः—सूत्र—प्रदातेत्यर्थः—कल्पसूत्रटीका पृष्ठ ५०.
६. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ९९६.
७. वही गाथा ९९५.
८. भ० आ० विजयोदया टीका ५००.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय रूप इन द्वादशाङ्गों का अपने शिष्यों को जो उपदेश करता है, पढ़ाता है वह उपाध्याय कहलाता है।[1]

नियमसार में कहा है कि जो रत्नत्रय से युक्त, जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पदार्थों का उपदेश करने में कुशल और आकांक्षा रहित होते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।[2] धवला के अनुसार जो श्रमण चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों (श्रमणों) को उपदेश देते हैं वे श्रमण उपाध्याय कहलाते हैं। ये संग्रह और अनुग्रह गुणों को छोड़कर आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।[3] द्रव्य-संग्रह में कहा गया है कि जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं, नित्य धर्मोपदेशों में निरत है वह यतियों में श्रेष्ठ आत्मा उपाध्याय है।[4]

इसप्रकार उपाध्याय पद लिए शास्त्रों का विशेष अभ्यास ही प्रमुख कारण है क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है वही गुरु उपाध्याय कहलाता है। इनमें व्रत आदि के पालन की शेष विधि सभी श्रमणों के समान होती है।[5]

इस तरह आचार्य एवं उपाध्याय के स्वरूप विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन श्रमण संघ एक प्रकार चलते फिरते गुरुकुल थे, जिनमें सत्-शास्त्रों का सांगोपांग अध्ययन चलता रहता था। केवल जैन शास्त्रों का ही अध्ययन होता हो यह बात नहीं थी अपितु साहित्य की विविध विधाओं से परिचित कराया जाता था। तभी तो वे अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा अन्य मतों से परीक्षापूर्वक कर पाते थे। मूलाचार में उल्लिखित कौटिल्य, महाभारत, रामायण और ऋग्वेदादि[6] के नामों के उल्लेख से ग्रंथकार का बहुशास्त्रवेत्तृत्व गुण प्रकट होता है। उस समय और

---

१. (क) बारसंगं जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि॥ मूलाचार ७।१०, आवश्यक निर्युक्ति १०००.
(ख) बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे।
तं उवइस्संति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति॥ कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका पृष्ठ ५०.

२. नियमसार ७४.

३. धवला १।१।१ गाथा ३२ पृष्ठ ५१.

४. द्रव्यसंग्रह ५३.

५. पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध ६६१–६६२.

६. मूलाचार ५।६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष अध्ययन हेतु शिष्य श्रमण एक संघ या गण से दूसरे संघ या गण आते-जाते थे। ऐसे श्रमणों को आगन्तुक श्रमण कहा जाता था। आर्यिकायें भी संघ में अपनी शंकाओं का समाधान और अध्ययन आचार्य और उपाध्याय से करतीं थीं। स तरह समस्त शास्त्रों के गहनतम अध्ययन-अध्यापन रूप शैक्षाणिक प्रवृत्तियां का श्रमण संघ में अपना एक विशिष्ट एवं आश्चर्यकारी महत्व रहा है। इसमें जहाँ संघ के आचार्य का सानिध्य तथा उनका मार्गदर्शन बहुत महत्व रखता है वहाँ शैक्षणिक गतिविधियों में उपाध्याय की प्रमुख भूमिका रहती है।

३. **प्रवर्तक** : अल्पश्रुत का ज्ञाता होने पर भी जो संघ की सम्पूर्ण मर्यादा और चारित्र का ज्ञाता होता है, वह प्रवर्तक होता है। वसुनन्दि के अनुसार जो संघ का प्रवर्तन करते हैं वे प्रवर्तक कहलाते हैं।[1]

उपाध्याय से ज्ञान में ये अल्प (लघु) होते हैं। किन्तु सर्वसंघ की मर्यादा के योग्य आचार का इन्हें विशेष ज्ञान होने से ये प्रवर्तक कहलाते हैं।[2] संघ का प्रवर्तन (संचालन) करने वाले श्रमण प्रवर्तक कहलाते हैं।[3] कल्पसूत्र टीका में कहा गया है जो योग्य साधुओं को प्रशस्त योगों में प्रवृत्त करते हैं वे प्रवर्तक हैं। कहा भी है—जो योग्य मुनि को तप और संयम में प्रवृत्त करते हैं, और अयोग्य को हटाते हैं, इस प्रकार गण का कार्य करने वाले मुनि प्रवर्तक कहलाते हैं।[4]

संघ में प्रवर्तक का यह प्रमुण क़र्त्तव्य होता है कि साधु–साध्वियों के जीवन में आचार-विचार की सम्यक् व्यवस्था करे अथवा वैसी प्रवृत्ति जागृत करे तथा उसे वैसी ही शिक्षा देना चाहिए।[5]

४. **स्थविर** : चिरकाल से दीक्षित और मुनि-मार्ग के अनुभवी मुनिवर स्थविर मुनि हैं। वसुनन्दि के अनुसार जिनसे शिष्य के आचरण स्थिर होते हैं, वे स्थविर कहलाते हैं।[6] आचारांगसूत्र टीका में कहा है कि स्थविर का कार्य

---

१. प्रवर्तकः संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः –मूला० वृत्ति ४।१५५.

२. पवत्ती अल्पश्रुतः सन्सर्वसंघ मर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तकः—भ० आ० मूलाराधना गाथा ६२९, पृ० ८३१।

३. संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः –मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

४. यः प्रशस्तयोगेषु योग्यान् साधून् प्रवर्त्तयति अयोग्यांश्च निवर्त्तयति स प्रवर्त्तकः तदुक्तम्—

तवसंजमजोगेसु जोग्गं जो उ पवट्टए।
निवट्टए अजोग्गं च गणचिंती पवट्टगो ॥१॥ कल्पसूत्रटीका पृष्ठ ५३.

५ बृहत्कल्पसूत्र नियुंक्ति लघु भाष्य वृ० प्रस्तावना पृ० ६६.

६. यस्मात् स्थिराणि आचरणानि भवन्तीति स्थविरः—मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संघ में प्रवेश करने वाले साधु-साध्वियों को उनके धर्मानुकूल पवित्र आचार आदि की शिक्षा देना तथा उनके संयम-योग के नियमों-उपनियमों को स्थिर करना है।[1] कल्पसूत्र टीका में कहा है—मोक्षाभिलाषी, कोमल प्रकृति वाले और धर्मप्रिय किन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप उपादेय अर्थों से च्युत होने वाले और खेद का अनुभव करनेवाले मुनियों को अपने कर्त्तव्य का स्मरण कराकर और उनको इहलोक और परलोक सम्बन्धी हानियाँ बतलाकर संयमयोग में स्थिर करने वाले स्थविर कहलाते हैं। कहा भी है—संवेग (वैराग्य) से सम्पन्न, मृदुल-हृदय, धर्मप्रिय होते हुए भी जो ज्ञान-दर्शन-चारित्र में जिन अर्थों का परित्याग करने के लिए उद्यत हुए हैं उन साधुओं को उन अर्थों का जो स्मरण कराते हैं अर्थात् रत्नत्रय के परित्याग से होने वाली हानियाँ बतलाते हैं: वे स्थविर कहलाते हैं।[2] स्थविर पद पर भी वही प्रतिष्ठित हो सकता है जो श्रमण आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला, आचार, प्रवचन, प्रज्ञा, संग्रह और उपग्रह में कुशल, अखंड चारित्रवाला, असबलदोषी, अभिन्नाचारी, असंक्लिष्ट चारित्रवाले, बहुश्रुत, विद्यागामी, स्थानांग और समवायांग सूत्र के ज्ञाता हों। स्थविर के अतिरिक्त उपर्युक्त गुण गणी, गच्छावच्छेदक आचार्य, उपाध्याय एवं प्रवर्तिनी के लिए भी अपेक्षित माने गये हैं।[3] स्थानांगसूत्र में दस प्रकार के स्थविरों का उल्लेख मिलता है—ग्राम, नगर, राष्ट्र, पार्श्वस्थ, कुल, गण, संघ, वय, श्रुत और दीक्षा स्थविर।[4]

५. गणधर : जो गण को धारण करता है वह गणधर कहा जाता है।[5] जो आचार्य नहीं है किन्तु बुद्धि से आचार्य के सदृश हो और गुरु की आज्ञा से साधु—समूह को साथ लेकर पृथक् विचरता हो वह गणधर कहलाता है।[6]

---

१. आचारांग सूत्र (अभयदेव टीका) पृष्ठ ४८८.

२. संविग्गो मद्दविओ प्रियधम्मो नाण-दंसण-चारित्ते।
जे अट्ठे परिहायइ, सारेंतो सो हवइ थेरो ॥१॥
—कल्पसूत्र (कल्पमञ्जरी टीका) पृ० ५२.

३. बृहत्कल्पसूत्र लघु भाष्य वृ० पृ० ६३.

४. स्थानांग सू० १०।७६०.

५. गणं धरतीति गणधरः—मूलाचार वृत्ति ४।१५५.

६. आचार्य सदृशो गुर्वादेशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग्विहरति स गणधर इति।
तदुक्तम्—नो आयरिओ पुण जो, तारिसओ चेव होइ बुद्धीए।
साहुगणं गहिऊणं वियरइ सो गणहरो होइ॥
—कल्पसूत्र टीका सूत्र ६. पृ० ५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणधर का धर्म है--शास्त्र परम्परा को अविच्छिन्न रखना।[1]

श्वेताम्बर परम्परा में गणावच्छेदक नाम से एक अन्य पद का भी उल्लेख मिलता है। गण के एक विभाग के जो स्वामी हों तथा जो गण के कार्यों में उद्यत रहते हों वे गणावच्छेदक कहलाते हैं। कहा भी है—जिनशासन की प्रभावना करने में गण के हित के लिए दूर के क्षेत्र में भी जाने में और क्षेत्र (ग्राम आदि योग्य स्थान) और उपधि की गवेषणा करने में खिन्न न होने वाले तथा सूत्र-अर्थ के ज्ञाता गणावच्छेदक कहलाते हैं।[2]

इस तरह आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर—ये संघ के पाँच आधार हैं। ये सभी जिस संघ में होते हैं उसमें सुव्यवस्था के साथ ही व्यक्तित्व के विकास के सभी साधन भी उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार श्रमण संघ के अन्तर्गत कार्य-विभाजन की दृष्टि से आचार्य का कार्य सूत्र के अर्थ की वाचना देना और संघ का सर्वोपरि संचालन एवं मार्ग-दर्शन करना है। उपाध्याय का कार्य सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना है। प्रवर्तक का कार्य है संघ का प्रवर्तन करना तथा अपने आचार्य द्वारा बताई हुई धार्मिक प्रवृत्तियों में, सेवा आदि कार्यों में श्रमणों को नियुक्त करना। स्थविर का कार्य श्रमणों को संयम में स्थिर करना, श्रमणधर्म (श्रामण्य) में विचलित हुए मुनियों को पुनः स्थिर करना। उनकी आन्तरिक और बाह्य समस्याओं के समाधान की व्यवस्था करना है। तथा गणधर का कार्य है श्रमणों की दिनचर्या का ध्यान रखना और अपने धर्म की प्रभावना करना।

संघ के ये पाँच आधार कार्य विभाजन के आधार पर आधारित हैं।

चातुर्वर्ण्यसंघ

ऋषि, मुनि, यति और अनगार—ये चार प्रकार के श्रमण चातुर्वर्ण्य संघ के अन्तर्गत आते हैं। क्रमशः इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. **ऋषि**—ऋद्धि प्राप्त श्रमण ऋषि कहलाते हैं। इन्द्रियों को जीतने वाले, रागद्वेष और मोह का क्षय करके ध्यान रूप शुद्धोपयोग में युक्त रहकर

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र बृहद् वृत्ति, पत्र, ५८४.

२. (क) गणस्य अवच्छेदः—विभागः अंशोऽस्ति यस्यासौ तथा, गणैकांशस्वामी।
कल्पसूत्र कल्पमंजरी टीका पृष्ठ ५०.

(ख) पभावणुद्धावणेसु खेतोवज्झेसणासु य।
अविसाई गणावच्छेयगो सुत्तत्थवी मओ॥ वही १ पृ० ५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पूर्ण कर्मों का विनाश करने वाले महर्षि हैं।[1] राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि के भेद से ऋषि के चार भेद हैं, जिनका स्वरूप विवेचन पहले किया जा चुका है।

२. **मुनि**—ज्ञान की आराधना-मनन करने वाला 'मुनि' कहलाता है। इस प्रकार मनन मात्र भावस्वरूप होने वाला मुनि होता है।[2] जो स्व-पर के अर्थ (प्रयोजन) सिद्धि (सर्वार्थसिद्धि) को जानते और मानते हैं वे मुनि हैं अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान से युक्त मुनि कहलाते हैं।[4] आप्त-विद्या (आगम) में वृद्ध और मान्य होने से महापुरुषों में 'मुनि' संज्ञा प्रसिद्ध है।[5] मननात् मुनिः—इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो आत्मा का मनन करे वह मुनि है।

आचारांग सूत्र में मुनि-जीवन की स्थिरता के सुन्दर सात सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है[1]—

१. आज्ञाप्रियता—अर्थात् ज्ञान और उपदेश।

२. स्नेह-मुक्ति।

३. पूर्वरात्र (रात्रि के प्रथम दो प्रहर) तथा अपररात्र (रात्रि के शेष दो प्रहर) में यतना अर्थात् दो या तीन प्रहरों में जागृत रहकर ध्यान और स्वाध्याय करना, अप्रमत्त रहना 'यतना' है।

४. शील-संप्रेक्षा—महाव्रतों का अनुशीलन, इंद्रियों का संयम, मन, वाणी और काय की स्थिरता, क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह। यह शील है तथा इसका सतत् दर्शन—'शील-संप्रेक्षा' है।

५. लोकसार का श्रवण अर्थात् लोक में सारभूत तत्त्व—ज्ञान-दर्शन और चारित्र का श्रवण।

६. कामना का परित्याग।

७. कलह का परित्याग।

---

१. एवं णियाय मुणिणा पवेदितं—इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए, सुणिया भवे अकामे अझंझे।
—आयारो-पंचम लोकसार अध्ययन तृतीय उद्देशक सूत्र ४४ तथा टिप्पण पृ० २१३-२१४.

१. मूलाचार ९।११५.

२. नाणेण उ मुणी होई—सूत्रकृतांग १।१३।२२.

३. मननमात्रभावतया मुनिः—समयसार-आत्मख्याति १५१.

४. मूलाचार वृत्ति ९।१२०.

५. मान्यत्वादाप्तविधानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः—यशस्तिलक चम्पू ८।४४, २६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. **यति**—इन्द्रियजय द्वारा शुद्धात्म-स्वरूप के प्रयत्न में तत्पर रहने वाला यति कहलाता है।[1] जो तेरह प्रकार के चारित्र में प्रयत्न करते हैं अथवा उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी में आरोहण करने में तत्पर 'यति' कहे जाते हैं।[2]

४. **अनगार**—सामान्य साधु को अनगार कहते हैं।[3] अगार अर्थात् गृह, स्त्री इत्यादि—इन सबका त्याग करने वाला सामान्य श्रमण अनगार कहलाता है।[4] उपभोगित पुष्पों की तरह धन, पशु, कनक आदि समृद्धि एवं बन्धु-बान्धवों को छोड़कर जो व्यक्ति घर में रहने की कामना से पूर्ण विरक्त हो जाते हैं वे वीर पुरुष अनगार कहलाते हैं।[5] जिन संयोगों में गृहस्थ उलझ जाते हैं उन सबका गृहत्यागी एवं प्रव्रजित अनगार ज्ञान द्वारा त्याग कर देते हैं, क्योंकि गृहस्थ जीवन राग-द्वेष एवं आरम्भादि को उत्पन्न करने वाला होता है। वह मृत्युपर्यन्त अपरिग्रही, निदानरहित और शरीर की ममता को छोड़कर शुक्लध्यान का ध्याता बनता है। ममत्व, अहंकार एवं आश्रव से रहित होकर वह अनगार केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अनगार अवस्था धारण करने की अपनी एक प्रक्रिया है। सीधे एक साथ ही कोई अनगार नहीं बन जाता। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्यव्रत, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्टत्याग—श्रावक की ये ग्यारह प्रतिमायें अनगार अवस्था तक पहुँचने की सीढ़ियाँ हैं। ये ही श्रावक की क्रमशः आत्मोन्नति को सूचक हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा में पहुँचते-पहुँचते वह लंगोटीमात्र का धारी (ऐलक) बनकर आगे अनगार बनने का पूर्ण अभ्यास कर लेता है तब कहीं अनगार दीक्षा उसे दी जा सकती है। मुमुक्षु श्रावक में जब वैराग्य उत्पन्न होता है तब वह इन ग्यारह प्रतिमाओं आदि को धारण करके श्रमण संघ में रहकर भी पूर्ण ब्रह्मचर्य, क्षुल्लक तथा ऐलक आदि अवस्थाओं में पूर्ण अभ्यस्त होकर अनगार के सर्वथा योग्य बन जाता है, तब कहीं उसकी योग्यता की परीक्षा लेकर उसे चतुःसंघ के समक्ष विधि-पूर्वक दीक्षा द्वारा अनगार बनाते हैं।

---

१. इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति ६९.
२. त्रयोदशविधे चारित्रे यतन्त इति यतयोऽथवोपशमक्षपकश्रेण्यारोहणपरा यतयः —मूलाचारवृत्ति ९।१२०.
३. अनगाराः सामान्य साधवः—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २४९.
४. न विद्यतेऽगारं गृहं स्त्र्यादिकं येषां ते अनगाराः—मूलाचारवृत्ति ९।२.
५. मूलाचार ९।८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनगार भावना के दस सूत्र :

एक सच्चे अनगार को जिन शुद्धियों का निरन्तर ध्यान रखने, उनकी भावना भाते रहने और आचरण में लाने का विधान है, अनगार भावना के वे दस सूत्र[1] निम्नलिखित हैं—

१. लिंगशुद्धि : लिंग का अर्थ है चिह्न। विशुद्ध निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करके तदनुरूप आचरण करना अनगार भावना का प्रथम सूत्र है। दूसरे शब्दों में शरीर के संस्कार जैसे—स्नान, आदि सबका पूर्ण त्याग करके पूर्ण नग्नता धारण करना, केशलोंच करना, संयमार्थ हाथ में पिच्छि रखना, रत्नत्रय एवं तप का आचरण करना लिंगशुद्धि है।[2] वस्तुतः संयम-यात्रा के निर्वाह हेतु और—'मैं साधू हूँ' इसका बोध करने के लिए लोक में लिंग (वेष धारण) का प्रयोजन है।[3] भावों की विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। वह द्रव्यलिंग है तथा देह की ममता से रहित, मान आदि कषायों से पूरी तरह मुक्त है वही स्वात्मा में लीन श्रमण भावलिंगी है।[4] इस प्रकार मूर्च्छा, आरम्भ और परापेक्षा रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त लिंगशुद्धि मोक्ष का कारणभूत होती है।

लिंग के चार भेद हैं—अचेलकत्व, केशलोंच, शरीर-संस्कार का त्याग और प्रतिलेखन।[5] इनमें अचेलकत्व निःसंगता का चिह्न है, लोच से सद्भाव ज्ञात होता है, व्युत्सृष्टदेहत्व वीतरागता का चिह्न है तथा प्रतिलेखन दयापालन का चिह्न है।[6] लिंगशुद्धि युक्त दृढ़बुद्धि वाले श्रमण तपों में उत्साहयुक्त, कर्मक्षय में तत्पर एवं भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित परमार्थ में सदा अनुरक्त रहते हैं।[7] जन्ममरण से उद्विग्न, संसारवास एवं उसके दुःखों से भयभीत रहते हुए

---

१. लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं च।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं॥ मूलाचार ९।३.

२. मूलाचारवृत्ति ९।३.

३. उत्तराध्ययन २३।३२.

४. भावपाहुड ३।५६.

५. मुच्छारं भविजुत्तं जुत्तं उपजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अवुणभवकारणं जेण्हं॥ समयसार २०६.

६. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठ सरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हुए लिंग कप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो॥ मूलाचार १०।१७.

७. मूलाचारवृत्ति, १०।१७.

८. मूलाचार ९।११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनवरवृषभ एवं वर्धमान आदि के धर्मतीर्थ पर ही त्रिविध श्रद्धान करते हैं, अन्य धर्मतीर्थों पर नहीं।[1]

२. **व्रतशुद्धि** : पापों से विरक्त होना व्रत है। वृत्तिकरण, छादन, संवर और विरति—ये सब 'व्रत' के पर्यायवाची नाम हैं।[2] वैराग्ययुक्त श्रमण द्वारा प्राणिवध, मृषावाद आदि पाँच पापों का मन, वचन, काय से त्याग करके अहिंसा, सत्यभाषण, आदि पाँच महाव्रतों का धारण करना व्रतशुद्धि है।[3]

३. **वसतिशुद्धि** : सामान्यतः श्रमण नगर में पाँच दिन और ग्राम में एक रात्रि ठहरते हैं। जब वे विहार करते हैं उस समय गृह आदि आश्रयस्थल की अपेक्षा उन्हें नहीं होती, जहाँ सूर्यास्त होता है वहीं प्रासुक स्थान में निर्भयता पूर्वक ठहर जाते हैं। चाहे वह स्थल जल से विदीर्ण, पर्वत की गुफा, कन्दरा, शून्यघर, श्मशान आदि भले ही हो, पर वह प्रासुक, एकाकी और विकलता रहित स्थल होना चाहिए। श्रमण सदा प्रासुक प्रदेश में विहार करते हैं तथा स्त्री पुरुषादि से वर्जित एकान्त स्थलों में ही निवास करते हैं। ऐसे स्थलों के अन्वेषण में वे गन्धहस्ति के सदृश धीर होते हैं तथा शुक्लध्यान में रत रहकर मुक्ति रूप उत्तम सुख प्राप्त करते हैं। वसतिकाओं से अप्रतिबद्ध रहना ही वसति शुद्धि है। इसी के द्वारा वे उपर्युक्त स्थलों में रहते हुए वीर प्रभु के वचनों में क्रीड़ा करते हैं।[4]

४. **विहारशुद्धि** : श्रमण अनियत विहारी होते हैं। क्योंकि एक स्थल पर बहुत समय तक रहने से प्रमाद और आलस्य में वृद्धि होती है। गृहस्थों आदि से स्नेह-परिचय हो जाता है, इससे संयम में शिथिलता आती है। जबकि ग्रामानुग्राम विहार से निर्लेपता और सहनशीलता बनी रहती है अतः जैसे हवा मुक्त, निरपेक्ष और स्वच्छंद रूप में नगर और खानों आदि से विभूषित पृथ्वी पर सर्वत्र बहती है वैसे ही श्रमण सभी तरह के परिग्रहों से मुक्त, निरपेक्ष एवं स्वतंत्ररूप में विचरण करते हैं।[5] विहार शुद्धि में यह भी आवश्यक है कि जहाँ ज्ञान-दर्शन-चारित्र में वृद्धि हो अर्थात् विशुद्ध संयम का पालन हो वहीं विहार

---

१. मूलाचार ९।१०.

२. णाऊण अब्भुवेच्चय पावाणं विरमणं वदं होई।
विदिकरणं छादणं संवरी विरदित्ति एगट्ठो॥
—भ० आ० वि० टी० ४२१, पृ० ६१४.

३. मूलाचार ९।१२-१४.

४. वही ९।१८-२२.

५. मूलाचार ९।३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चाहिए। विहारशुद्धि युक्त श्रमण उपेक्षावृद्धि, माध्यस्थभाव, उपशान्त, अदीन, निभृत, निराकांक्ष और अशठ—इन गुणों से युक्त, कामभोगों को सदा के लिए भूल जाने वाले तथा जिनेन्द्रदेव के वचनों में अनुरक्त होते हैं।[1] अनियतविहारी होते हुए भी वे ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर श्रुतज्ञानरूपी दीपक की सहायता से अगर्भवास (मोक्ष) की विशेष इच्छा रखते हुए वीतराग भावनाओं में निरत, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-योग और वीर्य के साथ वैराग्य का चिन्तन करते रहते हैं।

५. **भिक्षा शुद्धि** : भिक्षा शुद्धि का अर्थ है विधिपूर्वक विशुद्ध आहार ग्रहण करना अर्थात् औद्देशिक, क्रीत, अज्ञात, शंकित, अभिघट दोषयुक्त तथा आगम-विरुद्ध एवं आगमनिषिद्ध आहार का पूर्णतः त्याग करना तथा मन, वचन, काय, एवं कृत, कारित और अनुमोदना रूप नव कोटियों से विशुद्ध, शंका-कांक्षादि दस दोषों और नख, रोमादि चौदह मलों से रहित ऐसे विशुद्ध आहार को परगृह में दूसरों अर्थात् श्रावकों के द्वारा दिये आहार को अपने पाणिपात्र में ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है।[2] इसके अन्तर्गत अविवर्ण, प्रासुक, प्रशस्त और एषणा समिति से विशुद्ध आहार, नियत समय पर, दिन में एक बार ही ग्रहण करना तथा आहार ग्रहण के बाद दोषों के नाशार्थ प्रतिक्रमण करना चाहिए।[3]

६. **ज्ञानशुद्धि** : ज्ञानरूपी दृष्टि को प्राप्त करके ज्ञान-प्रकाश से परमार्थ को देखना, निःशंकित, निर्विचिकित्सा और आत्मबल के अनुसार पराक्रम (उत्साह) को धारण करना ज्ञानशुद्धि युक्त अनगार के लक्षण है। ऐसे ही ज्ञान विषयक परमार्थ, अष्टांग निमित्त आदि के ज्ञाता श्रमण पदानुसारी बुद्धि, बीज बुद्धि, संभिन्न बुद्धि और कोष्ठ बुद्धि—इन चार बुद्धियों से सम्पन्न, बारह अंग और चौदह पूर्व के धारण और ग्रहण में समर्थ तथा धीर होते हैं।[4]

७. **उज्झन शुद्धि** : उज्झन शुद्धि से तात्पर्य शरीर संस्कार का त्याग करके अपने शरीर के प्रति ममत्व भाव से रहित होना है। बन्धु-बान्धवों के प्रति तथा अपने नाशवान् शरीर के प्रति स्नेह और राग रहित होना उज्झन शुद्धि है। शरीर में रोग आदि उत्पन्न होने पर मन को खेद-खिन्न, विकल तथा आकुल न करके औषधि या चिकित्सा की इच्छा न करना और शरीर के विषय में प्रतिकार

१. मूलाचार ९।३७-३९.
२. वही, ९।४१-४२.
३. वही, ९।४६-४५.
४. वही, ९।५५, ६१, ५३.
५. वही, ९।६२, ६५-६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहित होकर उपस्थित व्याधि और रोगों को धैर्यपूर्वक सहना उज्झन शुद्धि है। इसके लिए गृहस्थाश्रम के समय जिन इन्द्रिय विषय भोगों का उपभोग किया हो एवं विविध रतिक्रीड़ाओं, ऋद्धि तथा भोजनादिक भोगों का उपभोग किया हो उन सबका श्रमण जीवन में कभी स्मरण तक नहीं करना चाहिए।[1]

८. **वाक्य-शुद्धि** : विनयरहित भाषा, धर्म विरोधी वचनों एवं लौकिक कथाओं का वर्जन करके कलह, द्वेषादि भावयुक्त भाषण न करना, नेत्रों से सब कुछ देखते हुए एवं कानों से बहुविध शब्दों को सुनते हुए भी मूक के समान रहना वाक्यशुद्धि है।[2] इसके अन्तर्गत जीवों के सन्ताप को दूर करने वाली, इह-परलोक हितकारी, धर्ममयी, समयोपचार आगम और विनय) युक्त तथा जिनोपदिष्ट तत्त्वार्थों की कथाओं का कथन करते हैं।[3] स्त्री, अर्थ, भक्त, (भोजन) खेट, (चारों ओर नदी पर्वतों से घिरा हुआ देश) कर्वट (सर्वत्र पर्वतों से घिरा हुआ देश), राजा, चोर, जनपद, नगर, आकर, नट, भट (योद्धा), मल्ल, मायाकर, (जादूगर), जल्ल, (मछली, पक्षी आदि पकड़ने वाले) मुष्टिका (जुआड़ी) आर्यकुल, (दुर्गा आदि का आम्नाय अथवा बकरा आदि सभी पशु पालक) लंघिका (वस्त्र, बांसुरी आदि में कुशल) इत्यादि प्रकार की लौकिक तथा राग कथाओं में वे धीर श्रमण अनुरंजित नहीं होते।[4] और न इन विकथाओं एवं विश्रुतियों (रत्नत्रय और तप के प्रतिकूल वचनों) का क्षण भर के लिए भी हृदय में चिन्तन करते हैं।[5] कौत्कुच्च (कण्ठ और हृदय से अव्यक्त शब्द), कंदर्पायित (कामोत्पादक भाषण), हास्य, उल्लापन (चातुर्यपूर्ण विविध भाषण), खेड (उत्पातपूर्ण वचन) और मददर्प (अपने हाथ से दूसरे का हाथ मरोड़ना अर्थात् हस्त ताडन) आदि क्रियायें मुनि न स्वयं करते हैं, न दूसरों से कराते हैं और ऐसा करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते। वे तो निर्विकार, स्तिमितमति श्रमण अपने नियमों और व्रतों में दृढ़ प्रतिज्ञ रहते हैं तथा जिन-

---

१. मूलाचार ९।७०, ८४, ७३-७४, ८५-८६.
२. वही, ९।८७-८८।
३. वही, ९।९४।
४. इत्थिकहा अत्थकहा भत्तकहा खेडकव्वडाणं च।
रायकहा चोरकहा जणवदणयरायरकहाओ॥
णडभडमल्लकहाओ मायाकरजल्लमुट्ठियाणं च।
अज्जउललंघियाणं कहासु ण वि रज्जए धीरा॥ वही, ९।८९-९०.
५. वही, ९।९१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वचनों (आगम) द्वारा प्रतिपादित अर्थयुक्त उन कथाओं को कहते हैं जो कि समयोपचार (पथ्य) युक्त तथा परलोक हितकारी होती हैं।[1]

९. तपः शुद्धि : पाँच महाव्रतों एवं पाँच समितियों के आचरण से युक्त, धीर, पचेन्द्रियों के विषय से विरक्त[2] श्रमण पंचमगति (सिद्धगति) के अन्वेषक तपः शुद्धि के स्वामी होते हैं।[3] वे पंचेन्द्रियों को रागभाव से कभी बँधने नहीं देते अपितु जैसे तीव्र उष्णता के प्रभाव से हल्दी द्वारा रंगे गये वस्त्रों का रंग नष्ट हो जाता है। वैसे ही सदाचार के प्रभाव से उनका रागभाव नष्ट हो जाता है[4] क्योंकि वे प्रमादपूर्ण आचरणों से सर्वथा रहित, संयम, समिति, ध्यान, योग, तप, चरण और करण—इनसे युक्त तथा पापों के शमन में तत्पर रहते हैं। तपः शुद्धि युक्त श्रमण नलिनी वन का भी विनाश करने वाली अत्यधिक हेमन्त ऋतु की ठण्ड और शरीर पर गिरने वाले हिमकणों को धैर्यपूर्वक सहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में सर्वांग से उत्पन्न मल से मलिन तथा उष्ण किरणों से दग्ध अंगों से निश्चल कायोत्सर्ग मुद्रा में सूर्य की ओर मुख करके आतापन योग करते हैं। वर्षाऋतु में घारान्धकार से गहन, घोर गर्जना करने वाले तथा प्रवर्षणशील मेघों तथा प्रचण्ड हवा की बाधा सहन करते हुए अहर्निश मूसलाधार वर्षा में भी वृक्ष के मूल में ध्यानस्थ रहकर वृक्षमूलयोग करते हैं। कर्मों के क्षयार्थ बाईस परीषहों की वेदना तथा मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रयुक्त दुर्जन वचनों एवं विविध उपद्रवों को समतापूर्वक सहते हैं।[5]

१०. ध्यानशुद्धि : इन्द्रियरूपी अश्व राग-द्वेष से प्रेरित होकर धर्मध्यान रूपी रथ को उन्मार्ग की ओर न ले जायें अतः मनरूपी लगाम से दृढ़ करना, राग-द्वेष और मोह को रत्नत्रय रूपी वृत्ति से जीतकर पंचेन्द्रियों को व्रत और उपवासों के प्रहारों से वश में करना तथा निर्मल ध्यान रूप शुद्धोपयोग में तत्पर होना ध्यानशुद्धि है। जैसे वृक्ष को मूल से उखाड़ देने पर पुनः उत्पन्न नहीं होता वैसे ही ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की मूलभूत इन कषायों को क्षमादि धर्मों के द्वारा क्षय करने से वे पुनः उत्पन्न नहीं होती। इन कषायों का क्षय होने पर तथा आर्त और रौद्र ध्यान का त्याग करके धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निविष्ट होना ही ध्यानशुद्धि है।[6]

---

१. मूलाचार ९।९२-९४
२. वही, ९।१०५.
३. वही, ९।१९६.
४. वही, ९।९६.
५. वही, ९।९७-१०१, १०३.
६. वही, ९।११३-११७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार महान् गुणों से युक्त विविध शास्त्रों के सारभूत ये उपर्युक्त दस अनगार भावना के दस सूत्र हैं। जो उद्योगशील संयत इस चर्याविधान और संयम राशि को अपने उपयोग को लगाये रखता है वह ज्ञान, दर्शन और मूलगुणों की सम्पूर्णता को धारण करके उत्तम स्थान को प्राप्त करता है।[1]

अनगार के पर्यायवाची दस नाम—श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतरागी, अनगार, भदन्त, दान्त और यति—ये दस अनगार के ही पर्यायवाची नाम हैं।[2] इनमें से ऋषि, मुनि, यति और अनगार का स्वरूप विवेचन चातुर्वर्ण्य संघ के प्रसंग में किया जा चुका है। अनगार के शेष नामों का स्वरूप वर्णन प्रस्तुत है—

श्रमण :—श्रमण शब्द बहुत प्राचीन और व्यापक है। अनेकों जैनेतर शास्त्रों में श्रमण शब्द से जैन मुनियों का उल्लेख किया गया है।[3] श्रमण शब्द का अर्थ है जो श्रम अर्थात् तपश्चरण करते हैं।[4] समत्व की साधना अथवा जो श्रम अर्थात् तपःसाधना करता है, तप से शरीर को खेद-खिन्न करता है वह श्रमण है।[5] श्रमण शब्द की निष्पत्ति श्रम धातु से हुई है। श्रमयति आत्मानं तपसि असौ श्रमणः —इस विग्रह के अनुसार जो व्यक्ति अपने को तप में लगा दे वह श्रमण है। वट्टकेर ने ऐसे मुनियों को 'उद्यमशील' श्रमण कहा है। और ऐसा ही श्रमण यथाविधि चर्या विधान द्वारा ज्ञान गुण से संयुक्त होता हुआ संयमराशि को ग्रहण करता है और वही दर्शन एवं ज्ञान से परिपूर्ण होकर उत्तमस्थान (मोक्ष) प्राप्त करता है।[6] जो आत्मा और परमात्मा के लिए श्रम करे वह श्रमण है। श्राम्यन्तीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः—जो अपने श्रम से तपःसाधना के महापथ पर बढ़ते हुए मुक्तिलाभ करते हैं उन्हें श्रमण कहा जाता है।[7] प्रवचनसार में कहा है—जो

---

१. मूलाचार ९।२, १२२, १२४.

२. समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामादि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंदोत्ति ॥ मूलाचार ९।१२०.

३. ऋग्वेद १०।९४।११, श्रीमद् भागवत १२।३ १८-१९, ५।३।२०, वृहदारण्यक ४। ३।२२, तैत्ति० आरण्यक, २, ७, , शतपथ ब्राह्मण, १४. ७. १. २२, बौधायन, श्रौतसूत्र, १६, ३०.

४. श्राम्यंति तपस्यन्तीति श्रमणा मुनय : —मूलाचारवृत्ति ४।१.

५. श्राम्यति-तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्यः—सूत्रकृताङ्ग १।१६,१. आ० शीलांककृत टीकापत्र २६३.

६. मूलाचार ९।१२२, १२४.

७. दशवै० हारिभद्रीय टीका पत्र ६८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शत्रु और बन्धु-बान्धवों में समान है। निंदा और प्रशंसा में समान है। पाषाण और स्वर्ण में समान है तथा जीवन और मरण में समान है वही श्रमण है।[1] जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है वह वास्तव में श्रमण है।[2] आ० कुन्दकुन्द ने कहा है—णच्चदि गायदि न सो समणो—जो नाचने-गाने अर्थात् सांसरिक आनन्द भोग आदि क्रियाओं में रमा रहता है वह श्रमण नहीं हो सकता।[3] इन्होंने भाव प्राभृत में कहा है "भावेण य णिम्ममा समणा"—अर्थात् श्रमण भाव से निर्मम होता है।[4] जिसका मनोयोग शुभ हो वह श्रमण-समण-सुमन-प्रशस्त मन वाला कहलाता। श्रमण शब्द जैन मुनि की कठोर तपस्या का प्रतीक माना गया है।[5] नयचक्र में चारित्र के अन्तर्गत श्रमण का लक्षण कहा है कि जो दर्शन-विशुद्धि, मूल एवं उत्तरगुणों से संयुक्त, सुख-दुख में समभाव रखने वाला तथा आत्म-ध्यान में लीन रहने वाला श्रमण कहलाता है।[6]

चारित्र की दृष्टि से श्रमण के सराग चारित्र और वीतराग चारित्र ये दो भेद हैं। अशुभ राग से रहित, व्रतादिक शुभराग से संयुक्त श्रमण सराग चारित्र-धारी और अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकार के राग से रहित श्रमण वीतराग चारित्र-धारी कहलाता है।[7]

श्रमण जीवन में वैराग्य की महत्ता :—श्रमण बिना वैराग्य धारण किये बना ही नहीं जा सकता क्योंकि इस जीवन में वैराग्य को मुख्य भूमिका और महत्ता होती है। रागादि भावों से मुक्त, शरीर संस्कार एवं भोगादि सांसारिक विषयों से विरक्त होना वैराग्य है। धैर्य और वैराग्य में तत्पर श्रमण अल्प (स्फुट) सामायिक आदि स्वरूप का सम्यक् अवधारण करके अर्थात् सामायिकादि का थोड़ा सा स्वरूप पढ़कर भी कर्मक्षय कर सकते हैं, किन्तु सब शास्त्र पढ़कर भी वैराग्यहीन श्रमण कर्मक्षय करने में समर्थ नहीं हो सकता।[8] यथार्थ चारित्र का पालन करने वाला थोड़ा शिक्षित (अल्पज्ञ) श्रमण भी बहुश्रुत किन्तु

---

१. समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥ प्रवचनसार ३।४१.

२. समे य जे सव्व पाणभूयेसु, से हु समणे—प्रश्न व्याकरण। २।५.

३. लिङ्ग पाहुड ४-२१.

४. भाव पाहुड १०५.

५क. श्राम्यंतीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः—दशवै०हारिभद्रीय वृत्ति १।३. पत्र ६८.
ख. श्राम्यन्त्यात्मानं तपोभिरिति श्रमणाः—मूलाचारवृत्ति ९।१२०.

६. नयचक्र ३३०. ७. नयचक्र ३३१.

८. मूलाचार सहित वृत्ति १०।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्रहीन श्रमण से श्रेष्ठ माना गया है।[1] वस्तुतः अन्तरंग में वैराग्य उत्पन्न होने और बहुत समय से दीक्षित होने में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि दीक्षित होने में वर्ष गणना नहीं करना चाहिए। मुक्ति के कारण में वर्षों की गिनती (बहुत काल से दीक्षित होना) किसी काम की नहीं। क्योंकि बहुत से मुनि तो तीन रात्रि मात्र तथा कुछ अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही वैराग्य-परायण होकर सिद्ध गति प्राप्त कर लेते हैं।[2] रयणसार में ठीक ही कहा है कि वैराग्य के बिना सही अर्थों में त्याग हो ही नहीं सकता।[3] वैराग्यपूर्वक सम्यक् चारित्राचरण सार्थक माना जाता है। इसकी प्राप्ति के निम्न सूत्र हैं—कृत्, कारित और अनुमति रहित भिक्षाग्रहण, अरण्यवास, प्रमाणयुक्त स्वल्पाहार, बहुत न बोलना, दुःखसहन करना, निद्रा जीतना, मैत्रीभाव और वैराग्य को अच्छे मन से धारण करना, अव्यवहारी(लोकव्यवहार रहित) होना, एकत्व भावना और ध्यान में मन एकाग्र रखना, आरम्भ, कषाय, परिग्रह—इनसे रहित होना तथा अप्रमत्तभाव से किसी का संग न करना[4]—ये सूत्र समस्त प्रवचन के सारभूत तथा वैराग्य रूप समय (आत्मा) के सार हैं।[5] जो भाव (अन्तरंग) से विरक्त होता है वही सच्चा विरक्त है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा भी है कि जो साधु वैराग्य में तत्पर होता है वह परद्रव्य से पराङ्मुख रहता है और जो साधु संसार सुख से विरक्त रहता है वह स्वकीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होता है।[6] इस प्रकार श्रामण्य की सच्ची सफलता निरन्तर वैराग्य को बढ़ाते हुए मोक्ष प्राप्त करने में है। क्योंकि श्रामण्य का आचरण करते हुए भी जिसकी कषायें उत्कट होती हैं, उसका श्रामण्य गन्ने (इक्षु) के पुष्प की तरह निष्फल मानना चाहिए।[7] अतः 'मैं बहुत वर्षों से दीक्षित हूँ'—इस तरह वर्षों की गणना मत करो क्योंकि यहाँ वर्ष नहीं गिने जाते। वर्षों की गणना मुक्ति का कारण नहीं है।

---

१. मूलाचार १०।६.
२. मा होह वासगणणा ण तत्थ वासाणि परिगणिज्जंति।
बहवो तिरत्तवुत्था सिद्धा धीरा विरग्गपरा समणा॥ मूलाचार १०।७४.
३. णो चागो वेरग्ग विणा····वारिआ भणिदा—रयणसार ७१.
४. मूलाचार १०।४-५.
५. सर्वस्य प्रवचनस्य सारभूतमेतदिति—मूलाचार वृत्ति १०।४.
६. वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो॥ मोक्खपाहुड १०१.
७. सामन्नमणु चरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा हुंति।
मन्नामि उच्छुपुप्फं व निप्फलं तस्स सामन्नं॥ चंदगवेज्झं गाथा १४२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण के प्रकार :—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों की अपेक्षा से श्रमण चार प्रकार के बताये गये हैं।[1] किसी वस्तु का 'श्रमण' यह नाम रखना नामश्रमण है। काष्ठ, धातु आदि से श्रमण की आकृति बनाकर उसमें श्रमणत्व की स्थापना करना स्थापना श्रमण है।[2] गुणरहित श्रमण-वेश धारण करना द्रव्य श्रमण है। तथा मूलगुण एवं उत्तरगुण के पालन में तत्पर रहना भावश्रमण है।[3] इन चारों में भावश्रमण ही सच्चे श्रमण हैं, क्योंकि ये ही बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित निरारम्भी तथा भाव से सुसंयत होते हैं।[4]

बुद्धि के चार भेद हैं—पदानुसारी बुद्धि, बीजबुद्धि, संभिन्नबुद्धि और कोष्ठबुद्धि। बुद्धि के इन भेदों के आधार पर श्रमण के भी चार भेद हैं—

१. पदानुसारीबुद्धि श्रमण—द्वादशांग और चौदह पूर्वी में से एक पद प्राप्त करके उसके अनुसरण से संपूर्ण श्रुत जानने वाले श्रमण।

२. बीजबुद्धि श्रमण—सम्पूर्ण श्रुत में से एक बीज-प्रधान अक्षरादि के माध्यम से सम्पूर्ण श्रुत जानने वाले श्रमण।

३. संभिन्नबुद्धि श्रमण—जिसके समक्ष किसी के द्वारा कुछ भी पढ़ा या कहा जाय वह सब पूरा का पूरा उसी तरह ग्रहण करके कह देने वाला श्रमण। चाहे चक्रवर्ती के बड़े सैन्य के बीच कोई वृत्त-आर्या, मात्रा, श्लोक, द्विपद, दंडकादिक पढ़ा जाये या गायनादिक गाया जाय, अथवा यदि वहाँ घोड़ा, बैल, हाथी आदि के जैसे शब्द होंगे अथवा जहाँ कहीं भी जैसे शब्द सुनेगा उन सबको वैसा ही कहने वाला संभिन्न बुद्धि वाला कहलाता है।

४. कोष्ठबुद्धि श्रमण—जैसे अन्नागार में संकर-व्यतिकर रहित विभिन्न प्रकार के धान्यादि बीज बहुत काल तक रखे रहने पर भी नष्ट नहीं होते, और न न्यूनाधिक होते हैं, वैसे ही जिसका वर्ण-पद-वाक्य रूप श्रुतज्ञान बहुत काल बीतने पर भी न नष्ट होता है और न न्यूनाधिक होता है अपितु सम्पूर्ण ही बना रहता है वह कोष्ठबुद्धि श्रमण है।

---

१. णामेण जहा समणो ठावणिए तह य दव्वभावेण।
णिक्खेवो वीह तहा चदुव्विहो होइ णायव्वो॥ मूलाचार १०।११०.

२. वही वृत्ति १०।११०.

३. गुण रहित लिंग-ग्रहणं द्रव्यश्रमणो, मूलगुणोत्तरगुणानुष्ठानप्रवणभावो भाव-श्रमणः —मूलाचार वृत्ति १०।११०.

४. वही १०।१११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त श्रमण धारण और ग्रहण में समर्थ, सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के परमार्थ को जाननेवाले, अवधि और मनःपर्ययज्ञानी, सात ऋद्धियों से सम्पन्न तथा धीर होते हैं।[1]

संयत :—अनगार के पर्यायवाची में 'संयत' विशेषण का बहुतायत प्रयोग जैन साहित्य में मिलता है। कषाय रहित होना चारित्र है इस दृष्टि से जिस समय जीव उपशान्त (व्रत में स्थित तथा कषायरहित) हो जाता है उसी समय वह 'संयत (चारित्रयुक्त) हो जाता है तथा कषाय के वशीभूत जीव असंयत हो जाता है।[2] अतः चारित्रादि अनुष्ठान में निष्ठ रहने वाला संयत कहलाता है।[3] धवला के अनुसार 'सम्' अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार जो बहिरंग तथा अंतरंग आस्रवों से विरत है उन्हें संयत कहते हैं।[4]

संयत दो प्रकार के होते हैं—प्रमत्त और अप्रमत्त। सभी मूलगुणों और शीलों (उत्तरगुणों) से युक्त अर्थात् महाव्रती होते हुए भी जो व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद पूर्वक रहता है अतः चित्रल आचारवाला होने से वह प्रमत्तसंयत कहलाता है।[5] तथा जो व्यक्त-अव्यक्त सभी प्रमादों से रहित महाव्रत, मूलगुण और उत्तरगुण से मण्डित, स्व-पर के ज्ञान से युक्त और कषायों का अनुपशामक (अक्षपक) होते हुए भी ध्यान में निरन्तर लीन रहने वाला संयत अप्रमत्त-संयत कहलाता है।[6] संयत को विरत भी कहा जाता है।

साधु :—निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति कराने वाले मूलगुणादिक एवं तपश्चरणादि योगों को जो साधु सर्वकाल अपनी आत्मा से जोड़े अर्थात् आत्मा को उनसे युक्त करे और सभी जीवों पर समता भाव रखे वह साधु कहलाता है।[7] षट्खण्डागम की धवला टीका में कहा है कि जो अनंत ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं—

---

१. धारणगहणसमत्था पदाणुसारीय बीयबुद्धीय।
संभिण्णकोट्ठबुद्धी सुयसागरपारया धीरा॥ मूलाचार ९।६५-६६ वृत्तिसहित
२. अकसायं तु चारित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।
उवसमदि जम्हि काले तक्काले संजदो होदि॥ मूलाचार १०।९१
३. संयतं चरित्राद्यनुष्ठानतन्निष्ठम्। मूलाचार वृत्ति ७।९८.
४. धवला १।१, १, १२३ पृ० ३६९.
५. पचसंग्रह गाथा १।१४.
६. वही, १।१६.
७. णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो॥ मूलाचार ७।११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अट्ठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं।[1] जो सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के योग से जो अपवर्ग (मोक्ष) को साधते हैं वे साधु कहलाते हैं।[2] द्रव्यसंग्रह के अनुसार जो दर्शन एवं ज्ञान से समग्र (पूर्ण) मोक्ष के मार्ग स्वरूप एवं नित्य शुद्ध चारित्र की साधना करते हैं,[3] वे साधु हैं। नियमसार में कहा है जो बाह्य व्यापारों से मुक्त है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप चार आराधनाओं में सदा लीन रहते हैं, वे परिग्रहरहित एवं निर्मोही साधु हैं।[4] मूलाचार के अनुसार भिक्षा, वाक्य, हृदय शुद्धि अर्थात् आहार, वचन और मन—इनकी शुद्धियों से युक्त, नित्य चारित्र में सुस्थित को जिनशासन में साधु कहा है।[5] क्योंकि परिग्रह और कलत्र इन दोनों के त्याग से साधु शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[6]

प्रवचनसार में कहा है कि साधु आगमचक्षु है अर्थात् साधु आगमचक्षु से निरखकर अपनी चर्या करते हैं। अतः आगम ज्ञान की महिमा को जानकर श्रमण को सब कुछ आगमचक्षु से ही देखना चाहिए।[7] ज्ञानरूपी नेत्र को प्राप्त करने वाले साधु ज्ञान प्रकाश से सर्वलोक के सारभूत परमार्थ (आत्मस्वरूप) के ज्ञाता-दृष्टा होते हैं। नि शंकित, निर्विचिकित्सा और आत्मबल के अनुकूल पराक्रम (उत्साह) को धारण करते हैं।[8] तप्त लोहे से उत्पन्न चिनगारियों के सदृश दुर्जनों के वचनों तथा पैशून्य (दोषारोपणादि) रूप शस्त्र प्रहारों को सहन करते हुए क्षमागुण की महत्ता को जानने वाले वे साधु महर्षि किसी पर क्रोध नहीं करते।[9] धवला टीका में साधु के महान् व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कहा है कि साधु सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह

---

१. षट्खण्डागम धवला टीका १।१।१ प्रथम पुस्तक पृष्ठ ५२.

२. साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः।
—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १४६.

३. द्रव्य संग्रह ५४.

४. नियमसार ७५.

५. ....सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहु। मूलाचार १०।११३.

६. मूलाचार १०।११५.

७. आगमचक्खू साहू—प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति २३४.

८. मूलाचार ९।६२.

९. वही ९।१०१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बिना रुकावट के विचरनेवाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर के समान गम्भीर, मन्दराचल अर्थात् सुमेरु-पर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प और अडोल रहनेवाले, चन्द्रमा के समान शान्ति-दायक, मणि के समान प्रभापुंजयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्प के समान दूसरे के बनाये हुए अनियत आश्रय-वसतिका आदि में ठहरने वाले, अम्बर अर्थात् आकाश के समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचों में सकल दुःख क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं वे साधु कहलाते हैं।[2] जैसे बाण बनाने वाला पुरुष नेत्रों को किञ्चित् बन्द करके देखकर बाण को सीधा और सरल बनाता है वैसे ही मन को एकाग्र करके साधु को आत्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिए।[3]

वीतरागः—जिनका रागभाव विनष्ट हो चुका है उन्हें वीतराग कहते हैं।[4]

भवन्तः—सर्व कल्याणों को प्राप्त मुनि भदन्त कहलाते हैं।[5]

दान्तः—पाँच इन्द्रियों का निग्रह करने वाला दान्त है।[6]

अनगार के उपर्युक्त पर्यायवाची नामों के अतिरिक्त भी जैन और जैनेतर साहित्य में भिक्षु, योगी, निर्ग्रन्थ, क्षपणक, माहण, निश्चेल, दिग्वास, वात-वसन, विवसन, आर्य तथा अकच्छ (लंगोटी रहित) आदि शब्द भी जैन मुनि को लक्ष्य करके व्यवहृत हुए मिलते हैं।[7]

---

१. सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सुरुवहि-मंदरिंदु-मणी।
खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू॥
—धवला टीका १।१।१ गाथा ३३ पृ० ५.

२. दशवै० भाष्य गाथा १, दशवै० हारिभद्रीय टीका पत्र ६३.

३. मूलाचार १०।८२.

४. (क) वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागाः—मूलाचार वृत्ति ९।१२०.
(ख) वीतोऽपगतो रागः संक्लेश परिणामो यस्मादसौ वीतरागः।
ल० सार ३०४. जी० प्ररुपणा, पृष्ठ ३८४.

५. भदंताःसर्वकल्याणानि प्राप्तवंतः—मूलाचार वृत्ति ९।१२०.

६. दान्ता : पंचेन्द्रियाणां निग्रहपराः—वही।

७. भ० महावीर और उनका तत्वदर्शन (सम्पा० आ० देशभूषण) प० ६६६—६७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवैकालिक निर्युक्तिकार ने भी श्रमण के उन्नीस पर्यायवाची नामों का उल्लेख किया है—प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, तापस, परिव्राजक, समय, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रुक्ष तथा तीरार्थी।[1]

श्रमण के इन नामों से ज्ञात होता है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम की ५-६ वीं शती) ने अपने समय में प्रचलित प्रायः सभी परम्पराओं के साधुओं के नामों को श्रमण शब्द का पर्यायवाची मानकर उल्लिखित किया है। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रसंगों में मूलाचारकार ने श्रमण को जिन शब्दों से व्यवहृत किया है उनका स्वरूप प्रस्तुत है—

भिक्षु—मूलाचार में अनेक स्थलों पर श्रमण के लिए 'भिक्षु' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] जो विनय से युक्त मुनि स्वाध्याय करते हुए, पंचेन्द्रियों के विषय से रहित होकर मन, वचन और काय—इन तीन गुप्तियों को धारण करता है तथा एकाग्रमन से शास्त्रार्थ में संलग्न रहता है वह भिक्षु कहलाता है।[3] जो शास्त्र की नीति व मर्यादानुसार तपःसाधना करता हुआ कर्म-बंधनों का भेदन करता है, वह भी भिक्षु है।[4] जो मन की भूख अर्थात् तृष्णा एवं आसक्ति का भेदन करता है वह भाव रूप भिक्षु है।[5] दशवैकालिक में कहा है—जो मुनि वस्त्रादि उपधि में मूर्च्छित नहीं है, अगृद्ध है, अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है, क्रय-विक्रय और सन्निधि से विरत तथा सर्व संगों (परिग्रहों) से रहित (निर्लेप) हैं—वह भिक्षु है।[6]

---

१. पव्वइए अणगारे पासंडे चरग तावसे भिक्खू।
परिवाइये य समणे णिग्गंथे संजए मुत्ते॥
तिन्ने ताई दविए मुणी य खंते दंत विरए य।
लूहे तीरट्ठेऽविय हवंति समणस्स नामाइं॥
—दशवै० निर्युक्ति गाथा १५८-१५९.

२. मूलाचार ५।२१३, ७।३९, १०।२०, ५७, ५८, १२३, १२४.

३. सज्झायं कुव्वंतो पंचेन्दियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एअग्गमणो विणएण समाहि ओ भिक्खू॥
—मूलाचार ५।२१३, १०।७८.

४. यः शास्त्रनीत्या तपसा कर्म भिनत्ति स भिक्षुः।
—दशवै० हारिभद्रीय वृत्ति अ० १०.

५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ३७५.

६. उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे अन्नायउंछंपुल निप्पुलाए।
कयविक्कयसन्निहिओ विरए सव्वसंगावयए य जे स भिक्खू॥ दशवै० १०।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग में भिक्षु को निम्नलिखित बातों का ज्ञाता माना है—१. कालज्ञ—भिक्षा आदि के काल को जानने वाला, २. बलज्ञ—भिक्षाटन आदि की शक्ति को जानने वाला, ३. मात्रज्ञ—आहारादि ग्राह्य वस्तु की मात्रा को जानने वाला, ४. क्षेत्रज्ञ—भिक्षाचर्या योग्यायोग्य क्षेत्र को जानने वाला, ५. क्षणज्ञ—क्षण अर्थात् उचित समय या अवसर को जानने वाला, ६. विनयज्ञ—भिक्षाचर्या की आचार संहिता को जानने वाला अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक—इन पाँच प्रकार की विनय को जानने वाला, ७. समयज्ञ—अपने और दूसरों के सिद्धान्त को जानने वाला, ८. भावज्ञ—दाता और श्रोता आदि के प्रिय-अप्रिय के भाव अर्थात् अभिप्राय को समझने वाला, ९. परिग्रह पर ममत्व नहीं करने वाला, १०. उचित समय पर अनुष्ठान करने वाला तथा ११. अप्रतिज्ञ (भोजन के प्रति संकल्प-विकल्प रहित)।[1] सूत्रकृताङ्ग में भिक्षु के चौदह पर्यायवाची शब्द उल्लिखित हैं—समण (श्रमण), माहण, क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती, (परमार्थ पण्डित), विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी तथा चरण-करण-पारविद्।[2]

योगी—इस शब्द का प्रयोग भी कुछ स्थलों पर मिलता है।[3] ज्ञानसार के अनुसार जिसने कन्दर्प और दर्प का दलन किया है, जो दम्भ तथा काम व्यापार से रहित है जिसका शरीर उग्रतप से दीप्त है, परमार्थतः उसे ही योगी कहते हैं।[4] मूलाचार में कहा है जैसे गिरिराज (सुमेरु पर्वत) पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण से बहने वाली हवाओं से भी चलायमान नहीं होता उसी प्रकार उपसर्ग आदि के समय योगी भी अविचलित रूप से अभीक्ष्ण (निरन्तर) ध्यान (समाधि) को ध्याते हैं।[5] ध्याता (योगी) दो प्रकार के होते हैं। शुद्धात्म भावना की प्रारम्भिक तथा सूक्ष्म सविकल्प अवस्था में जो स्थित हैं वे 'प्रारब्ध योगी' तथा निर्विकल्प अवस्था में स्थित 'निष्पन्न योगी' कहलाते हैं।[6]

---

१. आचारांग प्रथमश्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन, पंचम उद्देश्यक सूत्र ११०, (आयारो पृ० ९२.)

२. सूत्रकृताङ्ग २. १. १५.

३. मूलाचार ९।११८, १०, ४०.

४. ज्ञानसार, श्लोक ४.

५. जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणे वाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं॥ मूलाचार १०।११८.

६. पञ्चास्तिकायवृत्ति १७३ पृष्ठ २५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुण्ड : मुण्ड ऋषि का पर्यायवाची है।[1] मुण्डन शब्द 'खण्डन' करना अर्थात् पांचों इन्द्रियों के विषयों—स्व-व्यापार से निवर्त (अलग) होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[2] इस दृष्टि से मूलाचार में पाँच इन्द्रिय मुण्डन तथा वचन, शरीर, हस्त, पाद एवं मन—ये पाँच मुण्डन—इस तरह दस प्रकार के मुण्डन बतलाये हैं।[3] इन दस मुण्डधारी को ऋषि कहा गया है।

निर्ग्रन्थ : निर्ग्रन्थ शब्द जैन श्रमणों के लिए प्रयुक्त प्राचीनतम और आगमिक नाम है। शौरसेनी और अर्धमागधी साहित्य में निर्ग्रन्थ शब्द का अधिकाधिक प्रयोग मिलता है। सूत्रकृतांग के अनुसार जो राग-द्वेष रहित होने के कारण अकेला है, बुद्ध है, निराश्रव है, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद को जानने वाला है, विद्वान् है, बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार से जिसके स्रोत छिन्न हो गए हैं, जो पूजा, सत्कार और लाभ का अर्थी नहीं है केवल धर्मार्थी है, धर्मविद् है, मोक्ष-मार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्य का आचरण करता है, दान्त है, बन्धनमुक्त होने योग्य है और निर्मम है—वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।[4] 'ग्रन्थ' का अर्थ गांठ रूप परिग्रह है। जो राग-द्वेष रूप आन्तरिक तथा धन-धान्यादि रूप बाह्य परिग्रह से सर्वथा मुक्त होता है वह निर्ग्रन्थ अर्थात् आठ कर्म एवं मिथ्यात्व, अविरति और अशुभयोग—इन सब ग्रन्थों (गांठों) को जीतने वाला तथा सरलभाव से प्रयत्न करने वाला निर्ग्रन्थ कहलाता है।[5] इस प्रकार सम्यग्दृष्टि होने के साथ ही साथ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के लिए 'निग्गंथे नायपुत्ते' शब्द से सम्बोधित करते हुए निर्ग्रन्थ शब्द सूचित किया है।[6]

निर्ग्रन्थ के भेद : चारित्र परिणाम की हानि-वृद्धि की अपेक्षा से तथा साधनात्मक योग्यता के आधार पर निर्ग्रन्थ के निम्न पाँच भेद हैं[7]—

---

१. मुण्डानामृषीणां—मूलाचार वृत्ति ५।१७६.
२. मुण्डनं खण्डनं स्वव्यापारान्निवर्तनं ४।१२१.
३. पंचवि इंदियमुण्डा वचमुंडा हत्थपायमणमुंडा।
तणुमुंडेण वि सहिया दस मुंडा वण्णिया समए॥ मूलाचार ३।१२१.
४. सूत्रकृतांग १।१६।६.
५. (क) निग्गंथाणं ति विप्पमुक्कत्ता निरूविज्जति—दशवै० अगस्त्य० चूर्णि पृ. ५९.
(ख) प्रशमरति प्रकरण (उमास्वाति) १४२. (ग) निर्गतो ग्रन्थाद् निर्ग्रन्थः—हारिभद्रीय दशवै० वृत्ति, दशम अध्ययन.
६. पालि दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त.
७. स्थानाङ्ग सूत्र ५।३।४४५, तत्त्वार्थसूत्र ९।४६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) **पुलाक**—उत्तरगुणों की भावना रहित ये निर्ग्रन्थ किसी क्षेत्र-काल के आश्रय से मूलगुणों में कदाचित् दोष उत्पन्न होने से परिपूर्णता प्राप्त नहीं कर पाते। ये सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र के धारक और पीत, पद्म तथा शुक्ल—इन तीन शुभ लेश्याओं से युक्त होते हैं। ये मरकर बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(२) **बकुश**—ये मूलगुणों की दृष्टि से निर्दोष किन्तु वीतरागता सूचक उपकरणों, शिष्यों एवं शरीर से ममत्वयुक्त होते हैं। इनको छहों लेश्यायें होती हैं। इनका चारित्र चित्रवर्ण होता है। सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्रयुक्त होते हैं। चारित्र की दृष्टि से ये पुलाक से श्रेष्ठ हैं इसीलिए ये मरकर अधिक से अधिक सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं।

(३) **कुशील**—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील—ये कुशील निर्ग्रन्थ के दो भेद हैं। प्रथम जिनके मूलगुण और उत्तरगुण दोनों पूर्ण हैं किन्तु कभी उत्तरगुणों में दोष लग जाते हैं। इनमें सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र होता है। पांच समिति, तीन गुप्तियाँ तथा छहों लेश्यायें होती हैं। ये भी मरकर सोलहवें स्वर्ग तक जाते हैं। तथा कषाय कुशील से तात्पर्य जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को रोक लिया है किन्तु संज्वलन कषाय को नहीं रोक पाये हैं। वैसे ये प्रमादरहित, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्परायधारी होते हैं। परिहार विशुद्धि संयमी निर्ग्रन्थ में कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यायें तथा सूक्ष्मसाम्पराय संयमी को केवल एक शुक्ल लेश्या होती है। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि तक जाते हैं।

(४) **निर्ग्रन्थ**—जिनकी मोह और कषाय की ग्रन्थियाँ क्षीण हो चुकी हैं अर्थात् जल की लकीर के सदृश अन्तर्मुहूर्त के बाद ही जिन्हें केवलज्ञान प्रकट होने वाला है। इनमें मोहनीय कर्म का तो उदय नहीं होता, पर शेष घातिया कर्म का उदय होता है। ये यथाख्यात-संयम के धारी तथा शुक्ल लेश्या युक्त होते हैं। ये मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त जाते हैं।

(५) **स्नातक**—जिनके समग्र घतियाकर्म का क्षय हो चुका है। सयोगकेवली तथा अयोगकेवली—ये इनके दो भेद हैं। ये यथाख्यातसंयम के धारी तथा शुक्ल लेश्यायुक्त होते हैं। इन्हें नियम से मुक्ति प्राप्त होती है।

उपर्युक्त पांच प्रकार के निर्ग्रन्थ सभी तीर्थंकरों के धर्मशासन में होते हैं। चारित्रगण के क्रमिक विकास और क्रमप्रकर्ष की दृष्टि से उपर्युक्त पांच निर्ग्रन्थों की गणना की है किन्तु चारित्र रूप परिणामों की न्यूनाधिकता के कारण भेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने पर भी नैगम और संग्रह आदि द्रव्यार्थिक नयों की अपेक्षा उपर्युक्त सभी निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन और नग्नत्व की अपेक्षा ये सब समान हैं।

इस प्रकार श्रमण, संयत आदि अनगार के दस पर्यायवाची नामों की दृष्टि से यह अलग-अलग विवेचन यहाँ किया गया। तत्त्वार्थसूत्र में वैयावृत्य के दस भेदों के आधार पर भी साधुओं के आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ—इन भेदों की गणना की है[1] इनमें जिसके निमित्त से व्रतों का आचरण करते हैं वह **आचार्य** कहलाता है। मोक्ष के लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं वह **उपाध्याय** है। मासोपवास आदि तपों का अनुष्ठान करने वाला **तपस्वी** कहलाता है। श्रुतज्ञान के शिक्षण में तत्पर और सतत् व्रतभावना में निपुण **शैक्ष** है। जिनका शरीर रोगाक्रान्त है वह **ग्लान** कहलाता है। स्थविर साधुओं की परम्परा को **गण** कहते हैं। दीक्षा देने वाले आचार्य की शिष्य परम्परा को **कुल** कहते हैं। चार प्रकार के (चातुर्वर्ण्य) मुनियों के समूह को **संघ** कहते हैं। जिस श्रमण को दीक्षा लिये बहुत समय बीत गया है उसे **साधु** कहते हैं। तथा लोक मान्य (सम्मत) साधु को अर्थात् लोक में जो विद्वान्, वाग्मी, महाकुलीन आदि रूप में प्रसिद्ध हो वह **मनोज्ञ** कहलाता है। ऐसे लोगों का संघ में रहना प्रवचनगौरव का कारण होता है अथवा संस्कार सहित, सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं।[2]

आगन्तुक श्रमण:—वे अतिथि श्रमण आगन्तुक कहलाते हैं जो उच्च ज्ञान प्राप्ति के लिए अथवा सल्लेखनार्थ अथवा विशेष साधना आदि के निमित्त अपने गुरु, गणाचार्य अथवा संघ आदि से सविधि आज्ञा लेकर उस विधि के विशेषज्ञ दूसरे आचार्य के संघ या गण में जाते हैं। ऐसे श्रमण दूसरे गण के आचार्य और उनके श्रमणों के लिए आगन्तुक (अतिथि) श्रमण हैं। वसुनन्दि के अनुसार संयम, तप, ज्ञान और ध्यान युक्त जो साधु विहार करते हुए आ रहे हैं वे आगन्तुक हैं। ऐसे ही साधु यदि कहीं ठहरे हुए हैं तो वे वास्तव्य कहलाते हैं।[3] मूलाचार में ऐसे ही आगन्तुक श्रमण का विशद विवेचन आचार्य वट्टकेर ने प्रस्तुत किया है। इससे गणस्थ (वास्तव्य) श्रमण और आचार्य तथा आगन्तुक श्रमण—इन सबके पारस्परिक कर्त्तव्य तथा व्यवहार आदि से सम्बन्धित अच्छी जानकारी प्राप्त होती है।

---

१. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्—तत्त्वार्थसूत्र ९।२४.
२. तत्त्वार्थ वार्तिक ९।२४।३-१४, सर्वार्थसिद्धि ९।२४।८६६, अन० धर्मा० ७।७८.
३. पादोष्णवास्तव्यानां आगन्तुकस्वस्थानस्थितानाम्।
—मूलाचार वृत्ति सहित, ४।१४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्देश्य—प्राचीन काल से ही श्रमण संघ की यह विशेषता रही है कि उच्च ज्ञान प्राप्ति के लिए तथा विशेष साधना आदि के लिए एक गण से दूसरे गण में श्रमणों का आवागमन होता रहा है। एक गण के आचार्य और श्रमण दूसरे गण से आज्ञापूर्वक आये आगन्तुक श्रमण को पूरे आदर-सत्कार एवं उदारतापूर्वक अपने गण में लक्ष्यपूर्ति तक रहने देते थे, किन्तु गण में आने के बाद सर्वप्रथम कुछ समय तक उसके शुद्धाचरण की परीक्षा लेते थे। तभी उसे स्वीकार करते और ज्ञान, साधना आदि के लक्ष्य प्राप्ति में उसे पूरा सहयोग देते थे।

विधि—कोई सर्वसमर्थ श्रमण जब अपने गुरु के सम्पूर्ण श्रुत को पढ़ चुकता है और जब उसे आत्मोत्कर्ष के लिए विशेष साधना करने या विविध सम्यक् शास्त्रों का उच्च ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र पिपासा जाग्रत हो तब धीरता, वीरता, विद्या, बल और उत्साह आदि सभी गुणों से युक्त साधु अपने गुरु के पास आकर, विनयपूर्वक, मन-वचन-कायपूर्वक प्रणाम करके प्रयत्न पूर्वक उनसे अन्य संघ में जाने की आज्ञा माँगता हुआ कहता है—"हे गुरो! आपके चरणों की कृपा से अब मैं अन्य आयतन (ज्ञानोपयुक्त आचार्य) को प्राप्त करना चाहता हूँ।" इस प्रकार वह इस वषय में एक बार ही नहीं, तीन, पाँच अथवा छह बार तक पूछता है। क्योंकि बार-बार पूछने से विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने में अपना उत्साह तथा आचार्य के प्रति विशेष विनय प्रकट होता है। वह मुनि अपने पूज्य गुरु से पूछकर और आज्ञा प्राप्तकर अपने सहित चार, तीन अथवा दो मुनि साथ लेकर वहाँ से विहार करता है। अकेले जाना उचित नहीं होता।[1]

जैन श्रमण परम्परा में संयमी जीवन का सार एवं अन्तिम लक्ष्य होता है समाधिमरण (सल्लेखना) पूर्वक मरण की प्राप्ति। क्योंकि समस्त दुर्लभ पदार्थों से दुर्लभतम संयम है, उसकी सफलता समाधिमरण के आराधन से होती है। अतः जब श्रमण अपने संयमी जीवन के अन्त में देखता है कि इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं और जीवन का अन्त निकट है तब वह समाधिमरण ग्रहण की इच्छा अपने आचार्य से व्यक्त करता है और अपने गण में इस इच्छा की निर्विघ्न पूर्ति में

१. कोई सव्वसमत्थो सगुरुसुदं सव्वमागमित्ताणं।
विणएणुववकमित्ता पुच्छइ सगुरुं पयत्तेण॥
तुज्झं पादपसाएण अण्णमिच्छामि गंतुमायदणं।
तिण्णि व पंच व छा वा पुच्छाओ एत्थ सो कुणइ॥
एवं आपुच्छित्ता सगवरगुरुणा विसज्जिओ संतो।
अप्पचउत्थो तदिओ बिदिओ वासो तदो णीदो॥

—मूलाचार ४।१४५-१४७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य, क्षेत्र आदि की दृष्टि से कुछ प्रतिकूलता देखता है तब वह गुरु की आज्ञा से दूसरे गण में अनुकूल वातावरण और योग्य आचार्य के सानिध्य में निर्विघ्न समाधिमरण सम्पन्न करने जा सकता है।

दूसरे गण में उस गण के आचार्य आगन्तुक श्रमण की भलीभाँति परीक्षा करते हैं। क्षपक की प्रकृति और उसका उत्तम प्रयोजन जानकर वे आचार्य अपने गणस्थ श्रमणों से उसके समाधिमरण निर्विघ्न सम्पन्न कराने के विषय में मन्त्रणा करते हैं और उससे पूर्ण सहयोग प्राप्ति की सम्मति पूछते हैं। क्योंकि समाधिमरण काल में विशेष परिचर्या को तथा परिणामों में निरन्तर विशुद्धता एवं दृढ़ता आदि की विशेष आवश्यकता होती है अतः गणस्थ श्रमणों की इन सबके विषय में पूर्ण सहमति आवश्यक है और इस प्रकार आगन्तुक श्रमण को अपने लक्ष्य प्राप्ति में पूर्ण सफलता मिलती है।

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहारभाष्य में कहा है कि अन्य गण से आये हुए क्षीण आचार वाले साधु-साध्वियों को बिना उनकी परिशुद्धि किये अपने गण में नहीं मिलाना चाहिए। और न उनके साथ आहार आदि ही करना चाहिए। जो साधु-साध्वी अपने दोषों को खुले दिल से आचार्य के सामने रख दें तथा यथोचित प्रायश्चित्त करके पुनः वैसा कृत्य न करने की प्रतिज्ञा करें उन्हीं के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।[1]

इस तरह उच्च एवं विशेष साधना, ज्ञान प्राप्ति एवं शास्त्र अध्ययन के अतिरिक्त समाधिमरण के उद्देश्य से भी पर-गण अथवा संघ में जाने की प्राचीन परम्परा रही है। किन्तु मूलाचारकार ने यहाँ विशेष रूप में ज्ञान-ध्यान आदि की विशिष्ट साधना के उद्देश्य से ही एक गण से दूसरे गण में जाने हेतु 'आगन्तुक श्रमण' का वर्णन किया है।

आगन्तुक श्रमण जब दूसरे गण प्रस्थान करता था तो इस प्रवास के बीच यदि उसे सचित्त, अचित्त तथा सचित्ताचित्त (मिश्र) द्रव्य प्राप्त होता है अर्थात् मार्ग में यदि उसे छात्र, शिष्य आदि तथा शास्त्र आदि और पुस्तक सहित शिष्य की प्राप्ति होती है अथवा श्रमण के ग्रहण योग्य कोई द्रव्य प्राप्त होता है तो जिस गण में वह ज्ञान प्राप्ति हेतु जा रहा है वहाँ के आचार्य उस द्रव्य को ग्रहण करने के योग्य होता है।[2] चूँकि श्रमण मार्ग के मध्यवर्ती नगरों,

---

१. व्यवहारभाष्य : षष्ठविभा। (जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ३, पृ० २६६).

२. जंतेणंतरलद्धं सच्चित्तामिस्सयं दव्वं।
तस्स य सो आइरिओ अरिहदि एवं गुणो सोवि ॥मूलाचार ४।१५७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रामों से विहार करता हुआ वह दूसरे गण तक पहुँचता है। इस बीच संयम द्वारा आत्मकल्याण के इच्छुक कुछ शिष्य भी बन सकते हैं। तथा उसे शास्त्र, आदि भी प्राप्त हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में वह श्रमण इन द्रव्यों को उस आचार्य के अधिकार के अन्तर्गत समझकर उन्हें सौंपकर ग्रहण करने या ग्रहण न करने की उनसे आज्ञा प्राप्त करता है। क्योंकि आचार्य ही उन द्रव्यादिक को स्वीकृत करने या न करने का अधिकारी होता है।

परगणस्थ श्रमण एवं आचार्य के कर्त्तव्य—आगन्तुक श्रमण जब अपने गण से दूसरे गण पहुँचते हैं और परगणस्थ श्रमण आगन्तुक श्रमण को आते हुए देखते हैं तब आचार्य सहित गणस्थ सभी श्रमण उनके प्रति सम्मान, वात्सल्य, जिन-आज्ञा, संग्रह (ग्रहण) एवं उन्हें प्रणाम करने हेतु तत्काल खड़े हो जाते हैं।[1] और सात कदम आगे बढ़कर उसके प्रति आदर और हर्ष भाव व्यक्त करके परस्पर प्रणाम करते हैं। उसे अपने साथ लाकर योग्य करणीय कार्यों को सम्पन्न करके सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय आदि के निर्विघ्न आचरण की कुशलता के प्रश्न पूछते हैं।[2]

श्रमण जब कभी कालान्तर में परस्पर मिलते हैं तो मूलगुण तथा रत्नत्रय आदि के निर्विघ्न पालन आदि के विषय में ही कुशलता के प्रश्न पूछते हैं, अन्य सांसारिक प्रश्न नहीं। आगन्तुक श्रमण जिस दिन गण में आते हैं, उस दिन उन्हें विश्राम करने देना चाहिए।[3] तथा नियम से तीन दिन तक उसे आवश्यक क्रियाओं, संस्तर, मलमूत्र-विसर्जन स्थल आदि तथा स्वाध्याय आदि के विषय में जानकारी एवं इन सभी कार्यों में परीक्षा हेतु उनके साथ रहकर उन्हें साहाय्य देना चाहिए।[4] जिससे उसे नये गण में आने पर आवश्यक क्रियाओं आदि को सम्पन्न करने में कोई कठिनाई न हो। तथा वह अपने को इस स्थान के योग्य आचरण वाला (अनुकूल) बना सके। साथ में रहने से उसकी प्रवृत्ति कैसी है? यह भी ज्ञात हो जाता है।

---

१. आएसं एज्जंतं सहसा दट्ठूण संजदा सव्वे।
वच्छल्लाणासंगहपणमणहेदुं समुट्ठंति ॥वही ४।१६०.

२. पच्चुग्गमणं किच्चा सत्तपदं अण्णमण्णपणमं च।
पाहुणकरणीयकदे तिरयणसंपुच्छणं कुज्जा ॥मूलाचार ४।१६१.

३. विस्समिदो तद्दिवसं—वही, ४।१६५, भ० आ० ४१८.

४. आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दायव्वो।
किरियासंथारादिसु सहवासपरिक्खणाहेऊं ॥वही ४।१६२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगन्तुक श्रमण की परीक्षा:—आगन्तुक और गणस्थ श्रमण परस्पर में प्रतिलेखन, भिक्षा, स्वाध्याय और प्रतिक्रमण तथा तेरह क्रियाओं (पंचमहाव्रत, पंचसमिति और तीन गुप्ति) आदि के ज्ञान एवं इनके आचरण की विशुद्धता आदि की परीक्षा करते हैं।[1] सामायिक आदि षडावश्यक, प्रतिलेखन अर्थात् नेत्रों से जीवों को देखकर या सूक्ष्म जन्तु न भी दिखें तो पिच्छी द्वारा प्रमार्जन करने, परस्पर बातचीत, पुस्तकादि वस्तुयें उठाने-रखने, स्वाध्याय, भिक्षाग्रहण तथा गमनागमन आदि क्रियाओं के सम्पन्न करने की विधि से ही परस्पर की प्रमाद रहित या प्रमाद सहित प्रवृत्ति एवं चारित्र की परीक्षा तथा जानकारी प्राप्त करते हैं।[2]

आगन्तुक श्रमण की उपर्युक्त परीक्षा आदि के बाद आचरण की विशुद्धता जानकर वह दूसरे या तीसरे दिन आचार्य (गणाचार्य) के समक्ष विनयपूर्वक प्रस्तुत होकर विद्या-अध्ययन आदि अपने आगमन का प्रयोजन निवेदित करता है।[3] वे गणाचार्य भी संग्रह, अनुग्रह (शिक्षा देने) में कुशल, सूत्रों का अर्थ करने में विशारद, विस्तृत कीर्ति वाले, षट् आवश्यक आदि क्रियाओं के आचरण में तत्पर, ग्रहण करने योग्य तथा उपादेय वचन बोलने वाले, गम्भीर, दुर्द्धर्ष, शूर, धर्म प्रभावना करने वाले, क्षमागुण में पृथ्वी के सदृश, सौम्यता में चन्द्रमा के समान तथा निर्मलता में समुद्र के समान होते हैं। इन गुणों से विशिष्ट आचार्य को वह आगन्तुक मुनि क्रम से प्राप्त करता है।[4]

आगन्तुक श्रमण के आगमन का प्रयोजन सुनकर आचार्य उसका सम्पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए उससे नाम, कुल, गुरु, दीक्षा के दिन, वर्षावास, आने की दिशा, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि से सम्बन्धित कई प्रश्न पूछते हैं। तुम्हारा नाम क्या है, तुम्हारी कुल एवं गुरु परम्परा क्या है ? दीक्षा गुरु कौन है ? तथा दीक्षा अवधि कितनी है ? इत्यादि के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। उससे यह भी पूछते हैं कि तुमने वर्षावास कहाँ सम्पन्न किया ? इस समय कहाँ से या किस दिशा से आ रहे हो ? तुमने श्रुत की कितनी शिक्षा प्राप्त की है ? कितने प्रतिक्रमण हुए हैं ? अर्थात् तुमने चातुर्मासिक, वार्षिक, पाक्षिक आदि में से आजतक कितने प्रतिक्रमण किये हैं और कितने नहीं किये ?[5] इस तरह के अनेक प्रश्न पूछने के

---

१. मूलाचार ४।१६३.
२. वही, ४।१६४.
३. वही, ४।१६५.
४. वही, ४।१५८-१५९.
५. आगंतुकणामकुलं गुरुदिक्खामाणवरिसवासं च ।
आगमणदिसासिक्खापडिकमणादी य गुरुपुच्छा ।। वही, ४।१६६ वृत्ति सहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाद यदि आचार्य उस आगन्तुक श्रमण को सभी क्रियाओं और आचरण में विशुद्ध, व्रतों का निरतिचार पालन करने वाला, नित्य उत्साही, विनीत, बुद्धिमान समझ लेते हैं तब अपने श्रुतज्ञान के सामर्थ्य के अनुसार उसे अपना इष्ट कहते हैं अर्थात् वह जो अध्ययन करना चाहता है उसे अपने ज्ञान की सामर्थ्य के अनुसार पढ़ाना चाहिए अथवा उसे संघ में स्वीकार करके अपनी बुद्धि के अनुरूप अध्ययन कराना चाहिए।[1] यदि वह अन्य रूप है, अयोग्य है अर्थात् मुनिव्रत और चारित्र में अशुद्ध है तथा देव वन्दना आदि क्रियाओं में भी अयोग्य है तब उसे यथायोग्य छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त देकर श्रमण पद में स्थिर करना चाहिए। अर्थात् उसकी दीक्षा का एक हिस्सा अथवा आधी दीक्षा या पूरी दीक्षा का तीन भाग छेद (समाप्त) करके पुनः उपस्थापना करना चाहिए। यदि सर्वथा व्रतों से भ्रष्ट है तो पुनः व्रत अर्थात् दीक्षा देना चाहिए। यदि वह मुनि छेद या उपस्थापना प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करे तब वह आगन्तुक श्रमण सर्वथा त्याज्य ही है। फिर भी यदि संघस्थ आचार्य मोहवश उस अयोग्य शिष्य को ग्रहण करते हैं तो वे आचार्य स्वयं ही प्रायश्चित्त के पात्र हो जाते हैं।[2] क्योंकि जो आचार्य शिष्यों के दोष देखकर उन दोषों के निवारण का उपाय नहीं करते, अपितु जिह्वा से मात्र मधुर भाषण बोलते हैं वे भद्र नहीं कहला सकते।[3]

श्वेताम्बर परम्परा के व्यवहार सूत्र में कहा है कि—कारण विशेष अथवा प्रयोजन विशेष से अन्य गच्छ से निकलकर आने वाला साधु अथवा साध्वी अखण्डित आचार से युक्त, शबल दोष (व्रतादिक से सम्बन्धित विविध दोष) से रहित तथा क्रोधादि से असंक्लिष्ट होना चाहिए। अपने दोषों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने वाला तथा लगे हुए दोष का प्रायश्चित्त करने वाला हो तो उसके साथ समानता का व्यवहार करना कल्प्य है, अन्यथा नहीं।[4]

इस तरह उपर्युक्त विधि सम्पन्न होने पर वह आगन्तुक श्रमण योग्य होने पर विधिपूर्वक शिष्य रूप में ग्रहण किया जाता है।

---

१. जदिचरणकरणसुद्धो णिच्चुज्जुत्तो विणीदमेधावी।
तस्सिट्ठं कधिदव्वं सगसुदसत्तीए भणिऊण॥ मूलाचार ४।१६७.

२. जदि इदरो सोऽजोग्गो छेदमुवट्ठावणं च कादव्वं।
जदि णेच्छदि छंडेज्जो अह गिण्हदि सोवि छेदरिहो॥ वही, ४।१६८.

३. भगवती आराधना ४८१.

४. व्यवहारसूत्र षष्ठ उद्देश्य (जैन सा० का बृ० इतिहास भाग २ पृ० २६५.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परगण में आगन्तुक श्रमण के कर्त्तव्य :—गण में शिष्य रूप में रहने की स्वीकृति के बाद वह अपने श्रमण धर्म का पालन करते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सम्यक् शुद्धि करके प्रयत्न मन से विनय और उपचार सहित होकर सूत्र और उसके अर्थ के अध्ययन में तत्पर होता है। किन्तु सूत्रार्थ के अध्ययन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव शुद्धि का विशेष रूप से ध्यान रखना अपेक्षित है। इनकी शुद्धि के अभाव में लोभवश सूत्रार्थ के अध्ययन से असमाधि अर्थात् मन की एकाग्रता या सम्यक्त्वादि का नाश, अस्वाध्याय, व्याधि, कलह और वियोग अर्थात् आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध-विच्छेद जैसे महान् दोष तक उपस्थित हो सकते हैं।[1] यह शुद्धि मात्र शास्त्रों के पढ़ने में ही नहीं की जाती अपितु जीवदया के निमित्त भी शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित है। इसके लिए हाथ की रेखा दिखने योग्य प्रकाश में अर्थात् जितने प्रकाश में नेत्रों से हाथ की रेखाएँ स्पष्ट देखीं जा सकें उतना प्रकाश होने पर पूर्वाह्ण और अपराह्ण—दोनों समय में प्रयत्न पूर्वक संस्तर और निवास-स्थान आदि का पिच्छिका आदि से प्रतिलेखन अवश्य कर लेना चाहिए।[2] क्योंकि अन्धकार में प्रतिलेखन करने से जीव हिंसा होती है।

आगन्तुक श्रमण को नये गण में आकर आचार्य से पूछे बिना अपनी इच्छानुसार कोई कार्य नहीं करना चाहिए। उद्ग्रामक आदि ग्रामचर्या (अर्थात् किसी ग्राम में जाते समय, आहारार्थ गमन करने में, मल-मूत्र आदि त्याग करने के लिए जाते समय) तथा वृक्षमूल योग, आतापन योग आदि उत्तरयोग (प्रकृष्ट योग) प्रारम्भ करते समय उस श्रमण को इच्छाकार पूर्वक अर्थात् विनय पूर्वक आचार्य से पूछकर ही करना चाहिए। जैसे वह आगन्तुक श्रमण पहले अपने संघ में चर्या आदि कार्यों में विनयपूर्वक अपने आचार्य से पूछकर कार्य करता था, उसी प्रकार उसे यहाँ भी आचार्य के अभिप्राय के अनुसार उनसे आज्ञा लेकर ही इन सब कार्यों को करना चाहिए।[3]

आगन्तुक श्रमण को गच्छ में रहने वाले क्षीण शक्तिक, गुरु (शिक्षा, दीक्षा तथा उपदेश आदि के दाता अथवा तप या ज्ञान में ज्येष्ठ), बाल (नवदीक्षित), वृद्ध, और शैक्ष (शास्त्राध्ययन में तत्पर) मुनियों को अपनी शक्ति के अनुसार

१. मूलाचार ४।१६९-१७१.

२. न केवल शास्त्रपठनिमित्तं शुद्धिः क्रियते तेन किन्तु जीवदयानिमित्तं चेति-
संथारवासयाणं पाणीलेहाहिं दंसणुज्जोवे।
जत्तेणुभये काले पडिलेहा होदि कायव्वा ॥ मूलाचार ४।१७२.

३. वही ४।१७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रयत्नपूर्वक यथायोग्य वैयावृत्ति करना चाहिए। दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक प्रतिक्रमण तथा ऋषियों की वन्दना, देव वन्दना, स्वाध्याय आदि क्रियाओं को गणस्थ श्रमणों के साथ मिलकर करना चाहिए।[1]

मन, वचन और काय के योगों से जिस गण, गच्छ या संघ में जब व्रत-आदि में कोई अपराध हो जाये, मिथ्याकार पूर्वक वहीं उसको दूर कर लेना चाहिए। आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिए उसी प्रकार उनके साथ बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करना चाहिए।[2]

इस प्रकार आगन्तुक श्रमण को उपर्युक्त सभी कर्तव्य यथाविधि करना चाहिए। तथा जो गणधर की इच्छा हो उन सबका पालन आगन्तुक तथा गणस्थ शेष सभी श्रमणों को करना चाहिए।[3]

जैन परम्परा के उपर्युक्त आगन्तुक श्रमण के समान ही बौद्ध परम्परा में भिक्षुओं को एक विहार से दूसरे विहार में आने-जाने का भी विधान था। इस परम्परा में ऐसे भिक्षु को आगन्तुक भिक्षु तथा संवस्थ भिक्षु को आवासिक भिक्षु कहा जाता था। आगन्तुक भिक्षु जब दूसरे विहार पहुँचता है तब उसे शय्या, शौचालय आदि के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेने का प्रथमतः विधान है। किन घरों में उसे भिक्षा के लिए जाना चाहिए, कुटी से बाहर जाने और वापिस आने के लिए कौन सा समय नियत है—इन सब बातों को तथा यदि भिक्षुओं ने आपस में और भी कोई नियम निश्चित किये हों तो उनको भी पूछकर उसे जान लेना चाहिए। इसी प्रकार आवासिक और गमिक—विहार छोड़कर जाने वाले भिक्षुओं के भी कर्तव्य बौद्ध परम्परा में बताये गये हैं।[4]

पाप-श्रमण :

श्रमण-धर्म में दीक्षित होने के बाद साधक को अपनी मर्यादानुकूल आचरण करना चाहिए। आचरण में कभी दोष उत्पन्न हो जाय तो प्रायश्चित्तादि द्वारा दूर कर लेना चाहिए तथा पुनः वैसा अतिचार उत्पन्न न हो ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिए। किन्तु जो स्वच्छन्द आचरण करते हैं, आचार्य की उपेक्षा करते हुए धर्मविरुद्ध चलते हैं, वैसा आचरण शास्त्रविहित कहकर अपने शरीरादि

१. मूलाचार ४।१७४-१७५.
२. वही ४।१७६-१७७.
३. वही ४।१८६.
४. उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—पृ० १८२ (डा० नलिनाक्षदत्त एवं कृष्णदत्त वाजपेयी).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पोषण में प्रवृत्त हो जाते हैं ऐसे मुनि पापश्रमण कहलाते हैं। वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट श्रमण अपने द्वारा आचरित आचार की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं। वे अहिंसा और संयम की कसौटी को छोड़कर सुविधा को आचार की कसौटी के रूप में मान्य करते हैं। इसीलिए मूलाचारकार ने ऐसे श्रमण को घोड़े की लीद के समान अन्दर से कुथित (निंद्य) भावयुक्त तथा बाह्य में बगुले की तरह करण और चरण से युक्त बतलाया है।[1]

जो आचार्य (गुरु)-कुल अथवा श्रमणसंघ छोड़कर स्वेच्छया विहार करता है, स्वेच्छापूर्वक जैसा चाहे बोलता है, आचार्यादि के उपदेश को नहीं सुनता और न उनकी आज्ञा ही ग्रहण करता है वह पापश्रमण है।[2] पहले शिष्यत्व न करके आचार्यत्व धारण करने की जल्दी करता है—ऐसा पूर्वापर विवेकशून्य ढोंढाचार्य मदोन्मत्त हाथी के समान निरंकुश भ्रमण करता है। अपने को आचार्य कहने-कहलाने वाले, आगमज्ञान से रहित ये पापश्रमण अपना तो विनाश करते ही हैं साथ ही कुत्सित उपदेशादि के द्वारा दूसरों का भी विनाश करते हैं।[3] आहार, उपधि और शय्या आदि का बिना प्रतिलेखन (शोधन) किये ही प्रयोग करने वाले ये धर्मरहित-श्रामण्य तुच्छ (समण पोल्लो) श्रमण मूल-स्थान नामक दोष से युक्त होते हैं।[4] पृथ्वीकाय तथा तदाश्रित जीवों पर भी श्रद्धा नहीं करते। अतः ये दीर्घसंसारी मुनि-लिंग में स्थित रहकर भी दुष्टमति वाले होते हैं।[5] बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार जो दुष्ट, मूढ़ एवं व्युद्ग्राहित (विपरीत बोध में दृढ़) दुःसंज्ञाप्य अर्थात् कठिनाई से समझने योग्य हैं, वे उपदेश, प्रव्रज्या आदि के अधिकारी नहीं होते।[6]

---

१. घोडयलद्दिसमाणस्स बाहिर बगणिहुदकरणचरणस्स।
अब्भंतरम्हि कुहिदस्स तस्स दु किं बज्झजोगेहिं।। मूलाचार १०।७३.

२. आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।। वही १०।६८.

३. आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व।। वही १०।६९.

४. ....मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो।।
—मूला० १०।२५, भग० आ० २८८.

५. वही, १०।१२०.

६. बृहत्कल्पसूत्र चतुर्थ उद्देश, सूत्र १२, १३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप-श्रमण के भेद : मूलाचार में पाप श्रमण के पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचरित्र—ये पाँच भेद किये गये हैं। ये सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अयुक्त तथा धर्मादि में हर्ष रहित होते हैं।[1]

(१) **पार्श्वस्थ**—संयत के गुणों के पार्श्व में स्थित रहने वाले श्रमण पार्श्वस्थ कहलाते हैं[2]। अर्थात् अतिचार रहित संयम मार्ग का स्वरूप जानकर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता, परन्तु संयम मार्ग के पास ही रहता है। इस तरह एकान्त रूप से जो असंयमी नहीं है किन्तु निरतिचार संयम का पालन नहीं करने वाले श्रमण पार्श्वस्थ कहलाते हैं। इनमें मोह, आसक्ति और संग्रह की प्रवृत्ति अधिक होती है। वस्तुतः कुछ साधु इन्द्रियरूपी चोरों और कषायरूपी हिंसक जीवों के द्वारा पकड़े जाकर साधु संघ के मार्ग को छोड़कर साधुओं के पार्श्ववर्ती हो जाते हैं। साधु संघ के पार्श्व(दूर)वर्ती होने से इन्हें पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं। जैसे विषैले काँटों से बिंधे हुए मनुष्य अटवी में अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं वैसे ही मिथ्यात्व, माया और निदान शल्य रूपी काँटों से बींधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते हैं। ये संघ का मार्ग त्यागकर ऐसे मुनियों के पास जाते हैं जो चारित्र से भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियों का आचरण करते हैं। ऐसे मुनि इन्द्रिय, कषाय और विषयों के कारण राग-द्वेष रूप परिणामों और क्रोधादि परिणामों के तीव्र होने से चारित्र को तृण के समान मानते हैं।[3]

फलटन से प्रकाशित मूलाचार में कहा है—जो वसतिकाओं में आसक्त है, जो उपकरणों को बनाता रहता है, जो मुनियों के मार्ग का दूर से आश्रय करता है, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं।[4]

पार्श्वस्थ श्रमणों का उल्लेख दिगम्बर और श्वेताम्बर—इन दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में बहुतायत मिलता है। 'पार्श्वस्थ' शब्द से यह भी प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के समय और उनके बाद तक भी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण विद्यमान होंगे। जिनमें कुछ श्रमण कालान्तर में शिथिला-

---

१. ....विरदो पासत्थपणगं वा....मूलाचार ७।९५.
पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य।
दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसवेगा ॥ मूलाचार ७।९६.

२. संयत गुणेभ्यः पार्श्वे अभ्यासे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः —मूलाचारवृत्ति ७।९६.

३. भ० आ० १२८८-१२९४.

४. वसहीसु य पडिवद्धो अहवा उवयरणकारओ भणिओ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥ कुन्द० मूलाचार ७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारी हो गये हों अथवा दोनों परम्पराओं के आचार में अन्तर हो अतः ऐसे पार्श्वस्थ श्रमणों को हेय समझकर उनसे दूर रहने को कहा गया हो तो कोई असम्भव नहीं। इस विषय में शोध-खोज की बहुत सम्भावनायें हैं।

(२) **कुशील**—कुत्सित आचरण युक्त स्वभाव वाले श्रमण कुशील कहलाते हैं।[1] साधु संघ से दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवना रूप वन में उन्मार्ग से दौड़ते हुए आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप संज्ञा-नदी में गिरकर कष्टरूपी प्रवाह में पड़कर डूब जाते हैं। पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट होकर संसार में भ्रमण करते हैं। वे दूर से ही साधु संग को त्यागकर कुमार्ग में दौड़ते हैं और आगमोक्त कुशील मुनि के दोषों को करते हैं।[2] ये इन्द्रिय-विषय एवं कषाय के तीव्र परिणामों से युक्त होते हैं तथा व्रत, गुण और शील तथा चारित्र को तृणवत् समझते हुए स्वयं का एवं संघ का अपयश फैलाने में कुशल होते हैं।

(३) **संसक्त**—असंयतों के गुणों में आसक्त श्रमण संसक्त हैं। आहारादि में गृद्धि, वैद्य, मंत्र, ज्योतिष आदि में प्रतिबद्ध एवं राजादि की सेवा में तत्पर रहने वाले संसक्त श्रमण कहलाते हैं।[3] ये नट की तरह आचरण करते हैं। चारित्र-प्रिय के सहवास में चारित्रप्रिय तथा चारित्रहीन (अप्रिय) के सहवास में भी वैसे ही बन जाते हैं। ये मात्र इन्द्रिय-विषयों में आसक्त, गृहस्थों से राग तथा स्त्रियों के प्रति संक्लेश परिणामयुक्त होते हैं।[4]

(४) **अवसन्न (अपसंज्ञक)**—इन्द्रिय और कषायरूप तीव्र परिणाम होने से सुखपूर्वक समाधि में लगा जो साधु तेरह प्रकार की क्रियाओं में आलसी होकर चारित्र भ्रष्ट साधुओं की क्रिया करने लगता है ऐसा साधु अवसन्न कहलाता है।[5] सम्यग्ज्ञानादिक जिनके विनष्ट हो गये हैं, जिनवचनों को न जानकर चारित्रादि से भ्रष्ट, तेरह क्रियाओं को करने में आलसी तथा मन से सांसारिक सुख को चाहने वाले श्रमण अवसन्न कहलाते हैं।[6] जैसे कीचड़ में फँसे हुए तथा मार्ग से

---

१. कुत्सितं शीलं आचरणं स्वभावो वा यस्यासौ कुशीलः।
—मूलाचार वृत्ति ७।९६.

२. भ० आ० १२९७-१३००.

३. सम्यगसंयतगुणेष्वाशक्तः संसक्तः—वही, ७।९६.

४. भ० आ० वि० टी० गा० १९५०, पृ० १७२२.

५. भ० आ० १२८९.

६. मूलाचार वृत्ति ७।९६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्रष्ट पथिक अवसन्न कहलाते हैं वैसे ही अशुद्ध चारित्र युक्त संयत मार्ग से भ्रमित श्रमण भाव अवसन्न कहे जाते हैं।[1]

(५) **मृगचरित्र**—मृग (पशु) के सदृश आचरण करने वाले श्रमण मृग-चरित्र कहे जाते हैं। ये मुनि आचार्य के उपदेश का परित्याग करके स्वछन्द और एकाकी भ्रमण करते हैं, जिन वचनों में दूषण लगाकर तपःसूत्रों के प्रति अविनीत और धृति से रहित हो जाते हैं।[2] ऐसे साधु-संघ छोड़कर, आगम विरुद्ध और पूर्वाचार्यों द्वारा न कहे गये आचारों की इच्छानुसार कल्पना करने में प्रवीण होते हैं।[3]

कल्प-परिमंथु साधु :

स्थानांगसूत्र में कल्प अर्थात् श्रमणाचार के छह पलिमंथु या परिमंथु (प्रतिपक्षी) बनाये गये हैं।[4] श्रमणाचार का घात करने वाले साधु कल्प-परिमंथु कहलाते हैं। इसके छह भेद इस प्रकार हैं—

१. कौकुचित—स्थान, शरीर और भाषा की अपेक्षा कुत्सित चेष्टा (चपलता) करने वाले संयम के घातक साधु कौकुचित कहलाते हैं। स्थान कौकुचित से तात्पर्य है जो साधु बैठे या खड़े हुए दीवार या खम्भे आदि पर गिरते हैं, अपने स्थान से इधर-उधर घूमते हैं यन्त्र और नर्तक की भाँति अपने शरीर को नचाते हैं। शरीर कौकुचित का अर्थ है हाथ-पैर आदि अङ्गों को निष्प्रयोजन हिलाना। भाषा कौकुचित का अर्थ है सीटी बजाना, लोगों के हास्य हेतु विचित्र प्रकार से बोलना, अनेक प्रकार की आवाजें करना और भिन्न-भिन्न देशों की भाषा बोलना।

२. मौखरिक—वाचाल साधु सत्य वचन के परिमंथु होते हैं।

३. चक्षुलोलुप—दृष्टि आसक्त अर्थात् जो अच्छी तरह देखकर नहीं चलते वे साधु ईर्या समिति के परिमन्थु हैं।

४. तितिणिक—आहार, उपधि आदि प्राप्त न होने पर खिन्न होकर बकवास करना तितिणिक है। ऐसा करने वाले साधु खिन्नतावश अनेषणीय आहार भी ले लेते हैं। चिड़चिड़े स्वभाव वाला साधु भिक्षा की एषणा का परिमंथु है।

५. इच्छालोभिक—अति इच्छा और लोभ होने के कारण जो अधिक उपधि का संग्रह करते हैं वे इच्छालोभिक साधु मुक्तिमार्ग के परिमंथु हैं।

---

१. भ० आ० वि० टी० १९५०, पृ० १७२१.
२. मूलाचार वृत्ति ७।९६.
३. भ० आ० १३१०.
४. छ कप्पस्स पलिमंथु पण्णत्ता....स्थानांग ६।१०२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. भिच्यानिदानकरण—भिच्या अर्थात् लोभ तथा निदान अर्थात् प्रार्थना या अभिलाषा। इस प्रकार इन्द्र, चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि का निदान आर्त्त-ध्यान का पोषण देती है अतः ऐसा करने वाला साधु मोक्षमार्ग का परिमंथु है।

सच्चे संयमी श्रमण को इन छह कल्प परिमंथु के विषय में सावधान रहना आवश्यक है।

इस तरह पापश्रमण सुख-स्वभावी, सम्यग्दर्शनादि गुणों के प्रति निरुत्साही, तृष्णा, मोह, अज्ञान और परिग्रह में लिप्त तथा पाप-शास्त्रों का आदर करने वाले होते हैं।[1] अतः इनके सम्पर्क से संयमी श्रमण को दूर रहना चाहिए। मूलाचारकार ने कहा भी है : असंवृत्ती, नीच और लौकिक-अलौकिक क्रियाओं के ज्ञान से रहित श्रमण यदि चिरप्रवर्जित भी है तो उसकी संगति का तुरन्त त्याग कर देना चाहिए।[2] वैयावृत्य तथा विनय इनसे रहित, दुःश्रुति के पोषक, वैराग्य रहित, दंभी, निन्दक, पैशून्यभावयुक्त, मारण-उच्चाटनादि पापसूत्रों का सेवन करने वाले तथा हिंसादि आरम्भ युक्त श्रमण भले ही चिरप्रवर्जित हो पर यत्नाचारी श्रमण को इनके आश्रय से दूर ही रहना चाहिए।[3] क्योंकि जैसे आम वृक्ष दुराश्रय से निम्बत्व (कड़वेपन) को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आलसी तथा समाचारहीन श्रमण के आश्रय से अच्छे श्रमण भी दूषित हो जाते हैं।[4] ऐसे श्रमणों को नगर की गन्दी नालियों में बहने वाले मैले पानी के समान वचन रूप मैल (कचरा) धारण करने वाला कहा है।[5] शिवार्य ने कहा है कि जो श्रमण चारित्र भ्रष्ट साधुओं की क्रिया करता है वह असंयमी होकर साधुओं के संघ से बाहर हो जाता है और मोक्ष मार्ग से भी दूर हो जाता है। जैसे बकरी का बच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थात् असंयम को त्यागने पर भी कोई-कोई इन्द्रिय और कषाय रूप दुर्गन्ध को नहीं छोड़ पाते।[6] शील से दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं। जैसे बहुत परिवार वाला दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है।[7] इस तरह दर्शन,

---

१. भ० आ० १९५२-१९५७.

२. चिरपव्वइदं पि मुणी अयुट्ठधम्मं असंपुडं णीचं।
लोइय लोगुत्तरियं अयाणमाणं विवज्जेज्ज॥ मूलाचार १०।६७.

३. वही, १०।६५-६६. ४. वही, १०।७०.

५. बिहेदव्वं णिच्चं दुज्जणवयणा पलोट्टुजिब्भस्स।
वरणयरणिग्गम पिव वयणकयारं वहंतस्स॥ वही, १०।७१.

६. भ० आ० १२८८, १३०१.

७. तो ते सील दारीद्दा दुक्खमणंतं सदा वि पावंति।
बहुपरियणो दरिद्दो पावदि तिव्वं जधा दुक्खं॥भ० आ० १३०३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान, चारित्र और तप की विनय से ये सदा ही पार्श्वस्थ (दूर) रहते हैं। ये गुणधारियों के छिद्र देखने वाले होने के कारण वन्दनीय नहीं हैं।[1]

आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार द्रव्यलिंगधारी होकर भी ये भावलिंग विहीन पाँच पापश्रमण वन्दनीय नहीं है। वन्दनीय तो केवल वे ही श्रमण होते हैं जो शुद्ध चाँदी तथा शुद्ध मोहर वाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव की विशुद्धता से सम्पन्न होते हैं।[2] इसीलिए भगवती आराधनाकार ने कहा भी है कि चारित्र-हीन लाख संख्या युक्त मुनियों से एक सुशीलमुनि श्रेष्ठ है क्योंकि सुशील मुनीश्वर के आश्रय से शील, दर्शन, ज्ञान और चारित्रादि गुणों की वृद्धि अवश्य होती है।[3]

श्रमण के उपकरण :

श्रमणों के दैनिक जीवन में संयम की रक्षार्थ, आवश्यक क्रियाओं को सम्पन्न करने एवं शुद्धि के लिए तथा स्वाध्याय आदि के लिए पिच्छी, कमण्डलु तथा शास्त्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है।[4] वट्टकेर ने आचेलक्य (नग्नत्व), केशलुञ्चन, शरीरसंस्कार-त्याग और प्रतिलेखन—ये चार लिङ्गकल्प (श्रमणों के चिह्न) माने हैं।[5] प्रवचनसार में जिनमार्ग में मूलतः यथाजातरूप (नग्नत्व), गुरु के वचन (पूज्य गुरुओं के वचनानुसार प्रवृत्ति), विनय (गुणों एवं गुणाधिक मुनियों के प्रति विनय भाव) तथा सूत्रों का अध्ययन—ये चार उपकरण बतलाये गये हैं।[6] पिच्छिका, कमण्डलु आदि बाह्य उपकरण हैं।

मूलाचार तथा वृत्तिकार ने आदाननिक्षेपण समिति के प्रसंग में उपधि (उपकरण) को चार भागों में विभाजित किया है—(१) ज्ञानोपधि (शास्त्र, पुस्तकादि), (२) संयमोपधि (प्राणी दया के निमित्त पिच्छिका), (३) शौचोपधि (मल-मूत्रादि की शुद्धि के लिए प्रासुक जल रखने हेतु कमण्डलु) तथा (४) श्रामण्य योग्य अन्य उपधि (पुस्तक, संस्तर)।[7] कुन्दकुन्द ने कहा है कि उपधि

---

१. मूलाचार ७।९७.
२. आवश्यक निर्युक्ति, ११३८.
३. भ० आ०, ३५४.
४. उपकरणस्यपुस्तिकाकुंडिकापिच्छिकादिकस्य—मूलाचार वृत्ति ५।१७७.
५. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो ॥ मूलाचार १०।१७.
६. उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥ प्रवचनसार २२५.
७. (क) मूलाचार १।१४.
(ख) संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे—मूलाचार ४।१३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भले ही अल्प हो तथापि जो अनिंदित, असंयतजनों से अप्रार्थनीय (अनिच्छनीय), तथा मूर्च्छा आदि उत्पन्न करने वाली न हो—इन विशेषताओं से युक्त उपधि ही श्रमण को ग्रहण करना चाहिए।[1] श्रमणों के पास निम्नलिखित उपकरण होते हैं—

१. **संयमोपकरण (पिच्छिका)** :—संयम के उपकरण के रूप में श्रमण के पास प्रतिलेखन हेतु पिच्छिका होना अनिवार्य है।[2] प्रतिलेखन (पडिलेहण) का अर्थ है शोधन, सम्मार्जन, निरीक्षण निरूपण, विचार करना अथवा देखना है। अतः सूक्ष्म जीवों की रक्षार्थ, तथा दया पालन हेतु बाह्य उपकरण के रूप में पिच्छिका आवश्यक है। अचेलकत्व आदि की तरह पिच्छिका को भी श्रामण्य का बाह्य चिह्न माना है।[3] दशवैकालिक[4] तथा इसकी टीकाओं में भी श्रमण को वायु-कायिक जीवों की रक्षार्थ मोरपंख और मोर-पिच्छी से हवा न करने का निर्देश है। यहाँ मयूर-पिच्छ से तात्पर्य है मोर-पिच्छों का अथवा अन्य पिच्छ का समूह—एक साथ बंधा हुआ गुच्छ।[5]

कार्तिक मास में मयूर अपने पंखों को छोड़ देते हैं। अतः पिच्छी स्वयं पतित मयूर पंखों से निर्मित होती है।[6] वनों में विचरते समय वृक्षों के नीचे पुष्कल परिमाण में स्वयं पतित मयूर के पंख अनायास ही मिल जाते हैं और उन्हीं पंखों को इकट्ठा करके, उनके लवभाग (अग्रभाग) से पिच्छी बना लेते हैं।[7] पिच्छी मात्र प्रतिलेखन का ही कार्य नहीं करती अपितु सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण,

---

१. अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं॥ प्रवचनसार २२३.

२. प्रतिलेखनं मयूरपिच्छग्रहणं—मूलाचार वृत्ति १०।१०४.

३. मूलाचार १०।२३.

४. दशवैकालिक ४।२१.

५. (क) पेहुणं मयूरादिपिच्छम्, पेहुण हस्तः—तत्समूहः। दशवै० हारिभद्रीय-टीका पत्र १५४.

(ख) पेहुणं मोरपिच्छगं वा अण्णं किंचि वा तारिसं पिच्छं॥ पिहुणाहत्थओ सोरिग-कुच्चओ, गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि—दशवै० जिनदास चूर्णि पृ० १५६.

६. मत्वेति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनं।
स्वयं पतित पिच्छानां लिंगं चिह्नं च योगिभिः॥ मूलाचार प्रदीप ९।३६.

७. पिच्छि-कमण्डलु,—मुनिश्री विद्यानन्द जी, पृष्ठ ९५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त, आहारकाल, गमन आदि अनेक प्रसंगों में संयम और विनय के उपकरण का कार्य करती है ।

मयूर पिच्छी में पाँच गुण हैं जिनके कारण वह प्रशंसनीय मानी जाती है—धूलि को ग्रहण नहीं करना, स्वेद (पसीने) से मलिन नहीं होना, मृदुता, सुकुमारता और लघुता (हल्कापन) ।[1] इस प्रकार धूलि, रज और पसीने को ग्रहण न करने से सदा ही प्रतिलेखन करने में स्वभाविक सरलता बनी रहती है । स्पर्श में अति कोमल होने से सूक्ष्म जीवों के भी घात की सम्भावना नहीं रहती । नेत्रों पर घुमाने से भी बाधा नहीं होती । नमनशील होने से उसके तन्तु शीघ्र झुक जाते हैं इससे प्रतिलेखन के समय जीवों को बाधा नहीं होती तथा यह बहुत हल्की है अतः सहज रूप में सदा हाथ में रह सकती है ।

प्रतिलेखन के समय मयूरपिच्छी को नेत्रों में फिराने से पीड़ा नहीं होती । अतः सूक्ष्मत्त्व आदि गुणों से युक्त ऐसी ही पिच्छी ग्रहण करना चाहिए ।[2]

भद्रबाहुक्रियासार में पिच्छी को मोक्ष का साधक कारण बताया है और कहा है जो मुनि अपने पास पिच्छी नहीं रखता वह कायोत्सर्ग के समय स्थिति, उत्थान और गमनागमन में अपनी दैहिक क्रियाओं से सूक्ष्म जीवों का नाश करता है । इस हिंसा दोष से कर्मबंध होता है । अतः बिना पिच्छी धारण के संयम सध नहीं सकता और उसे निर्वाण भी प्राप्त नहीं होता ।[3] द्वीन्द्रियादि अनेक सूक्ष्मजीव ऐसे होते हैं जिन्हें चक्षु द्वारा नहीं देखा जा सकता अथवा देखने में बड़ी कठिनाई हो सकती है अतः इन सब जीवों की रक्षार्थ श्रमण प्रतिलेखन ग्रहण करते हैं ।[4] कायोत्सर्ग में, खड़े होने में, संक्रमण (गमन काल) में, कमण्डलु आदि के ग्रहण में, पुस्तकादि के रखने में, शयन में, बैठने में, तथा आहार ग्रहण के बाद उच्छिष्ट के परिमार्जन आदि प्रसंगों में प्रयत्नपूर्वक प्रतिलेखन करना चाहिए क्योंकि यह श्रमणपने का चिह्न है ।[5] ओघनिर्युक्ति में भी कहा है कि

---

१. रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ।।मूलाचार १०।१९, भ० आ० ९८.

२ ण य होदि णयणपीडा अच्छि पि भमाडिदे दु पडिलेहे ।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कायव्वो ।। मूलाचार १०।२२.

३. ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं ।
दसकत्तरिठाण गदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं ।। भद्रबाहु क्रियासार २५.

४. सुहुमा हु संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु ।
तम्हा जीवदयाए पडिलिहणं धारए भिक्खू ।। मूलाचार १०।२०.

५. ठाणे चंकमणादाणे णिक्खेवे सयणआसण पयत्ते ।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे ।। वही १०।२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखी हुई वस्तु को लेना, किसी वस्तु को नीचे रखना, कायोत्सर्ग करना या खड़ा होना, बैठना, सोना और शरीर को सिकोड़ना—ये सभी कार्य प्रमार्जन पूर्वक करणीय होते हैं। प्रतिलेखन का साधन मुनि का चिह्न भी कहलाता है।[1]

प्रतिलेखन का मूल उद्देश्य भी अहिंसा महाव्रत का विशुद्ध रूप में परिपालन है। अतः प्रतिलेखन में बहुत सावधानी अपेक्षित है। उत्तराध्ययन में कहा है—प्रतिलेखन करते समय जो परस्पर वार्तालाप करता है, जनपद कथा करता है, प्रत्याख्यान करता है, दूसरों को पढ़ाता तथा स्वयं पढ़ता है—प्रतिलेखना में प्रमत्त वह मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस् काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन षट्कायिक जीवों का विराधक (हिंसा करने वाला) होता है।[2]

रात्रि में सोते समय मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए जब श्रमण बीच में उठते हैं और पुनः जाकर लेटते हैं या करवट बदलते हैं तो पहले शरीर और शयनासन का पिच्छिका से प्रमार्जन कर लेना चाहिए, ऐसा न करने पर निश्चित हो उससे जीव हिंसा होगी।[3] नीतिसार ग्रंथ में कहा है—छाया में, आतप में अथवा गमन के समय, छाया से आतप में आने तथा आतप से छाया में जाने से पूर्व एवं एक स्थान से दूसरे स्थान गमनागमन करने से पूर्व मृदुतापूर्वक पिच्छी से शरीर का आलेखन कर लेना चाहिए।[4] बिना पिच्छी के कोई भी श्रमण सात कदम गमन करता है तो उससे उत्पन्न दोष कायोत्सर्ग करने से शुद्ध होता है, एक कोस गमन से उत्पन्न दोष के लिए एक उपवास तथा इससे ऊपर प्रतिकोश दूना-दूना उपवास करके प्रायश्चित्त होता है।[5] अतः बैठने, उठने, गमन करने, हाथ-पैर के संकोचन-प्रसारण, उत्तानशयन, करवट बदलने आदि शारीरिक क्रियाओं में पिच्छिका से अपने शरीर का प्रमार्जन कर लेना चाहिए।[6]

पिच्छिका से जीवदया का पालन होता है। लोगों में 'यति' (श्रमण) विषयक विश्वास उत्पन्न करने का यह चिह्न है। यह प्राचीन मुनियों का प्रतिबिम्ब रूप है।[7] अर्थात् पिच्छी धारण करने से प्राचीन मुनियों का जो रूप था

---

१. आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयणतुयट्टसंकोए।
पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं।। ओघनिर्युक्ति ७१०.

२. उत्तराध्ययन २६।२९,३०.

३. वही, १०।२१ ४. नीतिसार, ४३.

५. सप्तापादेषु निष्पिच्छः कायोत्सर्गाद्विशुद्धयति।
गव्यतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते।। चारित्रसार ४४, प्रायश्चित्त-चूलिका ४४.

६. भगवती आराधना ९६। ७. वही, ९७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी की छाया वर्तमान मुनियों में आ जाती है। जो श्रमण पिच्छी नहीं रखते वह मूढ़चारित्र श्रमण है।[1]

रोगादि होने पर श्रमण पिच्छी सहित अंजलिबद्ध होकर जुड़ी हुई अंजलि को वक्ष के मध्य में स्थित करके पर्यंकासन, वीरासन अथवा सुखासन से बैठकर मन को एकाग्र कर स्वाध्याय तथा वन्दना कर सकता है।[2] स्वस्थ-अवस्था में यदि श्रमण उसे मस्तक पर छायार्थ उत्तोलित करता है, अपने वक्षस्थल को आच्छादित करता है और मस्तक पर उससे आवरण बनाता है तो उसे प्रायश्चित्त-कल्याणक देने का विधान है। रुग्णदशा में इन सबको दोष नहीं माना गया है।[3] आचार्य की वन्दना के समय 'मैं वन्दना करता हूँ' ऐसा कहते हुए पश्चर्धशय्या से अवस्थित होकर मस्तक से पिच्छी को स्पर्श कराते हुए वन्दना करना चाहिए।[4] जब आचार्य प्रतिवन्दन करें तब उन्हें सपिच्छाञ्जलि होना चाहिए।[5] तथा जब श्रमण को प्रायश्चित्त दिया जाता है तब उनको पिच्छी का लोमाग्रभाग आगे रखना चाहिए। यह उसके प्रायश्चित्तीय होने का प्रतीक है।[6]

इस प्रकार संयमोपकरण में मयूरपिच्छिका का उपयोग प्राचीन काल से ही मुनि करते आ रहे हैं क्योंकि यह दया पालन का चिह्न है। सर्प, बिच्छू आदि जीव-जन्तु मयूर-पिच्छी के पास नहीं आ पाते। मयूर पंख मुक्ताफल, सीप आदि की तरह पवित्र माने जाते हैं अतः उनसे निर्मित पिच्छिका स्वभावतः पवित्र होती है। सकलकीर्ति के अनुसार प्रतिलेखन के लिए मयूरपिच्छि धारण श्रेष्ठता की बात है। तीर्थंकर परमदेव ने इसे सूक्ष्म जीवों की रक्षात्मक होने से दयोपकरण के रूप में योगियों के लिए प्रशंसनीय कहा है।[7]

२. **शौचोपकरण (कमण्डलु)**—प्रतिलेखन के लिए श्रमण अपने पास जहाँ पिच्छी अनिवार्य रूप में रखते हैं उसी तरह शुद्धि के लिए कमण्डलु भी आवश्यक होता है। पाणि-पाद-प्रक्षालन तथा मल-मूत्र त्याग के बाद शुद्धि के लिए[8] कमण्डलु में प्रासुक जल रखते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने आदान-निक्षेपण समिति के प्रसंग में विशुद्धि के लिए शौचोपकरण के रूप में कमण्डलु का उल्लेख किया है।[9]

---

१. भद्रबाहु क्रियाकोश ७-९.
२. चारित्रसार ४३.
३. प्रायश्चित्त समुच्चय ७५.
४. आचारसार ६१.
५. वही ६२.
६. पिच्छि-कमण्डलु—पृष्ठ ९७.
७. मूलाचार प्रदीप ९।३२.
८. शौचस्य पुरीषादिमलापहरणस्योपधिरुपकरणं शौचोपधिर्मूत्रपुरीषादि प्रक्षालन निमित्तं कुंडिकादिद्रव्यम्—मूलाचार वृत्ति १।१४.
९. पोथइकमंडलाइं गहण विसग्गेसु····नियमसार ५४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसुनन्दि ने प्रतिलेखन करने योग्य प्रसंगों में कमण्डलु के लिए 'कुण्डिका' शब्द का प्रयोग किया है और कहा है कि कुण्डिका ग्रहण करते समय पिच्छी से प्रतिलेखन अवश्य कर लेना चाहिए।[1]

वस्तुतः पिच्छी अप्रतिलेखन गुण से युक्त है किन्तु कमण्डलु में सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है अतः उनके निराकरणार्थ एक पक्ष में उसे बाहर-भीतर से प्रक्षालित करते रहना चाहिए। यदि एक पखवाड़े के पश्चात् भी कमण्डलु का सम्प्रोक्षण (शोधन) नहीं किया गया तो प्रतिक्रमण तथा उपवास करना होगा।[2]

३. **ज्ञानोपकरण**:—श्रमणों के दैनिक जीवन में स्वाध्याय का विशिष्ट स्थान है। स्वाध्याय एक तप भी है तथा साधु के पाँच आचारों में से ज्ञानाचार का अंग भी है। स्वाध्याय के चार काल हैं, जिनमें मुनि को सदा स्वाध्याय में निरत रहना चाहिए। विविध शास्त्रों का अध्ययन, मनन और चिन्तन उनके दैनिक जीवन का प्रमुख अंग है। इसके लिए विविध शास्त्रों, पुस्तकों की आवश्यकता होती है जिनके द्वारा अध्ययन-अध्यापन, ज्ञानवर्धन, लेखन तथा उसका प्रसार आदि कार्य करते रहते हैं।[3] मूलाचार में पुस्तक (पुच्छय) आदि को ज्ञानोपकारक कहा है।[4]

४. **अन्य उपकरण**—भूमि पर शयन करना श्रमणों का एक मूलगुण है। वे प्रासुक भूमि-प्रदेश में अपने शरीर प्रमाण अल्प संस्तर पर प्रच्छन्न एवं एकान्त स्थान में धनुषाकार रूप में एक पार्श्व (करवट) से सोते हैं।[5] इस दृष्टि से अन्य उपकरण से तात्पर्य 'अल्प संस्तर' है। वसुनन्दि के अनुसार जिसमें बहु-संयम का विघात न हो वह तृणमय, काष्ठमय एवं शिलामय भूमि प्रदेश अल्पसंस्तर है।[6]

इस तरह श्रमणों को संयम, शुद्धि हेतु अत्यावश्यक एवं कम से कम उपकरणों के उपयोग का विधान है। वस्तुतः राग की मात्रा में जितनी कमी होती जाती है उतनी ही मात्रा में वीतरागता की वृद्धि होती जाती है। अतः दिगम्बर परम्परा

१. आदाने कुंडिकादि ग्रहणे—वही १०।२३, ४।१३८.

२. शश्वद विशोधयेत् साधु पक्षे पक्षे कमण्डलुम्।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनम्॥
—प्रायश्चित्त समुच्चय ८८ (पिच्छि कमण्डलु पृ० १०३).

३. ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्योपधिरुपकरणं ज्ञानोपधिर्ज्ञाननिमित्तं पुस्तकादि—मूलाचार-वृत्ति १।१४.

४. पुच्छयं-पुस्तकं ज्ञानोपकारकम्—वही ४।१३८, १४०.

५. फासुयभूमिपएसे अप्पसंथारिदम्हि पच्छण्णे।
दंडंधणुव्व सेज्जं खिदिसयणं एवपासेण॥ मूलाचार १।३२.

६. मूलाचारवृत्ति १।३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के श्रमणों को पिच्छी और कमण्डलु इन दो उपकरणों के ही रखने का विधान है। पुस्तक, शास्त्रादि ज्ञानोपकरण का भी अपना विशेष महत्त्व है किन्तु इन्हें सदा अपने साथ रखने में बहुविध कठिनाइयाँ रहती हैं। इसके लिए ग्रामानुग्राम विहार के समय श्रमण इन्हें शास्त्रभण्डारों, जिनालयों तथा स्वाध्याय परायण श्रावकों से प्राप्त करके उपयोग करते हैं।

श्रमण संघ : एक पुनरावलोकन :—

अत्यन्त सुदूर काल से ही श्रमण संघ का स्वरूप एक सुसंगठित रूप में हमारे सामने आता है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्यात्म साधना का संघीयकरण भगवान् पार्श्व के समय से या उससे पूर्व ही हो चुका था, फिर भी भगवान् महावीर ने तत्कालीन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए श्रमण संघ का जो पल्लवन किया वह अप्रतिम था। यही कारण है कि मूलाचार के समय श्रमण संघ का रूप गण, गच्छ, कुल आदि रूप में होते हुए भी आत्मनियंत्रित, अनुशासित एवं सुव्यवस्थित रूप में दिखाई देता है। आचार्य, उपाध्याय आदि पदों की व्यवस्था उसके सुव्यवस्थित संचालन और ज्ञान-संयम की वृद्धि एवं आत्मोत्कर्ष के लिए थी। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर—ये संघ के पाँच आधार थे। इसीलिए श्रमण संघ का सक्षम नेतृत्व, सुगठित एवं सर्वांग परिपूर्ण सविधान युक्त था जिसमें अनुशासन, संचालन की प्रविधियाँ और व्यवस्थायें अपने युग की सर्वोच्च उपलब्धियाँ थीं। संघ में आचार्य, उपाध्याय आदि विविध पदों को नियुक्ति भी आचार्य ही करते थे।

श्रमणों के आहार, विहार, व्यवहार एवं संयम-साधना आदि सम्बन्धी नियम और कर्त्तव्य सुनिश्चित थे। आचार्य के सानिध्य में संघ में रहकर श्रमण इनका पालन करते हैं। यदि कोई इनका उल्लंघन करता तो उसे व्यवस्थित दण्ड-नीति के अन्तर्गत दण्डित किया जाता था। विशाल संघ के व्यवस्थित संचालन हेतु प्रासुक आहार चर्या तथा निर्बाध ज्ञान-ध्यान और संयम की साधना के लिए गण, गच्छ और कुल की व्यवस्था थी, जो संघ की ही ईकाइयों के रूप में काम करते थे और एक संघ प्रमुख आचार्य के नेतृत्व में ही इनकी व्यवस्था का संचालन होता था। आचार्य ही इनके प्रमुख नियुक्त करता था। सभी की मर्यादायें, परस्पर व्यवहार, कार्यों का विभाजन—सब कुछ व्यवस्थित ढंग से होता था। एक-दूसरे के गण, गच्छ तथा एक-दूसरे आचार्य के पास विशेष ज्ञान-ध्यान की साधना अथवा सल्लेखना आदि के निमित्त आगन्तुक श्रमण के रूप में आने-जाने का मार्ग प्रशस्त था तथा सब कुछ सहज रूप में चलता रहता था।

धीरे-धीरे इन सब में किञ्चित परिवर्तन आया। गण, गच्छ आदि शाखाओं की विभाजन-रेखा स्पष्ट रूप में सामने आने लगी। इसीलिए आचार्य वट्टकेर को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षोभ-पूर्वक यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा कि गण में प्रवेश की अपेक्षा विवाह करके घर बसा लेना अच्छा है क्योंकि विवाह से तो राग की उत्पत्ति होती है किन्तु गण तो अनेक दोषों की खान है। वट्टकेराचार्य ने शिथिलाचारी प्रवृत्तियों की कड़े शब्दों में निन्दा की और ऐसे श्रमणों को ढोंढाचार्य, समणपोल्लो जैसे शब्दों से सम्बोधित किया एवं पार्श्वस्थ, कुशील आदि पाप-श्रमणों से सदा दूर रहने को कहा। संघ में रहकर ज्ञान-ध्यान एवं संयम की साधना में संलग्न रहनेवाले श्रमणों की प्रशसा की और कहा कि जैसे नवप्रसूता गाय अपने बछड़े के प्रति सहज वात्सल्य और स्नेहभाव रखती है वैसे ही चारों गतिरूप संसार से पार करने में कारणभूत चतुर्विध संघ में वात्सल्य रखना चाहिए। यही कारण है कि दक्षिण भारत में बहुत साल तक भद्रबाहु के बाद किसी संघ, गण, गच्छ का निर्माण न हो सका।

श्रमण संघ : परिवर्तन की दिशा :—

डॉ० गुलाबचंद्र चौधरी के अनुसार ऐतिहासिक दृष्टि से श्रमण संघ का गण, गच्छ आदि रूप में विभाजन विक्रम की तीसरी शती के उत्तरार्ध का है। इसके पहले समग्र जैन संघ का नाम निर्ग्रन्थ संघ था। दक्षिणी जैनधर्म की मान्यता में भगवान् महावीर के बाद गुरु-परम्परा में वीर निर्वाण संवत् ६८३ अर्थात् लोहाचार्य तक एक-एक ही आचार्य शिष्य परम्परा से चले आये और उनको किन्ही शाखा-प्रशाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता। भगवान् महावीर निर्वाण के बाद करीब ७०० वर्षों में समस्त जैन संघ को विकासशील पाया। किन्तु देश-काल एवं मानवीय प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर वह विकसित होता रहा और ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों में कतिपय भेदों में प्रस्फुटित होने लगा। इसके बाद उसे नए देश, नये वातावरण, नये राज्याश्रय और नये समाज में परिस्थितिवश अपनी व्यवस्था करनी पड़ी, जिन व्यवस्थाओं के नाम पर उसमें आवश्यक परिवर्तन अनिवार्य हो गया। जैन मुनि का आदर्श जो महावीर के युग में था, वह ७०० वर्ष बाद पर्याप्त बदल गया था। तिल-तुष परिग्रह न रखने वाला निर्ग्रन्थ भी जमाने की चपेट में आ अपवाद मार्ग का आलम्बन ले धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था देखने के नाम पर प्रवृत्तिमार्गी होने लगा था। उसने नवीन राज्याश्रय पा नये सघों, गणों एवं गच्छों की स्थापना की। नई-नई आचार्य परम्परायें कायम हुईं, जिनमें कुछ तो स्थानीय और कुछ व्यापक रूप धारण करने लगी। इस नई व्यवस्था के काल में भी निवृत्तिमार्गी परम्परानुयायी साधुओं का बड़ा समाज था जो विज्ञापनहीन जनजीवन से परे, अपनी आत्मआराधना में लगा रहता था और अपने सहधर्मियों की उक्त प्रवृत्ति का समय-समयपर तीव्र विरोध करता था।[1]

१. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ : डॉ० गुलाबचंद्र चौधरी का लेख 'दिगम्बर जैनसंघ के अतीत की एक झांकी' से.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परवर्ती काल में दिगम्बर परम्परा के मूलसंघ में स्थान आदि के नाम पर विशेषकर कर्नाटक के स्थानों से स्थापित कई प्रकार के संघ, गण और गच्छ आदि शाखाओं का उल्लेख मिलता है। जैसे—

१. **संघ**—इसके अन्तर्गत नविलूरसंघ, मयूरसंघ, किचूरसंघ, कोशलनूरसंघ, गनेश्वरसंघ, गौडसंघ, श्रीसंघ, सिंघसंघ, परलूरसंघ आदि।

२. **गण**—बलात्कारगण (प्रारम्भिक नाम-बलिहारी या बलगार), सूरस्थ-गण, क्राणूर, कालोग्र, उदार, योगरिय, पुलागवृक्ष, मूलगण, पंकुर आदि।

३. **गच्छ**—चित्रकूट, होत्तगे, तिगरिल, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तिन्त्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।

४. **अन्वय**—कौण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, कित्तूरान्वय, चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय आदि।[1]

मूलसंघ के इन भेद-प्रभेदों के बावजूद इसमें शुद्धाचारी और तपस्वी श्रमणों की कमी न थी और ऐसे ही श्रमणों ने शिथिलाचार को दूर करने और श्रमणसंघ की मूल परम्पराओं को सुदृढ़ करने में महान् योग दिया।

इस प्रकार श्रमणसंघ के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह विचारों में जितना मध्यमार्गी है, आचार में उतना ही सुदृढ़, मर्यादाबद्ध एवं अनुशासित है। भगवान् महावीर से लेकर अब तक इसका एक निश्चित विकास-क्रम स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार इसमें अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे तथा समय-समय पर अत्यन्त कठिन परिस्थितियों में आगमानुकूल आचार-विचार और व्यवहार के पालन में कठिनाईयाँ उत्पन्न हुई किन्तु वैसी स्थिति में भी मूल आचार-विचार के पथ से कभी विचलित नहीं हुए। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार आचार्यों ने मूल उद्देश्य को सुरक्षित रखते हुए किञ्चित् परिवर्तन को नयी व्यवस्थायें और नयी दिशायें भी प्रदान की ताकि जैनधर्म के माध्यम से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता रहे। इस तरह भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त श्रमणसंघ प्रगति एवं विकास की ओर निरन्तर अग्रसर रहा और अपने मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार एवं उनकी रक्षा विविध माध्यमों द्वारा देश-देशान्तर तक प्राचीनकाल से अब तक करता आ रहा है।

●

१. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ : डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी का लेख 'दि० जैन संघ के अतीत की एक झांकी' से.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आर्यिकाओं की आचार पद्धति

चतुर्विध संघ में आर्यिकाओं का स्थान :

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध श्रमण संघ में 'आर्यिका' का दूसरा स्थान है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा इनकी उत्तरवर्ती परम्परा में आर्यिका संघ की एक व्यवस्थित आचार पद्धति एवं उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। श्रमण संस्कृति के उन्नयन में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की सभी सराहना करते हैं। यद्यपि भगवान् महावीर के जीवन के आरम्भिक काल में स्त्रियों को समाज में पूर्ण सम्मान का दर्जा प्राप्त नहीं था किन्तु भगवान् महावीर ने स्त्रियों को समाज और साधना के क्षेत्र में सम्मानपूर्ण स्थान देने में पहल की। इन्होंने अपने संघ में स्त्रियों को 'आर्यिका' (समणी या साध्वी) के रूप में दीक्षित करके इनके आत्म-सम्मान एवं कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। इसका सीधा प्रभाव तत्कालीन बौद्ध संघ पर भी पड़ा और महात्मा बुद्ध को भी अन्ततः अपने संघ में स्त्रियों को भिक्षुणी के रूप में *प्रवेश देना प्रारम्भ करना पड़ा।*

आचार विषयक दिगम्बर परम्परा के प्रायः सभी ग्रन्थों में जिस विस्तार के साथ मुनियों के आचार-विचार आदि का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है, आर्यिकाओं के आचार-विचार का उतना स्वतन्त्र विवेचन नहीं मिलता। साधना के क्षेत्र में मुनि और आर्यिका में किञ्चित् अन्तर स्पष्ट करके आर्यिका के लिए मुनियों के समान ही आचार-विचार का प्रतिपादन इस साहित्य में मिलता है। मूलाचारकार एवं वृत्तिकार ने कहा है कि जैसा समाचार (सम्यक्-आचार एवं व्यवहार आदि) श्रमणों के लिए कहा गया है उसमें वृक्षमूल, अभ्रावकाश एवं आतापन आदि योगों को छोड़कर अहोरात्र सम्बन्धी सम्पूर्ण समाचार आर्यिकाओं के लिए भी यथायोग्य रूप में समझना चाहिए।[1] इसीलिए स्वतंत्र एवं विस्तृत रूप में आर्यिकाओं के आचारादि का प्रतिपादन आवश्यक नहीं समझा गया।

वस्तुतः वृक्षमूलयोग (वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे खड़े होकर ध्यान करना), आतापनयोग (प्रचण्ड धूप में भी पर्वत की चोटी पर खड़े होकर ध्यान करना),

---

१. एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वह्मि अहोरत्तं विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥ मूलाचार सवृत्ति ४।१८७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्रावकाशयोग (शीत ऋतु में खुले आकाश में ध्यान करना तथा दिन में सूर्य की ओर मुख करके खड्गासन मुद्रा में ध्यान करना) एवं अचेलकत्व (नग्नता) आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं जो स्त्रियों की शरीर-प्रकृति के अनुकूल न होने के कारण उनका आचरण भी सम्भव नहीं है। इसीलिए आर्यिकायें उपचार से महाव्रतादि मूलगुणों की धारक मानी जाती हैं।

उपचार से महाव्रत होने के कारण तद्भव मोक्ष नहीं :

सिद्धान्तरूप में अनेक कारणों से आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत माने जाते हैं अतः उन्हें तद्भव मोक्षगामी नहीं माना जाता।

मूलाचार के चतुर्थ 'समाचार अधिकार' के अन्त में एक अधिकार समाप्ति सूचक गाथा इस प्रकार है--

एवं विधाण चरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते गुणपुज्जं किंत्ति सुहं च लद्धूण सिज्झन्ति ॥४।१९६.

इसका अर्थ है—इस समाचार अधिकार में जो विधानचर्या (समाचार) कही गई है उसका जो साधु-आर्यिकायें आचरण करते हैं, वे जगत् से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त करके सिद्ध गति को प्राप्त होते हैं। आचार्य वट्टकेर के इस सामान्य कथन के आधार पर कुछ विद्वानों ने दिगम्बर परम्परा में भी स्त्री मुक्ति को सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु ग्रन्थकार का हार्द न समझने के कारण ही ऐसे विशेष अर्थ निकाले जाते हैं। जबकि ग्रन्थकार का स्पष्ट कथन है कि जगत् में पूजा, यश और सुख प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। इसमें यह कथन कहीं नहीं है कि इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। वस्तुतः जगत्पूज्यता आदि विशेषताओं की प्राप्ति में ही जीव के कई (अनेक) भव व्यतीत हो जाते हैं। सिद्धान्त यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान पूर्वक स्वोचित मोक्षमार्ग का आर्यिकायें पालन करती हैं तब वर्तमान भव सहित कम से कम तीन भव धारण करके मनुष्य-भव पूर्वक नियम से मोक्ष जाती हैं। आर्यिकाओं को पंचम गुणस्थान होता हैं।[1]

मोक्षपाहुड टीका में कहा है कि सज्जातित्व बतलाने के लिए स्त्रियों में महाव्रतों का उपचार होता है, परमार्थ से उनके महाव्रत नहीं होते क्योंकि उनकी कांख में, स्तनों के बीच में, नाभि में और योनि में निरन्तर जीवों की उत्पत्ति और विनाश रूप हिंसा होती रहती है और फिर स्त्रियाँ अहमिन्द्र पद भी प्राप्त

१. सुत्तपाहुड टीका २५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कर सकतीं तब मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं ? यदि स्त्रियाँ मुक्त होती तो उस पर्याय की मूर्तियों की पूजा क्यों नहीं की जाती ?[1]

इसीलिए दिगम्बर परम्परा ने स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी नहीं माना, क्योंकि मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण हैं उनका प्रकर्ष स्त्रियों में नहीं होता। इसी तरह सप्तम पृथ्वी (नरक) में जाने के कारणभूत पाप का परम प्रकर्ष भी स्त्रियों में नहीं पाया जाता है। यद्यपि स्त्रियों में सामान्यतः संयम तो है किन्तु वह संयम मोक्ष का कारण नहीं है, जैसे तिर्यञ्च या गृहस्थ का संयम मोक्ष का कारण नहीं है। शास्त्रों में वस्त्र रहित संयम स्त्रियों को नहीं बतलाया है।[2] श्वेताम्बर परम्परा में भी स्त्रियों को अचेलकत्व (वस्त्र रहित होने) का निषेध किया ही गया है।[3] वस्त्र-ग्रहण में अनेक प्रकार से जीवों का घात होता है। वस्त्र ग्रहण से बाह्य परिग्रह तथा स्व-शरीर का अनुरागादि रूप आभ्यन्तर परिग्रह स्त्रियों के होता है।[4]

प्रवचनसार की दो प्रक्षेपक गाथाओं में कहा है कि सम्यग्दर्शन की शुद्धि, सूत्रों के अध्ययन से संयुक्त तथा घोर पक्षोपवास, मासोपवास आदि तपश्चरण रूप चारित्र—इन सबसे युक्त स्त्रियों के भी सभी कर्मों की निर्जरा नहीं होती।[5] सुत्तपाहुड में यही कथन है किन्तु यहाँ 'ण णिज्जरा' के स्थान पर 'ण पावया' शब्द है जिसका अर्थ पं० जयचन्द जी छावड़ा ने अपनी भाषा वचनिका टीका में किया है कि—स्त्रीनि विषैं जो स्त्री सम्यक्त्व करि सहित होय और तपश्चरण करैं तो पाप-राहित होय स्वर्ग कूं प्राप्त होय तातैं प्रशंसा योग्य है और स्त्री पर्याय तैं मोक्ष नाहीं।[6] विरक्तावस्था में भी स्त्रियों को वस्त्र धारण का विधान है।

---

१. मोक्खपाहुड गाथा १० की श्रुतसागरीय टीका.

२. मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्।....संयममात्रं तु सदप्यासां न तद्धेतुः तिर्यग्गृहस्थादिसंयमवत्।...न स्त्रीणां निर्वस्त्रः संयमो दृष्टः प्रवचनप्रतिपादितो वा। —प्रमेयकमलमार्तण्ड २।१२.

३. नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए—बृहत्कल्प सूत्र ५।१९.

४. गृहीतेऽपि वस्त्रे जन्तूपघातस्तदवस्थः।... वस्त्रगृहणादि बाह्यपरिग्रहोऽभ्यन्तरं स्वशरीरानुरागादिपरिग्रहमनुमापयति—प्रमेयकमल मार्तण्ड २।१२.

५. जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥ प्रवचनसार २२५।८.

६. सुत्तपाहुड २५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः निर्दोष होने पर भी उन्हें अपना शरीर सदा वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है।[1] इसीलिए स्त्रियों को तद्भव मोक्षगामी होने का विधान नहीं है।[2] आर्यिकाओं में उपचार से महाव्रत भी श्रमण संघ की व्यवस्था मात्र के लिए कहे गये हैं किन्तु उपचार में साक्षात् होने की सामर्थ्य नहीं होती। यदि स्त्री तद्भव से मोक्ष जाती होती तो सौ वर्ष की दीक्षिता-आर्यिका के द्वारा आज का नवदीक्षित मुनि भी वंदनीय कैसे होता? वह आर्यिका ही उस श्रमण द्वारा वंदनीय क्यों न होती?[3]

विरक्त स्त्रियों को भी वस्त्र-धारण के विधान में उनकी शरीर-प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है, क्योंकि प्रतिमास चित्तशुद्धिका विनाशक रक्त-स्रवण होता है, कांख, योनि और स्तन आदि अवयवों में कई तरह के सूक्ष्मजीव उत्पन्न होते रहने से उनसे पूर्ण संयम का पालन सम्भव नहीं हो सकता[4]। इसीलिए इन्हीं सब कारणों के साथ हो[5] स्वभाव से पूर्ण निर्भयता एवं निर्मलता का अभाव, परिणामों में शिथिलता का सद्भाव तथा निःशंक रूप में एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान का अभाव होने के कारण सूत्रपाहुड में स्त्रियों की दीक्षा तक का निषेध किया है।[6] इस प्रकार उत्तम संहनन के अभाव के कारण शुद्धोपयोग रूप परिणाम, तथा नग्न मुद्रा आदि आर्यिकाओं को सम्भव नहीं है। इस तरह वस्त्र त्याग की अशक्यता होने से तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्त की दृढ़ता उनमें नहीं हो सकती और न इन्हें सामायिकचारित्र की ही प्राप्ति हो सकती है, अतः इनमें उपचार से ही महाव्रत कहे गये हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के बृहत्कल्प में कहा है कि साध्वियाँ भिक्षु-प्रतिमायें धारण नहीं कर सकतीं। लकुटासन-उत्कटुकासन, वीरासन आदि आसन नहीं

---

१. ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं॥ प्रवचनसार २२५।५.

२. स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात्—मोक्खपाहुड टीका १२.

३. वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमण वंदण नमंसणेण विणएण सो पुज्जो॥ मोक्खपाहुड टीका १२।१.

४. लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि॥ प्रवचनसार २२५।७.

५. सुत्तपाहुड गाथा ७.

६. चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु णऽसंकया झाणं॥ सुत्तपाहुड २६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकतीं। गाँव के बाहर सूर्य के सामने हाथ ऊँचा करके आतापना नहीं ले सकतीं तथा अचेल एवं अपात्र (जिनकल्प) अवस्था धारण नहीं कर सकतीं।[1] बौद्ध परम्परा में भी स्त्री सम्यक्-सम्बुद्ध नहीं हो सकती।[2]

आर्यिका के लिए प्रयुक्त शब्द :

वर्तमान समय में सामान्यतः दिगम्बर परम्परा महाव्रत आदि धारण करने वाली दीक्षित स्त्री को 'आर्यिका' तथा श्वेताम्बर परम्परा में इन्हें 'साध्वी' कहा जाता है। दिगम्बर प्राचीन शास्त्रों में इनके लिए आर्यिका[3], आर्या[4], विरती,[5] संयती,[6] संयता[7], श्रमणी[8], आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। प्रधान आर्यिका को 'गणिनी'[9] तथा संयम, साधना एवं दीक्षा में ज्येष्ठ वृद्धा आर्यिका को स्थविरा (थेरी)[10] कहा गया है।

आर्यिकाओं का वेष :

आर्यिकायें निर्विकार वस्त्र एवं वेष धारण करने वालीं तथा पूरी तरह से शरीर-संस्कार (साज-शृंगार आदि) से रहित होती हैं। उनका आचरण सदा अपने धर्म, कुल, कीर्ति एवं दीक्षा के अनुरूप निर्दोष होता है।[11] वसुनन्दी के अनुसार-आर्यिकाओं के वस्त्र, वेष और शरीर आदि विकृति से रहित, स्वाभाविक-सात्त्विक होते हैं अर्थात् वे रंग-विरंगे वस्त्र, विलासयुक्त गमन और भूविकार-कटाक्ष आदि से रहित वेष को धारणा करने वाली होती हैं। जल्ल (प्रस्वेद-पसीना से युक्त रज)

---

१. बृहत्कल्प ५।१९-३४ तक (चारित्र प्रकाश पृष्ठ १३९.)
२. अट्ठानमेतं भिक्खवे अनवकासो यं इत्थी अरहं अस्स सम्मासम्बुद्धो—अंगुत्तर-निकाय १।९.
३. भ० आ० ३९६ तथा वि० टीका ४२१.
४. मूलाचार ४।१७७, १८४, १८५, १८७, १९१, १९६, सुत्तपाहुड २२.
५. वही, ४।१८०, १०।६१.
६. मूलाचार वृत्ति ४।१७७.
७. त्यक्ताशेष गृहस्थवेषरचना मंदोदरी संयता। पद्मपुराण
८. श्रीमती श्रमणी पार्श्वे बभूवुः परमार्यिका। वही,
९. गणिणी····मूलाचार ४।१७८, १९२. गणिनीं महत्तरिकां—
—वही वृत्ति ४।१७८, १९२.
१०. थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा। मूलाचार ४।१९४.
११. अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खा पडिरूपविसुद्धचरियाओ॥ मूलाचार ४।१९०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मैल से युक्त जिनका गात्र रहता है, जो किसी भी प्रकार का शरीर-संस्कार नहीं करतीं—ऐसीं ये आर्यिकायें क्षमा, मार्दव आदि धर्म, माता-पिता के कुल, अपना यश और अपने व्रतों के अनुरूप निर्दोष चर्या करती हैं।[1]

सुत्तपाहुड तथा इसकी श्रुतसागरीय टीका में तीन प्रकार के वेष (लिंग) का कथन है—१. मुनि, २. ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक-ऐलक एवं क्षुल्लक तथा ३. आर्यिका।[2] कहा है तीसरा लिंग (वेष) स्त्री (आर्यिका) का है। इसे धारण करने वाली स्त्री दिन में एक बार आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करे तथा वस्त्रावरण युक्त अवस्था में ही आहार ग्रहण करे।[3]

वस्तुतः स्त्रियों में उत्कृष्ट वेष को धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका—ये दो होती हैं। दोनों ही दिन में एक बार आहार लेतीं हैं। आर्यिका मात्र एक वस्त्र तथा क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय ओढ़ने के लिए एक चादर भी रखती हैं। भोजन करते समय एक सफेद साड़ी रखकर ही दोनों आहार करती हैं। अर्थात् आर्यिका के पास तो एक साड़ी है पर क्षुल्लिका एक साड़ी सहित किन्तु चादर रहित होकर आहार करती हैं।[4] भगवती आराधना में भी क्षुल्लिका का उल्लेख मिलता है।[5]

भगवती आराधना में सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागरूप औत्सर्गिक लिंग में चार बातें आवश्यक मानी गई हैं—अचेलता, केशलोच, शरीर-संस्कार-त्याग और प्रतिलेखन (पिच्छी)।[6] किन्तु स्त्रियों के अचेलता (नग्नता) का विधान न होते हुए भी अर्थात् तपस्विनी स्त्रियाँ एक साड़ी मात्र परिग्रह रखते हुए भी उनमें औत्सर्गिक लिंग माना गया है। अर्थात् उनमें भी ममत्व त्याग के कारण उपचार से निर्ग्रन्थता का व्यवहार होता है। परिग्रह अल्प कर देने से स्त्री के उत्सर्ग

---

१. मूलाचार वृत्ति ४।१९०.

२. सुत्तपाहुड १०, २१, २२.

३. लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ॥ सुत्तपाहुड २२.

४. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका २२.

५. खुड्डा य खुड्डियाओ''''भ० आ० ३९६.

६. अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे॥ भ० आ० ७९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिंग होता है।[1] इसीलिये सागार धर्मामृत में कहा भी है कि एक कौपीन (लंगोटी) मात्र में ममत्व भाव रखने से उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) भी महाव्रती नहीं कहलाता जबकि आर्यिका साड़ी में भी ममत्व भाव न रखने से उपचरित महाव्रत के योग्य होती है।[2]

वस्तुतः स्त्रियों की शरीर-प्रकृति ही ऐसी है कि उन्हें अपने शरीर को वस्त्र से सदा ढके रखना आवश्यक होता है। इसीलिए आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है।[3] श्वेताम्बर परम्परा के बृहत्कल्पसूत्र (५।१९) में भी कहा है—नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए—अर्थात् निर्ग्रन्थियों (आर्यिकाओं) को अचेलक (निर्वस्त्र) रहना नहीं कल्पता। आचार्य कुन्दकुन्दकृत प्रवचनसार की प्रक्षेपक गाथा में कहा है कि निर्दोष होने पर भी आर्यिकाओं को अपना शरीर वस्त्रों से ढके रहना पड़ता है अतः विरक्तावस्था में भी उन्हें वस्त्र धारण का विधान है।[4] इसीलिए वस्त्र त्याग की आशक्यता होने से तत्सम्बन्धी निराकुलता एवं चित्त की दृढ़ता उनमें हो नहीं सकती अतः आर्यिकाओं में उपचार से ही महाव्रत कहे हैं।

दौलत 'क्रिया कोश' में कहा है कि आर्यिकायें एक सादी सफेद धोती (साड़ी), पिच्छी, कमण्डलु एवं शास्त्र रखतीं है। बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करतीं हैं तथा अपने हाथों से केशलुञ्चन करती हैं।[5] इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुण (उपचार से) और समाचार विधि का आर्यिकायें पालन करती हैं। साड़ी मात्र परिग्रह धारण करती हैं अर्थात् एक बार में एक साड़ी पहनती हैं—ऐसे दो साड़ी का परिग्रह रहता है।[6]

श्वेताम्बर परम्परा में साध्वी को चार वस्त्र रखने का विधान है। एक वस्त्र

---

१. भ० आ० ८० विजयोदया टीका सहित।

२. कौपीनेऽपि समूर्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्छत्वात् साटकेऽप्यार्यिकार्हति॥ सागारधर्मामृत ८।३७.

३. आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया—भ० आ० विजयोदया ४२३. पृ० ३२४.

४. प्रवचनसार गाथा २२५ के बाद प्रक्षेपक गाथा ५.

५. क्रियाकोश : महाकवि दौलतरामकृत।

६. वस्त्रयुग्मं सुवीभत्सलिंगप्रच्छादनाय च।
आर्याणां संकल्पेन तृतीये मूलमिष्यते॥ प्रायश्चित्त संग्रह ११९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो हाथ का, दो वस्त्र तीन हाथ के और एक वस्त्र चार हाथ का।[1] किन्तु ये वस्त्र श्वेत रंग के ही होने चाहिए श्वेत वस्त्र छोड़कर विविध रंगों आदि से विभूषित जो वस्त्र धारण करती है वह आर्या नहीं अपितु शासन की अवहेलना करते वाली वेष-विडम्बनी है।[2]

कदाचित् वस्त्र-त्याग का भी विधान : सागार धर्मामृत में कहा है कि जिनेन्द्रदेव ने स्त्री का जो औत्सर्गिक लिंग या अन्य पद आदि कहा है वह उसके संस्तर पर आरोहण के समय मृत्यु काल में तथा एकान्त वसतिका आदि स्थान में वस्त्र मात्र का भी परित्याग कर सकती है।[3]

वसतिका :

गृहस्थों के मिश्रण से रहित वसतिका, जहाँ परस्त्री-लंपट, चोर, दुष्टजन तिर्यञ्चों एवं असंयत जनों का सम्पर्क न हो, साथ ही जहाँ यतियों का निवास या उनकी सन्निकटता न हो, असंज्ञियों (अज्ञानियों) का आना-जाना न हो ऐसी संक्लेश रहित, बाल, वृद्ध आदि सभी के गमनागमन योग्य, विशुद्ध संचार युक्त प्रदेश में दो, तीन अथवा इससे भी अधिक संख्या में एक साथ मिलकर आर्यिकाओं को रहना चाहिए।[4] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जहाँ मनुष्य अधिक एकत्रित होते हों—ऐसे राजपथ-मुख्यमार्ग, धर्मशाला और तीन-चार रास्तों के संगम स्थल पर आर्यिकाओं को नहीं ठहरना चाहिए। खुले स्थान पर तथा बिना फाटक वाले स्थान पर भी नहीं रहना चाहिए।[5] जिस उपाश्रय के समीप गृहस्थ रहते हों वहाँ साधुओं को नहीं रहना चाहिए किन्तु साध्वियाँ रह सकती हैं।[6]

---

१. आचारांग सूत्र २।५।१४१.

२. गच्छाचार पइन्ना ११२.

३. यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिङ्गमुक्तं जिनं स्त्रियाः।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः॥
—सागारधर्मामृत ८।३९. ज्ञानदीपिका टीका सहित।

४. अगिहत्थमिस्सणिलये असण्णिवाए विशुद्धसंचारे।
दो तिण्णि व अज्जाओ बहुगीओ वा सहत्थंति॥
—मूलाचार ४।१९१ वृत्तिसहित।

५. बृहत्कल्प भाष्य उ० १।२, २।११, १.

६. बृहत्कल्प सूत्र प्रथम उद्देश प्रतिबद्धशय्यासूत्र (जै० सा० का वृ० इति० भाग २. पृ० २४१).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वसतिकाओं में आर्यिकायें मात्सर्यभाव छोड़कर एक दूसरे के अनुकूल, तथा एक दूसरे के रक्षण के अभिप्राय में पूर्ण तत्पर रहती हैं। रोष, बैर और मायाचार जैसे विकारों से रहित, लज्जा, मर्यादा और उभयकुल—पितृकुल, पतिकुल अथवा गुरुकुल के अनुरूप आचरण (क्रियाओं) द्वारा अपने चारित्र की रक्षा करती हुई रहती हैं।[1] आर्यिकाओं में भय, रोष आदि दोषों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। तभी तो ज्ञानार्णव में कहा है शम, शील और संयम से युक्त अपने वंश में तिलक के समान, श्रुत तथा सत्य से समन्वित ये नारियाँ (आर्यिकायें) धन्य हैं।[2]

समाचार : विहित एवं निषिद्ध

चरणानुयोग विषयक जैन साहित्य में श्रमण और आर्यिकाओं दोनों के समाचार आदि प्रायः समान रूप से प्रतिपादित हैं।[3] मूलाचारकार ने इनके समाचार के विषय में कहा है कि आर्यिकायें अध्ययन, पुनरावृत्ति (पाठ करने) श्रवण-मनन, कथन, अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, तप, विनय तथा संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई ज्ञानाभ्यास रूप उपयोग में सतत् तत्पर रहती हैं तथा मन, वचन और कायरूप, योग के शुभ अनुष्ठान से सदा युक्त रहती हुई अपनी दैनिक चर्या पूर्ण करती हैं।[4]

किसी प्रयोजन के बिना परगृह चाहे वह श्रमणों की ही वसतिका क्यों न हो या गृहस्थों का घर हो, वहाँ आर्यिकाओं का जाना निषिद्ध है। यदि भिक्षा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि विशेष प्रयोजन से वहाँ जाना आवश्यक हो तो गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्यिका) से आज्ञा लेकर अन्य कुछ आर्यिकाओं के साथ मिलकर जा सकती हैं, अकेले नहीं।[5] स्व-पर स्थानों में दुःखार्त्त को देखकर रोना, अश्रुमोचन, स्नान (बालकों को स्नानादि कार्य) कराना, भोजन कराना, रसोई पकाना, सूत कातना तथा छह प्रकार का आरम्भ अर्थात् जीवघात की कारणभूत क्रियायें आर्यिकायें नहीं करती। संयतों के पैरों में मालिश करना, उनका प्रक्षालन

---

१. अण्णोण्णणुकूलाओ अण्णोण्णाहिरक्खणाभिजुत्ताओ।
गयरोसवेरमायासलज्जमज्जादकिरियाओ॥ मूलाचार ४।१८८.

२. ज्ञानार्णव १२।५७.

३. हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पृ० ४७३.

४. अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ॥ मूलाचार ४।१८९.

५. ण य परगेहमकज्जे गच्छे कज्जे अवस्सगमणिज्जे।
गणिणीमापुच्छित्ता संघाडेणेव गच्छेज्ज॥ मूलाचार ४।१९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना, गीत गाना आदि कार्य उन्हें निषिद्ध हैं।[1] असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और लेखन कार्य—ये जीवघात के हेतुभूत छह प्रकार को आरम्भ क्रियायें हैं।[2] पानी लाना, पानी छानना (छेण), घर को साफ करके कूड़ा-कचरा उठाना-फेंकना, गोबर से लीपना, झाड़ू लगाना और दीवालों को साफ करना—ये जीवघात करने वाली छह प्रकार की आरम्भ क्रियायें भी आर्यिकायें नहीं करतीं।[3] मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार में आहार सम्बन्धी उत्पादन के सोलह दोषों के अन्तर्गत धायकर्म, दूतकर्म आदि कार्य भी इन्हें निषिद्ध हैं।

श्वेताम्बर परम्परा के गच्छाचारपइन्ना ग्रंथ में कहा है—जो आर्यिका गृहस्थी सम्बन्धी कार्य जैसे—सीना, बुनना, कढ़ाई आदि कार्यों को और अपनी या दूसरे की तेल मालिश आदि कार्य करती हैं वह आर्यिका नहीं हो सकती।[4] जिस गच्छ में आर्यिका गृहस्थ सम्बन्धी जकार, मकार, आदि रूप शासन की अवहेलना सूचक शब्द बोलती है वह वेश-विडम्बनी तथा अपनी आत्मा को चतुर्गति में घुमाने वाली है।[5]

आहारार्थ गमन विधि :

आहारार्थ भिक्षा के लिए वे आर्यिकायें तीन, पाँच अथवा सात की संख्या में स्थविरा (वृद्धा) आर्यिका के साथ मिलकर उनका अनुगमन करती हुई तथा परस्पर एक दूसरे के रक्षण (सँभाल) का भाव रखती हुई ईर्या समितिपूर्वक आहारार्थ निकलती हैं।[6] देव-वन्दना आदि कार्यों के लिए भी उपर्युक्त विधि से गमन करना चाहिए।[7] आर्यिकायें दिन में एक बार सविधि बैठकर करपात्र में आहार ग्रहण करती हैं।[8] गच्छाचार पइन्ना में कहा है—कार्यवश लघु आर्या मुख्य आर्या के पीछे रहकर अर्थात् स्थविरा के पीछे बैठकर

---

१. रोदणण्हावणभोयणपयणं सुत्तं च छव्विहारंभे।
विरदाण पादमक्खण धोवणगेयं च ण य कुज्जा ।। मूलाचार ४।१९३.

२. असिमषिकृषिवाणिज्यशिल्पलेखक्रियाप्रारम्भास्तान् जीवघातहेतून्—
—मूलाचार वृत्ति ४।१९३.

३. पाणियणयणं छेणं गिहवोहरणं च गेहसारमणं।
कुड्डावलिप्पणं कुड्डविदे एदंतु छव्विहारंभो ।। कुन्द० मूलाचार ४।७४.

४. गच्छाचार पइन्ना ११३.

५. वही ११०.

६. तिण्णि व पंच व सत्त व अज्जाओ अण्णमण्णरक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरन्ति सदा ।। मूलाचार ४।१९४.

७. वही वृत्ति.

८. सुत्तपाहुड श्रुतसागरीय टीका २२. तथा दौलत क्रियाकोश।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण-प्रमुख के साथ सहज, सरल और निर्विकार वाक्यों द्वारा मृदु वचन बोले तो वही वास्तविक गच्छ कहलाता है।[1]

स्वाध्याय सम्बन्धी विधान : मुनि और आर्यिका आदि सभी के लिए स्वाध्याय आवश्यक होता है। वट्टकेर ने स्वाध्याय के विषय में आर्यिकाओं के लिए लिखा है कि गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली तथा अभिन्नदशपूर्वधर–इनके द्वारा कथित सूत्रग्रंथ, अंगग्रंथ तथा पूर्वग्रंथ–इन सबका अस्वाध्यायकाल में अध्ययन मन्दबुद्धि के श्रमणों और आर्यिका समूह द्वारा निषिद्ध है। अन्य मुनिश्वरों को भी द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि की शुद्धि के बिना उपर्युक्त सूत्रग्रंथ पढ़ना निषिद्ध है। किन्तु इन सूत्रग्रंथों के अतिरिक्त आराधनानिर्युक्ति, मरणविभक्ति, स्तुति, पंचसंग्रह, प्रत्याख्यान, आवश्यक तथा धर्मकथा सम्बन्धी ग्रंथों को एवं ऐसे ही अन्यान्य ग्रंथों को आर्यिका आदि सभी अस्वाध्याय काल में भी पढ़ सकती हैं।[2]

वंदना-विनय संबंधी व्यवहार :

शास्त्रों के अनुशार सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका से भी नव दीक्षित श्रमण पूज्य और ज्येष्ठ माना गया है। अतः स्वाभाविक है कि आर्यिकायें श्रमण के प्रति अपना विनय प्रकट करती हैं। आर्यिकाओं के द्वारा श्रमणों की वन्दना विधि के विषय में कहा है कि आर्यिकाओं को आचार्य की वन्दना पाँच हाथ दूर से, उपाध्याय की वन्दना छह हाथ दूर से एवं साधु की वन्दना सात हाथ दूर से गवासन पूर्वक बैठकर ही करनी चाहिए। यहाँ सूरि, अध्यापक (उपाध्याय) एवं साधु शब्द से यह भी सूचित होता है कि आचार्य से पाँच हाथ दूर से ही आलोचना एवं वन्दना करना चाहिए। उपाध्याय से छह हाथ दूर बैठकर अध्ययन करना चाहिए एवं सात हाथ दूर से साधु की वन्दना, स्तुति आदि कार्य करना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं। यह क्रमभेद आलोचना, अध्ययन और स्तुति करने की अपेक्षा से हो जाता है।[3] मोक्षपाहुड की टीका के अनुसार श्रमण और आर्यिका के बीच परस्पर वन्दना उपयुक्त तो नहीं है, किन्तु यदि आर्यिकायें

---

१. गच्छाचार पइन्ना, १२९-१३०.
२. मूलाचार ५।८०-८२, वृत्तिसहित।
३. पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधु य।
परिहरिऊण ज्जाओ गवासणेणेव वंदंति॥
—मूलाचार ४।१९५ वृत्ति सहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वन्दना करें तो श्रमण को उनके लिए 'नमोऽस्तु' शब्द न कहकर 'समाधिरस्तु या कर्मक्षयोऽस्तु' कहना चाहिए।[1]

आर्यिका और श्रमण : परस्पर सम्बन्धों की मर्यादा :

जैनाचार्यों ने श्रमण संघ को निर्दोष एवं सदा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अनेक दृष्टियों से स्त्रियों के संसर्ग से चाहे वह आर्यिका भले ही हो, दूर रहने का विधान किया है। यही कारण है कि श्रमण संघ आज भी बिना किसी बाधा या अपवाद के अपनी अक्षुण्णता बनाये हुए है।

श्रमणों और आर्यिकाओं का सम्बन्ध (परस्पर व्यवहार) धार्मिक कार्यों तक ही सीमित है। कुछ आर्यिकायें एक साथ मिलकर श्रमण से अध्ययन 'शंका-समाधान आदि कार्य कर सकती हैं, अकेले नहीं। अकेले श्रमण और आर्यिका को परस्पर बातचीत तक का निषेध है। कहा भी है कि तरुण श्रमण किसी भी तरुणी आर्यिका या अन्य किसी स्त्री से कथा-वार्तालाप न करे। यदि इसका उल्लंघन करेगा तो आज्ञाकोप, अनवस्था (मूल का ही विनाश), मिथ्यात्वाराधना, आत्म-नाश और संयम-विराधना—इन पाप के हेतुभूत पाँच दोषों से दूषित होगा।[2] अध्ययन या शंका-समाधान आदि धार्मिक कार्य के लिए आर्यिकायें या स्त्रियाँ यदि श्रमण संघ आयें तो उस समय श्रमण को वहाँ अकेले नहीं ठहरना चाहिए और बिना प्रयोजन वार्तालाप नहीं करना चाहिए किन्तु कदाचित् धर्मकार्य के प्रसंग में बोलना भी ठीक है।[3] एक आर्यिका कुछ प्रश्नादि पूछे तो अकेला श्रमण उसका उत्तर न दे, अपितु कुछ श्रमणों के सामने उत्तर दे। यदि आर्यिका गणिनी के साथ या उसे आगे करके कोई प्रश्न पूछे तब अकेले श्रमण उसका उत्तर दे सकता है अर्थात् मार्ग—प्रभावना की इच्छा रखते हुए प्रश्नोत्तरों आदि का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं।[4]

आर्यिकाओं को वसतिका में श्रमणों को नहीं ठहरना चाहिए, वहाँ क्षणमात्र

---

१. मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता। यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं, किं तर्हि वक्तव्यं? समाधिकर्मक्षयोऽस्त्विति— मोक्षपाहुड गाथा १२ की श्रुतसागरीय टीका.

२. मूलाचार ४।१७९ वृत्ति सहित।

३. वही ४।१७७ वृत्ति सहित।

४. तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु।
गणिणी पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्वं॥
—वही वृत्ति सहित ४।१७८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या कुछ समय तक की (अल्पकालिक) क्रियायें भी नहीं करनी चाहिए। अर्थात् वहाँ बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा ग्रहण, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग एवं मलोत्सर्ग आदि क्रियायें भी निषिद्ध हैं।[1] क्योंकि कामाग्नि से पीड़ित हुआ मलिन चित्तवाला श्रमण उस संघ में रहने वाले स्थविर, चिरदीक्षित मुनि, आचार्य, बहुश्रुत उपाध्याय तथा तपस्वियों को भी कुछ नहीं समझता है, उनको नहीं देखता, उनकी उपेक्षा कर देता है। और तो और, वह अपने माता-पिता के कुल को अथवा अपने सम्यक्त्व आदि को भी नष्ट कर देता है, या इन गुणों की वह विराधना कर देता है।[2]

भगवती आराधना में कहा है कि स्थिरबुद्धिधारी श्रमण के भी संसर्ग से चित्त में उल्लास पाकर चंचल चित्तवाली आर्यिका का मन उसी प्रकार द्रवित होता है जैसे अग्नि के समीप घी द्रवित (पिघल) होता है। आर्या के साथ परिचय को प्राप्त किये या उसके अनुगामी भी उससे स्वयं को छुड़ाने में असमर्थ होता है।[3] वृद्ध, तपस्वी, बहुश्रुत और जनमान्य (प्रामाणिक) श्रमण भी यदि आर्याजन से संसर्ग रखता है तो वह लोकापवाद का भागी (लोगों की निन्दा का स्थान) बन जाता है[4]। तब जो श्रमण अवस्था में तरुण हैं, बहुश्रुत भी नहीं हैं और न जो उत्कृष्ट तपस्वी और चारित्रवान् हैं वे आर्याजन के संसर्ग से लोकापवाद के भागी क्यों नहीं होंगे? जो साधु घर, जमीन आदि समस्त परिग्रहों से मुक्त है वह सर्वत्र अपने को वश में रखता है किन्तु वही साधु आर्या का अनुगामी होकर आत्मवशी नहीं रहता। साधु का आर्या के साथ ऐसा बन्धन है जिसकी कोई उपमा नहीं है। चर्म के साथ ही उतरने वाला वज्रलेप भी उसके समान नहीं है।[5]

साधु के लिए केवल आर्याओं का संसर्ग ही त्याज्य नहीं है, बल्कि जो बाला, कन्या, तरुणी, वृद्धा, सुरूप, कुरूप सभी प्रकार के स्त्रीवर्ग में प्रमाद रहित होता है और कभी भी उनका विश्वास नहीं करता वही साधु ब्रह्मचर्य को जीवन पर्यन्त पार लगाता है। जो उससे विपरीत होता है अर्थात् स्त्रियों के सम्बन्ध में प्रमादी और विश्वासी होता है वह ब्रह्मचर्य को पार नहीं कर पाता। आर्यिकाओं के

---

१. मूलाचार ४।१८०, १०।६१ वृत्ति सहित।
२. वही, वृत्ति सहित ४।१८१.
३. भगवती आराधना ३३३, ३३६.
४. वही, ३३१.
५. वही, गाथा ३३२, ३३५, ३३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपाश्रय में ठहरने वाला श्रमण लोकापवाद रूप व्यवहार-निन्दा तथा व्रतभंग रूप परमार्थ-निन्दा इन-दोनों को प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार साधु को केवल आर्या-जनों के संसर्ग से ही दूर नहीं रहना चाहिए किन्तु अन्य भी जो-जो वस्तु साधु को परतन्त्र करती है उस-उस वस्तु का त्याग करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। उसके त्याग से उसका संयम दृढ़ होगा। क्योंकि बाह्य वस्तु के निमित्त से होने वाला असंयम उस वस्तु के त्याग से ही सम्भव होता है।[2]

वस्तुतः सदाचार रूप संसर्ग से विशुद्धता आती है अर्थात् बोधि बढ़ती है और कुत्सित आचरण एवं प्रतिकूल संसर्ग से वह नष्ट भी हो जाती है। जैसे संसर्ग विशेष से जल का घड़ा कमल की सुगन्ध से शीतल और सुगंधित हो जाता है तथा अग्नि आदि के संसर्ग से उष्ण एवं रसहीन हो जाता है।[3] अतः श्रमण को अच्छे संसर्ग में रहना चाहिए।

कन्या, विधवा, अन्तःपुर में रहने वाली रानी, स्वेच्छाचारिणी, तथा सलिंगिणी तपस्विनी महिला (आर्यिका) अर्थात् समान लिंग-व्रतादि रूप धारण करने वाली स्त्रियों के भी साथ क्षणमात्र का संसर्ग (सम्पर्क) तथा बातचीत आदि क्रियाओं से श्रमण अपवाद (निन्दा) को प्राप्त होता है।[4] गच्छाचारपइन्ना में कहा है सभी पदार्थों में ममता रहित साधु स्वाधीन होता है किन्तु यदि वह आर्यिका के पाश में बंधता है तथा उसी के कथन का अनुसरण करता है तो वह साधु परतंत्र सेवक के समान हो जाता है।[5] मूलाचारकार ने कहा है : स्त्री रूप-प्रत्यय के सद्भाव (विश्वास के कारणवश) से जीव के चित्त में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है।[6] अतः माता, बहिन, पुत्री, वृद्धा तथा मूक, लूली, लंगड़ी, अंधी, कानी, बहरी आदि अंगभंगयुक्त कुरूप, काष्ठादि में चित्रित स्त्रियों तथा निर्वस्त्र सती भी हो तो उससे सदा दूर रहना और डरना चाहिए।[7] क्योंकि स्त्री का रूप निरपेक्ष होता है[8] अर्थात् माता, बहिन, लूली-लंगड़ी आदि किसी भी रूप में

---

१. मूलाचार १०।६२.
२. भगवती आराधना गाथा ३३४, ३३८.
३. मूलाचार १०।६३.
४. कण्णं विधवं अन्तेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥ वही ४।१८२.
५. गच्छाचारपइन्ना ६८,
६. हवदि य चित्तक्खोभो पञ्चयभावेण जीवस्स। मूलाचार १०।९९.
७. वही १०।९९१, १०२, ९९
८. .....इत्थीरूपं णिरावेक्खं—वही १०।१०१,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो आखिर वह है स्त्री। कामान्ध व्यक्ति को उनमें कोई भी अन्तर नजर नहीं आता। अतः स्त्री को प्रज्वलित अग्नि के सदृश तथा पुरुष को घी से भरे हुए घड़े के सदृश कहा है। इस अवस्था में जो भी पुरुष स्त्री के संसर्ग में आते हैं वे (घी की तरह) पिघलकर या जलकर नष्ट हो जाते हैं और जो इनसे बचकर चलते हैं वे कल्याण को प्राप्त करते हैं।[1]

आर्यिकाओं के गणधर :

आर्यिकाओं की दीक्षा, शंका-समाधान, शास्त्राध्ययन आदि कार्यों के लिए श्रमणों के सम्पर्क में आना भी आवश्यक होता है। श्रमण संघ की इस व्यवस्था के अनुसार साधारण श्रमणों की अकेले आर्यिकाओं से बातचीत आदि का निषेध है। आर्यिकाओं को प्रतिक्रमणादि विधि सम्पन्न कराने के लिए गणधर मुनि की व्यवस्था का विधान है।

आर्यिकाओं के गणधर को निम्नलिखित गुणों से सम्पन्न माना गया है। प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्नी (धर्म और धर्मफल में अतिशय उत्साह वाला), अवद्य (पाप) भीरू, परिशुद्ध, (शुद्ध आचरण वाले), संग्रह (दीक्षा, उपदेश आदि द्वारा शिष्यों के ग्रहण-संग्रह) और अनुग्रह में कुशल, सतत् सारक्षण (पाप-क्रियाओं से सर्वथा निवृत्ति) से युक्त, गंभीर, दुर्द्धष (स्थिर वित्त एवं निर्भय अन्तःकरण युक्त), मितभाषी, अल्पकौतुकयुक्त, चिरप्रवर्जित और गृहीतार्थ (तत्त्वों के ज्ञाता) आदि गुणों से युक्त आर्यिकाओं के मर्यादा उपदेशक गणधर (आचार्य) होते हैं।[2] इन गुणों से युक्त श्रमण तो अपने आप में पूर्णत्व को प्राप्त करने वाला होता है और यह तो श्रमणत्व की कसौटी भी है। ऐसे ही गणधर आर्यिकाओं को आदर्श रूप में प्रतिक्रमणादि विधि सम्पन्न करा सकते हैं। उपर्युक्त गुणों से रहित श्रमण यदि गणधरत्व धारण करके आर्यिकाओं को प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्तादि देता है तब उसके गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ—इन चार कालों की विराधना होती है। अथवा छेद, मूल, परिहार और पारंचिक—ये चार प्रायश्चित्त लेने पड़ते हैं। साथ ही ऋषिकुल रूप गच्छ या संघ, कुल, श्रावक एवं मिथ्यादृष्टि आदि इन सबको विराधना हो जाती है। अर्थात् गुणशून्य आचार्य यदि आर्यिकाओं का पोषण करते हैं तो व्यवस्था बिगड़

---

१. धिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंत अग्निसमा।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा परिसा सिवंगयाइयरे॥ मूलाचार १०।१००.

२. मूलाचार ४।१८३, १८४, बृहत्कल्प भाष्य २०५०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाने से संघ के साधु उनकी आज्ञा पालन नहीं करेंगे। इससे संघ का विनाश हो सकता है।[1]

आचार्य वट्टकेर ने थोड़ा ही कहकर विश्रान्ति लेते हुए कहा है कि ज्यादा कहने से क्या लाभ ? उपर्युक्त गुणों से युक्त गणधर अपनी इच्छा की अनुकूलतावश आवश्यकतानुसार उपयुक्त व्यवहार सभी आर्यिकाओं और शेष स्वगणस्थ श्रमणों के प्रति कर सकता है।[2]

आर्यिका संघ :

जैन साहित्य के अन्तर्गत जब हम चौबीस तीर्थंकरों के चरित सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि प्रत्येक तीर्थंकर के शासन काल में चतुर्विध श्रमण संघ में आर्यिकाओं की काफी संख्या रही है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की ब्राह्मी और सुन्दरी इन दोनों पुत्रियों के दीक्षित होकर आर्यिका होने के उल्लेख मिलते हैं। आर्यिका संघ आचार्य के नेतृत्व में गणिनी (प्रधान) आर्यिका के संरक्षण में प्रवर्जित होता है। श्रमण के दस स्थितिकल्पों में ज्येष्ठ नामक स्थितिकल्प में बताया गया है कि यद्यपि आर्यिका श्रमण की अपेक्षा पद में लघु होती है और आचार्य (गणधर) द्वारा ही आर्यिकाओं को दीक्षा का विधान है किन्तु उनके गणधर अनेक गुणों से युक्त होते थे।[3] और ऐसे ही गणधर आर्यिका संघ का पूरा ध्यान रखते थे। आर्यिका द्वारा किसी अन्य आर्यिका या मुनि आदि की दीक्षा का उल्लेख मेरी दृष्टि में नहीं आया। बौद्ध परम्परा में भिक्षुणीसंघ भिक्षु संघ के अधीन रहता था। भिक्षुणियों का दर्जा भिक्षुओं से लघु माना जाता था। इस विषय में बहुत से नियम-उपनियम बनाये गये थे जिससे कि भिक्षुणियों के संसर्ग से भिक्षुओं का संघ अपवित्र व दोषपूर्ण न हो जाय।[4] मूलाचार की एक गाथा से सूचित होता है कि आर्यिका संघ में किसी प्रकार के उपयुक्त व्यवहार आदि विधान की आवश्यकता महसूस हो तो अनेक गुणसम्पन्न गणधर अनुकूलतावश और समय को देखते हुए वैसा कर सकता है।[5]

---

१. मूलाचार ४।१८५.
२. वही ४।१८६.
३. मूलाचार ४।१८३-१८४, बृहत्कल्प भाष्य २०५०.
४. बुद्ध और बौद्ध धर्म,—(आचार्य चतुरसेन शास्त्री) पृ० ६५.
५. मूलाचार ४।१८६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गणिनी (प्रधान) आर्यिका :

यद्यपि आर्यिकायें आचार्य के ने त्व में ही अपनी संयम-यात्रा सम्पन्न करती हैं किन्तु श्रमण संघ में जो स्थान आचार्य का होता है वही स्थान आर्यिका संघ में गणिनी (महत्तरिका या प्रधान आर्यिका) का होता है। गच्छाचार पइन्ना के अनुसार शीलवती, सुकृत करने वाली, कुलीन और गम्भीर अन्तःकरण वाली गच्छ में मान्य आर्यिका महत्तरा पद को प्राप्त करती है।[1]

मूलाचारकार ने गणिनी आर्यिका के समाचार (आचार-विचार) आदि के विषय का स्वतंत्र उल्लेख नहीं किया। किन्तु आर्यिकाओं के समाचार वर्णन के प्रसंग में प्रमुख आर्यिका का गणिनी या महत्तरिका एवं स्थविरा का वृद्धा आर्यिका के रूप में उल्लेख हैं। प्राचीनकाल में आर्यिका संघ बड़ा ही सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित था। वृद्धा, तरुणी आदि सभी उम्र की आर्यिकायें परस्पर एक दूसरे के सहयोग की भावना के साथ अपने विशुद्ध आचार के पालन, तपश्चरण, शास्त्राध्ययन एवं मननचिन्तन में सदा लीन रहतीं थी। संघ या वसतिका से बाहर अकेले एवं बिना गणिनी की आज्ञा के जाना निषिद्ध था। श्रमणों से धार्मिक कार्य, जैसे दीक्षा, शंका-समाधान, वंदना आदि तक ही सीमित था। तात्त्विक या आचार सम्बन्धी शंका आदि होने पर प्रधान आर्यिका को आगे करके या उन्हीं के माध्यम से समाधान प्राप्त करने का विधान है। भिक्षा आदि के समय कम से कम तीन, पाँच अथवा सात आर्यिकायें एक साथ परस्पर रक्षण के भाव से निकलती हैं। इसी तरह वन्दना, प्रतिक्रमण. स्वाध्याय आदि के लिए आचार्य, उपाध्याय तथा श्रमणों के पास जाने या अन्यत्र विहार के समय तीन, पाँच या सात अथवा इससे भी अधिक आर्यिकायें एक साथ मिलकर ईर्यासमितिपूर्वक तथा प्रधान (वृद्धा) आर्यिका का अनुगमन करती हुई जाती हैं। इनकी वसतिका श्रमणों, असंयतजनों एवं दुष्ट तिर्यञ्चों आदि से दूर विशुद्ध संचार वाले स्थान में होने का विधान है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रायः सभी दिगम्बर परम्परा के आचार विषयक ग्रन्थों में आर्यिकाओं की सम्पूर्ण आचार पद्धति का स्वतन्त्र विवेचन नहीं मिलता। मूलाचारकार ने यत्र-तत्र प्रसंगवश ही इनके आचार का कुछ विशेष विवेचन किया है, अन्यथा शेष आचार श्रमणों के समान ही प्रतिपादित समझने को कहा है। यथा—पूर्व में जैसा आचार श्रमणों के विषय में कहा है वैसा ही सम्पूर्ण अहोरात्र सम्बन्धी समाचार (वृक्षमूलयोग आदि को छोड़कर) आर्यिकाओं

---

१. गच्छाचारपइन्ना, गाथा ९४ का विवेचन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के भी विषय में समझना चाहिए। इसीलिए आर्यिकाओं के आचार का स्वतन्त्र प्रतिपादन आवश्यक नहीं समझा गया।

इस तरह श्रमण संस्कृति में आर्यिका संघ का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि आचार-विचार के पालन, धर्म के संचालन, जैन साहित्य, संस्कृति, एवं कला को विकास की दिशा प्रदान करने, श्रावक-श्राविकाओं तथा सम्पूर्ण भारतीय समाज को नैतिक एवं उच्च आदर्शमय जीवन की आंतरिक प्रेरणा देने में आर्यिकाओं की सदा अहं भूमिका रही है। इसका एक सुव्यवस्थित रूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। ये सभी एक साथ रहकर संयम और चारित्र की आराधना में सतत् तत्पर रहती हैं। आर्यिका संघ में एक प्रधान आर्यिका गणिनी (महत्तरिका) के पद का विधान होता है, जो आर्यिका संघ का सुचारु रूप से संचालन आचार्य के नेतृत्व में करती हैं।

बौद्ध भिक्षुणी संघ—बौद्ध परम्परा के अनुसार भिक्षुणी-संघ में भी अनेक पदों की व्यवस्था थी तथा उनके आचरण सम्बन्धी नियमों का विधान भिक्षुओं के सदृश था। जब भ० बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना की तब निम्न-लिखित आठ गुरु-धर्म भिक्षुणी संघ के लिए स्थापित किये थे जो इस प्रकार हैं—१–सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी संघ के सम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान, अंजलि जोड़ना, समीचीन कर्म करना चाहिए। २–जहाँ भिक्षु न हों, ऐसे स्थान में वर्षावास नहीं करना चाहिए। ३–प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु संघ से पर्येषण करना चाहिए। ४–वर्षावास कर चुकने पर भिक्षुओं को दोनों संघों में देखें, सुने जाने वाले तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए। ५–जिस भिक्षुणी ने गुरु धर्मों को स्वीकार कर लिया है उसे दोनों संघों में मानना चाहिए। ६–किसी प्रकार की भिक्षुणी भिक्षु को गाली आदि न दें। ७–भिक्षुओं से भिक्षुणियों को बात नहीं करनी चाहिए। ८–भिक्षुओं को उन्हें उपदेश करने का अधिकार है। इन प्रधान नियमों के अलावा भिक्षुणियों के दैनिक जीवन के लिए अनेक साधारण नियम थे।[1]

इस प्रकार बौद्ध भिक्षुणी संघ के सामान्य नियमों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जैन आर्यिका संघ के सामान्य नियमों तथा बौद्ध भिक्षुणी संघ के सामान्य नियमों में अनेक प्रकार से समानता दिखलाई देती है।

●

१. पालि साहित्य का इतिहास (भरत सिंह उपाध्याय) पृ० ३२१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षष्ठ अध्याय

जैन सिद्धान्त

श्रमणों के आचार का प्रधान रूप से प्रतिपादन करने वाले इस मूलाचार में पर्याप्ति नामक बारहवें अन्तिम अधिकार के अन्तर्गत पर्याप्ति, देह, काय-संस्थान, इन्द्रिय संस्थान, योनि, आयु, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रवीचार, उपपाद, उद्वर्तन, स्थान, कुल, अल्पबहुत्व, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध—इन बीस सूत्रपदों[1] का तथा प्रायः सभी अधिकारों में जैनधर्म दर्शन के अनेक प्रमुख जैन सिद्धान्तों का प्रसंगानुसार विस्तृत प्रतिपादन आचार्य वट्टकेर ने किया है। कुछ विद्वान् श्रमणाचार-सम्बन्धी प्रतिपादन के प्रसंग में इन विषयों का प्रतिपादन अप्रासंगिक मानते हैं। किन्तु सर्व सिद्धान्त और करण-चरण के समुच्चय रूप इस पर्याप्ति अधिकार में विशेष रूप से वर्णित विषयों का श्रमणाचार के प्रसंग में प्रतिपादन सर्वथा उपयुक्त ही है। क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान और आचरण का समन्वय आवश्यक माना गया है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य है मोक्ष और उसके साधन संयम आदि का ज्ञान और इसके लिए जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यही कि मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार में प्रतिपादित सूत्रपदों का ज्ञान आवश्यक है तभी श्रमणाचार के पालन की सार्थकता है। आचार्य वट्टकेर की दृष्टि में पर्याप्ति आदि तथा जैनधर्म के अन्यान्य प्रमुख सिद्धान्तों सम्बन्धी ज्ञान के बिना मात्र श्रमणाचार का ज्ञान अधूरा ही है। अतः उन्होंने एक व्यवस्थित रूपरेखा के अनुसार ही 'मूलाचार' ग्रन्थ का निर्माण करते समय प्रसंगानुसार इन विषयों का प्रतिपादन करना आवश्यक समझा।

दशवैकालिक में कहा भी है कि जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा ?[2]

---

१. पज्जत्ती देहो वि य संठाणं कायइंदियाणं च।
जोणी आउ पमाणं जोगो वेदो य लेस पविचारो॥
उववादो उव्वट्टण ठाणं च कुलं च अप्पबहुलो य।
पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधो य सुत्तपदा॥ मूलाचार १२।२-३

२. जो जीवे वि न याणाइ अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहिइ संजमं॥ दशवै० ४।१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः संयम का स्वरूप जानने के लिए जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है। इसीलिए आचार-निरूपण के पश्चात् विशेष रूप से पर्याप्ति अधिकार में पूर्वोक्त बीस सूत्रपदों का प्रतिपादन पूर्ण सार्थक ही है। कहा भी है कि जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है। इसके बाद वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है। इनको जानने के बाद जो भी देवों और मनुष्यों के भोग हैं उनसे विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य संयोगों को त्याग देता है और मुंड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करके उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है एवं अबोधि-रूप पाप द्वारा संचित कर्म-रज को प्रकम्पित करके सर्वत्र-गामी केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।[1] इसीलिए पर्याप्ति आदि का प्रतिपादन यहाँ सार्थक है। जीव-अजीव आदि का ज्ञान प्रत्येक श्रमण को इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि जिसको जीवों का ज्ञान नहीं होता, उसे उनके अस्तित्व में भी विश्वास (श्रद्धा) नहीं होता तब वह व्यक्ति जीवन-व्यवहार में, उनके प्रति संयमी, अहिंसक अथवा चारित्रवान् कैसे हो सकता है? भगवती आराधना में स्थितिकल्पों के प्रसंग में कहा है कि जीवों के भेद-प्रभेद के ज्ञाता व्यक्ति को ही नियम से व्रत देना चाहिए।[2]

जिस तरह रोगी को औषधि देने के पूर्व उसे वमन-विरेचन कराने से औषधि लागू मालूम पड़ती है, उसी तरह जीवों के अस्तित्व में श्रद्धा रखते हुए जो व्रत ग्रहण करता है उसके महाव्रत स्थिर होते हैं। जैसे मलिन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता और स्वच्छ वस्त्र पर सुन्दर रंग चढ़ता है, उसी तरह जिसे जीवों का ज्ञान नहीं होता, जिसे उनके अस्तित्व में शंका होती है वह अहिंसा आदि महाव्रतों के योग्य नहीं होता तथा जिसे जीवों का ज्ञान और उनमें श्रद्धा होती है वह उपस्थापन के योग्य होता है और उसी के व्रत सुन्दर और स्थिर होते हैं।[3] श्रमणाचार के प्रसंग में इन सिद्धान्तों का विवेचन इसलिए भी आवश्यक है ताकि कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण हो सके, साथ ही श्रमण अपने चारित्रिक विकास की परख गुणस्थान, लेश्या आदि के आधार पर कर सके। क्योंकि सिद्धान्तों के कार्यान्वयन की प्रक्रिया का मुख्य आधार आचार ही है।

---

१. दशवैकालिक ४।१४–२१. जैन विश्व भारती, लाडनूं प्रकाशन।
२. भ० आ० ४२१ पृष्ठ ३३०.
३. दशवै० : टिप्पण ४० पृष्ठ १३४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः मूलाचार के परिपेक्ष्य में जैन-धर्म-दर्शन के प्रमुख जैन सिद्धान्तों का विवेचनात्मक परिचय यहाँ प्रस्तुत है—

लोक स्वरूप विमर्श :

लोक विषयक विभिन्न मान्यतायें धार्मिक क्षेत्रों में प्रचलित हैं। यह स्वाभाविक है कि जब से व्यक्ति जन्म लेता है और जैसे-जैसे वह बुद्धि से परिपक्व होता जाता है उसके मन में इहलोक और इस लोक से परे परलोक के विषय में जिज्ञासायें उत्पन्न होती हैं। जैन दृष्टि बहुत कुछ विज्ञान सम्मत समाधान इस विषय में प्रस्तुत करती है। जैनधर्म की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह लोकविषयक सृष्टि को ईश्वर की रचना नहीं मानता। मूलाचारकार के शब्दों में लोक अकृत्रिम, अनादिनिधन और स्वभाव-निष्पन्न है।[1] यह लोक घनोदधि-वातवलय, घनवातवलय और तनुवातलय—इन तीन वायुओं से वेष्टित है। अर्थात् यह लोक तीन वातवलयों के आश्रय से स्थित है। इनमें लोक घनोदधि वातवलय के आश्रय से स्थित है। घनोदधि वातवलय घनवातलय के आश्रय से स्थित है। घनवातवलय तनुवातवलय के आश्रय से स्थित है। तनुवातवलय आकाश के आश्रय से स्थित है और आकाश स्वप्रतिष्ठ है, उसे अन्य किसी आश्रय की जरूरत नहीं है।

सामान्यतः आकाश के जितने भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का सद्भाव पाया जाता है उतना भाग लोक कहलाता है, शेष उसके चारों तरफ अनन्त 'अलोकाकाश' है। अलोकाकाश के बीचों-बीच लोकाकाश है। मूलाचारकार ने कहा है जिनेश्वरों द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य, पर्यायों सहित जो देखा जाता है उस जगत् को 'लोक' कहते हैं।[2] धर्म और अधर्म द्रव्य लोकाकाश-प्रमाण है अतः धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य तथा जीव और पुद्गलों का जहाँ तक गमनागमन है उतना लोक है। इसके परे अनन्त आकाश है। वहाँ जीव, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गलों—इन पाँच द्रव्यों का अभाव है। ऐसे आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। वह केवल ज्ञानगम्य है।[3] इस प्रकार लोक के दो भेद किए जाते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों के कारण है। धर्म, अधर्म द्रव्यों का क्षेत्र आकाश का एक भाग है जिसे लोकाकाश कहते हैं। उसके बाहर इन द्रव्यों के अभाव से जीव, पुद्गल की गति स्थिति नहीं होती। इसलिए धर्म, अधर्म द्रव्यों की स्थिति का क्षेत्र उसके बाहर के क्षेत्र से अलग होने के कारण लोक-अलोक में भेद हैं।

---

१. मूलाचार ८।२२, २. वही ७।४३, ३. वही सवृत्ति ८।२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेपदृष्टि से लोक के नौ भेद किए गये हैं—नाम लोक, स्थापना लोक, द्रव्य लोक, क्षेत्र लोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्याय-लोक।[1] १. इस लोक में जो भी शुभाशुभ नाम हैं उसे नामलोक कहते हैं। २. स्थित (अकृत्रिम) लोक और स्थापित (कृत्रिम) लोक अर्थात् जो कुछ भी कृत्रिम-अकृत्रिम वस्तु इस लोक में है वह स्थापना लोक है। ३. जीव-अजीव, रूपी-अरूपी और सप्रदेशी-अप्रदेशी इन सब द्रव्यों को द्रव्यलोक कहते हैं। जैसे परिणाम, जीव, मूर्त, सप्रदेश, एक, क्षेत्र, क्रियावत्व, नित्य, कारण, कर्तृत्व, सर्वगतत्व धर्मों से तथा इनसे विपरीत अपरिणामी आदि के द्वारा द्रव्यलोक का निश्चय किया जाता है। ४. आकाश सप्रदेशी है अर्थात् लोकाकाश की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशात्मक है तथा आकाश की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी है। अतः सप्रदेशी आकाश उर्ध्व, अधो और तिर्यक् (मध्य) लोक को क्षेत्रलोक कहा जाता है। ५. द्रव्य, गुण और पर्याय का जो संस्थान (आकार) दिखाई पड़ता है वह चिह्नलोक है। ६. जिस प्राणी में क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय हुआ हो उसे कषाय-लोक कहते हैं। ७. नारक, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च इन गतियों में जो प्राणी गये हैं और अपनी-अपनी आयु-प्रमाण वहाँ जीवित रहते हैं उन जीवों या उनके भावों को भवलोक कहते हैं। ८. जिस प्राणी को तीव्र राग-द्वेष भावों का उदय होता है उन उदयागत भावों को ही भावलोक कहते हैं। ९. पर्यायलोक के चार भेद हैं—१. द्रव्यगुण, २. क्षेत्र पर्याय, ३. भवानुभाव और ४. भाव परिणाम।[2]

जैसा कि ऊपर कहा है यह लोक अकृत्रिम, अनादिनिधन और स्वभाव निष्पन्न है तथा जीव, पुद्गल आदि छह द्रव्यों से भरा हुआ यह नित्य है। इसका आकार तालवृक्ष के समान है।[3] उत्तर-दक्षिण सर्वत्र सात राजु प्रमाण लम्बा है। बीच में कम होते-होते एक राजुप्रमाण और पुनः विस्तीर्ण होकर ब्रह्मस्वर्ग में पाँच राजु विस्तीर्ण (चौड़ा) तथा फिर दोनों ओर कम होता हुआ एक राजु प्रमाण है।[4] पूर्व-पश्चिम की ओर देखने से लोक का आकार कटि (कमर) पर दोनों हाथ रखकर और पैरों को फैलाकर खड़े हुए मनुष्य के समान है। मनुष्याकार इस लोक के बीचोंबीच एक राजु प्रमाण विस्तारयुक्त त्रसनाली

---

१. णामट्ठवणा दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य।
भवलोगो भावलोगो पज्जय लोगो य णादव्वो॥ मूलाचार ७।४४.

२. वही, ७।४५-५४।

३. जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो—वही, ८।२२.

४. मूलाचार वृत्ति ८।२२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(त्रस-जीवों के रहने का स्थान) है। त्रसजीव इस त्रसनाली या त्रसनाड़ी के बाहर नहीं रहते।

लोक के तीन भाग हैं—अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक। इन तीनों में अधोलोक का आकार स्वभाव से वेत की आसन (वेत्रासन) के समान है, मध्यलोक का आकार झालर के समान तथा उर्ध्वलोक का आकार खड़े किए हुए मृदंग के सदृश है।[1] लोक के मध्यम विस्तार का प्रमाण एक राजु है इसमें चौदह का गुणा करने से लोक का आयाम (ऊँचाई) चौदह राजु प्रमाण होता है। तीनों लोकों का वर्णन इस प्रकार है—

अधोलोक—मूल से सात राजू की ऊँचाई तक अधोलोक है। इसमें क्रमशः उत्तरोत्तर नीचे-नीचे सात पृथ्वियाँ हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा (शर्करा-कंकड़), बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, (धूम-धुआँ), तमःप्रभा और महातमःप्रभा।[2] इन पृथ्वियों में एक-दूसरे के बीच में असंख्य योजनों का अन्तर है। इन्हें सात नरक भूमियाँ (नरक) भी कहते हैं तथा इनमें रहने वाले जीव नारकी कहलाते हैं। इन पृथ्वियों के साथ जुड़ा हुआ प्रभा शब्द इनके नाम के अनुसार उसकी कांति और उस प्रकार के रंग को व्यक्त करता है। प्रथम रत्नप्रभा भूमि के तीन भाग या काण्ड हैं—खरभाग, पंकभाग और अप् (जल)–बहुल भाग।

मध्यलोक—अधोलोक और उर्ध्वलोक के बीच में मध्यलोक है। इसे तिर्यक् लोक भी कहते हैं। इसमें असंख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। मध्यलोक के बीचोंबीच प्रथमद्वीप जम्बूद्वीप है। यह गोल है और इसका विस्तार एक लाख योजन है। प्रथम समुद्र लवण समुद्र है। सम्पूर्ण द्वीप ससुद्रों के विस्तार आदि का प्रमाण जम्बूद्वीप के अधीन है, क्योंकि यह द्वीप असंख्यात द्वीप समुद्रों के बीच नाभि के सदृश अवस्थित है।[3] जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष—ये सात क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों को पृथक् करनेवाले पूर्व-पश्चिम लम्बे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी—ये छह वर्षधर (पर्वत) हैं। इन सात क्षेत्रों के ही मध्य में गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरि-

---

१. हेट्ठा मज्झे उवरिं वेत्तासणझल्लरीमुदंगणिभो।
मज्झिमवित्थारेण दु चोद्दसगुणमायदो लोओ॥
—मूलाचार ८।२४, तिलोय पण्णत्ति १३७-८.

२. मूलाचार १२।९३.

३. मूलाचार वृत्ति १२।३२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा—ये नदियाँ बहती हैं।[1]

वैदिक परम्परा के विष्णु पुराण में कहा है—इस पृथ्वी पर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौच, शाक और पुष्कर—ये सात द्वीप हैं। लवणोद, इक्षुरस, सुरोद, सर्पिस्सलिल, दधितोय, क्षीरोद और स्वादुसलिल—ये सात समुद्र हैं। जो चूड़ी के आकार रूप में एक दूसरे को वैष्टित करते हैं। ये द्वीप पूर्व-पूर्व द्वीप की अपेक्षा दूने विस्तार वाले हैं।[2]

मूलाचार के अनुसार सोलह द्वीप हैं—जम्बू, धातकीखंड, पुष्करवर, वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर, क्षौद्रवर, नंदीश्वर, अरुण, अरुणभास, कुण्डलवर, शंखवर, रुचकवर, भुजगवर, कुशवर और क्रौंचवर। इस प्रकार मध्यलोक जिसे तिर्यक् लोक भी कहते हैं, इसमें असंख्यात द्वीप-समुद्र द्विगुण-द्विगुण विस्तारवाले हैं।[3] सोलह द्वीपों में पुष्करवरद्वीप के बीचों-बीच मानुषोत्तर पर्वत है, इसी के कारण इसके दो भाग हो जाते हैं। अतः जंबूद्वीप और धातकीखण्ड सहित आधा पुष्करवर द्वीप को मिलाकर अढ़ाई द्वीप बनते हैं। इन्हीं अढ़ाई-द्वीपों में मनुष्यों का निवास है इनसे आगे मनुष्यों का निवास नहीं है।

उर्ध्वलोक—मेरु पर्वत की चूलिका से एक बाल (केश) मात्र अन्तर से उर्ध्वलोक प्रारम्भ होकर लोक शिखर पर्यन्त १००४०० योजन कम सात राजू प्रमाण है। इसमें मुख्य रूप से वैमानिक देवों का निवास है अतः इसे देवलोक, स्वर्गलोक आदि कहते हैं। उर्ध्व लोक के दो भाग हैं—कल्प और कल्पातीत। जिन स्वर्गों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक ये दस कल्पनाओं युक्त देव पद होते हैं, उन्हें कल्प कहते हैं तथा कल्पों में उत्पन्न देव 'कल्पोत्पन्न' कहलाते हैं। और सोलहवें कल्प से ऊपर इन कल्पनाओं से रहित अर्थात् कल्पों से ऊपर के अहमिंद्र देव 'कल्पातीत' विमानवासी कहलाते हैं। यहाँ देवों में किसी तरह का भेद नहीं होता। वे सभी अहमिन्द्र कहलाते हैं। इसे ही हम इस प्रकार कह सकते हैं कि वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत[4]। जो कल्पों में रहते हैं वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं तथा जो कल्पों के ऊपर रहते हैं

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ३ सूत्र १०, ११, २०.

२. विष्णु पुराण २२।७, २।२-४, २।४, ८८०.

३. मूलाचार १२।३३-३५.

४. तत्त्वार्थ सूत्र ४।१७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे कल्पातीत हैं। यद्यपि कल्प (स्वर्ग) सोलह हैं किन्तु इनमें इन्द्र बारह ही हैं क्योंकि प्रारम्भ के चार कल्पों में चार इन्द्र हैं। कल्पोपपन्न देवों में स्वामी-सेवक भाव होता है, कल्पातीत में नहीं। कल्पोपन्न देवों में (सोलह स्वर्गों में) इन्द्र, सामानिक आदि दस प्रकार की कल्पना है इसलिए भी ये कल्पोपपन्न कहलाते हैं किन्तु कल्पातीतों में इन्द्रादिक की कल्पना नहीं है। सभी कल्पातीत देव इन्द्रवत् होते हैं, अतः वे अहमिन्द्र कहलाते हैं। कल्पोपपन्न देव ही किसी निमित्त से मनुष्यलोक में आवागमन का कार्य करते हैं, कल्पातीत देव अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाते।

सौधर्म ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत[1]—ये सोलह स्वर्ग हैं। मेरु पर्वत की चूलिका के एक बाल अन्तर से ऋजुविमान है। यहीं से सौधर्म स्वर्ग का प्रारम्भ होता है। इन सोलह स्वर्गों के आठ युगलों में सुमेरु पर्वत से डेढ़ राजू की ऊँचाई पर सौधर्म-ईशान का अन्त है। इसके ऊपर डेढ़ राजू तक सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल अवस्थित हैं। इसी प्रकार अन्य छह युगल भी आधे-आधे राजू से एक दूसरे के ऊपर अवस्थित हैं। इन सोलह स्वर्गों में अनेक विमान हैं। अपने-अपने अंतिम इन्द्रक-विमान सम्बन्धी ध्वजदंड के अग्रभाग तक उन-उन स्वर्गों का अन्त समझना चाहिए।

सोलह कल्पों के ऊपर-ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं। ये पुरुषाकार लोक के ग्रीवा-स्थानीय होने से ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर नौ अनुदिश हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि—ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। इनमें से सौधर्म से अच्युत कल्प तक के देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं तथा इनके ऊपर सभी देव कल्पातीत। कल्पातीत भूमि का जो अन्त है वही लोक का अन्त कहलाता है। लोक के अन्त से बारह योजन नीचे सर्वार्थसिद्धि विमान है अर्थात् इन्द्रक के ध्वज दण्ड से १२ योजन मात्र ऊपर सर्वार्थसिद्धि है। सर्वार्थ-सिद्धि विमान के ध्वजदंड से २९ योजन ४२५ धनुष ऊपर सिद्धलोक है। यहाँ मुक्तजीव अवस्थित हैं। इसके आगे लोक का अन्त हो जाता है।

ज्योतिष्कदेव सूर्य, चन्द्र आदि के विषय में कहा है कि पृथ्वी तल से ७९० योजन ऊपर आकाश में उत्तरोत्तर ऊपर तक तारे, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल, शनि, राहु तथा केतु आदि ज्योतिष्क देवों के संचार

---

१. मूलाचार १२।७८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र हैं। बिना उल्लंघन के ये सदा सुमेरु की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते रहते हैं। इसी से दिन, रात, ऋतुयें आदि होती हैं।

इस प्रकार लोक के विवेचन में जीवों के निवास के विषय में क्षेत्र और द्रव्य प्रमाण इस प्रकार बताया गया है—एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक में होते हैं किन्तु सभी विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तिर्यक् लोक में ही रहते हैं। पंचेन्द्रिय जीव अधो, उर्ध्व और मध्य लोक में हैं फिर भी वे तीनों लोकों के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय भी क्षेत्र की दृष्टि से लोक के संख्यात और असंख्यात भाग में रहते हैं।[1]

भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये देवों के चार निकाय हैं।[2] इनमें से अधोलोक की प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भागों में से खर एवं पंक भाग में भवनवासी तथा व्यन्तरवासी देवों के निवास हैं और अब्बहुल भाग में प्रथम नरक के बिल हैं, जिनमें नारकी लोगों के आवास हैं। भवनवासी देव दस हैं—असुर कुमार, नाग कुमार, विद्युत् कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, वात कुमार, स्तनित कुमार, उदधि कुमार, द्वीप कुमार और दिक्कुमार। ये देव अधिकतर भवनों में ही निवास करते हैं अतः ये भवनवासी हैं। इनमें से असुर कुमारों के भवन रत्नप्रभा भूमि के पङ्क बहुल भाग में हैं और शेष नौ प्रकार के खर पृथ्वी भाग के मध्य में हैं।

व्यंतर देवों के आठ भेद हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। विविध देशान्तरों में निवास करने के कारण दूसरे निकाय के देव व्यन्तर कहलाते हैं। खर पृथ्वी भाग में सात प्रकार के व्यन्तरों के आवास हैं और राक्षसों के आवास पंक बहुल भाग में बने हैं।

तृतीय ज्योतिष्क निकाय के देव पाँच प्रकार के हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। ये स्वयं ज्योतिःस्वभाव अर्थात् प्रकाशमान् (चमकीले) होने से ये ज्योतिष्क कहलाते हैं।

चतुर्थ वैमानिक निकाय देवों के कल्पोपपन्न और कल्पातीत—इन दो भेद-प्रभेदों का विवेचन किया जा चुका है। वस्तुतः ज्योतिष्क देव भी विमानों में रहते हैं किन्तु रूढ़ि से 'वैमानिक' संज्ञा केवल चतुर्थ निकाय के देवों को ही प्राप्त है।

---

१. मूलाचार १२।१६०.

२. तत्त्वार्थसूत्र ४।१-१९ सं० पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नत्रय :

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों में यथार्थ सुख का कारण 'मोक्ष' ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है[1] और ज्ञान, श्रद्धान व चारित्ररूप रत्नत्रय उसका स्वरूप है।[2] 'रत्नत्रय' जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र[3]—मोक्ष प्राप्ति के इन तीन साधनों को रत्नत्रय कहा जाता है। ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं। समयसार में इन्हें परिभाषित करते हुए कहा है कि जीव, अजीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, सामान्य विशेष रूप से इन तत्त्वों का अधिगम (अवधारण) करना सम्यग्ज्ञान है तथा राग-द्वेष आदि दोषों का परिहार करना सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार ये तीनों समुचित रूप में मिलकर एक अखण्ड मोक्ष का मार्ग हैं।[4] पंचास्तिकाय के अनुसार नौ पदार्थों का स्वरूप ज्ञानियों ने जिस प्रकार निरूपित किया है, उस स्वरूप पर श्रद्धा या रुचि होना सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) है। इन पदार्थों के सच्चे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और उस ज्ञान के प्रताप से विषयों के प्रति आसक्ति रहित होकर, समभावपूर्वक प्रवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है। श्रद्धा, और ज्ञान से युक्त तथा राग-द्वेष से रहित चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष के अधिकारी एवं विवेक बुद्धि से सम्पन्न पुरुष मोक्षमार्ग पाते हैं।[5] आचार्य समन्तभद्र ने इसी रत्नत्रय को धर्म कहा है तथा इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार का कारण बतलाया है।[6]

मूलाचार के अनुसार सम्यक्त्व से ज्ञान में सम्यक्पना आता है। सम्यग्ज्ञान से जीवादि सभी पदार्थों को बोधि होती है और पदार्थों के ज्ञान से यह आत्मा श्रेयस

---

१. धम्महं अत्थहँ कामहं वि एयहँ सयलहं मोक्खु।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु ॥ परमात्मप्रकाश २।३.

२. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगस्तस्य च कारणम्।

३ ज्ञानश्रद्धान चारित्ररूपं रत्नययं च सः ॥ योगशास्त्र (आ०हेमचन्द्र) १.१५.
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तत्त्वार्थसूत्र १।१.

४. जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादीपरिहणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ समयसार १५५.

५. पंचास्तिकाय १०६-१०८.

६. सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ र० क० श्रावकाचार ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(हित) और अश्रेयस (अहित) को जान लेता है।[1] श्रेयस और अश्रेयस के विवेक ज्ञान से युक्त जीव दुःशीलों का विनाश करके शीलवान् बनता है और इससे सम्पूर्ण चारित्र रूप अभ्युदय प्राप्त करके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करता है।[2]

इस प्रकार जैसे रत्न दुर्लभ होते हैं परन्तु उनकी प्राप्ति होने पर उनसे अभिलषित पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप रत्नत्रय भी दुर्लभ हैं किन्तु इनकी प्राप्ति से जीवों को मोक्षरूपी अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति हो जाती है।[3] ये तीनों अलग-अलग नहीं अपितु एक दूसरे के पूरक होने के कारण एक रूप ही हैं। समयसार में कहा क साधु वेष और गृहस्थ वेष जैसे अनेक प्रकार के द्रव्यलिंग रूप वेष मोक्ष का मार्ग नहीं है। इसीलिए अर्हन्तदेव भी देह से ममत्वहीन होकर दर्शन, ज्ञान और चरित्र का सेवन करते हैं।[4] इन तीनों साधनों की क्रमशः पूर्णता होने पर ही आत्मा परद्रव्य से सर्वदा मुक्त होकर पूर्ण विशुद्ध होता है। अतः ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन माने जाते हैं। इनमें से एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि सम्यग्ज्ञान का कारण सम्यग्दर्शन है और ये दोनों मिलकर सम्यक्चरित्र का कारण हैं। इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप त्रिविध साधनामार्ग मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण है। शिवार्य ने जिनेन्द्रदेव के रत्नत्रय युक्त उस धर्मचक्र को सदा जयशील बतलाया है जिसकी नाभि सम्यग्दर्शन है, द्वादशांग रूप वाणी आरे (अर) हैं, व्रत नेमि हैं और तप धारा अर्थात् दूसरी नेमि है।[5]

१. सम्यग्दर्शन

सम्यक्-दर्शन का अर्थ है तत्त्वार्थ का सच्चा श्रद्धान्।[6] वस्तुतः धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है।[7] क्योंकि इसके द्वारा जीव दृढ़ विश्वासी बनकर यथार्थ दृष्टि प्राप्त कर लेता है। रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ और मोक्षरूपी महावृक्ष का मूल है।[8]

---

१. सम्मत्ताणो णाणं णाणादो सव्व भावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥ मूलाचार १०।१२.

२. वही १०।१३.

३. भ० आ० विजयोदया १२७. पृ० ३०४.

४. समयसार ४०८, ४०९.

५. भ० आ० १८५९.

६. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्—तत्त्वार्थसूत्र १।२.

७. दंसण मूलो धम्मो—दंसणपाहुड २.

८. सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्ख मूलमिदि····। रयणसार ४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन तत्त्वों का स्वरूप निश्चित ही तथ्य (सत्य) रूप है—इस प्रकार का श्रद्धान और उनका परमार्थ रूप से ग्रहण करना सम्यग्दर्शन है तथा इसके विपरीत मिथ्यादर्शन है।[1] धवला के अनुसार आप्त, आगम और पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं। इनके विषय में श्रद्धान अर्थात् अनुरक्ति करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[2] जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, और नव पदार्थों का आज्ञा अर्थात् आप्त वचन के आश्रय अथवा अधिगम (प्रमाण, नय निक्षेप और निरुक्ति रूप अनुयोगद्वारों) से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं।[3] तत्त्वों में श्रद्धान का अर्थ है तत्त्वों का स्वरूप जानकर उनमें से हेय तत्त्वों को छोड़ना तथा उपादेय तत्त्वों को ग्रहण करना। व्रत, मूलगुण, उत्तरगुण, शील, परीषह जय, चारित्र, तप, षडावश्यक, ध्यान और अध्ययन—ये सब सम्यक्त्व के बिना भव-बीज (संसार के कारण) हैं।[4]

सम्यग्दर्शन की महत्ता

रत्नत्रय में आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्व सम्यग्दर्शन का है। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति ही वास्तव में भ्रष्ट है, क्योंकि उसे तीन काल में भी निर्वाण सम्भव नहीं है। चारित्रहीन तो कदाचित् सिद्ध हो भी सकता है, किन्तु दर्शनहीन कभी भी सिद्ध नहीं होते।[5] सम्यक्त्वविहीन जीव हजारों-करोड़ वर्षों तक भली-भाँति उग्रतप करके भी बोधिलाभ नहीं कर पाते[6] किन्तु सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[7]

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि जीव दृढ़ श्रद्धान वाला होता है। प्रत्येक क्षण उसकी विवेक-शक्ति सदा जागृत रहती है। विपत्ति पड़ने पर भी वह न्यायमार्ग से

---

१. जं खलु जिणोववदिट्ठं तमेव तत्थित्ति भावदो गहणं।
सम्मद्दंसण भावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तं॥ मूलाचार ५।६८.

२. धवला १।१, १, ४, पृ० १५२.

३. छप्पंच-णव-विहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण व सद्दहणं होइ सम्मत्तं॥ धवला १।१,१,४ पृष्ठ १५३.

४. रयणसार १२१.

५. दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति॥ दंसण पाहुड ३.

६. वही ५.

७. मोक्खपाहुड ३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचलित नहीं होता। क्योंकि सम्यग्दर्शन वह विवेक-सूर्य है जिसके उदित होने पर मिथ्यात्व आदि अपने-आप भाग जाते हैं। यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य को प्रतिष्ठित करने का सर्वोत्तम साधन है। यह जीवन का प्रमुख स्रोत होने से जीव अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है। उसे जीवन-मरण का भय नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि जीव को यह दृढ़ श्रद्धान रहता है कि जिस द्रव्य का जो गुण एवं स्वभाव है, वह उसका उसी में रहता है। वह अपने को कर्ता एवं भोक्ता नहीं मानता। क्योंकि वह जानता है कि द्रव्य परिणमनशील है अतः प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति-पर्याय या अवस्था का ही कर्त्ता और भोक्ता है कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय का कर्त्ता एवं भोक्ता नहीं है। यह आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा भाव (सत्ता) रूप है तथा अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य जो चेतन, अचेतन रूप अनन्त पदार्थ हैं, वे सब पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा अभाव रूप है। इसीलिए वह ज्ञानी स्वयं को ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म तथा राग-द्वेष आदि भावकर्म तथा शरीर आदि नोकर्म से नितान्त भिन्न अनुभव करता है। जो अपने को पर का कर्त्ता-भोक्ता अनुभव नहीं करता उसका ज्ञान आनन्दमय स्वभाव वाला है, वह तो आनन्द की परिणति का कर्त्ता है।[1] इस तरह उस जीव को आत्म-द्रव्य का इतना भेद-विज्ञान हो जाता है कि वह आत्म-द्रव्य से अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में अपना स्वामित्व नहीं समझता। और जब वह परद्रव्यों का कर्ता-भोक्ता अपने को नहीं मानता, तब उस जीव को कर्म-बंध भी नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा के विश्वास का केन्द्र है।

सम्यग्दर्शन के भेद :

उत्पत्ति की दृष्टि से सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं[2]—१. निसर्गज (उपदेश रूप बाह्य निमित्त के बिना) अर्थात् स्वभावतः और २. अधिगमज अर्थात् उपदेश आदि बाह्य निमित्त के द्वारा।

व्यवहार तथा निश्चय—ये नय दृष्टि से सम्यग्दर्शन के दो भेद भी हैं। हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन तथा सच्चे गुरु में श्रद्धा होना, आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है तथा जीवादि सात तत्त्वों से रहित शुद्ध आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।

---

१. संयम प्रकाश उत्तरार्द्ध २ पृष्ठ ८८.
२. तन्निसर्गादधिगमाद्वा—तत्त्वार्थसूत्र १।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सराग और वीतराग के भेद से भी सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। प्रशम (कषाय-विकारों का उपशम), संवेग (संसार से भीत रूप परिणाम (अनुकम्पा समस्त जीवों पर दयाभाव) और आस्तिक्य (तत्त्वों के अस्तित्व की स्वीकृति)—इन गुणों की अभिव्यक्ति सराग सम्यग्दर्शन है तथा किसी भी पदार्थ में राग-द्वेष न करके माध्यस्थ्य भाव से निज आत्म-स्वरूप का अनुभव करना ही वीतराग सम्यग्दर्शन है। औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक के भेद से भी इसके तीन भेद हैं।[1] मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व एवं अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम से होने वाला औपशमिक सम्यग्दर्शन है। उपर्युक्त सात प्रकृतियों में से सम्यक्त्व को छोड़कर शेष छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम एवं सम्यक्त्व प्रकृति के उदय रहने से जो सम्यक्त्व होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन है।

इसी प्रकार अन्यान्य दृष्टियों से इसके और भी भेद आगमों में वर्णित हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की शक्ति कर्मरज को दूर करने के लिए उस जलप्रवाह के समान है, जो अपने वेग से मिट्टी के ढेर को भी प्रवाहित करने की क्षमता रखता है। इसे धर्म का मूल इसीलिए कहा है क्योंकि मोक्षमार्ग में तत्त्वज्ञान से अधिक सम्यक् आस्था (श्रद्धान) उपयोगी है और यही श्रद्धान धर्म की वह भूमि है जिस पर शील-आचार का महावृक्ष उत्पन्न होता है। यथार्थ श्रद्धान के अभाव में ज्ञान भी कार्यकारी नहीं हो सकता है। अतः ज्ञान को हितावह बनाने का कार्य सम्यग्दर्शन ही करता है।[2]

२. सम्यग्ज्ञान :

'णाणं पयासओ'—सम्यग्ज्ञान द्रव्यस्वरूप का प्रकाशक है अर्थात् वह संसार और मुक्ति तथा इनके कारणों को प्रकाशित करता है।[3] 'जानाति ज्ञायते अनेन ज्ञप्तिमात्रं वा ज्ञानम्'[4] अर्थात् जो जानता है, जिसके द्वारा जाना जाता है या जानना मात्र—यह ज्ञान शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है और सम्यग्दर्शन सहित जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। अर्थात् जीव, अजीव आदि

१. गो० जीवकाण्ड गाथा २५, २६.
२. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थः पृष्ठ ३८६.
३. मूलाचार १०।८, भ० आ० ७६९, जयधवला १।१।१२ पृ० ५७.
४. सर्वार्थसिद्धि १।१।६. पृ० ५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थों का जैसा स्वरूप है उसी प्रकार से उनका संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रहित यथावस्थित अधिगम करना सम्यग्ज्ञान है। वट्टकेर के अनुसार जिसके सामर्थ्य से तत्त्व का विशिष्ट ज्ञान होता है, मनोव्यापारों का निरोध तथा आत्मा को विशुद्ध किया जा सकता है। आत्मा काम, क्रोध आदि रागभावों से विरक्त हो जाता है; जिसके प्रभाव से आत्मा कल्याणकारण मोक्षमार्ग में अनुरक्त होता है और प्राणियों में मैत्रीभाव बढ़ाता है जिनशासन में उसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है।[1] सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है कि जैसे मेघपटल हटते ही सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण दूर होने पर सम्यग्दर्शन और सग्यग्ज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते हैं।[2]

वस्तुतः ज्ञानरूपी प्रकाश ही ऐसा उत्कृष्ट प्रकाश है, जिसका हवा आदि कोई भी पदार्थ प्रतिघात (विनाश) नहीं कर सकता। सूर्य का प्रकाश तो तीव्र होते हुए भी अल्पक्षेत्र को ही प्रकाशित करता है किन्तु यह ज्ञान-प्रदीप समस्त जगत् को प्रकाशित करता है अर्थात् समस्त वस्तुओं में व्याप्त ज्ञान के समान अन्य कोई प्रकाश नहीं है।[3] इसीलिए इसे द्रव्य स्वभाव का प्रकाशक कहा गया है। सम्यग्ज्ञान से तत्त्वज्ञान, चित्त का निरोध तथा आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञान से जीव राग से विमुख तथा श्रेय में अनुरक्त होकर मैत्रीभाव से प्रभावित होता है।[4] ज्ञान रूपी प्रकाश के बिना मोक्ष का उपायभूत चारित्र और तप आदि प्राप्ति की इच्छा करना व्यर्थ है।[5] अतः सम्यग्ज्ञान संसारी जीवों को अमृतरूप जल से तृप्त करने वाला होता है।

सम्यग्ज्ञान के भेद :

मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल--ये सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं।[6] वैसे ज्ञान सामान्य एक ही है किन्तु कर्म के क्षय-क्षयोपशम आदि के निमित्त से ये पाँच भेद किये गये हैं।

१. मतिज्ञान–इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान

---

१. मूलाचार ५।७०-७१.

२. सर्वार्थसिद्धि १।१।७ पृ० ५.

३. णाणुज्जोवो जीवो णाणुज्जोवस्स णत्थि पडिवादो।
दीवेइ खेत्तमप्पं सूरो णाणं जगमसेसं ।। भ० आ० ७६८.

४. मूलाचार ५।८५-८६.

५. भ० आ० ७७१.

६. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानिज्ञानम्—तत्त्वार्थसूत्र १।९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है । दर्शनपूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के क्रम से मतिज्ञान होता है । इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहा जाता है ।

२. श्रुतज्ञान—मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ को मन के द्वारा उत्तरोत्तर विशेषताओं सहित जानने वाला श्रुतज्ञान है अर्थात् मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर मतिज्ञान पूर्वक अन्य पदार्थ का जो विशेष चिन्तन रूप ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है ।

मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है । इन दोनों का कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है । मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है । अतः मति और श्रुत—ये दोनों सहभावी ज्ञान हैं, एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ते । ये दोनों प्रत्येक संसारी जीव में होते हैं । मतिज्ञान का कार्य है इन्द्रियों एवं मन के द्वारा स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द आदि को जानना और इनकी विविध अवस्थाओं पर विचार करना । श्रुतज्ञान का कार्य शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को पुनः शब्द के द्वारा प्रतिपादित करना । इसीलिए इसके अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक रूप तथा अंगबाह्य और अंग प्रविष्ट रूप भेद हैं । बारह अंग ग्रन्थ, चौदह पूर्व तथा प्रकीर्णक आदि आगम भी इसी के ही भेद माने गये हैं । मन वाले जीव अक्षर सुनकर वाचक के द्वारा वाच्य का ज्ञान होना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है तथा बिना अक्षरों के द्वारा अन्य पदार्थ का बोध होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है । यह एकेन्द्रिय आदि सभी जीवों को होता है । श्रुत का मनन या चिन्तनात्मक जितना भी ज्ञान होता है वह सब श्रुतज्ञान के अन्तर्गत है । यह रूपी-अरूपी दोनों प्रकार के पदार्थों को जान सकता है ।

३. अवधिज्ञान—भूत, भविष्यत काल की सीमित बातों को तथा दूर क्षेत्र की परिमित रूपी वस्तुओं को जानने वाला अवधिज्ञान होता है । अतः देशान्तरित, कालान्तरित और सूक्ष्म पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादा से जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं । यह अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम है ।

४. मनःपर्यय—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिए हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही दूसरे के मन की अवस्थाओं (पर्यायों) का ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है । सामान्य रूप में यह दूसरे के मन की बात को जानने वाला ज्ञान होता है । वस्तुतः चिन्तक जैसा सोचता है उसके अनुरूप पुद्गल द्रव्यों की आकृतियाँ (पर्यायें) बन जाती हैं और इनके जानने का कार्य मनःपर्यय करता है । इसके लिए वह सर्वप्रथम मतिज्ञान द्वारा दूसरे के मानस को ग्रहण करता है, उसके बाद मनःपर्यय ज्ञान की अपने विषय में प्रवृत्ति होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधि और मनःपर्यय—ये दोनों ज्ञान आत्मा से होते हैं। इनके लिए इन्द्रिय और मन की सहायता आवश्यक नहीं है। ये दोनों रूपी द्रव्यों के ज्ञान तक ही सीमित है अतः इन्हें अपूर्ण प्रत्यक्ष कहा जाता है। अवधिज्ञान के द्वारा रूपी द्रव्य का जितना सूक्ष्म अंश जाना जाता है उससे अनन्त गुणा अधिक सूक्ष्म अंश मनःपर्यय के द्वारा जाना जाता है। अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है किन्तु मनःपर्यय ज्ञान मनुष्यगति में, वह भी संयत जीवों को ही होता है। इस पंचम काल में अवधिज्ञान का होना तो यहाँ सम्भव भी है किन्तु मनःपर्यय ज्ञान होना दुर्लभ है। अवधि और मनःपर्यय की मोक्षमार्ग में अनिवार्यता नहीं हैं जबकि मति और श्रुतज्ञान अनिवार्य हैं।

५. केवलज्ञान—समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को युगपत् जानने वाला केवलज्ञान है। इसमें लोक-अलोक समस्त रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं।[1] वस्तुतः आत्मा ज्ञान-स्वभाव है, अतः आत्मा के समस्त आवरणों के समाप्त हो जाने पर अपने स्वभाव रूप हो जाता है और समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को एक साथ जानने लगता है। 'केवल' शब्द असहाय वाची है। इसीलिए जो इन्द्रिय और आलोक आदि किसी की अपेक्षा नहीं रखता, वह केवलज्ञान है। इसके होने पर आत्मा परमात्मा रूप बनकर सर्वज्ञ हो जाता है। यह तो वह दिव्य ज्ञान है जिसमें नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायें भी प्रतिबिम्बित होती हैं।

ज्ञान सामान्य तो प्रत्येक प्राणी में होता है किन्तु सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है और मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्ज्ञान अत्यावश्यक है क्योंकि चारित्रहीन ज्ञान, दर्शन रहित मुनिदीक्षा तथा संयम रहित तप निरर्थक ही होता है।

सर्वार्थसिद्धि में बतलाया है कि जैसे मेघपटल हटते ही सूर्य के प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व का आवरण दूर होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रकट हो जाते हैं।[1] ज्ञान और दर्शन यद्यपि दो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं फिर भी ये समकाल में ही होते हैं और कार्य-कारण-भाव होने तथा लक्षण भिन्न होने से इन दोनों में भिन्नता है। दर्शन कारण है एवं ज्ञान कार्य है। सम्यग्दर्शन तत्त्व-रुचि रूप है तथा सम्यग्ज्ञान तत्त्व-बोध रूप है।

३. सम्यक्चारित्र

चारित्र शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है 'चरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा चारित्रम्—अर्थात् जो आचरण करता है, जिसके द्वारा आचरण किया जाता है या

१. उपर्युक्त विषय सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय १ सूत्र ९-२९ पर आधारित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचरण करना मात्र चारित्र है। जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है, उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के उपरम होने को सम्यक्चारित्र कहते हैं।[1] राग और द्वेष को दूर करने के लिए ज्ञानी पुरुष की जो चर्या होती है वह भी सम्यक् चारित्र है। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान पूर्वक मूलगुणों एवं उत्तरगुणों अर्थात् व्रत, समिति, गुप्ति आदि तथा उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों का पालन करना सम्यक्चारित्र है। मूलाचार में अकषाय भाव को चारित्र कहा है।[2] तथा द्रव्य संग्रह में अशुभ कार्यों से निवृत्ति एवं शुभ कार्यों में प्रवृत्ति को चारित्र कहा गया है।[3]

वस्तुतः चारित्र ही धर्म है। यह धर्म साम्यभाव रूप है तथा यह साम्यभाव राग-द्वेष-मोह के अभाव से प्राप्त होता है। अर्थात् मोह-क्षोभ-उद्वेगता से रहित आत्मपरिणति ही धर्म है।[4] यहाँ जिस चारित्र को धर्म कहा गया है, वह चारित्र तत्त्वज्ञान से पुष्ट होता है। आगम में इसे "शील" कहा है। शील के बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना शील की प्रवृत्ति नहीं होती। इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहने वाले व्यक्ति ही शीलवान् होते हैं और वे ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। इसीलिए मूलाचार में चारित्र की प्रधानता बतलाते हुए कहा है कि अच्छी-तरह पढ़ा हुआ, गुना हुआ भी सम्पूर्ण श्रुतज्ञान निश्चित रूप से भ्रष्ट चारित्र श्रमण को सुगति प्राप्त कराने में समर्थ नहीं है अर्थात् यथार्थ चारित्र का पालन करने वाला अल्पज्ञ श्रमण भी बहुश्रुत किन्तु चारित्रहीन श्रमण से श्रेष्ठ है। जैसे हाथ में दीपक लेकर भी व्यक्ति कुआँ में गिरता है तो इसमें बेचारे दीपक का क्या दोष ? उसी तरह यदि कोई शिक्षित होकर भी अन्याय करता है—अर्थात् श्रुतज्ञान का अध्ययन करके भी कोई श्रमण चारित्र भंग करता है तो उस श्रुत-ज्ञान रूप शिक्षा का क्या फल ? अर्थात् वह शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का फल तो सदाचारयुक्त चारित्र का अनुष्ठान करना है।[5] दीक्षा आदि में वर्षों की गणना

---

१. सर्वार्थसिद्धि १।१।५-६ पृ० ४-५.

२. अकसायं तु चारित्तं—मूलाचार १०।९१.

३. असुहादो विणिवित्तो, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं—द्रव्यसंग्रह ४५.

४. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ प्रवचनसार १।७.

५. सव्वं पि हि सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि।
समणं भट्ठचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ॥
जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ॥ मूलाचार १०।१४-१५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करना चाहिए क्योंकि मुक्ति के कारण में वर्षों की गणना नहीं होती। बहुत से वैरागी-धीर श्रमण तीन रात्रि मात्र में ही चारित्रधारी होकर सिद्ध हो गये हैं।[1]

वट्टकेर ने रूपकालंकार द्वारा संसार समुद्र से पार होने के लिए तीनों की एकरूपता की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा है कि ज्ञान निर्जीवक (मल्लाह) है, ध्यान हवा है तथा चारित्र जहाज (नौका) है और यह संसार समुद्र-रूप है। इन ज्ञान, ध्यान और चारित्र के संयोग से भव्यजीव जल्दी ही संसार रूप समुद्र से पार होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।[2] अतः शुद्ध दशा में आत्मा को स्थिर रखने का प्रयास करना चाहिए।

भेद—परिणामों की विशुद्धि एवं निमित्त भेद की अपेक्षा सम्यक्चारित्र के पाँच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात[3]।

(१) **सामायिक**—राग-द्वेष के निरोध पूर्वक प्रत्येक कार्य एवं वस्तु के प्रति पूरी तरह से समभाव रखना सामायिक चारित्र है। सामायिक शब्द में समय का अर्थ है सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम तथा तप और इन सबके साथ ऐक्य रखना सामायिक है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान की एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्य-योग का त्याग करके शुद्धात्म स्वरूप में अभेद होने पर शुभाशुभ भावों का त्याग करना अर्थात् समभाव में स्थिर रहने के लिए सम्पूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना सामायिक चारित्र है। इसमें समस्त सावद्य योग का एकदेश त्याग होता है। यह चारित्र छठें से नवम गुणस्थान तक होता है।

(२) **छेदोपस्थापन**—पंचसंग्रह में कहा है कि सावद्य पर्याय रूप पुरानी पर्याय को छेदकर अहिंसादि पंच महाव्रत रूप धर्म में अपनी आत्मा को स्थापित करना छेदोपस्थापना है।[4] अर्थात् सामायिक चारित्र से युक्त कोई जीव उससे हटकर सावद्य व्यापार युक्त हो जाता है, ततः प्रायश्चित्त द्वारा उन दोषों को छेदकर, आत्मा

---

१. मूलाचार १०।७४.

२. णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण ।। वही १०।७.

३. सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमितिचारित्रम्।
—तत्त्वार्थसूत्र ९।१८.

४. पंचसंग्रह, प्राकृत १।१३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को संयम में स्थिर करता है तो उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। यह चारित्र भी छठें से नवम गुणस्थान तक होता है।

(३) **परिहारविशुद्धि**—अत्यन्त कठिन और निर्मल यह चारित्र धीर तथा गुण गम्भीर, उच्चदर्शी उन्हीं श्रमणों को होता है जो जन्म से लेकर तीस वर्ष की अवस्था तक सुखपूर्वक घर में रहा और फिर तीर्थंकर के पादमूल में प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व का अध्ययन कर लेता है। वस्तुतः प्राणिवध से निवृत्त होना परिहार है तथा इस शुद्धियुक्त चारित्र को परिहारविशुद्धि चारित्र कहते हैं। योगसार में कहा है कि मिथ्यात्वादि के परिहार से सम्यग्दर्शन में होने वाली विशुद्धि को ही शीघ्र मोक्ष सिद्धि प्राप्त कराने वाला परिहारविशुद्धि चारित्र कहा है।[1] जिनके यह चारित्र होता है उनके शरीर से जीवों की विराधना (हिंसा) नहीं होती। यह छठें एवं सातवें गुणस्थान में होता है।

(४) **सूक्ष्मसाम्पराय**—जिस अवस्था में कषायवृत्तियाँ क्षीण होकर किंचित् रूप में ही अवशिष्ट रही हों अर्थात् जब अतिसूक्ष्म लोभकषाय का उदय रहता है तब यह चारित्र होता है। यह दसवें गुणस्थान में होता है।

(५) **यथाख्यात**—सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना वीतराग या यथाख्यात चारित्र है। द्रव्यसंग्रह टीका में कहा है—जैसे आत्मा का स्वरूप, सहज, शुद्ध स्वभाव एवं कषायरहित होता है वैसे ही अख्यात कहा जाता है।[2] अर्थात् जिसमें किसी भी कषाय का उदय न होकर या तो वह उपशान्त रहता है या क्षीण। यह चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

गुणस्थान :

गुणस्थान जैन धर्म-दर्शन की मौलिक अवधारणा है जिसमें आत्मा से परमात्मा बनने में आत्मा के क्रमिक विकास को दर्शाया गया है। वस्तुतः मोह तथा मन-वचन-कायरूप योग की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण होनेवाले उतार-चढ़ाव को गुणस्थान कहा गया है। क्रमिक आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से संसार के समस्त प्राणियों को चौदह भागों में विभाजित किया गया है। आध्यात्मिक विकास के इस क्रम को गुणस्थान कहते हैं। गुण का अर्थ 'जीव के भाव' और स्थान का अर्थ 'क्रम' है। अथवा गुणों अर्थात् आत्मशक्तियों के, स्थानों–विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं।

---

१. योगेन्दुदेवकृत योगसार १०२.

२. द्रव्यसंग्रह टीका, ३५।१४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सांसारिक दृढ़ बन्धनों से लेकर पूर्ण मुक्त होने तक की अवस्था तक पहुँचने की चौदह भूमिकायें (आत्मा की स्थिति विशेष) हैं। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि आत्मिक गुणों के अल्पतम विकास से लेकर उसके सम्पूर्ण विकास तक की समस्त भूमिकाओं को ही चौदह भागों (गुणस्थानों) में विभाजित किया गया है अर्थात् मोक्षरूपी महल के शिखर पर चढ़ने के लिए ये गुणस्थान सोपानों (सीढ़ियों) के समान माने गये हैं।[1]

शास्त्रीय दृष्टि से दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय आदि कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणामरूप अवस्था विशेषों के होने पर उत्पन्न होनेवाले जिन मिथ्यात्व आदि परिणामों से जीव देखे जाते हैं या परिचय में आते हैं उन्हें गुणस्थान कहते हैं।[2] जीव के स्वभावभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप गुणों के उपचय और अपचय से जो उनके स्वरूप भेद होता है उसे भी गुणस्थान कहा गया है।[3]

ये चौदह गुणस्थान इस प्रकार है—मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र (सम्यक्-मिथ्यादृष्टि), असंयत (अविरत) सम्यक्दृष्टि, देशविरत (देशसंयत), प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।[4]

१. **मिथ्यादृष्टि** :—विपरीत तत्त्व-श्रद्धान (रुचि) ही मिथ्यादृष्टि है। विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान—ये इसके पाँच भेद हे। ये पाँचों मिथ्यात्वश्रद्धान मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं तथा अतत्त्व श्रद्धान जिन्हें उत्पन्न हुआ है ऐसे अनेकान्त धर्मात्मक वस्तुस्वरूप से पराङ्मुख जीव मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती कहलाता है।[5] ऐसे जीवों को अपने हेय-उपादेय का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। ये सदा विषयों में मस्त, अज्ञान में रत और विपरीत

---

१. गुणस्थानेषु परमपद-प्रासाद शिखरारोहणसोपानेषु— कर्मस्तवस्वोपज्ञवृत्ति—१.

२. जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ।। गो० जीवकाण्ड ८.

३. कर्मस्तव-गोविन्दगणी वृत्ति १. पृष्ठ ७०.

४. मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असंजदो चेव।
देसविरदो पमत्तो अपमत्तो तह य णायव्वो ।।
एत्तो अपुव्वकरणो अणियट्टी सुहुमसंपराओ य।
उवसंतखीणमोहो सजोगिकेवलिजिणो अजोगी य ।। मूलाचार १२।१५४-१५५.

५. मूलाचार वृत्ति १२।१५४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि वाले होते हैं। जैसे पित्तज्वर से युक्त जीव को मीठा रस भी रुचिकर नहीं लगता, अपितु कड़वा प्रतीत होता है—उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के उदय में जीव को आत्महितकारी धर्म भी रुचिकर नहीं लगता। इस गुणस्थान वाला जीव जिनेन्द्र प्रणीत-आगम, पदार्थ और आप्त आदि पर श्रद्धा न करके अयथार्थ वस्तुतत्त्व में रूचि रखता है।

२. **सासादन सम्यग्दृष्टि**—सम्यक्त्व की विराधना (नाश) को आसादन और इससे युक्त को सासादन कहते हैं। मिथ्यात्वकर्म के उदय को हटाकर जीव सम्यग्दृष्टि बनता है। सम्यक्त्व से च्युत होकर जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता है यही बीच की स्थिति सासादन गुणस्थान की है। अर्थात् जो सम्यक्त्व से च्युत हो चुका है पर अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है, उस स्थिति को इस गुणस्थान का नाम दिया गया है। इस गुणस्थान में जीव एक समय से लेकर अधिक से अधिक छह आवली काल तक रहता है। उसके बाद वह नियमतः मिथ्यादृष्टि हो जाता है। काल के सबसे सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं, ऐसे असंख्यात समयों की एक आवली होती है। छह आवली प्रमाण काल एक मिनट से भी बहुत छोटा होता है। गोम्मटसार में कहा है जिस प्रकार कोई पर्वत के शिखर से गिरकर जबतक भूमि में नहीं आता तब तक उसकी जो बीच की स्थिति होती है वह स्थिति भव्य जीव की है जो उपशम सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो चुका है पर मिथ्यात्व को अभी प्राप्त नहीं हुआ है—उसके अभिमुख है, इसे सासादन गुणस्थान कहते हैं।[1]

(३) **मिश्र** : (सम्यग्मिथ्यादृष्टि)—इसमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों की मिश्रित स्थिति होती है। इस गुणस्थान वाले जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्व रूप ही रहते हैं और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप ही रहते हैं किन्तु दही और गुड़ के मिश्रित (खट्टे और मीठे) रूप के समान होते हैं अर्थात् एक ही काल में सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम होते हैं।[2] यद्यपि मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा यह गुणस्थान ऊँचा है तथापि मिश्र परिणामों के कारण यथार्थ प्रतीति नहीं रहती। इस गुणस्थान का काल अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान में यदि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आ जाये तो वह चतुर्थ गुणस्थान को अन्यथा सीधे मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है। प्रथम गुणस्थान और इस

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा २०.

२. दहिगुडमिव वामिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो ॥ गो० जीवकाण्ड २२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान में यही भिन्नता है कि पहले गुणस्थान वाला तो एकान्तरूप से तत्त्व को मिथ्या मान बैठता है। पर इस गुणस्थान में उसकी स्थिति संशय रूप होती है। इस गुणस्थान की विशेषता यह है कि इसमें न तो आयु का बन्ध होता है और न मरण। इसमें संयम या देश संयम को भी जीव ग्रहण नहीं कर सकता।[1]

(४) **असंयत (अविरत) सम्यग्दृष्टि** : इस गुणस्थान के जीव की श्रद्धा यथार्थ होने से वह सम्यग्दृष्टि तो होता है पर व्रतों से रहित भी होता है। यह अन्तरंग में इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयों से ग्लानि भी रखता है, सांसारिक बन्धनों से छूटना भी चाहता है किन्तु चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से संयम धारण नहीं कर पाता। मात्र तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धान उसमें रहता है। औपशमिकसम्यग्दृष्टि, क्षायिकसम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि (वेदकसम्यक्त्व)—ये इसके तीन भेद हैं।[2] इन तीनों में औपशमिक और क्षायिक निर्मल हैं क्योंकि ये मलजनक सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से रहित हैं किन्तु क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के साथ जो उस सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है वह यद्यपि तत्त्वार्थ श्रद्धान के नष्ट करने में समर्थ नहीं है, पर उसके निमित्त से उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष सम्भव हैं।[3] यहाँ तक के चारों गुणस्थान चारों गतियों के जीवों में सम्भव होते हैं।

(५) **देशविरत** : (संयतासंयत)—इस गुणस्थानवर्ती जीव त्रस जीवों की हिंसा से विरक्त होने से संयत और स्थावर प्राणियों की रक्षा में असमर्थ होने के कारण असंयत—इस प्रकार दोनों रूप एक ही समय में होता है। ऐसा जीव देशव्रती (अणुव्रती) होने के साथ-साथ सम्यग्दृष्टि भी होता है। चौथे गुणस्थान में आत्मसंयम का सर्वथा अभाव होता है परन्तु इस पंचम गुणस्थान में आत्मसंयम का आंशिक रूप विद्यमान रहता है। इस गुणस्थान की सीमा अणुव्रतों तक सीमित रहती है। इस गुणस्थान को देशसंयत, संयतासंयत, उपासक, श्रावक, विरताविरत आदि नामों से भी जाना जाता है। मनुष्य और तिर्यञ्च इन दो गतियों के जीव ही इस गुणस्थान के धारक हो सकते हैं, देव और नारकीय नहीं। और इनमें भी मनुष्य ही श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें धारण कर सकता है तिर्यंच नहीं। चारित्रिक विकास का शुभारम्भ तथा पूर्ण संयम की प्राप्ति का अभ्यास भी इसी गुणस्थान से होता है।

---

१. गो० जी० २३, २४.
२. मूलाचार वृत्ति १२।१५४.
३. श्री गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ ४।१०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) **प्रमत्त संयत (प्रमत्तविरत)**—प्रमादयुक्त संयमवाले मुनियों को प्रमत्तसंयत कहते हैं। सकलसंयम को रोकने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने के कारण हिंसादि पाँच पापों का सर्वदेश त्याग होने से पूर्ण संयम (महाव्रती) तो हो चुका किन्तु उस संयम के साथ संज्वलन-कषाय और नोकषाय का उदय होने से संयम में मल उत्पन्न करने वाला 'प्रमाद' भी विद्यमान रहता है। इस तरह अहिंसादि महाव्रतों में असावधानी आ जाने के कारण प्रमाद भी उत्पन्न हो जाता है अतः इसे प्रमत्त संयत कहते हैं।[1] स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, और राज-कथा—ये चार विकथायें, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह (प्रणय) ये पन्द्रह प्रमाद हैं। इनके कारण जो गुप्ति, समिति के विषय में प्रमाद युक्त भी हो जाता है वह प्रमत्तविरत है।

(७) **अप्रमत्त संयत (अप्रमत्त विरत)**—जिसमें प्रमाद की तनिक भी शक्यता नहीं होती वह अप्रमत्तविरत गुणस्थान है। प्रमाद के नष्ट हो जाने पर इसमें अस्खलित संयम का पालन तथा ज्ञान-ध्यान में संलग्नता रहती है। पूर्वोक्त पन्द्रह प्रमादों से रहित संयमी मुनि को अप्रमत्त संयत कहते हैं। इस गुणस्थान में संज्वलन कषाय मंद हो जाती है।[2] इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त्त मात्र होता है। इससे यदि वह परमविशुद्धि को प्राप्त कर लेता है तो ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ सकता है अन्यथा वह पुनः छठें गुणस्थान में आ जाता है। इससे लेकर आगे के सभी गुणस्थानों में अप्रमत्तता होती है।

वर्तमान काल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान से और उसमें भी स्वस्थान-अप्रमत्तदशा से ऊपर नहीं चढ़ सकता, क्योंकि ऊपर चढ़ने योग्य उत्तम संहनन आदि के अभाव में श्रेणी अवरोहण की पात्रता नहीं है, किन्तु जिस काल में सभी प्रकार की पात्रता और साधन-सामग्री सुलभ होती है उस समय साधु ऊपर के गुणस्थानों में भी चढ़ता है।[3]

इस गुणस्थान से आगे अर्थात् आठवें गुणस्थान से जीवनोत्क्रान्ति के लिए दो श्रेणियों के द्वारा कर्मों का अभाव किया जाता है १-उपशम श्रेणी—(कर्मों के उदय को दबाना), २-क्षपक श्रेणी—(कर्मों को नष्ट करना) उपशम करने वाला अपने शुभभावों से कर्मों को दबाता जाता है, पर क्षपक वाला अपने शुद्ध भावों से कर्मों को नष्ट करता जाता है। क्षपक श्रेणी पर तद्भव मोक्षगामी क्षायिक

---

१. मूलाचार वृत्ति १२।१५४.

२. वही.

३. आचार्य श्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रंथ—पृष्ठ : ४९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दृष्टि जीव ही आरोहण करते हैं किन्तु उपमश श्रेणी पर तद्भव-अतद्भव मोक्षगामी एवं औपशमिक तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकार के जीव चढ़ सकते हैं।

(८) **अपूर्वकरण**—इसमें पहले कभी जिस अवस्था का अनुभव प्राप्त नहीं किया उस अपूर्वकरण (आत्मा के परिणाम) अर्थात् आत्म शुद्धि का अनुभव होता है। इस गुणस्थान में आगे-आगे विसदृश समयों में स्थित जीव जिन परिणामों को प्राप्त करते हैं वे पूर्व में नीचे के समयों में कभी प्राप्त नहीं हुए, इसीलिए इसका अपूर्वकरण नाम सार्थक है।[1] उपशम और क्षपक ये इसके दो भेद हैं। जो कर्मों का उपशम करते हैं उसे उपशम अपूर्वकरण कहते हैं। और जो क्षय करने में लगे हैं उन्हें क्षपक अपूर्वकरण कहते हैं। इसके क्षायिक सम्यक्त्व गुण होता है। वस्तुतः दर्शन मोहनीय का क्षय जब तक नहीं होता तब तक क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं हो सकता।[2] जब कोई सातिशय अप्रमत्तसंयत मोहनीय कर्म का उपशम या क्षपण करने के लिए उद्यत होकर अधःप्रवृत्तकरण परिणाम करके इस गुणस्थान में प्रवेश करता है तब उसके परिणाम (करण) प्रत्येक क्षण में अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं, प्रत्येक समय उसकी विशुद्धि अनन्तगुणी होती जाती है। यह गुणस्थान और इससे आगे बारहवें गुणस्थान तक के सब गुणस्थान ध्यानावस्था में ही होते हैं। इनका काल अत्यन्त अल्प (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण) है। इस गुणस्थान को श्वेताम्बर परम्परा में निवृत्तिबादर भी कहा गया है।

(९) **अनिवृत्तिकरण**—इसे बादर-साम्पराय[3] या अनिवृत्तिबादर गुणस्थान नाम से भी जाना जाता है। जिन परिणामों के निमित्त से परस्पर में भेद नहीं पाया जाता उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस गुणस्थान में एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति अर्थात् भेद या विषमता नहीं पायी जाती अतः उन अनिवृत्ति परिणामों के कारण ही इसे अनिवृत्ति कहा जाता है। इस गुणस्थान-वर्ती जीव के परिणाम अत्यन्त निर्मल और कर्मरूपी वन को नष्ट करने वाले होते हैं। इसके उपशमक और क्षपक ये दो भेद हैं। उपशम श्रेणी वाला कुछ प्रकृतियों का उपशम करता है और कुछ का आगे के गुणस्थान में करेगा, अतः इसे औपशमिक गुणस्थानवाला कहते हैं। क्षपक श्रेणी वाला भी चारित्रमहोनीय कर्म प्रकृतियों के साथ ही अन्य प्रकृतियों का क्षय करता है और कुछ का आगे

---

१. गो० जीवकाण्ड ५१.

२. मूलाचारवृत्ति० १२।१५५.

३. वही.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करेगा। इसलिए इसको क्षपक गुणस्थानवाला कहते हैं। अर्थात् इस गुणस्थान वाले जीवों में-से कुछ जीव तो अत्यन्त निर्मल भावों के द्वारा महामोहरूपी शत्रु का क्षय करते हैं और कितने ही उसका उपशमन करते हैं।

(१०) **सूक्ष्मसाम्पराय** :—सूक्ष्मसाम्पराय का अर्थ सूक्ष्म लोभकषाय है। इस गुणस्थानवर्ती जीव के कषाय सूक्ष्म होते हैं अतः इसका नाम सूक्ष्मसांपराय है। इस अवस्था में क्रोध, मान, माया—ये तीन कषाय तो नष्ट हो जाती है मात्र सूक्ष्म लोभ कषाय ही अस्थिपंजर के रूप में रह जाती है। इस गुणस्थान के भी क्षपक और उपशमक ये दो भेद हैं।[1] सातवें गुणस्थान के जिस सातिशय अप्रमत्त भाग से यह जीव ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है वहीं से उनकी दो धारायें हो जाती हैं। प्रथम उपशम श्रेणी की और दूसरी क्षपक श्रेणी की। मोहकर्म के क्षय करने की जिस जीव में योग्यता नहीं होती, जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होता वह उपशम श्रेणी चढ़ता है तथा जिसमें ये योग्यतायें होती हैं वह क्षपक श्रेणी चढ़ता है।

आठवाँ, नवाँ दसवाँ एवं ग्यारहवाँ—ये चार गुणस्थान उपशम श्रेणी की अपेक्षा हैं तथा आठवाँ, नवाँ, दसवाँ और बारहवाँ—ये चार गुणस्थान क्षपक श्रेणी की अपेक्षा होते हैं। इसीलिए गोम्मटसार में कहा है चाहे उपशम श्रेणी का आरोहण करने वाला हो या क्षपक श्रेणी का, पर जो जीव सूक्ष्मलोभ के उदय का अनुभव कर रहा है वह दसवाँ गुणस्थानवर्ती जीव यथाख्यात चारित्र से कुछ ही न्यून रहता है।[2] अर्थात् सूक्ष्मलोभ प्रकृति को उपशम श्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय में उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है तथा क्षपक श्रेणी वाला जीव उसका क्षय करके दसवें से सीधे बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है।

(११) **उपशान्त-कषाय (उपशान्त मोह)**—सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणाम को उपशांत कषाय या उपशान्त मोह गुणस्थानवर्ती कहते हैं।[3] यहाँ उपशांतमोह का अर्थ ही किञ्चित् काल के लिये मोहनीय कर्म का शान्त हो जाना या दब जाना है। वैसे फिर वह पुनः राख से ढकी हुई आग की तरह भभक सकता है। पंचसंग्रह में कहा है जैसे मैले (गन्दे) पानी में फिटकरी आदि डालने पर उसका मलभाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर का जल स्वच्छ हो जाता है वैसे ही उपशम श्रेणी रूप परिणामों के द्वारा शुक्लध्यान से मोहनीय कर्म एक अन्तर्मुहुर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे

---

१. मूलाचार वृत्ति १२।१५५.
२. गोम्मटसार जीवकाण्ड ६०.
३. मूलाचार वृत्ति १२।१५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवों के परिणामों में निर्मलता आ जाती है, किन्तु यह निर्मलता ऊपरी सतह के स्वच्छ जल के समान है। सत्ता में तो मोहनीय कर्म अभी भी विद्यमान है। फिर भी ऐसी अवस्था से युक्त जीव को शान्तमोह या उपशान्त-कषाय वीतराग छद्मस्थ कहते हैं।[1] इस गुणस्थान में औपशमिक-यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है।

(१२) **क्षीणमोह (क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ)** :—जिसका मोह पूर्णतः नष्ट हो चुका है वह क्षीणमोह कहलाता है। मोहनीय कर्म रूप द्रव्यमोह और राग-द्वेषादि रूप भावमोह—इन दोनों प्रकार के मोह कर्म से रहित साधु क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती माना जाता है। इस गुणस्थान तक ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की सत्ता रहने से इन गुणस्थानवर्ती जीवों को छद्मस्थ कहते हैं।[2] इस अवस्था से पतन का कोई भय नहीं रहता। यहाँ शुक्लध्यान का एकत्ववितर्क नामक द्वितीय भेद प्रकट होता है।

जैसा कि उपशमक और क्षपक इन दो भेदों का पूर्व में उल्लेख किया है इनके विषय में यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि **क्षपक श्रेणी वाला जीव** तो दसवें गुणस्थान से एकदम बारहवें गुणस्थान में चढ़ता है किन्तु उपशम श्रेणी वाला जीव दसवें के बाद ग्यारहवें गुणस्थान में चढ़ता है। इसका अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकाल पूरा होते ही मोहनीय कर्म के उदय से नियमतः वह नीचे गिर जाता है। नीचे गिरता हुआ वह जीव छठे, सातवें गुणस्थान तक आ जाता है। यदि वहाँ वह पुनः प्रयत्न करे तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनकर क्षपक श्रेणी पर चढ़े तो वह भी क्षपक की तरह दसवें से एकदम बारहवां गुणस्थानवर्ती बनकर क्षीणमोही वीतराग बन सकता है और एक अन्तर्मुहूर्त तक उस वीतरागता का अनुभव कर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय—इन शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचता है, जहाँ वह अरहन्त, सर्वज्ञ, जीवन्मुक्त आदि संज्ञाओं को धारण करता है।

(१३) **सयोगकेवली** :—जो केवली योग (मन, वचन, काय की प्रवृत्ति) सहित होता है अर्थात् तीन प्रकार के योग सहित रहने से वह सयोग या सयोगी तथा केवल ज्ञान-दर्शन के स्वामी होने से वह केवली होता है। इस तरह इस गुणस्थान का नाम सयोगकेवली है। इसमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातिया कर्म नष्ट होने से केवलज्ञान की प्राप्ति हो

---

१. पंचसंग्रह (संस्कृत) १।४७.

२. मूलाचार वृत्ति १२।१५५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाती है। यहाँ वेदनीयकर्म की भी कुछ शक्ति नष्ट हो जाती है। इससे क्षुधादि बाधा उत्पन्न नहीं होती। इस गुणस्थान में वे अर्हन्त अवस्था भी प्राप्त कर लेते हैं।[1] इसमें समवसरणादि परम विभूति के साथ विहार करते हुए तीर्थंकर के रूप में धर्म प्रवर्तन करके जीवों को दिव्य देशना के द्वारा उपदेश भी देने लगते हैं। सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यान के द्वारा योग नामक कर्म का निरोध करता है अतः उसे 'जिन' भी कहा जाता है।

(१४) **अयोगकेवली** :—जिसमें योगों का सर्वथा अभाव हो जाता है अर्थात् मनोयोग, वचनयोग और काययोग से रहित अवस्था अयोगकेवली गुणस्थान है। जो केवली तीनों योगों से रहित होकर समस्त आस्रवों का निरोध करता हुआ नवीन कर्मों के बंध से रहित हो चुका है तथा जिसने शैलेश्य भाव को अर्थात् अठारह हजार शीलों के स्वामित्व को प्राप्त किया है वह अयोगकेवली कहलाता है। इस अवस्था में वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार अघातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्मनाश से आत्मा निर्मल हो जाती है। इस गुणस्थान का काल (अतर्मुहूर्त प्रमाण) समाप्त होने पर वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् मुक्त या सिद्ध बनकर सिद्धालय पहुँचते हैं। ये सिद्ध सम्पूर्ण कर्मों से रहित, सहज, अनुपम, अनंत, प्रतिपक्षरहित सुखों के स्वामी होते हैं। चरमदेह से किंचित् न्यून उनके आत्म प्रदेशों का आकार होता है। ये सिद्ध परमेष्ठी लोकाग्र-शिखर पर स्थित होते हैं।[2]

इस प्रकार प्रथम मिथ्यात्व से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त तक चौदह आध्यात्मिक भूमिकाओं के रूप में ये गुणस्थान आत्मिक उत्क्रांति करने वाली आत्मा की उत्तरोत्तर विकाससूचक अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः पूर्ण सत्य की प्राप्ति अपने पुरुषार्थ द्वारा ज्ञाता-दृष्टा-चैतन्य स्वरूप आत्मा को शुद्ध रूप में प्राप्त कर लेने पर ही होती है। कर्मों की परिस्थितियों के अनुसार ही जीव के निर्मल या मलिन भाव उत्पन्न होते हैं। जीव के भावों का सम्बन्ध मोहनीय कर्म के साथ है और उसकी विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार ही जीव को चौदह आध्यात्मिक भूमिकायें उत्पन्न होती हैं। प्रथम से बारहवें गुणस्थान तक मोहनीय कर्म आत्म-विशुद्धि में बाधक है। पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्मा की अवस्था का है। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक अन्तरात्मा की तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान परमात्मा की अवस्था के हैं। इस प्रकार मिथ्यात्व, अव्रत,

---

१. मूलाचार वृत्ति १२।१५५.

२. वही।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाद, कषाय और योग—इन पाँच बन्ध के हेतु रूप आस्रवों एवं मोहनीय कर्म की प्रबलता तथा निर्बलता पर ही जीव की ये चौदह अवस्थाएँ निर्मित हैं।

लेश्या :

लेश्या का स्वरूप : लेश्या की अवधारणा जैनधर्म की अपनी मौलिक और विशिष्ट अवधारणा है जिसमें जीवों के मनोभावों का अति सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है। वस्तुतः जैन तत्त्वज्ञान का यह एक अपना विशेष मनोवैज्ञानिक पहलु है, जिसका विवेचन विपुल जैन साहित्य के अनेक प्रमुख ग्रंथों में किया गया है। लेश्या शब्द का अर्थ है आणविक-आभा, कान्ति, प्रभा या छाया।[1] कषाय के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काय रूप योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।[2] लेश्या के इस लक्षण में मात्र कषाय और मात्र योग को लेश्या नहीं कहा अपितु कषायानुबिद्ध योगप्रवृत्ति को ही लेश्या कहा है। जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है।[3] अथवा जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसे लेश्या कहते हैं।[4]

जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरु मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है उसे लेश्या कहते हैं[5] इसीलिए जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्म का सम्बन्ध करने वाली होती है उसे लेश्या कहा गया है। वस्तुतः कर्म पौद्गलिक होते हैं अतः आत्मा के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण होता है और वे पुद्गल उसके चिन्तन को प्रभावित करते हैं। इसीलिए जीव के शुभाशुभ परिणाम को लेश्या कहा जाता है। अच्छे कर्म पुद्गल अच्छे चिन्तन में और अशुभ पुद्गल अशुभ चिन्तन में सहायक बनते हैं।

---

१. लेशयति-श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिकास्निग्ध-दीप्तरूपाछाया।—उत्तराध्ययन वृहद्वृत्तिपत्र ६५०.

२. (क) जोगपउत्तीलेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होई—गो० जीवकाण्ड ४९०।
(ख) कषायोदय रञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या—सर्वार्थसिद्धि २।३.

३. लिम्पतीतिलेश्या कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारपेक्षित्वात्-धवला १।१, १, ४ पृ० १५०.

४. लिम्पइ अप्पीकीरइ एयाए णिउउ पुण्ण पावं च।
जीवो ति होइ लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खाया॥ पंचसंग्रह, १।१४२.

५. जह गेरुवेण कुड्डी लिम्पइ लेवेण आम पिट्ठेण।
तह परिणामो लिम्पइ सुहासुह य त्ति लेव्वेण॥ पंचसंग्रह १४३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्या के भेद :—लेश्या के दो भेद हैं द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या।[1] वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ शरीर का वर्ण अर्थात् शरीर के वर्ण और आणविक आभा को द्रव्यलेश्या तथा मोहनीय कर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षय से जो जीव के प्रदेशों की चंचलता होती है उसे भावलेश्या कहते हैं।[2] अर्थात् जीव के परिणामों और प्रदेशों का चंचल होना भावलेश्या है। वस्तुतः परिणामों का चंचल होना कषाय है और प्रदेशों का चंचल होना योग है। इसी से योग और कषाय से भावलेश्या होती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से जीव के जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भी भावलेश्या है। सामान्यरूप में आत्मिक विचारों को भावलेश्या तथा उनके सहायक पुद्गलों को द्रव्यलेश्या कहते हैं। द्रव्यलेश्या के ६ भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस् (पीत), पद्म और शुक्ल।[3] इनका एक-एक भेद अपने-अपने उत्तर भेदों द्वारा अनेक रूप है।[4] सामान्य से ये ही छह भेद भावलेश्या के हैं किन्तु लेश्याओं के असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। वर्गों (रंगों) के अनुसार जिस प्रकार विविध तारतम्य पाया जाता है उसी प्रकार भावों के तारतम्य से भावलेश्या के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं।

द्रव्य और भाव दोनों रूप छहों लेश्याओं में प्रथम तीन लेश्यायें संक्लिष्ट होने से दुर्गति की ओर ले जानेवाली हैं तथा बाद की तीन लेश्यायें असंक्लिष्ट होने से दुर्गति की ओर ले जाने वाली हैं। लेश्याओं का सम्बन्ध शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों से है। अप्रशस्त और प्रशस्त इन द्विविध मनोभावों की तारतम्यता के आधार पर छह भेद बताये गये हैं।[5]

१. लेश्या द्रव्यभावभेदाद् द्वेधा-गोम्मटसार जी० जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका ४८९.

२. वण्णोदयसंपादिद सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
मोहुदयखओवसमोवसखयज जीवफंदणं भावो॥ गो० जोवकाण्ड ५३६.

३. मूलाचार वृत्ति १२।९६, सर्वार्थसिद्धि २।६, पृ० १५९.

४. सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण—गो० जी० ४९४.

५. उत्तराध्ययन ३४।३.

अप्रशस्त मनोभाव	प्रशस्त मनोभाव
१. **कृष्ण**—तीव्रतम अप्रशस्त मनोभाव (अशुद्धतम)	४. **तेजस्**—प्रशस्त मनोभाव (शुद्ध)
२. **नील**—तीव्र अप्रशस्त मनोभाव (अशुद्धतर)	५ **पद्म**—तीव्र प्रशस्त मनोभाव (शुद्धतर)
३. **कापोत**—अप्रशस्त मनोभाव (अशुद्ध)	६. **शुक्ल**—तीव्रतम प्रशस्त मनोभाव (शुद्धतम)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः आत्मा की परिणति दो प्रकार की होती है—शुद्ध तथा अशुद्ध—कृष्ण, नील और कपोत—ये तीन रंग अशुद्ध माने गये हैं। अत ये अधर्मरूप लेश्यायें अशुभ या अशुद्ध हैं। तेजस्, पद्म और शुक्ल ये तीन रंग शुद्ध माने गये हैं अतः ये शुभ या शुद्ध रूप धर्म लेश्यायें हैं।

कृष्ण आदि छह शरीर वर्णों की अपेक्षा[1] तथा कटु, तिक्त आदि रसों की अपेक्षा[2] द्रव्य लेश्या के छह भेद हैं—

१. भौंरा या काजल के समान कृष्ण वर्ण और नीम या तूम्बे से अनन्तगुणा कटु पुद्गल के सम्बन्ध से आत्मा में जो परिणाम होता है वह कृष्णलेश्या है।

२. नीलम के समान नील वर्ण और सोंठ से अनन्तगुणा तीक्ष्ण पुद्गल के सम्बन्ध से होने वाले आत्मा के परिणाम को नीललेश्या कहते हैं!

३. कबूतर के गले के समान रक्त एवं कृष्णवर्ण तथा कच्चे आम (कैरी) के रस से अनन्तगुणा तिक्त पुद्गलों के सम्बन्ध से जो आत्मा में परिणाम होता है, वह कापोत लेश्या है।

४. हिंगुल (सिन्दूर) के समान रक्तवर्ण और पके आम के रस से अनन्तगुणा मधुर पुद्गलों के संयोग से जो आत्मा में परिणाम होता है वह तेजस् लेश्या है।

५. हल्दी के समान पीत वर्ण तथा मधु से अनन्त गुणा मिष्ट पुद्गलों के संयोग से आत्मा का जो परिणाम होता है वह पद्म लेश्या है।

६. शंख के समान श्वेतवर्ण और मिश्री के अनन्तगुणा मीठे पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा का जो परिणाम होता है वह शुक्ललेश्या है। शान्तमन, जितेन्द्रियता, वीतरागता आदि शुक्ललेश्या के परिणाम हैं।

गन्ध की दृष्टि से कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अप्रशस्त लेश्यायें मृत गाय श्वान और सर्प के कलेवर की गंध से भी अनन्त गुणा अमनोज्ञ तथा तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्यायें सुगन्धित पुष्पों की सुगन्ध के समान अनन्तगुणा मनोज्ञ होती हैं।[3]

स्पर्श की दृष्टि से तीन अप्रशस्त लेश्यायें करवत, गाय की जीभ तथा शाक के पत्तों के कर्कश स्पर्श से भी अनन्तगुणा कर्कश तथा तीन प्रशस्त लेश्यायें नवनीत (मक्खन) तथा सिरीष के पुष्पों के मृदु स्पर्श से भी अनन्तगुणा मृदु स्पर्श होती हैं।[4]

---

१. गो० जीवकाण्ड ४९५.
२. उत्तराध्ययन ३४।१०-१५.
३. उत्तराध्ययन ३४।१६-१७.
४. वही ३४।१८-१९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोम्मटसार के अनुसार षड्विध भावलेश्या की दृष्टि से जीव निम्नलिखित प्रकार के स्वभाव और विचारों के होते हैं[1]—

१. **कृष्ण**—जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुबन्ध क्रोध, मान, माया, लोभ से युक्त, निर्दय, कलह प्रिय, मद्य-मांस के सेवन में आसक्त दुष्ट स्वभाव का हो तथा जो किसी के वश का न हो—ये सब कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं।

२. **नील**—जो बहुत निद्रालु, घमण्डी, मायावी, ठग, कायर, पंचेन्द्रिय-विषय लम्पटी, अनेक प्रकार के परिग्रह में आसक्त, अतिचपल हो तथा कार्य निष्ठा से रहित जीव नील लेश्या युक्त होते हैं।

३. **कापोत**—जो पर की निन्दा, आत्म-प्रशंसा से प्रसन्न होता है, हानि-लाभ को नहीं देखता, लड़ाई होने पर मरने-मारने को तैयार रहता है, दूसरों को अच्छा न देख सकता हो, अविश्वासी, बहुत डर, शोक एवं ईर्ष्या करने वाला जीव कापोत लेश्या वाला होता है।

४. **तेजो (पीत)**—जो अपने कर्तव्य-अकर्तव्य तथा सेव्य-असेव्य को जनता है, सबको समानरूप से देखता है, दया और दान में प्रीति रखता है, ज्ञानी तथा मृदु स्वभावी है, दृढ़ता, मित्रता, सत्यवादिता तथा स्वकार्यपटुता आदि गुणों से समन्वित जीव तेजो या पीत लेश्या से युक्त होता है।

५. **पद्म**—जो त्याग और क्षमागुणों से युक्त भद्र परिणामी, सरल स्वभावी, शुभकार्य में उद्यमी, कष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवों को सहने वाला, मुनि और गुरुजनों की पूजा में प्रीति रखने वाला पाण्डित्य युक्त जीव पद्म लेश्या वाला होता है।

६. **शुक्ल**—जो पक्षपात (माया) और निदान से रहित, सबमें समान भाव रखने वाला, इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष रहित, पाप कार्यों से उदासीन, श्रेयोमार्ग में रुचि वाला, परनिन्दा रहित, पुत्र, मित्र और स्त्री में राग रहित—ये सब शुक्ल लेश्या से समन्वित जीव के लक्षण हैं।

ये छहों लेश्यायें यथासंभव सभी संसारी जीवों में पायी जाती हैं। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान तक कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति से होने वाली लेश्यायें हैं तथा ग्यारहवें उपशान्त-मोह बारहवें क्षीणमोह तथा तेरहवें सयोगकेवली—इन गुणस्थानों में कषायों का अभाव हो जाने पर भी योग विद्यमान होने से इनमें शुक्ल लेश्या का सद्भाव होता है। अयोगकेवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान तथा सिद्ध भगवान् लेश्या रहित है, क्योंकि इनमें योग का भी अभाव होता है।[2]

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५०९-५१७.

२. आचार्यश्री धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ पृ० ५०४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्या-वृक्ष का उदाहरण—गोम्मटसार[२] में वृक्ष से फल-प्राप्ति के एक उदाहरण के माध्यम से छह लेश्याओं के द्वारा छह व्यक्तियों के मनोभावों की दशाओं का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। जिसका चित्र प्रायः जैन मन्दिरों की दीवारों पर भी चित्रित देखा जाता है, जो इस प्रकार है—

कृष्ण आदि एक-एक लेश्या वाले छह पथिक वन में मार्ग भूल गये। क्षुधा, पिपासा से पीड़ित थके-हारे उन पथिकों ने उस वन के मध्य फलों से युक्त लहलहाता हुआ एक सघन वृक्ष देखा। इन छहों का बाह्य वर्ण भी कृष्ण, नील आदि रूप था। साथ ही अन्तरंग कषाय योग प्रवृत्ति भी भिन्न-भिन्न थी। उस फल युक्त वृक्ष को देखकर—**प्रथम कृष्णलेश्या** वाला व्यक्ति विचार करता है कि मुझे इस वृक्ष के फलों से अपनी क्षुधा शान्त करना है, अतः इसके फल प्राप्ति के लिए इस वृक्ष को जड़ से ही उखाड़कर इसके फल खाऊँगा। **दूसरा नीललेश्या** वाला सोचता है—फलप्राप्ति के लिए समूचे वृक्ष को उखाड़ने की क्या जरूरत ? इसका मात्र स्कन्ध (तना) काटकर ही फल प्राप्त करके क्षुधा शान्त कर लूंगा। **तीसरा कापोतलेश्या** वाला व्यक्ति सोचता है कि इस वृक्ष की बड़ी डाल (शाखा) काटकर फल खाऊँगा। **चौथा पीतलेश्या** वाला व्यक्ति छोटी-छोटी टहनियों (शाखाओं) को काटकर फल खाने की इच्छा रखता है। **पंचम पद्मलेश्या** वाला व्यक्ति वृक्ष के मात्र सीधे फलों को ही तोड़कर खाने की इच्छा रखता है। **छठा शुक्ललेश्या** वाला पथिक विचार करता है कि जमीन पर टूटकर गिरे हुये फलों को ही खाऊँगा। इसी प्रकार मन पूर्वक जो वचन होता है वह क्रम से उन लेश्याओं का कार्य होता है। इस उदाहरण में प्रथम पथिक से लेकर छठे तक के सभी पथिकों के मानसिक परिणामों की स्थिति उत्तरोत्तर विशुद्ध है। सभी पथिक फल तो खाना चाहते हैं, किन्तु उनकी प्रक्रिया भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार कषायों के तर-तम भाव ही लेश्या के अनेक भेदों का जनक होता है। इस उदाहरण द्वारा लेश्याओं का स्पष्ट रूप-ज्ञान हो जाता है और यह मात्र परिणामों की तरतमता दिखलाता है।

जीवों में लेश्या का सद्भाव :—तिर्यञ्चों और मनुष्यों में लेश्याओं का इस प्रकार सद्भाव होता है—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियों में कापोत, नील और कृष्ण—ये तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं। असंख्यात आयु वाले भोगभूमि के जीवों में तेज, शुक्ल और पद्म—ये तीन लेश्यायें होती हैं। शेष कर्मभूमिज

---

२. गोम्मटसार जीवकाण्ड ५०७-५०८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यञ्चों और मनुष्यों में छहों लेश्यायें होती हैं।[1] यहाँ पर भी किन्हीं जीवों के द्रव्यलेश्या अपने आयु-प्रमाण निश्चित है, किन्तु सभी जीवों की भाव लेश्या अन्तर्मुहुर्त में परिवर्तन करने वाली होती हैं क्योंकि कषायों की हानि-वृद्धि से उनकी हानि-वृद्धि जानना चाहिए।

देवों में भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क को जघन्य तेजो लेश्या, सौधर्म और ईशान में मध्यम तेजोलेश्या, सानत्कुमार, माहेन्द्र इनमें उत्कृष्ट तेजोलेश्या और जघन्य पद्मलेश्या, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र इन छहों में मध्यम पद्मलेश्या, शतार और सहस्रार इन दो में उत्कृष्ट पद्म तथा जघन्य शुक्ललेश्या; आनत, प्राणत, आरण और अच्युत सहित नवग्रैवेयकों में अर्थात् इन तेरहों में मध्यम शुक्ललेश्या, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर–इन चौदह विमानों में परम (सर्वोत्कृष्ट) शुक्ललेश्या होती है।[2]

नरक पृथ्वियों में लेश्याओं का विधान इस प्रकार है—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा, और महातमप्रभा—ये सात नरक की पृथ्वियाँ हैं।[3] इनमें क्रमशः रत्नप्रभा नरक में जघन्य कापोतलेश्या, द्वितीय शर्करा में मध्यम कापोतलेश्या, तृतीय बालुकाप्रभा के ऊपरी भाग में उत्कृष्ट कापोतलेश्या और निम्न भाग में जघन्य नीललेश्या, चतुर्थ पंकप्रभा में मध्यम नीललेश्या, पंचम धूमप्रभा के ऊपरी भाग में उत्कृष्ट नीललेश्या तथा अधोभाग में जघन्य कृष्णलेश्या, षष्ठ तमप्रभा में मध्यम कृष्णलेश्या और सप्तम महातमप्रभा में उत्कृष्ट कृष्ण-लेश्या होती है।[4]

इस तरह विभिन्न लेश्याओं का विभिन्न गतियों और जीवों में तरतमता से सद्भाव पाया जाता है। किन्तु मरण समय में निम्नलिखित प्रकार से लेश्यायें सम्भव होती हैं—

प्रथम पृथ्वी से छठी तक के असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मनुष्यों में अपनी-अपनी पृथ्वी योग्य लेश्याओं के साथ उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें कृष्ण, नील, कापोत लेश्यायें पाई जाती हैं। इसी प्रकार देवगति से असंयत सम्यग्दृष्टि देव मरकर अपनी-अपनी पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्याओं के साथ मनुष्यों में उत्पन्न

---

१. एइंदियविगलिंदिय असण्णिणो तिण्णि होंति असुहाओ।
संखादीदाऊणं तिण्णि सुहा छप्पि सेसाणं॥ मूलाचार सवृत्ति १२।९६.

२. मूलाचार वृत्ति १२।९४-९५.

३. मूलाचार वृत्ति १२।९३.

४. मूलाचार वृत्ति १२।९३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव, तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न होते समय नष्ट लेश्या अर्थात् अपनी-अपनी पूर्व लेश्या छोड़कर मनुष्यों और तिर्यंचों में उत्पन्न होने के प्रथम समय कृष्ण, नील और कापोतलेश्या से परिणत हो जाते हैं।[1]

हम देखते हैं कि कषायों के प्रतिफल स्वरूप कर्मबन्ध होता है, तदनुसार जीव पुण्य और पाप रूप फल भोगता है। जब तक कषाय है तब तक संसार वृद्धि होती रहती है। शुभ लेश्याओं से संसार निवृत्ति का संयोग बैठता है। जब व्रत, संयम, तप, धर्म आदि मोक्षानुकूल पुरुषार्थ जीव-द्वारा होता है, तभी आत्मा के कर्म-मल को हटाया जाता है।

लेश्या-विशुद्धि का उपक्रम—भगवती आराधना में लेश्याओं की विशुद्धि का उपक्रम बतलाते हुये कहा है[2] कि परिग्रह के त्याग से लेश्या में विशुद्धि आती है। परिणामों की विशुद्धि होने से लेश्या की विशुद्धि होती है। जिसकी कषाय मन्द होती है उसके परिणामों में विशुद्धि होती है। जो बाह्य परिग्रह का त्याग करता है उसकी कषाय मन्द होती है, तथा जिसकी कषाय तीव्र होती है, वही सब परिग्रह रूप पाप को स्वीकार करता है। जैसे बाहर में तुष (छिलका) रहते हुए चावल की आभ्यन्तर शुद्धि सम्भव नहीं है वैसे ही परिग्रही जीव के लेश्या की विशुद्धि सम्भव नहीं है। अन्तरंग में कषाय की मन्दता होने पर नियम से बाह्य परिग्रह का त्याग होता है। आभ्यन्तर में मलिनता होने पर ही जीव बाह्य परिग्रहों को ग्रहण करता है। जैसे ईंधन से आग बढ़ती है और ईंधन के अभाव में बुझ जाती है वैसे ही परिग्रह से कषाय बढ़ती है और परिग्रह के अभाव में ही मन्द हो जाती है। इस प्रकार लेश्या में निरन्तर विशुद्धि होती जाती है। इन छह लेश्याओं द्वारा भावनाओं एवं विचार-तरंगों का जितना मनोवैज्ञानिक एवं शास्त्रीय सूक्ष्म विश्लेषण किया जायेगा उतनी ही इनकी महत्ता सिद्ध होगी क्योंकि मानसिक विचारों की श्रेणियों को ही लेश्या कहा गया है।

द्रव्य स्वरूप विमर्श :

द्रव्य की परिभाषा—जैन धर्म-दर्शन में द्रव्य की अपनी विशिष्ट परिभाषा है। व्युत्पत्ति के आधार पर 'यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि इति द्रव्याणि'—अर्थात् जो यथायोग्य अपनी-अपनी पर्यायों के द्वारा प्राप्त होते हैं या

१. धवला १२।१, १।५११, ६५६.

२. भगवती आराधना गाथा—१९०४–१९०६, १९११, १९०९, १९०७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्यायों को प्राप्त होते हैं। वे द्रव्य कहलाते हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार जिसका लक्षण सत् है वह द्रव्य है। जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है वह द्रव्य है तथा जो गुण और पर्याय का आश्रय है वह द्रव्य है।[2] तत्त्वार्थ सूत्र में भी द्रव्य की यही परिभाषायें की गई हैं।[3]

वस्तुतः सभी पदार्थ 'सत्' (अस्तित्व) रूप हैं। उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य—इन तीनों से युक्त 'सत्' कहलाता है। अपनी जाति का त्याग किये बिना जिस वस्तु में उत्पाद (नवीन पर्याय की उत्पत्ति), व्यय (पूर्व पर्याय का त्याग या नाश) तथा ध्रौव्य अर्थात् पूर्व एवं आगामी इन दोनों पर्यायों में अनादि काल से चले आये हुए वस्तु के अपने असली स्वभाव का नाश न होना (सुरक्षित रहना)—इस तरह ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों से युक्त सत् (द्रव्य) होता है। इन्हीं को गुण और पर्याय शब्द द्वारा व्यक्त करके 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' कहा गया। अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है। अतः उक्त तीनों में ध्रौव्य का ही दूसरा नाम गुण है तथा उत्पाद और व्यय-ये द्रव्य की पर्यायें हैं। अतः दोनों परिभाषाओं में कोई अन्तर नहीं है। गुण द्रव्य में सदा विद्यमान रहता है और पर्यायें उत्पन्न तथा विनष्ट होती रहती हैं। पर्यायें भी गुण से अलग नहीं रहतीं। अर्थात् कोई भी गुण पर्याय के बिना नहीं रहता और कोई पर्याय बिना गुण के नहीं होती।[4] द्रव्य में गुण अन्वयी और सहभावी होते हैं किन्तु पर्यायें क्रमभावी होती हैं वे एक दूसरे से नहीं मिलतीं अतः पर्यायों का स्वभाव व्यतिरेकी होता है। पर्यायें प्रतिसमय बदलती रहती हैं और ये गुण एवं पर्याय मिलकर ही द्रव्य कहे जाते हैं।[5]

यहाँ गुण और पर्याय का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक है। जिसके द्वारा एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अलग किया जाता है वह गुण कहलाता है अर्थात् अविच्छिन्न रूप से द्रव्य में रहने वाले द्रव्य के सहभावी (कभी अलग न होने वाला) धर्म (स्वभाव) को 'गुण' कहते हैं और द्रव्य के विकार को अर्थात् द्रव्य की

---

१. सर्वार्थसिद्धि ५।२।५२९ पृ० २०२.

२. दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हु ॥ पंचास्तिकाय १०.

३. सद्द्रव्यलक्षणम्। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।
—तत्त्वार्थ सूत्र ५।२९,३०,३८.

४. सर्वार्थसिद्धि ५।२९-३०।५८२-५८४.

५. सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र २९,३० पैरा० ५८२-५८४ पृष्ठ २३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को 'पर्याय' कहते हैं।[1] जैसे स्वर्ण और चाँदी—इन दोनों की अलग-अलग पहचान जिन गुणों से होती है वे उस द्रव्य के गुण हैं। पीलापन (पीतत्व), भारीपना और कोमलपना आदि स्वर्ण के तथा श्वेतत्व, हलकापना और कठोरपना आदि चाँदी के गुण हैं। ये द्रव्य से कभी पृथक् नहीं हो सकते। इसी सोने या चाँदी के कुण्डल, भुजबंध, कंगन या अंगूठी आदि रूप जो आभूषण बनवाते रहते हैं यही उस द्रव्य की पर्यायें हैं। अतः परिवर्तन मात्र आकृतियों (पर्यायों) में हुआ करता है तथा स्वर्णत्व या रूपकत्व रूप में सोना या चाँदी दोनों अवस्थाओं में सुरक्षित रहता है। इस तरह गुण सहभावी होने से उसके स्वरूप को रक्षा करता हुआ द्रव्य में ध्रौव्य (नित्य) रहता है किन्तु पर्यायें क्रमभावी होने से पूर्व पर्याय का विनाश और दूसरी पर्याय की उत्पत्ति होती है अतः पर्याय को क्रमभावी कहा गया है।

इसी विषय को आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥[2]

अर्थात् घट का इच्छुक उसका नाश होने पर दुःखी होता है, मुकुट का इच्छुक उसका उत्पाद होने पर हर्षित होता है किन्तु स्वर्ण का इच्छुक न दुःखी होता है, न हर्षित होता है अपितु वह मध्यस्थ रहता है। अतः एक ही समय में यह शोक, प्रमोद और माध्यस्थभाव बिना कारण के नहीं हो सकता, इससे प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सिद्ध होता है।

इस तरह स्वर्ण आदि द्रव्य का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिणमन होने पर भी उनका द्रव्यत्व बना ही रहता है। जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य को नित्य-अनित्य दोनों रूप माना गया है अर्थात् अलग-अलग अवस्थाओं (पर्यायों) को प्राप्त करते रहने पर भी अपना स्वरूप न छोड़ने के कारण द्रव्य नित्य भी है और वही द्रव्य अलग-अलग पर्यायों को प्राप्त करता रहता है अतः अनित्य भी है।

द्रव्य के भेद—मूलतः द्रव्य के दो भेद हैं—जीव और अजीव।[3]

---

१. गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो हि पज्जवो भणिदो।
तेहिं अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवे णिच्चं॥ सर्वार्थसिद्धि ५।३८।६००.

२. आप्तमीमांसा : कारिका ६०.

३. जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेणजेण णिद्दिट्ठं—द्रव्यसंग्रह १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **जीव द्रव्य**—जीव द्रव्य चैतन्यवान् है, जानना एवं देखना उसका स्वभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में उपयोग को जीव का लक्षण कहा है।[1] यह उपयोग (ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव) जीव का आत्मभूत लक्षण है जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता। उपयोग का कारण चेतना शक्ति है। यद्यपि जीव (आत्मा) द्रव्य अनन्त गुण-पर्यायों का पिण्ड है किन्तु इन सबमें उपयोग मुख्य है। जीव के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं अर्थात् वस्तु का स्वरूप जानने के लिए जीव का जो भाव प्रवृत्त होता है, वह उपयोग कहलाता है। यही जीव का लक्षण है। जीव द्रव्य का विशेष विवेचन नव पदार्थ शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

अजीव द्रव्य—जीव से विपरीत लक्षण वाला अजीव द्रव्य है।[2] दूसरे शब्दों में जिसमें चेतना गुण का अभाव है, जिसे सुख-दुःख का ज्ञान नहीं है, हित की इच्छा और अहित से भय नहीं है, वह जड़ स्वभाव वाला अजीव द्रव्य है।[3]

अजीव द्रव्य के भेद

अजीव द्रव्य के दो प्रकार हैं—रूपी और अरूपी।[4] अजीव द्रव्य के पाँच भेद भी माने जाते हैं—१. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश और ५. काल। इन पाँच द्रव्यों में जीव द्रव्य सम्मिलित कर लेने पर छह द्रव्य कहलाते हैं। इनमें काल द्रव्य अप्रदेशी होने के कारण इसे छोड़कर शेष पाँच द्रव्य (कायवान् होने से) 'अस्तिकाय' कहे जाते हैं। तथा इन छह द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य रूपी है शेष पाँच द्रव्य अरूपी हैं।

रूपी—जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—ये गुण पाये जायें वह रूपी द्रव्य है। रूपी द्रव्य के चार भेद हैं—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और अणु।[5] १. जिसके खण्ड न हों जो सर्वथा अविभाज्य हो वह स्कन्ध कहलाता है। पुद्गल के जितने भेद (परमाणु तक) होते हैं वे सब स्कन्ध हैं अर्थात् अपने अवयवों के साथ (अनेक भेदयुक्त) सामान्य-विशेषात्मक पुद्गल द्रव्य को स्कन्ध कहते हैं। २. स्कन्ध के कल्पित भाग अर्थात् स्कन्ध के आधे विभाग को स्कन्धदेश कहते हैं।

---

१. उपयोगो लक्षणम्—तत्त्वार्थसूत्र २।८.
२. एवं विघभावरहियमजीवदव्वेत्ति विण्णेयं—मूलाचार ५।३२.
३. पंचास्तिकाय २।१२४-१२५.
४. मूलाचार ५।३३.
५. अज्जीवा वि य दुविहा रूपारूवा य रूविणो चदुधा।
खंधा या खंधदेसो खंदपदेसो अणू य तहा।। मूलाचार ५।३३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. स्कन्धदेश के द्वयगुणक पर्यन्त आधे-आधे करने पर जितने भेद निष्पन्न होंगे वे सब स्कन्धप्रदेश हैं। अर्थात् स्कन्ध का सर्वसूक्ष्म अंश। ४. द्वयगुणक में भी भेद करने से अणु की उत्पत्ति होती है। अणु अविभागी है अर्थात् इसमें भेद नहीं किये जा सकते।[1] ये सब पुद्गल होने से रूपी हैं अतः स्कन्ध, स्कन्ध-देश, स्कन्ध-प्रदेश और अणु भेद वाला पुद्गल द्रव्य रूपी होता है। यही जीव के साथ कर्म-नोकर्म रूप होकर बद्ध होते हैं।[2]

अरूपी—जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन गुणों का अभाव हो वह अरूपी द्रव्य है। धर्म, अधर्म और आकाश—ये द्रव्य अरूपी हैं। स्पर्शादिक गुण न होने से काल द्रव्य भी अरूपी है।[3]

छह द्रव्य :

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छह द्रव्य हैं। यह लोक छह द्रव्य के समुदाय स्वरूप है। इन छह द्रव्यों में जीव द्रव्य का विवेचन किया जा चुका है। शेष पाँच द्रव्यों का विवेचन प्रस्तुत है—

२. **पुद्गल**—(Matter or energy)—'पुद्गल' जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। जो द्रव्य प्रतिसमय मिलता-गलता, बनता-बिगड़ता एवं टूटता-जुड़ता रहे वह पुद्गल है।[4] अर्थात् जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श युक्त हो, जिसमें मिलने एवं अलग होने आदि का स्वभाव है उसे पुद्गल कहा जाता है। छह द्रव्यों में यही मात्र मूर्त या रूपी है। यह अनन्त परिमाण है।[5] वस्तुतः पुद्गल ही एक मात्र ऐसा द्रव्य है जो खंडित भी होता है और पुनः परस्पर सम्बद्ध भी होता है। यह छुआ चखा, सूँघा और देखा भी जा सकता है।

पुद्गल द्रव्य की पर्यायें—शब्द, बंध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत—ये पुद्गल द्रव्य की अवस्थायें हैं।[6]

---

१. परमाणू चेव अविभागी—मूलाचार ५।३४.

२. कुन्द० मूलाचार ५।४१, पृ० १२५.

३. ते पुणधम्माधम्मागासा य अरूविणो य तह कालो।—
खंध देस पदेसा अणुत्ति वि य पोग्गला रूवी॥ वही, ५।३५.

४. (क) पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः—तत्त्वार्थवार्तिक ५।१।२४.
(ख) पुंगिलनात् पूरणगलनाद्वा पुद्गल इति—वही ५।१९।४०.

५. मूलाचारवृत्ति ५।३५.

६. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च—त० सू० ५।२४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. शब्द—एक पुद्गल स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने, सम्बन्ध होने या कम्पन होने पर जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द है। जैनदर्शन में शब्द को पौद्गलिक माना गया गया है। जैनदर्शन की यह मान्यता इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान की कसौटी पर पूर्णतः खरी उतरती है। टेपरिकार्डर, रेडियो, दूरदर्शन, वायरलेस, वीडियो, दूरभाष आदि अनेकों इसके प्रमाण हैं। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय) का विषय है। शब्द गुण नहीं अपितु पुद्गल द्रव्य की ही एक पर्याय है जबकि नैयायिक और वैशेषिक दार्शनिक इसे आकाश का गुण मानते हैं। पुद्गल द्रव्य के स्पर्श, रस आदि जो लक्षण होते हैं वे सब शब्द में पाये जाते हैं। शब्द पुद्गल द्वारा रुकता है, पुद्गलों को रोकता है, शब्द ग्रहण एवं धारण किया जाता है। वस्तुतः पुद्गल के अणु और स्कन्ध भेदों की अनेक जातियों में से एक भाषा वर्गणा इस लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं, उसी की तरंगों के कम्पन से शब्द एक स्थान से दूसरे स्थान पर रेडियो आदि या साक्षात् रूप में सुनाई पड़ता है। वैज्ञानिक अब तो ऐसा यन्त्र बनाने की सोच रहे हैं जो सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले लोक में व्याप्त शब्दों, ध्वनियों, भाषा वर्गणाओं को ग्रहण कर सके।

शब्द के दो भेद हैं—भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक—ये दो भेद हैं। बोल-चाल में आनेवाली अनेक प्रकार की जो भाषायें हैं जिनमें ग्रंथ भी लिखे जाते हैं वे सब अक्षरात्मक शब्द हैं तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों द्वारा जो ध्वनि निकलती हैं वे अनक्षरात्मक शब्द हैं। अभाषात्मक के भी दो भेद हैं। १. वैस्रसिक (मेघ आदि गर्जना रूप) शब्द और २. प्रायोगिक। प्रायोगिक शब्द के चार भेद हैं—१. तत शब्द अर्थात् चमड़े से मढ़े हुए ढोल, मृदंग आदि का शब्द, २. वितत शब्द—अर्थात् वीणा, सारंगी आदि वाद्यों का शब्द, ३. घन शब्द—अर्थात् झालर, घण्टा आदि का शब्द एवं ४. सौषिर शब्द अर्थात् शंख, बाँसुरी आदि का शब्द।[1]

२. बन्ध—बन्ध का अर्थ है जुड़ना, बंधना, संयुक्त होना या एकत्व परिणाम। यह भी पौद्गलिक है। इसके दो भेद हैं—वैस्रसिक और प्रायोगिक। जिसमें पुरुष का प्रयोग अपेक्षित नहीं है, जैसे स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से होनेवाला इन्द्र धनुष, उल्का, बिजली, मेघ, अग्नि आदि सम्बन्धी वैस्रसिक बन्ध है तथा जो बन्ध पुरुष के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बन्ध है। जैसे लाख और लकड़ी का अजीव विषयक बन्ध और कर्म तथा नोकर्म का जो जीव से बन्ध होता है वह जीवाजीव सम्बन्धी प्रायोगिक बन्ध है।[2]

१. सर्वार्थसिद्धि ५।२४।५७२.
२. वही, ५।२४।५७२ पृ० २२५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. सूक्ष्मत्व—पुद्गलों का भेद होने पर सूक्ष्मता उत्पन्न होती है। यह भी पुद्गल में ही प्राप्त होती है। इसके दो भेद हैं—अन्त्य और आपेक्षिक। अन्त्य सूक्ष्मता परमाणुओं में ही पायी जाती है जबकि दो छोटी, बड़ी वस्तुओं अर्थात् बेल, आँवला, बेर आदि रूप में तुलना की दृष्टि आपेक्षित सूक्ष्मता है।

४. स्थूलत्व—यह भी पुद्गल से उत्पन्न होने के कारण उसकी पर्याय है। जिस वस्तु के पुद्गल अधिक फैले रहते हैं वह वस्तु स्थूल पर्याय युक्त होती है। इसके भी अन्त्य और आपेक्षिक—ये दो भेद हैं। अन्त्य स्थूलता विश्वव्यापी महास्कन्ध में पायी जाती है तथा आपेक्षिक स्थूलता बेर, आँवला, बेल आदि में होती है।

५. संस्थान—इसका अर्थ है आकृति (आकार)। इत्थं लक्षण तथा अनित्थं लक्षण के भेद से संस्थान के दो भेद हैं। जिस आकार का 'यह इस तरह का है'—ऐसा बतलाया जा सके वह इत्थं लक्षण है। जैसे यह वस्तु गोल, चौकोर या त्रिकोण आदि रूप है। तथा जिसका निश्चित आकार बतलाया न जा सके वह अनित्थं लक्षण संस्थान है। जैसे मेघ आदि का आकार।

६. भेद—पुद्गल पिण्ड का भंग (खण्ड) होना भेद है। इसके छह भेद हैं—१. उत्कर (बुरादा आदि रूप), २. चूर्ण (गेहूँ आदि का आटा, सत्तू आदि रूप), ३. खण्ड (मिट्टी के घड़े के टुकड़े-टुकड़े होना), ४. चूर्णिका (उड़द, मूंग, चना आदि के दाल रूप टुकड़े), ५. प्रतर (अभ्रक, मिट्टी, भोजपत्र आदि की तहें निकालना) तथा ६. अणुचटन अर्थात् गर्म लोहे पर घन मारने या लोहे आदि की वस्तु को शान पर चढ़ाने से जो अग्निकण (स्फुलिंग) निकलते हैं वे अणुचटन हैं।

७. तम (अन्धकार)—यह पदार्थ प्रतिरोधक पुद्गल की पर्याय है जो देखने में बाधक होती है। नैयायिक और वैशेषिक तम को सर्वदा अभाव रूप मानते हैं किन्तु आँखों से उसका ज्ञान होता है अतः अन्धकार भी पौद्गलिक होने से मूर्तिक ही है। क्योंकि तम भी पदार्थों को ढकने वाला भावात्मक द्रव्य है।

८. छाया—प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है।

९. आतप—सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप है।

१०. उद्योत—चन्द्रमा, मणि, जुगनू आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

३. धर्मद्रव्य—धर्मद्रव्य गतिशील जीव और पुद्गल द्रव्यों की गति, हलन-चलन आदि क्रियाओं में सहायक होता है। जैसे मछली की गति में पानी सहायक है। धर्मद्रव्य लोक के हर कोने में (सर्वत्र) विद्यमान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. अधर्मद्रव्य—जैसे धर्मद्रव्य गति में सहायक है उसके विपरीत अधर्मद्रव्य स्थिति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों को स्थिर रखने (ठहरने) में सहायक है। अधर्म द्रव्य भी धर्मद्रव्य की तरह असंख्यात् प्रदेशी, सकल लोकव्यापी, त्रिकाल स्थायी, अरूपी और अचेतन है।

वस्तुतः जीव, पुद्गलादि द्रव्य अपनी ही प्रेरणा से गमन (गति), स्थिति आदि क्रियायें करते हैं और ऐसा करते हुए धर्म, अधर्म द्रव्य की सहायता लेते हैं।[1]

५. आकाशद्रव्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल—इन द्रव्यों को रहने या आश्रय के लिए स्थान (अवकाश या अवगाह) देना आकाश द्रव्य का स्वभाव है। वस्तुतः आकाश जीवादि सभी द्रव्यों के रहने का स्थान है। लोक, अलोक दोनों में व्याप्त आकाश, अनन्तप्रदेशी अविभाज्य पिण्ड, त्रिकाल स्थायी अरूपी द्रव्य है।

६. कालद्रव्य—यह धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल द्रव्यों के वर्तना-पर्याय परिणति में निमित्त कारण है।[2] दूसरे शब्दों में इसमें परिवर्तन अर्थात् पर्याय अवस्था की उत्पत्ति में सहायक होने का गुण है। कालद्रव्य प्रति समय होनेवाली पर्याय का कारण है इसलिए उसे अणुरूप माना गया है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में एक-एक कालाणु स्थित है, इसी कारण असंख्यात प्रदेशों के धारक लोकाकाश में असंख्यात ही काल द्रव्य हैं और प्रत्येक कालद्रव्य एक-एक प्रदेश का धारक है; इस कारण अविभागी पुद्गल परमाणु के समान इसे भी अप्रदेशी माना जाता है।[3] इस तरह काल के कायत्व न होने से छह द्रव्यों में काल को छोड़ शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।[4] कालद्रव्य परमाणु की तरह एक प्रदेशी है अतः वह अस्तिकाय (कायावान्) नहीं है।[5] क्योंकि अनागत काल की उत्पत्ति नहीं हुई तथा उत्पन्न काल का विनाश हो जाता है और प्रदेशों का प्रचय होता नहीं अतः काल अस्तिकाय नहीं है।

द्रव्य के गुण

जैन दर्शन के अनुसार अस्तित्त्व, वस्तुत्त्व, द्रव्यत्त्व प्रमेयत्त्व, अगुरुलघुत्त्व और प्रदेशत्त्व—ये साधारण गुण छह द्रव्यों में समान रूप से रहते हैं।

---

१. पंचास्तिकाय—१।८६, ८८-८९।

२. गतिठाणोग्गाहणकारणाणि कमसो दु वत्तणगुणो य—मूलाचार ५।३६.

३. मूलाचार वृत्ति ५।३५.

४, कालस्स दु णत्थि कायत्तं·····पंचास्तिकाय १।१०२.

५. कालस्सेगो ण तेण सो काओ—द्रव्यसंग्रह २५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१—अस्तित्व का अर्थ है जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता। २—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य में अर्थक्रिया (कुछ न कुछ कार्य करता रहना) हो वह वस्तुत्त्व गुण है। ३—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य एक पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय रूप परिवर्तित हो उसे द्रव्यत्त्व कहते हैं। ५—अगुरुलघुत्त्व—जिस शक्ति के रहते द्रव्य की एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप नहीं होती या एक-दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता अथवा एक द्रव्य के गुण बिखरकर अलग-अलग न होने देने वाला अगुरुलघुत्व गुण है। ६—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कोई न कोई आकार हो वह प्रदेशत्त्व गुण है।[1]

इनके अतिरिक्त द्रव्यों में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गतिहेतुत्त्व, स्थितिहेतुत्त्व, अवगाहनहेतुत्त्व, वर्तना-हेतुत्त्व, चेतनत्त्व, अचेतनत्त्व, मूर्त्तत्त्व और अमूर्तत्त्व—ये सोलह विशेष गुण भी होते हैं किन्तु वे सब द्रव्यों में समान रूप में नहीं रहते अतः ये विशिष्ट गुण कहलाते हैं। छह द्रव्यों में ये इस प्रकार होते हैं[2]—

१. जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्त्व और अमूर्तत्त्व—ये छह गुण होते हैं।

२. पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अचेतनत्त्व और मूर्तत्त्व—ये छह गुण होते हैं।

३. धर्म द्रव्य में गतिहेतुत्त्व, अचेतनत्त्व और अमूर्तत्त्व—ये तीन गुण हैं।

४. अधर्म द्रव्य में स्थितिहेतुत्त्व, अचेतनत्त्व और अमूर्तत्त्व—ये तीन गुण हैं।

५. आकाश द्रव्य में अवगाहनत्त्व, अचेतनत्त्व और अमूर्तत्त्व—ये तीन गुण हैं।

६. काल द्रव्य में वर्तना-हेतुत्त्व, अचेतनत्त्व और अमूर्तत्त्व—ये तीन गुण हैं।

नव पदार्थ :

जैन-धर्म-दर्शन विषयक साहित्य में नव पदार्थ और सात तत्त्वों का विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन प्रायः सर्वत्र किया गया है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र स्वरूप रत्नत्रय के विवेचन में सम्यग्दर्शन की महत्ता स्वयमेव सिद्ध है और इसकी परिभाषा 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'[3] की गई है अर्थात् जीव, अजीव,

---

१-२. संयम प्रकाश : उत्तरार्द्ध प्रथमकिरण पृष्ठ ४४-४५.

३. तत्त्वार्थ सूत्र १।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वरूप अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[1] इन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिला देने से नवपदार्थ या तत्त्व हो जाते हैं। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार—'तत्त्व' शब्द भाव सामान्य का वाचक है। अतः जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसका उस रूप होना 'तत्त्व' शब्द का अर्थ है।[2]

आचार्य वट्टकेर और आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्यार्थ रूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—इन नव पदार्थों को सम्यक्त्व कहा है।[3] यहाँ भूतार्थ का अर्थ है भूत=सत्य, अर्थ—स्वरूप। जो पदार्थ जिस रूप से व्यवस्थित हैं वे अपने-अपने स्वरूप से ही जाने गये हैं, अतः ये नव पदार्थ सम्यक्त्व हैं।[4]

वस्तुतः जीव और अजीव—ये दो तत्त्व मुख्य हैं। अन्य तत्त्व इन दोनों के संयोग-वियोग से बने हैं। मोक्षका अधिकारी जीव है अतः सर्वप्रथम जीव तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद जीव की अशुद्ध अवस्था के होने में पुद्गल निमित्त है अतः अजीव तत्त्व का प्रतिपादन है। इन दोनों तत्त्वों की मुख्यता की दृष्टि से बाकी तत्त्व भावरूप में जीव की पर्याय हैं और द्रव्य रूप में पुद्गल की। शुभ प्रकृति स्वरूप परिणत हुआ पुद्गल पिण्ड पुण्य कहलाता है जो कि जीवों में आह्लाद रूप सुख का निमित्त है और अशुभकर्म स्वरूप परिणत हुआ पुद्गलपिण्ड पाप रूप है जो कि जीव के दुःख का हेतु है।[5] जीव और अजीव का संयोग आस्रवपूर्वक होता है इसलिए आस्रव और बन्ध तत्त्व कहे गये। वस्तुतः पुण्य-पाप और बन्ध—ये पौद्गलिक (अजीव) की पर्याय हैं। आस्रव आत्मा की शुभ-अशुभ परिणति भी है और शुभ-अशुभ कर्म पुद्गलों का आकर्षण भी है। जीव को अपनी अशुद्ध दशा और पुद्गल की निमित्तता से छुटकारा पाना है तो वह संवर और निर्जरा पूर्वक ही प्राप्त हो सकता है। अन्त में जिसके द्वारा जीव मुक्त हो जाये वह मोक्ष है। मोक्ष ही मुख्य साध्य है और जीव साधक है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १।४.

२. सर्वार्थसिद्धि १।२।१३ पृ० ६-९.

३. भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥
—मूलाचार ५।६; समयसार १३, पंचास्तिकाय १०८.

४. मूलाचार वृत्ति ५।६.

५. मूलाचार वृत्ति ५।६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार नौ पदार्थ मोक्ष के कारणभूत हैं। इन्हीं का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और इन्हीं पदार्थों का यथार्थ अधिगम या अनुभव सम्यग्ज्ञान है तथा भेद विज्ञानी जीव का राग-द्वेष रहित शान्त स्वभाव सम्यक् चारित्र है।

तत्त्वार्थसूत्र में जो तत्त्व बतलाये हैं उनमें और मूलाचार के तत्त्व-क्रम में अन्तर है। तत्त्वार्थसूत्रकार की दृष्टि में पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव एवं बन्ध तत्त्वों में हो जाता है। अतः उन्होंने नौ तत्त्व न कहकर सात तत्त्व ही कहे हैं जबकि वट्टकेर तथा कुन्दकुन्द ने इनके नौ भेद बतलाये हैं। इनका क्रमशः विवेचन प्रस्तुत है—

१. जीव स्वरूप विमर्श

चेतना जीव (Soul) का लक्षण है। ज्ञान-दर्शन युक्त होकर इनके द्वारा सुख-दुःखों का अनुभव करने वाले जीव कहलाता है।[1] प्रवचनसार के अनुसार इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास—इन चार प्राणों से अथवा पाँच इन्द्रिय-प्राण, मनोबल, वचनबल और कायबल (तीन बलप्राण) तथा आयु और श्वासोच्छ्वास—इन दस प्राणों से जो जीता है, जियेगा तथा पहले जीवित था वह जीव है।[2] द्रव्य संग्रह में कहा है, जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता-भोक्ता, स्वदेश परिमाण वाला और संसारस्थ है, सिद्ध होने की शक्ति रखता है तथा स्वभाव से उर्ध्वगति को जाने वाला है वह जीव है।[3]

इस तरह जैनदृष्टि से जीव ज्ञान-चैतन्य स्वरूप तथा सदा प्रकाशयुक्त है इन्हीं विशेषताओं के आधार पर वह समस्त जड़ द्रव्यों से पृथक् माना जाता है। ज्ञान जीव का एक विशिष्ट गुण अथवा शक्ति है, जिसके कारण जीव में जानने की प्रवृत्ति होती है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वों एवं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों में जीव सर्व प्रधान है। क्योंकि वही स्वपरावभासी है। ज्ञान और दर्शन रूप चेतना जीव का लक्षण है। विशेष रूप से पदार्थ को जानना ज्ञान चेतना है और निर्विकल्प—सामान्य रूप से पदार्थ को जानना दर्शन चेतना है। इन्हीं दो प्रकार की चेतना से सम्बन्ध रखने वाले जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

---

१. जीवश्चेतनलक्षणा ज्ञानदर्शनसुखदुःखानुभवनशीला :—मूलाचार वृत्ति ५।६.

२. पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं। सो जीवो-प्रवचनसार १४७.

३. जीवो उवयोगमओ अमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥ द्रव्य संग्रह २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग के भेद से उपयोग के दो भेद हैं। उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला होने से वह 'आत्मा' ही है किन्तु संसारावस्था में प्राण धारण करने के कारण 'जीव' संज्ञा युक्त है। इसी अवस्था में शरीर में रहते हुए भी शरीर से पृथक् लौकिक विषयों को कर्ता व भोगता हुआ भी वह केवल ज्ञाता है।

जीव (आत्मा) अमूर्तिक है। स्व-शरीर में स्थित जीव का बोध स्वसंवेदन ज्ञान से होता है। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैंने यह कार्य किया और यह करना है'—इत्यादि रूप जो 'मैं' का अनुभव होता है वही जीव है तथा परकीय शरीर में उसकी चेष्टाओं के द्वारा जीव का अस्तित्व अनुभव में आता है। यद्यपि जीव तत्त्व आत्मा का बोधक है फिर भी जीव और आत्मा में कुछ दृष्टियों से अन्तर माना जाता है। जीव से जीवन का बोध होता है और मरण जीवन सापेक्ष है किन्तु जिसमें जीवन और मरण दोनों नहीं हैं वह आत्मा है। इसीलिए व्यवहार दृष्टि से चार प्राणों से जीवन की अपेक्षा और निश्चय दृष्टि से चैतन्य प्राणों की अपेक्षा जो जीता है वह आत्मा है।[1]

जीव के भेद—जीव के दो भेद हैं : संसारी और मुक्त।[2] कर्मबन्धन से बद्ध यह जीव अनादि काल से कर्म और नोकर्म के संसर्ग में पड़कर दुःखी हो रहा है। इन्हीं कर्मों के संसर्ग से आत्मा में रागादि भावकर्म उत्पन्न होते हैं जो कि नवीन कर्मों के कारण हैं। कर्म बन्धन से बद्ध एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करने वाले अर्थात् चतुर्गति में भ्रमण करने वाले जीव संसारी कहलाते हैं तथा कर्मक्षय के द्वारा शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त जीव मुक्त कहलाते हैं।[3] वस्तुतः मुक्तावस्था में जीव अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। मुक्त जीवों में एकरूपता और पूर्ण शुद्धता होने से इनमें किसी प्रकार का स्तर अथवा भेद नहीं होता किन्तु संसारी जीवों में अनेक प्रकार के भेद पाये जाते हैं।

संसारी जीव के पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस—ये छह भेद हैं।[4]

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ० २६३.

२. दुविहा य होंति जीवा संसारत्था य णिव्वुदा चेव—मूलाचार ५।७, त० सू० २।१०.

३. मूलाचार वृत्ति ५।७.

४. छद्धा संसारत्था सिद्धगदा णिव्वुदा जीवा—मूलाचार ५।७.
पुढवी आऊ तेऊ वाऊ य वणप्फदी तहा य तसा—वही, ५।८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. पृथ्वी :

पृथ्वी के चार भेद हैं : पृथ्वी, पृथ्वीकाय, पृथ्वीकायिक तथा पृथ्वीजीव।[1] १. इनमें अचेतन और कठिन गुण धारण करने वाली सामान्य पृथ्वी को पृथ्वी कहते हैं जैसे—मार्ग की धूलि, जली हुई मिट्टी आदि। २. पृथ्वीकायिक जीव जिसे छोड़कर जन्म लेने के लिए अन्यत्र चला गया है उस पृथ्वीकायिक के शरीर को पृथ्वीकाय कहते हैं जैसे—मृत मनुष्य का शरीर। ३. जिसने पृथ्वी को अपना शरीर बना लिया है अर्थात् जो जीव पृथ्वी को शरीर रूप से धारण करता है उसे पृथ्वीकायिक कहते हैं तथा ४. जो कर्मणकाययोग में है, जिसमें पृथ्वीनामकर्म का उदय है किन्तु जिसने पृथ्वी को शरीर रूप में ग्रहण नहीं किया है उस विग्रहगति स्थित जीव को पृथ्वीजीव कहते हैं।[2]

पृथ्वी के छत्तीस भेद :

पृथ्वी के छत्तीस भेद इस प्रकार हैं।[3] १. शुद्ध पृथ्वी (मिट्टी), २. बालुका (रेत), ३. शर्करा (कंकड़), ४. उपल—छोटे गोल पत्थर, ५. शिला, ६. लवण, ७. अयस् (लोहा), ८. ताम्बा, ९. वपुष—रांगा जस्ता या कथील, १०. सीसा (सीसक), ११. रूप्य—चाँदी, १२. सोना, १३. वज्र या हीरा, १४. हरिताल—नटवर्णक, १५. हिंगुलक—लाल वर्ण का इंगुल, १६. मनःशिला—मैनसिल या शिलाजीत, १७. सस्यक—हरा रंग वाला, १८. अंजन—सुरमा, १९. प्रवाल—मूँगा, २०. अभ्रपटल—अभरख (अभ्रक), २१. अभ्रबालुका—चमकती रेत (—ये सब बादर-काय होते हैं।) तथा मणियों के विविध प्रकार जैसे २२. गोमेध्यक—गोमेदमणि—गोरोचनवाली कर्केतनमणि, २३. रुचकमणि—अलसी-पुष्पवर्ण राजवर्तकमणि, २४. अंकमणि—पुलक—प्रवालवर्णमणि, २५. स्फटिकमणि, २६. लोहितांक—पद्म-रागमणि, २७. चन्द्रप्रभ—चन्द्रकान्तमणि, २८. वैडूर्य—नीलमणि, २९. जलकांत मणि, ३०. सूर्यकान्तमणि, ३१. गैरिक-गेरूवर्ण रुधिराक्षमणि, ३२. चन्दनरत्न—चन्दनगन्ध मणि, ३३. वप्पक—विलाव नेत्र के समान मरकतमणि, ३४. वक—वक वर्णाकार पुष्पराग—पुखराज, ३५. मोच—कदलीपत्र वर्णाकार नीलमणि तथा ३६. मसारगल्ल—विद्रुम वर्णाकार मसृण पाषाणमणि।[4]

---

१. पुढवी पुढवीकाओ पुढवीकाइय पुढवीजीवो य—कुन्द० मूलाचार ५।९.
२. कुन्द० मूला० टीका ५।८-९।
३. छत्तीसविहा पुढवी तिस्से भेदा इमे जेया—मूला० ५।८.
४. मूलाचार ६।१०-१२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. जल (अप् कायिक जीव)

अवश्याय (ओस), हिम–बर्फ या ओला, महिका–कुहरा, हरतनु (हरतन्) वनस्पति के ऊपर की स्थूल(मोटी) जल बूंदें, अणु–सूक्ष्मबिन्दु रूप छोटी बूंदें, शुद्धजल–चन्द्रकान्तमणि से उत्पन्न जल, उदक–झरने से उत्पन्न सामान्य जल उदक है और घनोदक–मेघ का जल अथवा घनोदधिवात जल–ये सब जलकायिक जीव हैं।[1] इन्हीं के अन्तर्गत सरिता, सागर, तालाब, कुंआ आदि से उत्पन्न जल भी आते हैं।[2] श्वेताम्बर परम्परा के प्रज्ञापनासूत्र में उपर्युक्त जलकायिक भेदों के साथ ही अन्य नाम जैसे—करक (ओला), शीतोदक, उष्णोदक, क्षारोदक, खट्टा उदक, अम्लोदक, लवणोदक, वारुणोदक (मदिरा के स्वाद वाला पानी), क्षीरोदक, घृतोदक, क्षोदोदक (ईख के रस जैसा पानी) और रसोदक का भी उल्लेख मिलता है।[3]

३. तेजस् (अग्निकायिक जीव)

अंगार, ज्वाला, अर्चिस् (दीपक आदि की इधर-उधर उड़ती लौ (ज्वाला) का अग्र भाग), मुर्मुर–कारीषाग्नि अर्थात् कण्डे की राख में मिले हुए आग के कण, शुद्धाग्नि–वज्र, विद्युत्, सूर्यकान्तमणि आदि से उत्पन्न अग्नि तथा सामान्य अग्नि—ये सब तेजस्कायिक जीव हैं।[4] प्रज्ञापना सूत्र में इनके साथ ही अलात (जलता हुआ काष्ठ), उल्का, विद्युत्, अशनि (आकाश से गिरते हुए अग्निकण), निर्घात (बिजली का गिरना) रगड़ से उत्पन्न अग्नि के उल्लेख हैं।[5]

४. वायु

वायु के अनेक भेद हैं, इनमें कुछ अचित्त और कुछ सचित्त हैं। प्राणायाम, ध्यान आदि में भी वायुमण्डल तथा वायवी धारणाओं का प्रयोग किया जाता है। वात–सामान्य वायु, उद्भ्रम–घूमती हुई ऊपर की ओर जाने वाली वायु, उत्कलिकावात–नीचे की ओर बहने वाली वायु, मण्डलिकावात-पृथ्वी से लगती हुई चक्कर लगाने वाली (मण्डलाकार) वायु, गुंजावात–गूंजती हुई बहने वाली

---

१. ओसाय हिमग महिगा हरदणु सुद्धोदगे घणुदगे य।
ते जाण आउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ मूलाचार ५।१३.

२. मूलाचार वृत्ति ५।१३.

३. प्रज्ञापना सूत्र १६.

४. इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सद्धागणी य अगणी य।
ते जाण तेउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ॥ मूलाचार ५।१४.

५. प्रज्ञापना सूत्र १७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायु। वृक्षादि को गिरा देने वाली वायु महावात है। घनोदधि वात, घनवात तथा तनुवात। पंखे आदि से उत्पन्न वायु अथवा लोक को वेष्ठित करने वाली वायु तनुवात है। ये सब वायुकायिक जीव हैं।[1] उदर में स्थित वायु के पाँच भेद हैं—हृदय में स्थित वायु प्राणवायु है, गुदा भाग में अपानवायु है, नाभिमण्डल में समानवायु है, कण्ठ प्रदेश में उदानवायु है और सम्पूर्ण शरीर में रहने वाली वायु व्यानवायु है। इसी प्रकार ज्योतिष्क आदि स्वर्गों के विमान के लिए आधारभूत वायु, भवनवासियों के स्थान के लिए आधारभूत वायु आदि वायु के भेद पूर्वोक्त भेदों में अन्तर्भूत हो जाते हैं।[2]

५. वनस्पति

जिस जीव के वनस्पति नामकर्म का उदय रहता है वही जीव वनस्पति शरीर में जन्म लेता है। इसके केवल स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है तथा संस्थान नामकर्म के उदय से संस्थान होता है। भेद—स्थावर जीवों में वनस्पति एकेन्द्रियकाय जीव के दो भेद हैं—प्रत्येककाय और अनन्तकाय या साधारण काय वनस्पति। इनमें प्रत्येककाय बादर या स्थूल ही होता है पर साधारणकाय बादर और सूक्ष्म दोनों रूप होता है।[3]

प्रत्येक-काय वनस्पति : सामान्यतः एक जीव का एक शरीर अर्थात् जिनका पृथक्-पृथक् शरीर होता है[4] या एक-एक शरीर के प्रति एक-एक आत्मा को प्रत्येककाय कहते हैं।[5] जैसे खैर आदि वनस्पति। जितने प्रत्येक शरीर हैं वहाँ उतने प्रत्येक वनस्पति जीव होते हैं क्योंकि एक-एक शरीर के प्रति एक-एक जीव होने का नियम है।[6] अर्थात् एक शरीर में एक जीव होने वाली वनस्पति को प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

अनन्तकाय (साधारण) वनस्पति : जिसमें एक शरीर में अनन्त जीव हैं

---

१. वादुब्भामो उक्कलि मंडलि गुञ्जा महावण तणू य।
ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा॥ मूलाचार ५।१५.

२. मूलाचारवृत्ति ५।१५.

३. मूलाचार वृत्ति १२।४८.

४. प्रत्येकं पृथक् शरीरं येषां ते प्रत्येक शरीराः खदिरादयो वनस्पतयः—
—धवला १।१, १, ४१, पृ० २६८॥

५. एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं प्रत्येकशरीरम्।
—तत्त्वार्थवार्तिक ८।११।१९.

६. गोम्मटसार जीवकाण्ड जीवप्रकरण, १८६, पृ० ४२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् अनन्त जीवों के सम्मिलित शरीर को अनन्तकाय या साधारणशरीर कहते हैं।[1] क्योंकि उस शरीर में अनन्त जीवों का जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास आदि साधारण (समान) रूप से होता है अर्थात् एक साधारण शरीर में अनन्त जीवों का अवस्थान होता है। जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है, वहाँ अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है तथा जिस शरीर में एक जीव मरता है वहाँ अनन्त जीवों का मरण होता है।[2] धवला के अनुसार बहुत जीवों का जो एक शरीर है वह साधारण शरीर कहलाता है। उनमें जो जीव निवास करते हैं वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं।[3] इन साधारण जीवों का आहार साधारण (समान) ही होता है और समान ही श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते हैं। अर्थात् एक साथ उत्पन्न अनन्तानंत जिन जीवों की आहारादि पर्याप्ति तथा उनके कार्य समान काल में होते हों उन्हें साधारण जीवों का लक्षण साधारण कहा है।[4] साधारण को ही निगोद और अनन्तकाय भी कहते हैं।

मूलाचारकार के अनुसार गूढ़सिरा अर्थात् जिनकी शिरा (नसें), संधि (बन्धन) तथा गाँठ नहीं दिखती, जिसे तोड़ने पर समान टुकड़े हो जाते हैं, दोनों भागों में परस्पर तन्तु न लगा रहे तथा जिनका छेदन करने पर भी पुनः वृद्धि (अंकुरित) को प्राप्त हो जाय, उसे **साधारण शरीर** तथा इन सब लक्षणों के विपरीत को **प्रत्येक शरीर** कहते हैं।[5] लाटी संहिता के अनुसार भी जिसके तोड़ने में दोनों भाग चिकने और एक से हो जायें, वह साधारण वनस्पति है। जब तक उसके टुकड़े इसी प्रकार होते रहते हैं तब तक उसे साधारण वनस्पति समझना चाहिए। जिसके टुकड़े चिकने और एक से न हों उन्हें प्रत्येक वनस्पति कहा जाता है।[6]

प्रत्येक वनस्पति के दो भेद:--गोम्मटसार में प्रत्येक वनस्पति के दो भेद बतलाये है—१. सप्रतिष्ठित, २. अप्रतिष्ठित। जिन वनस्पतियों का बीज,

---

१. अनन्तः साधारणः कायो येषां ते अनन्तकायः—मूला० वृत्ति ५।१६.

२. जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणंभवे अणंताणं
वक्कमइजत्थ एक्को वक्कमणं तत्थणंताणं ।। कुन्द० मूला० ५।२३,
षट्खण्डागम पुस्तक १४, सूत्र १२५.

३. बहूणं जीवाणं जमेगं सरीरं तं साहारणसरीरं णाम। तत्थ जे वसंति जीव ते साहारण सरीरा—धवला० १४।५।६; ११९, पृ० २२५.

४. कुन्द० मूलाचार ५।१४

५. मूलाचार ५।१९-२०.

६. लाटीसंहिता २।१०९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल, अग्र, पर्व, कन्द अथवा स्कन्ध है—अथवा जो बीज से ही उत्पन्न होती हैं तथा सम्मूर्च्छन हैं वे सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दो प्रकार की होती हैं।

जिनका सिरा, संधि, पर्व अप्रगट हो और जिनको भंग करने पर समान भंग हो और दोनों भंगों में परस्पर तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि हो जाये, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। इससे विपरीत अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती है।[1]

जिन वनस्पतियों के मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल (नवीन कोंपल), क्षुद्रशाखा (टहनी), पत्र, फूल, तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जिनका भंग समान हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जिस वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्ध की छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं। 'जिस योनीभूत जीव में वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूलादिक प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक होता है।[2]

लाटी संहिता के अनुसार मूली, अदरख, आलू, अरबी, रतालू, जमीकन्द आदि मूल, गण्डरीक (एक प्रकार का कड़ुआ जमीकन्द) के स्कन्ध, पत्ते, दूध और पर्व ये चारों अवयव, आक का दूध, करीर, सरसों आदि के फूल, ईख की गाँठ और उसके आगे का भाग, पाँच उदम्बर फल (बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर फल) तथा कुमारीपिण्ड (गंवारपाठा) की सभी शाखायें आदि साधारण वनस्पति हैं। वृक्षों पर लगी कोपलें भी साधारण हैं, पकने पर प्रत्येक हो जाती हैं। शाकों में चना, मैथी, बथुआ आदि कोई साधारण हैं तो कोई प्रत्येक। किसी-किसी वृक्ष की जड़, किसी-किसी के स्कन्ध, शाखायें, पत्ते, फूल, पर्व तथा फल आदि साधारण होते हैं।[3]

मूलाचारकार के अनुसार मूलबीज, अग्रबीज, पोर (पर्व) बीज, कन्दबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह आदि तथा सम्मूर्छिम (जड़ के अभाव में भी जिनका जन्म सम्भव है) ये वनस्पतियाँ[4] प्रत्येक और अनन्तकाय (साधारण शरीर) दोनों ही प्रकार की होती हैं। सूरण आदि कन्द, अदरक आदि मूल, छाली (त्वक्) स्कन्ध,

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा १९२, १८५, १८६.
२. वही, गाथा १८७-१८८, १८९.
३. लाटी संहिता—२।९१-९९.
४. मूलाचार ५।१६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पत्ता, पल्लव, पुष्प, फल, गुच्छा, गुल्म (करंज, कंथरादि), बेल, तृण तथा पर्वकाय (ईख, बेत आदि) ये सम्मूर्छिम वनस्पतियाँ भी प्रत्येक और अनन्तकाय हैं।[1] बेल, वृक्ष, तृण आदि वनस्पतियाँ तथा सभी प्रत्येक और साधारण वनस्पतियाँ हरितकाय होती हैं।[2]

श्वेताम्बर परम्परा के प्रज्ञापनासूत्र में प्रत्येककाय बादर वनस्पतिकायिक जीव के अन्तर्गत बारह भेद बतलाये हैं—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, बल्ली, पर्वग (पर्व वाले), तृण, वलय (केला आदि जिनकी छाल गोलाकार हो), हरित, औषधि, जलरुह (जल में पैदा होनेवाली वनस्पति), कुहणा (भूमिस्फोट)।[3] इसी ग्रन्थ में इन बारहों के अनेक-अनेक भेदों का उल्लेख है जिनका अध्ययन वनस्पति-शास्त्र-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस विवेचन के आधार पर वनस्पति के दस प्रकार फलित हुए—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज।

मूलबीज आदि वनस्पतियों के उपर्युक्त भेदों के आधार पर वनस्पति कायिक जीवों के उत्पन्न होने के निम्नलिखित आठ प्रधान स्थान माने जा सकते हैं।[4]

(१) मूलबीज—जिसके मूल में बीज लगता हो या मूल ही जिनका बीज (उत्पादक भाग) हो, जैसे कन्द आदि।

(२) अग्रबीज—जिस वनस्पति के सिरे पर बीज लगता हो अर्थात् आगे का हिस्सा ही जिनका बीज हो, जैसे कोरंटक।

(३) पर्वबीज—गाँठ ही जिनका बीज हो, जैसे ईख आदि।

(४) स्कन्द बीज—जिसके स्कन्ध या जोड़ ही बीज हो, जैसे थूहर आदि।

(५) बीजरुह—जिसके मूल बीज में ही बीज रहता है जैसे गेहूँ आदि चौबीस प्रकार के अन्न।

(६) सम्मूर्छिम—जो वनस्पति अपने आप पैदा होती है।

(७) तृण—तृण आदि घास रूप।

(८) बेल वनस्पति—चम्पा, चमेली, ककड़ी, खरबूजा आदि की लतायें।

वस्तुतः वनस्पति जाति के दो प्रकार हैं—बीजोद्भव तथा सम्मूर्छिम। बीजोद्भव वनस्पति के अन्तर्गत मूलज, अग्रज, पर्वज आदि हैं। दूसरी सम्मूर्च्छिम

---

१. मूलाचार ५।१७.
२. वही, ५।२०.
३. प्रज्ञापना सूत्र पद २२.
४. मूलाचार वृत्ति ५।१६, दशवै० ४।८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अन्तर्गत कन्दकाय, मूलकाय, त्वक्काय आदि हैं। सम्मूर्च्छिम वनस्पति की उत्पत्ति में पृथ्वी, हवा और जल—ये उपादान कारण होते हैं। प्रायः देखा भी जाता है कि शृंग (सींग) से शर (एक प्रकार का सफेद सरकंडा या घास) तथा गोबर से शालूक उत्पन्न हो जाते हैं। ये बीज के बिना ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार कुछ ऐसी वनस्पतियाँ भी हैं जिनमें पुष्प के बिना ही फल उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें फल वनस्पति कहते हैं। कुछ में पुष्प तो उत्पन्न होते हैं पर फल उत्पन्न नहीं होते उन्हें पुष्प वनस्पति कहते हैं तथा कुछ में पत्र ही उत्पन्न होते हैं पुष्प फलादिक नहीं, उन्हें पत्र वनस्पति कहते हैं।[1]

दशवैकालिक में वनस्पति शब्द को वृक्ष, गुच्छ, गुल्म आदि सभी प्रकार की हरियाली का वाचक माना गया है।[2] कुन्दकुन्दकृत माने जाने वाले मूलाचार में वनस्पति, वृक्ष, औषधि, विरुध, गुल्म और वल्ली—इनके विभाजन पूर्वक इस प्रकार अर्थ बताये हैं—जिसमें फली लगती है उसे वनस्पति कहते हैं। जिसमें पुष्प और फल उत्पन्न होते हैं उसे **वृक्ष** कहते हैं। फलों के पक जाने पर जो नष्ट हो जाते हैं ऐसी वनस्पति को **औषधि** कहते हैं। गुल्म और वल्ली को वीरुध कहते हैं। जिसकी शाखायें छोटी तथा जड़ (मूल) जटाकार हैं, उस झाड़ी को **गुल्म** कहते हैं। तथा वृक्ष पर वलयाकार रूप से चढ़कर बढ़ने वाली वेल या लता को **वल्ली** कहते हैं।[3] आयुर्वेदिक साहित्य के अन्तर्गत सुश्रुत संहिता में स्थावर औषधि में इन्हीं चार भेदों की गणना की है—(१) जिनके पुष्प न हों किन्तु फल होते हैं उन्हें **वनस्पति**। (२) जिनके पुष्प और फल दोनों आते हैं उन्हें **वृक्ष**। (३) जो फैलने वाली या गुल्म के स्वरूप की हो उन्हें विरुध तथा (४) जो फलों के पकने तक ही जीवित या विद्यमान रहती हों उन्हें **औषधि** कहते हैं।[4]

बादरकायिक और सूक्ष्मकायिक वनस्पति : शैवाल (काई), पणक जमीन पर ईंटों तथा वामी आदि में उत्पन्न), केण्णग या केणुग (वर्षाकाल में कूड़ा आदि में उत्पन्न छत्राकार वनस्पति जिसे कुकुरमुत्ता आदि भी कहते हैं), कवक-सींग में उत्पन्न होने वाली छत्ररूप जटाकर वनस्पति और कुहण (बासे आहार कांजिक आदि में उत्पन्न पुष्पिका या फफूँद)—ये सब **बादर (स्थूल)**

---

१. मूलाचार वृत्ति ५।१७.

२. दशवैकालिक ४ सूत्र ८.

३. फली वणप्फदी णेया रुक्खफुल्लफलं गदो।
ओसही फलपक्कंता गुम्मा वल्ली च वीरुदा॥ कुन्द० मूला० ५।२५.

४. सुश्रुत संहिता—सूत्र-स्थान १।३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायिक वनस्पति हैं तथा जल, पृथ्वी, हवा, अग्नि आदि भी बादरकायिक हैं। सूक्ष्मकाय जीव सर्वत्र जल, आकाश और स्थल में रहते हैं।[1]

पृथ्वी आदि से लेकर वनस्पति पर्यन्त बादर (स्थूल) काय और सूक्ष्मकाय ये दोनों होते हैं। बादरकाय जीव आठ पृथ्वियों तथा विमानादि के सहारे रहते हैं। साथ ही सूक्ष्मकाय जो अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर वाले होते हैं वे जल, आकाश और पृथ्वी सर्वत्र बिना आश्रय के रहते हैं।[2] अर्थात् वे सूक्ष्मजीव सम्पूर्ण जगत् में निरन्तर रहते हैं। जगत् का एक भी प्रदेश इनसे रहित नहीं है किन्तु बादर जीव लोक के एक भाग में रहते हैं।[3]

वनस्पति काय सम्बन्धी जैन मान्यतायें और आधुनिक विज्ञान :

जैनधर्म ने अपने जिन शाश्वत सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रारम्भ से किया, हजारों-हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी आज वे चिर-नवीन हैं तथा आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर पूर्णतः सत्य सिद्ध होते है। 'वनस्पति' सम्बन्धी मान्यता को ही लें। वनस्पति में 'जीव' सम्बन्धी जैन मान्यता को कुछ जैनेतर स्वीकार नहीं करते थे, किन्तु विज्ञान से उसे पूर्णता सत्य सिद्ध करने का श्रेय लगभग पाँच दशक पूर्व भारतीय वैज्ञानिक प्रोफेसर जगदीश चन्द्र बसु को प्राप्त हुआ। इस विषय में अनेक वर्षों के गहन अनुसन्धान के बाद उन्होंने प्रयोगों द्वारा पौधों में जीवन के लक्षण सिद्ध किये और यह निष्कर्ष निकाला कि पौधे भी संवेदनशील होते हैं तथा बाहरी उत्तेजना (बाधा) की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। प्रोफेसर बसु ने वनस्पति पर जीवन को साक्षात् देखने, मापने के लिए 'क्रेस्कोग्राफ' नामक एक अत्यन्त संवेदनशील यंत्र बनाया। इसकी सहायता से पौधों की अनुक्रियाओं (रेस्पांसेज) के ग्राफ तैयार किये जाते हैं और यह जाना जाता है कि पौधों को आघात (कष्ट आदि) पहुँचाने पर वे क्या अनुभव करते हैं? उन्होंने पौधों पर अनेक तरह के प्रयोग किये और ज्ञात किया कि जिस तरह मनुष्य, पशु आदि थकान अनुभव करते हैं, और इन पर थकान के जो लक्षण दिखते हैं उसी तरह के लक्षण पौधों में भी पाये जा रहे हैं।

एक प्रयोग के दौरान उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि पौधों को क्लोरोफार्म के द्वारा बेहोश किया जा सकता है। उसके प्रभाव समाप्त होने के बाद वे भी

---

१. सेवाल पणग केण्णग कवगो कुहणोय बादरा काया।
सव्वेवि सुहुमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे ॥ मूलाचार ५।१८.

२. मूलाचार वृत्ति ५।१८.

३. वही १२।१६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारी ही तरह सचेत हो उठते हैं। उन्होंने पौधों पर मदिरा (शराब) का प्रयोग भी किया और उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे भी मदिरा के प्रभाव से अन्य प्राणियों की तरह मदहोश (नशायुक्त) हो उठते हैं। उन्होंने यन्त्र के माध्यम से यह भी देखा कि पातगोपी और गाजर को चाकू आदि से काटने पर वे काँप उठते हैं। लोग यह जानकर आश्चर्य-चकित रह गये कि वनस्पति आदि जिन पदार्थों को लोग प्रायः निर्जीव (निष्प्राण) एवं संज्ञाहीन मानते थे, उन पर भी मदिरा, विष, चोट, आघात की वही प्रतिक्रिया होती है जो मनुष्य या पशु आदि की मांसपेशियों पर होती है। पौधों में भी हमारी तरह जीवत्व गुण होता है, जिसकी मदद से वे अपने आपको और अपने परिवेश को जानते-समझते हैं। वस्तुतः इन प्रयोगों के माध्यम से वनस्पति में चेतना (जीवत्व) सम्बन्धी इस वैज्ञानिक खोज का प्रथम श्रेय प्रो० बसु को प्राप्त है। इसी तरह शब्द को पौद्गलिकता आदि अनेक जैन सिद्धान्त जैसे-जैसे विज्ञान द्वारा सत्य सिद्ध होते जा रहे हैं, लोगों का विश्वास और लगाव जैनधर्म के प्रति गहरा होता जा रहा है। इसीलिए जैनधर्म के गहन अध्ययन-अनुसंधान की आज के सन्दर्भ में अधिक आवश्यकता भी है।

त्रस जीव :

संसारी जीव के दो भेद हैं—स्थावर और त्रस। पृथ्वीकायिक आदि पाँच एकेन्द्रिय स्थावर जीवों का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ त्रस जीवों का विवेचन प्रस्तुत है—

त्रस जीव का स्वरूप—सामान्यतः स्वतः गमन-स्वभाव वाले जीवों को त्रस कहते हैं। जिनके त्रसनामकर्म का उदय है वे त्रस कहलाते हैं। त्रस जीव स्थावर की अपेक्षा इसलिए श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि इनमें सब उपयोगों का पाया जाना सम्भव है।[1] धवला में कहा है—जिस कर्म के उदय से जीवों में गमनागमन स्वभाव (चलने-फिरने का परिणाम) होता है यह त्रस नामकर्म है।[2] इस दृष्टि से त्रस नामकर्म के उदय से जीव को प्राप्त होने वाली जीव-पर्याय को त्रस कहते हैं। इस प्रकार जो जीव सुख-दुख प्रकट करते हैं, जिनमें सुख की प्रवृत्ति वा दुःख की निवृत्ति के लिए चलने-फिरने की शक्ति होती है वे जीव त्रस

---

१. सर्वार्थसिद्धि २।१२।१७१.

२. जस्स कम्मुस्सुदएण जीवाणं संचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणामं—धवला १३।५, ५, १०१।३६५। ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाते है। सम्मुख आना, मुड़कर जाना, शरीर संकोच करना, फैलाना, शब्द करना, भय से इधर-उधर घूमना, भाग जाना, आने-जाने का ज्ञान होना—ये सब त्रस जीवों के लक्षण हैं।[1] द्वीन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीव त्रस कहलाते हैं क्योंकि इन समस्त जीवों में हलन-चलन आदि क्रियायें पायी जाती हैं।

त्रस जीवों के उत्पत्ति-स्थान—त्रस जीवों के मुख्यतया आठ उत्पत्ति-स्थान है[2]—(१) **अण्डज**—अण्डों से पैदा होने वाले पक्षी आदि त्रसजीव। (२) **पोतज**—जन्म के समय खुले अंगों सहित उत्पन्न होने वाले हाथी आदि त्रसजीव। (३) **जरायुज**—वे त्रसजीव जो अपने जन्म के समय जरा से लिपटे रहते हैं—जैसे मनुष्य, भैंस, गाय आदि। (४) **रसज**—रस के बिगड़ने से उत्पन्न होने वाले द्वीन्द्रिय आदि जीव (५) **स्वेदज**—पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव, जैसे जूं, चीलर आदि। (६) **सम्मूर्छिम**—वे त्रस जीव जो नर-मादा के संयोग के बिना ही उत्पन्न हो जाएँ, जैसे मक्खी, चींटी आदि (७) **उद्भिज**—पृथ्वी को फोड़कर निकलने वाली जीव, जैसे टिड्डो, पतंगे आदि (८) **औपपातिक**—गर्भ में रहे बिना ही जो स्थान विशेष में उत्पन्न हो जाते हों जैसे देव एवं नारक जीव।

त्रस जीवों के भेद : त्रस जीव के दो भेद हैं—विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय। दो, तीन और चार इन्द्रियों वाले जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे—द्वीन्द्रिय जीवों में शंख, सीप, कृमि आदि, तीन इन्द्रियों वाले जीवों में गोपालिका अर्थात् बिच्छू, खटमल आदि तथा चार इन्द्रिय वाले जीवों में भ्रमर, मक्खी, पतंग आदि जीव हैं। जलचर, थलचर, खेचर (नभचर) एवं देव, नारकी, मनुष्य—ये जीव पाँचों इन्द्रियों वाले होने से सकलेन्द्रिय कहलाते हैं।[3]

नयचक्र के अनुसार त्रस जीव के चार भेद हैं—दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रिय वाले जीव।[4] कृमि, शंख आदि दो इन्द्रिय जीवों में स्पर्शन और रसन ये दो इन्द्रियाँ तथा वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये पाँच प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय जीवों को उपर्युक्त दो इन्द्रियों के अतिरिक्त तीसरी घ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है। भ्रमर, पतंगा आदि चार इन्द्रिय जीवों में चौथी चक्षु इन्द्रिय और होती है। पानी में रहने वाले जीवों में कुछ जाति के

---

१. जीव-अजीव पृष्ठ ९.

२. वही पृष्ठ १०-१३.

३. दुविधा तसा य उत्ता विगला सगलेन्दिया मुणेयव्वा।
बितिचउरिंदिय विगला सेसा सगलिंदिया जीवा॥ मूलाचार ५।२१.

४. चदु तसा तह य—नयचक्र १२३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्प, आकाशचर जीवों में कुछ जाति के तोते तथा स्थलचरों में गिरगिट, गोम आदि जीव मनरहित पाँचों इन्द्रियों से युक्त होते हैं। ऐसे जीव मनरहित होने से नौ प्राण वाले असैनी (असंज्ञी) जीव कहलाते हैं। देव, नारकी, मनुष्य, तिर्यञ्च पशु आदि मनसहित दस प्राण वाले जीव सैनी (संज्ञी) कहलाते हैं। ये त्रस जीव त्रसनाली (त्रस जीवों का निवासक्षेत्र) के भीतर ही होते हैं बाहर नहीं।[1] जिस प्रकार ठीक मध्य भाग में सार हुआ करता है उसी प्रकार लोक के बहु मध्यभाग अर्थात् बीच में एक राजु लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरह राजु ऊँची यह त्रसनाली है।

निगोद :

जिन जीवों के एक ही शरीर के आश्रय अनन्तानंत जीव रहते हों, उसे निगोद कहते हैं। गोम्मटसार के अनुसार जो अनन्त जीवों को एक निवास दे उसे निगोद कहते हैं।[2] लोकप्रकाश के अनुसार अनन्त जीवों के पिण्डभूत एक शरीर को भी निगोद कहते हैं।[3] साधारण नामकर्म के उदय से जीव निगोद शरीरी होता है। निगोद जीवों का आहार और श्वासोछ्वास एक साथ ही होता है तथा एक निगोद जीव के मरने पर अनन्त निगोद जीवों का मरण और एक निगोद जीव के उत्पन्न होने पर अनन्त निगोद जीवों की उत्पत्ति होती है।

लोक-प्रकाश के अनुसार निगोद के बादर और सूक्ष्म ये दो भेद हैं। कन्द, मूल, अदरक, गाजर आदि बादर निगोद हैं। साधारण वनस्पति-काय स्थावर को सूक्ष्म निगोद कहते हैं। ये सूक्ष्म निगोद या जीव व्यावहारिक और अव्यावहारिक भेदों से दो प्रकार के हैं। इन्हें ही दिगम्बर परम्परा में इतर निगोद और नित्य निगोद नाम से कहा गया है।

व्यावहारिक निगोद वे हैं जिन जीवों ने अनादि निगोद से एक बार भी निकलकर उस पर्याय को प्राप्त किया है तथा अव्यावहारिक निगोद वे हैं जो जीव कभी भी सूक्ष्म निगोद से बाहर निकलकर नहीं आये। बादर निगोद जीव सिद्धों की संख्या से अनन्तगुणा हैं। सूई के अग्रभाग में बादर निगोद के अनन्त जीव रहते हैं। सूक्ष्मनिगोद के जीव उनसे भी अनन्तगुणा हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने सूक्ष्मनिगोद के गोले हैं। एक-एक गोले में असंख्यात निगोद हैं। एक-एक निगोद में अनन्त जीव हैं। निगोद वाले जीव से कम आयुष्य और

---

१. धवला—४।१, ४, ४, १४९।९.

२. नि-नियतां गां-भूमिं क्षेत्रं निवासं, अनन्तानन्त जीवानां ददाति इति निगोद —गोम्मटसार जीवकाण्ड प्रकरण १९१, पृ० ४२९।

३. लोकप्रकाश ४।३१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी जीव का नहीं होता। ये एक श्वास में अठारह बार जन्म लेते और मरण करते हैं। मूलाचार में कहा है सूक्ष्मजीव सर्वलोक में रहते हैं। एक निगोद शरीर में अर्थात् गडूची आदि वनस्पति के साधारण शरीर में अनन्तजीव द्रव्यप्रमाण से भरे हैं अर्थात् आज तक जितने सिद्ध हुए है उनसे अनन्त गुणित सूक्ष्मजीव एक निगोद शरीर में रहते हैं क्योंकि वे निगोदी जीव सूक्ष्म होने से किसी के द्वारा न रोके जाते हैं और न वे किसी को रोकते हैं। इसीलिए असंख्यात प्रदेशी आकाश में भी अनंत जीव रहते हैं।[1] निगोद में वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव अनन्त हैं, पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायुकायिक इनमें सूक्ष्म जीव असंख्यात लोक प्रमाण हैं।[2]

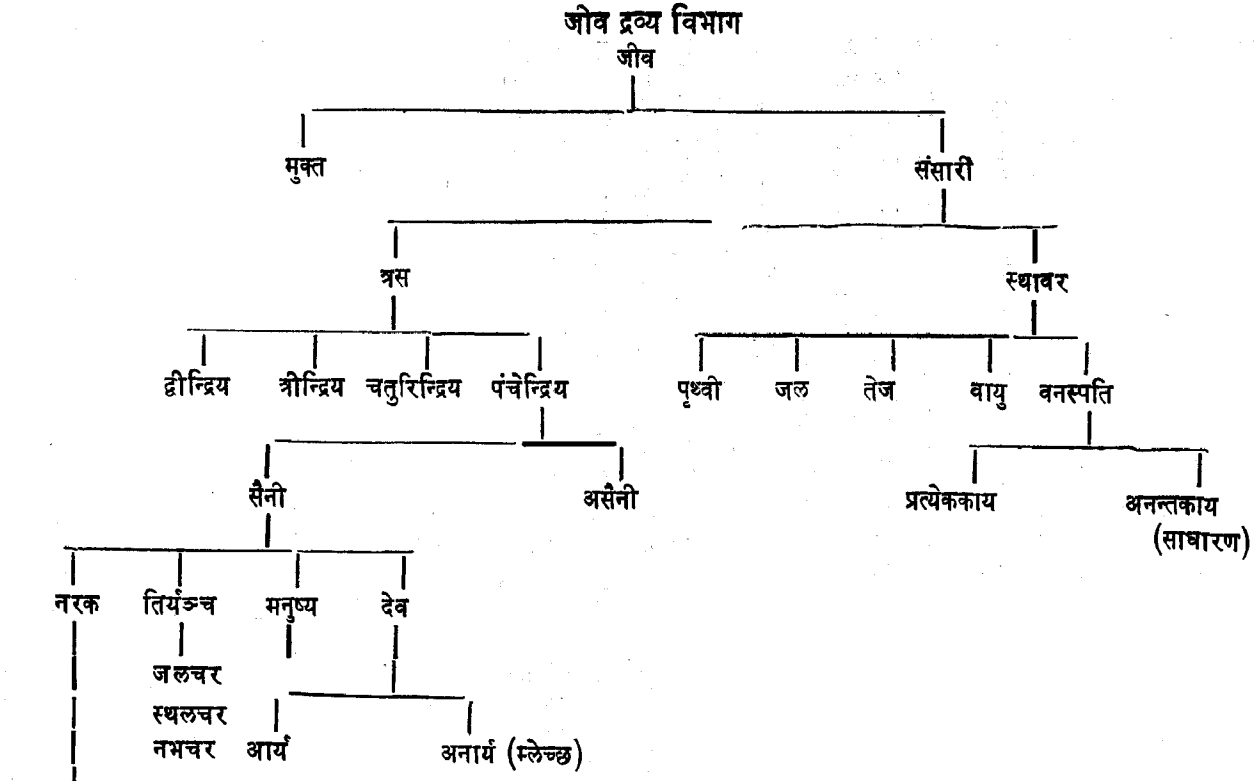
धवला के अनुसार निगोदों में स्थित जीव दो प्रकार के हैं—नित्य निगोद और चतुर्गति निगोद।[3] जो कभी त्रस पर्याय को प्राप्त करने वाले नहीं होते, सदाकाल निगोदों में ही रहते हैं वे नित्य निगोद कहलाते हैं।[4] इन्हें ही श्वेताम्बर परम्परा में अव्यावहारिक निगोद कहा है।

इस जगत् में ऐसे अनंत जीव हैं जिन्हें द्वीन्द्रियादि त्रस स्वरूप की कभी प्राप्ति नहीं हुई। मिथ्यात्वादि भावों से कलुषित जीव कभी निगोदवास नहीं छोड़ते। सूक्ष्म वनस्पति रूप से व्यवस्थित ऐसे अनंत जीव हैं।[5] चतुर्गति निगोद जीव वे हैं जो देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्यों में उत्पन्न होकर पुनः निगोदों में प्रवेश करते रहते हैं।[6] श्वेताम्बर परम्परा में इसे व्यावहारिक निगोद कहते हैं। निगोद के नित्य और अनित्य ये दो भेद बताये हैं। अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आया हुआ जीव फिर सूक्ष्म निगोद में जा सकता है किन्तु वह व्यवहार राशि ही कहा जाएगा।[7]

---

१. मूलाचार १२।१६३, वृत्ति सहित।
२. वही १२।१६४।
३. तत्थ णिगोदेसु जे टिठ्दा जीवा ते दुविहा चउग्गइणिगोदा णिच्चणिगोदा-चेदि—धवला १४।५, ६, १२८, पृ० २३६
४. त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोदाः—तत्त्वार्थ-वार्तिक २।३२. तत्थ णिच्चणिगोदा णाम जे सव्वकालं णिगोदेसु चेव अच्छंति ते णिच्चणिगोदा णाम—धवला १४।५।६।१२८, पृ० २३६.
५. अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्ती तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं अमुंचंता ॥ मूलाचार ११।१६२.
६. धवला १४।५।६।१२८, पृ० २३६.
७. लोकप्रकाश, ४।६७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



१. रत्नप्रभागत, २. शर्करा प्रभागत, ३. बालुका प्रभागत, ४. पंकप्रभागत, ५. धूम प्रभागत, ६. तमः प्रभागत, ७. महातमः प्रभागत

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

जीवों के कुल—समस्त जीवों के निम्नलिखित कुल हैं।[1]

(१) एकेन्द्रिय जीवों में कुलों की संख्या : पृथ्वीकायिक जीवों की २२ लाख कोटि (करोड़), अप्कायिक जीवों की सात लाख कोटि, तेजस्कायिक जीवों की ३ लाख कोटि, वायुकायिक जीवों में ७ लाख कोटि तथा वनस्पतिकायिक जीवों की २८ लाख कोटि कुलों की संख्या होती है।

(२) विकलत्रय जीवों में कुलों की संख्या : द्वीन्द्रिय जीवों की ७ लाख कोटि. तीन इन्द्रिय जीवों की ८ लाख कोटि तथा चतुरिन्द्रिय जीवों की ९ लाख कोटि कुलों की संख्या होती है।

(३) पंचेन्द्रिय जीवों में कुलों को संख्या : पंचेन्द्रिय जलचर जीवों की साढ़े तेरह लाख कोटि, खेचर पक्षियों की १२ लाख कोटि, स्थलचर सिंह, व्याघ्रादि चौपाये जीवों की १० लाख कोटि, छाती के बल पर चलने वाले सर्पादि जीवों के कुलों की संख्या ९ लाख कोटि है। देवों की कुल संख्या २६ लाख कोटि, नारकियों की २५ लाख कोटि तथा मनुष्यों के कुलों की संख्या १४ लाख कोटि है। इस प्रकार सभी प्रकार के जीवों के कुलों की कुल संख्या १९९½ लाख कोटि है।[2]

प्राण :

जीवन शक्ति को प्राण कहते हैं। जिस जीवन शक्ति के संयोग से जीव जीवन प्राप्त करता है और वियोग से मरण दशा को प्राप्त करता है वह शक्ति विशेष प्राण है।

प्राण के भेद : द्रव्य और भाव के भेद से प्राण के दो भेद हैं। आभ्यन्तर में उस-उस इन्द्रियावरण कर्मों के क्षयोपशम से जो ज्ञानादि गुण प्रकट हों उन्हें भाव प्राण कहते हैं तथा उनके कार्यरूप उन-उन इन्द्रियों के आकार आदि द्रव्य प्राण हैं।

इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास सामान्य रूप में ये प्राणों के चार भेद हैं। पाँच इन्द्रियप्राण; मनोबल, वचनबल और कायबल—ये तीन बलप्राण तथा श्वासोच्छ्वास और भवधारण (आयुष्य) ये दो आयुप्राण—इस प्रकार दस

---

१. मूलाचार ५।२४-२७.

२. वही, ५।२८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के प्राण होते हैं।[1] इन्द्रियाँ पाँच हैं, इन सबका ज्ञान करने वाली शक्ति को पाँच इन्द्रियप्राण कहते हैं। मनन करने, बोलने और कायिक क्रिया की शक्ति को क्रमशः मनोबल, वचनबल और कायबल कहते है। पुद्गलों को श्वासोच्छवास के रूप में ग्रहण करने और छोड़ने की शक्ति को श्वासोच्छवास प्राण कहते हैं। किसी भी भव में नियत कालावधि तक जीवित रहने की शक्ति को आयुष्य प्राण कहते हैं।

किन जीवों में कितने प्राण : वचनबल, मनोबल, श्वासोच्छ्वास—ये तीन प्राण पर्याप्तक अवस्था में ही होते हैं, अपर्याप्तक अवस्था में नहीं। शेष प्राण पर्याप्तक-अपर्याप्तक दोनों अवस्थाओं में होते हैं।

पर्याप्त एकेन्द्रिय जीव में स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये चार प्राण होते हैं। अपर्याप्तक एकेन्द्रिय जीव को श्वासोच्छ्वास के बिना शेष तीन प्राण होते हैं। पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव में स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, कायबल, वाक्बल, उच्छ्वास और आयु—ये छह प्राण होते हैं। अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीव में वचनबल और उच्छ्वासरहित चार प्राण होते हैं। पर्याप्तक त्रीन्द्रियजीव में स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये सात प्राण होते हैं। इसी अपर्याप्तक जीव में वचन और उच्छ्वास छोड़कर शेष पाँच प्राण होते हैं। चतुरेन्द्रिय जीव में स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये आठ प्राण होते हैं परन्तु अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय में वचनबल और श्वासोच्छ्वास रहित छह प्राण होते हैं। असंज्ञीपर्याप्त पंचेन्द्रिय जीव में स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रिय प्राण, कायबल और वचनबल, श्वासोच्छ्वास तथा आयु—ये नव प्राण होते हैं तथा अपर्याप्तक असंज्ञी में श्वासोच्छ्वास और वचनबल के अतिरिक्त शेष सात प्राण होते है। पर्याप्तसंज्ञी पंचेन्द्रियों में मन सहित दसों प्राण होते हैं किन्तु अपर्याप्तक अवस्था में मन, वचन और श्वासोच्छ्वास—इन तीन प्राणों को छोड़कर शेष सात प्राण होते हैं।[2]

प्राण और पर्याप्ति : प्राण आत्मिक शक्ति है और पर्याप्ति आत्मा के

---

१. पंचय इंदियपाणा मणवचकाया दु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा॥ मूलाचार १२।१५०.

२. इंदिय बल उस्सासा आऊ चदु छक्क सत्त अट्ठेव।
एगिंदिय विगलिंदिय असण्णिसण्णीण णव दस पाणा॥ वही, १२।१५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गलों की शक्ति विशेष है। इन दोनों में कारण-कार्य का भेद है। पर्याप्ति कारण है और प्राण उसके कार्य हैं। पाँच इन्द्रिय प्राण का कारण इन्द्रिय पर्याप्ति है। मनोबल, वचनबल तथा कायबल का कारण क्रमशः मनःपर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और शरीरपर्याप्ति हैं। श्वासोच्छ्वास प्राण का कारण श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति तथा आयुष्य—(भवधारण) प्राण का कारण आहार पर्याप्ति है, क्योंकि आहार पर्याप्ति के आधार पर ही आयुष्य प्राण ठहर सकता है।

आयु[1] :

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों की आयु निम्नानुसार है :

मार्गणा	विशेष	आयु	
		उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु
एकेन्द्रिय			
पृथ्वीकायिक	मृत्तिकादि रूप शुद्ध पृथ्वीकाय.	बारह हजार वर्ष	
,, ,,	पाषाणादिरूप खर पृथ्वीकाय.	बाईस हजार वर्ष	
अप्कायिक		सात हजार वर्ष	
अग्निकायिक		तीन दिनरात	
वायुकायिक		तीन हजार वर्ष	
वनस्पति साधारण		दस हजार वर्ष	
विकलेन्द्रिय			
द्वीन्द्रिय		बारह वर्ष	
त्रीन्द्रिय		उन्चास दिनरात	
चतुरिन्द्रिय		छह महीने	
पंचेन्द्रिय			
जलचर	मत्स्यादि	एक कोटि पूर्व वर्ष	
परिसर्ग	गोह, नेवला, सरीसृपादि	नौ पूर्वांग	
उरग	सर्प	बयालीस हजार वर्ष	
पक्षी	कर्मभूमिज भैरुण्ड आदि	बहत्तर हजार वर्ष	
चौपाये	कर्मभूमिज पशु	एक पल्य	
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	कर्मभूमिज	एक कोटि पूर्व वर्ष	

सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त

१. मूलाचार १२।६४-७०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योनि :

जीवों के उत्पन्न होने के स्थान को योनि कहते हैं। तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है।[1]

योनि के भेद :—योनि के नौ भेद हैं : (१) सचित्तयोनि—आत्मा के चैतन्य विशेष रूप परिणाम का नाम चित्त तथा जो उसके साथ रहता है वह सचित्त योनि है। (२) शीत योनि, (३) संवृत—जो अच्छी तरह ढकी हो अर्थात् जिससे जीव उत्पन्न होता हुआ दिखाई न दे। (४) अचित्त—चेतनारहित पुद्गल प्रदेश-समूह। (५) उष्णयोनि—संताप युक्त पुद्गल प्रदेश समूह। (६) विवृत—प्रकट पुद्गल प्रदेश समूह—ये छह तथा तीन मिश्ररूप योनि अर्थात् (७) सचित्ताचित्त, (८) शीतोष्ण और (९) संवृत्त-विवृत्त।[2]

उपर्युक्त योनियों मे एकेन्द्रिय और नारकीय जीवों तथा देवों की संवृत्त योनि होती है। विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की विवृत्त योनि तथा गर्भजों की संवृतविवृत्त एवं सचित्ताचित्त योनि होती हैं। नारकी और देवों की अचित्त और शीतोष्ण योनि भी होती हैं। शेष एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से किसी की सचित्त, अचित्त तथा सचित्ताचित्त तो किसी की शीत, उष्ण और शीतोष्ण योनि होती हैं।[3]

उपर्युक्त योनियों के अतिरिक्त आकार की अपेक्षा से शंखावर्तक, कूर्मोन्नत तथा वंसपत्र—ये योनियों के तीन भेद हैं। इनमें शंखावर्तक योनि में गर्भ का नियमतः नाश हो जाता हैं।[4] दूसरे शब्दों में शंखावर्तक योनि युक्त स्त्री वन्ध्या होती है। कूर्मोन्नत योनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ति, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलदेव उत्पन्न होते हैं। शेष योनियों में मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं।[5]

जीवों की अपेक्षा योनियों के चौरासी लाख भेद भी हैं अर्थात् नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, अप्, तेज, वायु—इन छह में प्रत्येक की सात-सात लाख, वृक्ष आदि (प्रत्येक वनस्पति) की दस लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय—इन

---

१. यूयत इति योनिः—तत्त्वार्थ वार्तिक २।३२।१०, पृ० २०३.
२. मूलाचार वृत्ति १२।५८, सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः —तत्त्वार्थसूत्र २।३२.
३. मूलाचार १२।५८-६०.
४. संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णद वंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जए गब्भो॥ वही १२।६१.
५. मूलाचार १२।६२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सब बिकलेन्द्रियों की कुल छह लाख, देव, नारकी और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च—इनमें प्रत्येक की चार-चार लाख तथा मनुष्यों की चौदह लाख योनि हैं। इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनियाँ होती हैं।[1]

वेद :

जो वेदा जाय या अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'लिंग' है।[2] इसके तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।[3] एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी और सम्मूर्च्छन—ये सब जीव नियमतः नपुंसक-वेद वाले होते हैं। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी—ये चार देव असंख्यात आयुवाले भोगभूमि में उत्पन्न तथा भोगभूमि के समीप रहने वाले मनुष्य और तिर्यञ्च—ये स्त्री और पुरुष इन दोनों वेद वाले होते हैं। इनमें-तीसरा नपुंसक वेद नहीं होता। इन पंचेन्द्रियों के अतिरिक्त शेष संज्ञी, असंज्ञी-मनुष्य और तिर्यञ्च तीनों वेद वाले होते हैं। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क में देवों और देवियों के उपपाद स्थान होता है अतः स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के वेद इनमें होते हैं। किन्तु इन भवनत्रिक से ऐशान स्वर्ग तक केवल स्त्रीवेद तथा ऐशान से ऊपर अर्थात् सानत्कुमार से लेकर केवल पुरुषवेद ही होता है।[4]

पर्याप्ति :

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—इनकी पूर्णता होना[5] अर्थात् इनकी प्रवृत्तियों में परिणमन की शक्तियों के कारण पुद्गल स्कन्धों की निष्पत्ति का नाम पर्याप्ति है।[6] इस प्रकार जीवन के लिए उपयोगी पौद्गलिक शक्ति के निर्माण की पूर्णता का होना ही पर्याप्ति है। धवला के अनुसार आहार, शरीरादि की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं।[7] वस्तुतः जीव एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है तब भावी जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए अपने नवीन जन्म-क्षेत्र में एक साथ आवश्यक पौद्गलिक सामग्री का निर्माण करता

---

१. मूलाचार १२।६३, ५।२९.
२. वेद्यत इति वेद : लिङ्गमित्यर्थ—सर्वार्थसिद्धि २।५२, पृ० २००.
३. वही, २।६, पृ० १५९.
४. मूलाचार १२।८७-९०.
५. पर्याप्तीराहारादिकारणसम्पूर्णताः—मूलाचार वृत्ति, १२।१.
६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा १३४-१३५.
७. आहार शरीर····निष्पत्तिः पर्याप्तिः—धवला १।१,१,७०, पृ० ३११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इसे या इससे उत्पन्न होनेवाली शक्ति को या पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।[1] संक्षेप में आहार, शरीरादि की निष्पत्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

पर्याप्ति के भेद—आहार,शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण (श्वासोच्छ्वास), भाषा और मन—ये पर्याप्ति के छह भेद हैं।[2]

१. आहार पर्याप्ति—जीव जन्म-ग्रहण करते समय आहार के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है उन पुद्गलों या उनकी शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं। आहार के विषय में कर्म-नोकर्म स्वरूप से परिणत पुद्गलों का आत्मा के द्वारा ग्रहण करना आहार है तथा औदारिक, वैक्रियक और आहारक—इन तीनों शरीर के योग्य ग्रहण किये गये आहार के जिस परिणमन रूप कारण के द्वारा अस्थि, चर्म, नख और द्रव्य रूप रक्त, वीर्य तथा मांसादि रूप करने में जीव समर्थ होता है, उस कारण की सम्पूर्णता प्राप्त होना पर्याप्ति है।[3]

२. शरीर पर्याप्ति—जिस कारण से यह जीव शरीर बनाने के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण कर औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर रूप परिणमन में समर्थ हो उन कारणों की संपूर्णता होना शरीर पर्याप्ति है। अर्थात् आहार पर्याप्ति में जो पुद्गल शरीर की रचना करने में समर्थ होते हैं, उन पुद्गलों या इनके शरीर बनाने की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति—जिस कारणसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इनके योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण कर यह आत्मा स्पर्शादिक विषयों के ज्ञान में समर्थ होता है उन कारणों की पूर्णता का होना इन्द्रिय पर्याप्ति है।

४. आनप्राण (श्वासोच्छ्वास) पर्याप्ति—जिस कारण से यह जीव श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गल द्रव्यों का अवलम्बकर श्वासोच्छ्वास की रचना को यह आत्मा पूर्ण करता है उस कारण की सम्पूर्णता को आनप्राण पर्याप्ति कहते हैं।

५. भाषा पर्याप्ति—पुद्गलों की शब्दरूप से परिणति होना भाषा है तथा जिस कारण से सत्य, असत्य, उभय और अनुभय—इन चार भाषाओं के योग्य पुद्गल द्रव्यों के अवलंबन से यह आत्मा चतुर्विध भाषा के स्वरूप की सम्पूर्णता प्राप्त करने में समर्थ होता है वह भाषा पर्याप्ति है।

---

१. जीव-अजीव—पृष्ठ १९.

२. आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाणभासाए।
होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणक्खादा ॥ मूलाचार १२।४.

३. मूलाचार वृत्ति, १२।४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. मनः पर्याप्ति—जिस कारण से सत्य, असत्य, उभय और अनुभय रूप चार प्रकार के मन के योग्य पुद्गल द्रव्यों का अवलंबन कर चार प्रकार के मन की रचना आत्मा करता है, उस कारण की परिपूर्णता का होना मनःपर्याप्ति है।[1]

योनि स्थान में प्रवेश करते ही जीव वहाँ अपने शरीर के योग्य पुद्गल वर्गणाओं को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् उनके द्वारा क्रम से शरीर, श्वास, इन्द्रिय, भाषा तथा मन का निर्माण करता है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर इस कार्य में बहुत समय लगता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उपर्युक्त छह कार्यों की शक्ति एक अन्तर्मुहूर्त में पूरी कर लेता है। इन्हें ही उसकी पर्याप्तियाँ कहते हैं। अर्थात् छहों पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक काल में होता है, परन्तु उनकी पूर्णता क्रमशः होती है।

पर्याप्तियों के स्वामी—एकेन्द्रिय जीवों में आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास—ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। त्रस जीवों में अर्थात् द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों में उपर्युक्त चार तथा पाँचवीं भाषा पर्याप्ति—ये पाँच पर्याप्तियाँ पायीं जाती हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्तक-अपर्याप्तक—जिन एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय असंज्ञी अथवा पंचेन्द्रिय जीवों के ये चार, पाँच या छहों पर्याप्तियाँ पूर्ण नहीं होती वे जीव अपर्याप्तक कहलाते हैं।[2] दूसरे शब्दों में जीवों की शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक निवृत्यपर्याप्तक संज्ञा होती है, उसके बाद शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने पर वे पर्याप्तक कहलाने लगते हैं। जब तक आहार और शरीर पर्याप्ति की पूर्णता नहीं होती तब तक यह जीव अपर्याप्तक और जब तक शरीरपर्याप्ति निष्पन्न नहीं होती, तब तक निर्वृत्ति-अपर्याप्तक कहलाता है तथा शरीर पर्याप्ति पूर्ण कर लेने पर पर्याप्तक कहलाने लगता है, चाहे भले ही इन्द्रिय आदि चार पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों। कुछ जीव जो शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे क्षुद्रभवधारी लब्धपर्याप्तक जीव कहलाते हैं।[3]

पर्याप्तियों की पूर्णता का कालमान—तिर्यञ्च और मनुष्यों की पर्याप्तियों

---

१. मूलाचार वृत्ति १२।४.

२. एइंदिसु चत्तारि होंति तह आदिदो य पंच भवे।
वेइंदियादियाणं पज्जतीओ असण्णित्ति ॥
छप्पि य पज्जत्तीओ बोधव्वा होंति सण्णिकायाणं।
एदाहि अणिव्वत्ता ते दु अपज्जत्तया होंति ॥ मूलाचार १२।५-६.

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश ३।३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पूर्णता भिन्न मुहूर्त अर्थात् एक समय कम घटिकाओं में होती है। तिर्यञ्च और मनुष्यों की पर्याप्तियों का जघन्य स्थितिकाल क्षुद्रभव-ग्रहण अर्थात् कुछ कम एक उच्छ्वास का अठारहवां भाग-प्रमाण है तथा उत्कृष्ट काल तीन पल्योपम है। औपपादिक अर्थात् देव और नारकियों की पर्याप्ति की पूर्णता प्रतिसमय होती है। जब आहारादि कारणों की निष्पत्ति होती है उसी समय देव-नारकों की शरीरादि कार्यों की भी निष्पत्ति होती है। देव नारकियों के पर्याप्तियों का जघन्यकाल दस हजार वर्ष तथा उत्कृष्ट काल तैंतीस सागरोपम है। यहाँ एक बात ज्ञातव्य है कि पर्याप्तियों और जीवितावस्था—दोनों का काल समान होता है।[1] प्रतिसमय से तात्पर्य भवनवासी आदि से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक के विमानों में जिस उपपाद शिला की महनीय दिव्यशय्या पर देव उत्पन्न होते हैं। वे देव दिव्य रूप के द्वारा प्रतिसमय पर्याप्त हो जाते हैं अर्थात् वे सम्पूर्ण यौवन, दिव्य आकार तथा रूप से परिपूर्ण होते हैं।[2]

संस्थान :

संस्थान शब्द का अर्थ आकृति, आकार या शरीराकृति है। जैसे पृथ्वीकाय के शरीर का आकार मसूर के सदृश गोलाकार, जलकायिक जीव का आकार कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिन्दु के समान, अग्निकाय का सुई के अग्रभाग के समान, वायुकायिक का पताका के सदृश, वनस्पतियों के आकार अनेक प्रकार के (हुण्डक संस्थान वाले) होते हैं। त्रस अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के शरीर भी अनेक प्रकार के हुण्डाकार होते हैं।[3] पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों और मनुष्यों में समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक—ये छह संस्थान होते हैं। देवों में समचतुरस्र तथा नारकियों में केवल हुण्डक संस्थान होता है।

संस्थान के छह भेद—(१) **समचतुरस्र संस्थान** से तात्पर्य शरीर के प्रत्येक अवयव में समानता का होना और हीनाधिकता का सर्वथा अभाव। (२) **न्यग्रोध** से तात्पर्य बरगद के वृक्ष की तरह शरीर के ऊपर के अवयवों में बहुत परमाणुओं का होना अर्थात् ऊपर भारी तथा नीचे के भाग की रचना लघु होना-न्यग्रोध संस्थान है। (३) **स्वातिसंस्थान** से तात्पर्य न्यग्रोध से विपरीत अर्थात् ऊपर के अवयवों में कम परमाणु तथा नाभि के नीचे के अवयवों में अधिक

१. मूलाचार वृत्ति १२।७.
२. मूलाचार १२।८.
३. वही, १२।४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणुओं का संचय होना है। (४) कुब्जक संस्थान अर्थात् शरीर के पृष्ठ भाग में परमाणुओं का अधिक उपचय होना। (५) वामन संस्थान से तात्पर्य है शरीर के मध्यवर्ती अवयवों में परमाणुओं की अधिकता का होना तथा हाथ, पैर आदि अवयव छोटे होना। (६) हुण्डक संस्थान से तात्पर्य है सम्पूर्ण शरीर के अवयवों में बीभत्सपना का होना, परमाणुओं में न्यून या अधिकता का होना तथा सर्व लक्षणों की सम्पूर्णता का न होना।[1]

प्रवीचार :

मैथुन के उपसेवन अर्थात् विषय-सेवन को प्रवीचार कहते हैं।[2] स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत—इन पाँच इन्द्रियों से काम सेवनकरने का नाम प्रवीचार है।[3] वस्तुतः स्पर्श और रस ये दो विषय 'काम' के अन्तर्गत आते हैं तथा गंध, रूप और शब्द ये तीन विषय 'भोग' के अन्तर्गत हैं। इस तरह स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र--ये पाँच विषय माने गये हैं।[4]

देवों में प्रवीचार (काम सम्बन्धी विषय सुखों का उपभोग) इस प्रकार है :— तिर्यञ्च, मनुष्य, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ऐशानवासी देव कायप्रवीचारी अर्थात् शरीर से कामसुख का अनुभव करने वाले होते हैं। भवनत्रिक देव-देवी और सौधर्म ऐशान के देव-देवी मनुष्य के समान ही संक्लिष्ट कर्म के कारण शरीर के द्वारा कामसुखानुभव करते हैं तथा सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव-देवांगनायें स्पर्श के द्वारा कामसुखानुभव करते हैं। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव रूप प्रवीचारी होते हैं। शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग तक के देव शब्द प्रवीचारी होते हैं अर्थात् देवांगनाओं के मधुर संगीत, अलंकारपूर्ण ध्वनि आदि के श्रवण मात्र में अतिशयसुख का अनुभव कर लेते हैं। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्प के देव मनःप्रवीचारी होते हैं।

इन आनत आदि स्वर्गों के देव एवं देवियाँ एक दूसरे के स्मरण मात्र से परम-

---

१. समचउरसणग्गोहसादिय खुज्जा य वामणा हुण्डा।
पंचेंदिय तिरियणरा देवा चउरस्स णारया हुण्डा ॥ मूलाचार सवृत्ति १२।४९.

२. मैथुनोपसेवनं प्रवीचार--तत्त्वार्थवार्तिक ४।७।१.

३. प्रवीचारः स्पर्शनेंद्रियाद्यनुरागसेवा—मूलाचार वृत्ति १२।३.

४. कामा दुवेतिओ भोग इंदियत्था विदूहिं पण्णत्ता ॥
कामो रसो य फासो सेसा भोगेत्ति आहीया ॥ मूलाचार १२।९७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख को प्राप्त होते हैं। यद्यपि ऐसा माना जाता है कि देवियाँ दूसरे कल्प तक ही उत्पन्न होती हैं किन्तु नियोगवश वे ऊपर के कल्पों में पहुँच जाती हैं।

इस प्रकार भवनवासी से लेकर अच्युत स्वर्ग तक के देवों में प्रवीचार सुख का सद्भाव पाया जाता है। इससे अर्थात् सोलहवें कल्प से ऊपर जितने भी कल्पातीत के अहमिंद्र आदि देव नियमतः प्रवीचार रहित होते हैं। अर्थात् वे कामवेदना रहित होते हुए भी सप्रवीचारी देवों से अनन्तगुणित सुख से युक्त होते हैं, क्योंकि इहलोक के कामसुख तथा भवनवासी से अच्युत तक के स्वर्ग में जो काम सुख हैं वे वीतराग सुख के अनंतवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकते।[1]

जीवसमास :

सम्पूर्ण लोक विविध प्रकार के जीवों से भरा हुआ है। जैनधर्म में इन सभी जीवों को चौदह वर्गों में विभक्त किया है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव इन्हीं वर्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इन्हें ही जीवसमास कहा जाता है। पंचसंग्रह में जीवसमास की परिभाषा में कहा है कि जिन धर्म विशेषों के द्वारा विविध जीव और उनकी विविध जातियों का ज्ञान किया जाय, पदार्थों का संग्रह करने वाले उन धर्म विशेषों को जीवसमास कहते हैं।[2] अज्ञेय होने पर भी जिन एकेन्द्रियत्व, बादरत्व आदि धर्मों के द्वारा संग्रहरूप में अनेकों जीवों और उनकी विविध जातियों का निश्चय हो सके उसे भी जीवसमास कहते हैं।[3] धवला के अनुसार अनन्तानन्त जीव और उनके भेद-प्रभेदों का जिनमें संग्रह किया जाय उन्हें जीवसमास कहते हैं।[4]

जीवसमास के भेद :—मूलतः एकेन्द्रिय के चार, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक) के छह एवं पंचेन्द्रिय के चार ये जीवसमास के चौदह भेद इस प्रकार हैं—[5]

एकेन्द्रिय के चार भेद [१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय के दो भेद पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक
२. बादर एकेन्द्रिय के दो भेद-पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक

---

१. मूलाचार १२।९८-१०३, तत्त्वार्थसूत्र ४।७-९.
२. पंचसंग्रह (प्राकृत) १।३२, गोम्मटसार जीवकाण्ड ७०.
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड ७० भावार्थसहित।
४. धवला १।१, १, २।१३१।२.
५. मूलाचार १२।१५२-१५३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकलेन्द्रिय के छह भेद
- ३. द्वीन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक
- ४. त्रीन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक
- ५. चतुरिन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक

पंचेन्द्रिय के चार भेद
- ६. संज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक
- ७. असंज्ञी पंचेन्द्रिय के दो भेद—पर्याप्तक एवं अपर्याप्तक

इस प्रकार पर्याप्तक और अपर्याप्तक—जीव की इन दोनों अवस्थाओं के आधार पर जीवों की जो श्रेणियाँ बनती हैं उन्हीं के आधार पर जीव समास के ये चौदह भेद हुए। इनमें एकेन्द्रिय जीवों के अतिरिक्त किसी जीव में सूक्ष्म और बादर रूप से भेद नहीं है। क्योंकि एकेन्द्रिय के सिवाय और कोई जीव सूक्ष्म नहीं होते। प्रज्ञापनासूत्र में कहा है कि सूक्ष्म की कोटि में वे ही जीव लिए जाते हैं जो समूचे लोक में जमे हुए होते हैं; जिन्हें अग्नि जला नहीं सकती; तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र छेद नहीं सकते, जो अपनी आयु से जीते हैं और अपनी मौत से मरते हैं, पर जो इन्द्रियों द्वारा जाने नहीं जाते।[1] बादर एकेन्द्रिय के एक जीव का एक शरीर हमारी दृष्टि का विषय नहीं बनता। हमें जो एकेन्द्रिय शरीर दिखते हैं, वे असंख्य जीवों के असंख्य शरीरों के पिण्ड होते हैं। इसीलिए वे बादर हैं।[2]

चतुर्गतियों में जीवसमास : चार गतियों में से तिर्यञ्चगति में उपर्युक्त चौदह जीवसमास पाये जाते हैं। शेष नरक, मनुष्य और देव इन तीन गतियों में पंचेन्द्रियसंज्ञी पर्याप्त तथा पंचेन्द्रियसंज्ञी अपर्याप्त ये दो जीव समास हैं। इनमें तीसरा जीवसमास नहीं होता। एकेन्द्रिय जीवों में बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त—ये चार जीवसमास हैं। विकलेन्द्रियों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) में पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो स्वकीय जीवसमास हैं। पंचेन्द्रियों में संज्ञी, असंज्ञी, पर्याप्त और अपर्याप्त ये चार जीवसमास हैं।[3]

लेश्याओं में जीवसमास :— कृष्ण, नील, कापोत—इन तीन अशुभ लेश्याओं में पूरे जीवसमास हैं। तेजोलेश्या में संज्ञीपर्याप्त और असंज्ञी अपर्याप्त ये दो, पद्म और शुक्ल इन दो लेश्याओं में संज्ञीपर्याप्त और संज्ञीअपर्याप्त ये

---

१. प्रज्ञापना, पद १, जैन दर्शन मनन और मीमांसा पृ० २२९.

२. वही पृष्ठ २३०.

३. तिरियगदीए चोद्दस हवंति सेसासु जाण दो दो दु।
एइंदिएसु चउरो दो दो विगिलिंदिएसु हवे॥
—कुन्द० मूलाचार १२।१५८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दो-दो जीवसमास तथा भव्य और अभव्य में पूरी लेश्यायें होती हैं।[1]

मार्गणा :

मार्गणा का स्वरूप : मार्गणा का अर्थ अन्वेषण है। मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषणा ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं। जिन अधिकरणरूप पर्यायों में जीव का अन्वेषण किया जा सके उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणायें जीव के उन असाधारण कारण रूप परिणामों का ज्ञान कराती हैं जो गुणस्थानों की सिद्धि में साधनभूत हैं। धवला में कहा है गतियों अर्थात् मार्गणा स्थानों में चौदह गुणस्थानों से उपलक्षित जीव जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, वह गतियों में मार्गणता नामक श्रुति है।[2]

इस प्रकार संसारी प्राणियों की विविध अवस्थाओं का निश्चय करने के लिए मार्गणा सबसे अधिक उपयोगी है। संसारी जीवों का परिणमन मार्गणा स्थानों में ही हुआ करता है। जिन परिणामों के द्वारा अथवा जिन अवस्थाओं में जीवों का अन्वेषण किया जाए उसे मार्गणा कहते हैं।

मार्गणा के चार अधिकार : धवला में मार्गणा के चार अधिकार बताये हैं—मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भव्य-पुण्डरीक जीव मृगयिता है, चौदह गुणस्थानों से युक्त जीव मृग्य (अन्वेषण करने योग्य) है, जो इस मृग्य के आधारभूत हैं अर्थात् जो मृगयिता को अन्वेषण करने में अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदि मार्गणा हैं तथा शिष्य और उपाध्याय आदि मार्गणा के उपाय हैं।[3]

मार्गणा के भेद : मार्गणा के चौदह भेद हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक।[4]

१. गति मार्गणा : गति नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली जीव की पर्याय विशेष को गति कहते हैं। भव से भवान्तर को जिसके निमित्त से जाते

---

१. किण्हादीणं चोद्दस तेउस्स य दोण्णि होंति विण्णेया।
पउमसुक्केसु दो दो चोद्दस भव्वे अभव्वे य॥
—कुन्द० मूलाचार ११।१६३.

२. धवला १३।५, ५, ५०।२८२।८.

३. धवला १।१, १, ४।१३३।४.

४. गइ इंदिये च काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्सा, भविया सम्मत्तसण्णिआहारे॥ मूलाचार १२।१५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, चतुर्गति में भ्रमण करते हैं उसे भी गति कहते हैं। नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव—ये गति के चार भेद हैं। इस दृष्टि से गति मार्गणा के भी चार भेद हुए।[1]

२. इन्द्रिय मार्गणा : आत्मा के चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। ये पदार्थों का ज्ञान कराने में कारण हैं। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये इसके दो भेद हैं। निवृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय तथा लब्धि (ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष) और उपयोग (ज्ञानावरण के क्षयोपशम से पदार्थ को जानने रूप प्रवृत्ति) को भावेन्द्रिय कहते हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, इन्हीं से युक्त जीवों को एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय आदि कहते हैं।[2]

३. काय मार्गणा : जाति नामकर्म के उदय से अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय विशेष को काय कहते हैं। इस प्रकार मार्गणा के विवेचन में शरीर में स्थित जीव की पर्याय विशेष को काय कहा जाता है। यहाँ काय का अर्थ शरीर नहीं लेना चाहिए।[3] मूलाचार-वृत्ति में भी कहा है—योग रूप आत्मा की प्रवृत्ति से संचित हुए औदारिकादि रूप पुद्गलपिंड को धारण करने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु. वनस्पति और त्रस ये काय के छह भेद हैं।[4]

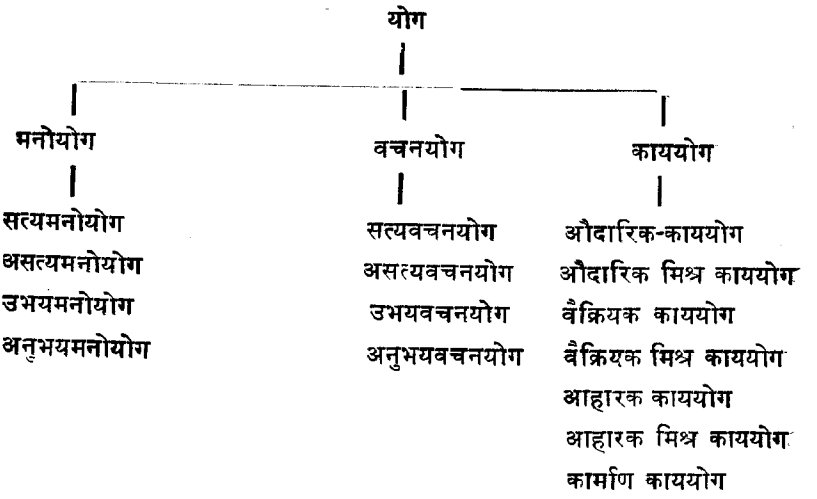
४. योग मार्गणा : आत्मा के प्रदेशों में जो संकोच-विकोच होता है उसे योग कहते हैं। अथवा मन, वचन और शरीर के आश्रय से आत्मप्रदेशों में होने वाले परिस्पंदन को भी योग कहा है। तत्त्वार्थवर्तिक (७।१३।४) के अनुसार जिसके कारण कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, उसे योग कहते हैं। योग के तीन भेद हैं—१. भावमन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। २. वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे वचन-योग कहते हैं तथा ३. काय की क्रिया के लिए जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं। जिन-जीवों के पुण्य और पाप के उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते हैं वे अनुपम और अनन्त-बल सहित अयोगी जिन (चौदहवें गुणस्थान वाले) कहलाते हैं।

मनोयोग के चार, वचनयोग के चार, तथा काययोग के सात—इस प्रकार योग के कुल पन्द्रह भेद निम्नलिखित हैं।[5]

---

१. मूलाचार वृत्ति १२।१५६.
२. वही।
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड १८१.
४. मूलाचार वृत्ति १२।१५६.
५. वही, ५।३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



५. वेद मार्गणा : आत्मा की प्रवृत्ति—चैतन्य रूप पर्याय में मैथुन के सम्मोह को उत्पन्न करने वाला वेद है। स्त्री, पुरुष और नपुंसक ये तीन वेद हैं।[१]

६. कषाय मार्गणा : क्रोधादि परिणामों के द्वारा जो आत्मा के क्षमादि गुणों का नाश करते हैं उन्हें कषाय कहते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय के चार भेद हैं।[२]

७. ज्ञान मार्गणा : वस्तु के यथार्थ-स्वरूप को प्रकाशित करने वाला गुण ज्ञान कहलाता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ज्ञान के पाँच भेद हैं।[३]

८. संयम मार्गणा : व्रतों को धारण करना, समितियों का पालना, कषाय को जीतना तथा मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के त्याग को संयम कहते हैं। संयम के पाँच भेद हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात। इनमें असंयम और संयमासंयम ये दो भेद मिलाकर कुल सात भेद होते हैं।[४]

---

१. आत्मप्रवृत्ति मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः स्त्रीपुंनपुंसकभेदेन त्रिविधः—मूलाचार-वृत्ति १२।१५६.

२. मूलाचार वृत्ति १२।१५६.

३. भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानं आत्मार्थोपलंभकं वा—वही १२।१५६.

४. सः सप्तविधः सामायिकछेदोपस्थापनपरिहारशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातभेदेन असंयमासंयम-संयमश्च। मूलाचार वृत्ति १२।१५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. दर्शन मार्गणा : सामान्य विशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करने वाले को दर्शन कहते हैं। चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये दर्शन के चार भेद हैं।[1]

१०. लेश्या मार्गणा : आत्मा को कर्म के साथ संबंधित करने वाली लेश्या है अर्थात् कषायानुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।[2] कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये लेश्या के छह भेद हैं।

११. भव्य मार्गणा : सम्यग्दर्शनादिको ग्रहण करने की योग्यतावाला जीव भव्य है, उसके विपरीत जीव को अभव्य कहते हैं।

१२. सम्यक्त्व मार्गणा : तत्त्वरुचि को सम्यक्त्व कहते हैं। प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य से यह प्रगट होता है। इसके क्षायिक, क्षायोपशिमक और औपशमिक ये तीन भेद हैं। मिथ्यादर्शन, सासादन तथा सम्यक्मिथ्यात्व-इन तीन विपरीत भेदों को मिलाने से छह भेद होते हैं। सम्यग्दर्शन आत्म-सत्ता की आस्था है; जड़ और चेतन में भेद दिखाना ही इसका वास्तविक उद्देश्य है।

१३. संज्ञी मार्गणा : संज्ञी अर्थात् मन सहित जीव। मन विवेक शक्ति को जागृत करता है जो आत्मज्योति को प्राप्त कराने में कारण है। अतः शिक्षा, क्रिया, उपदेशों आदि को ग्रहण करने वाला जीव संज्ञी है।

१४. आहार मार्गणा : शरीर के योग्य पुद्गल पिण्ड को ग्रहण करना आहार है। शरीर नामक नामकर्म के उदय से द्रव्यात्मक देह, वचन और मन बनने के योग्य पुद्गल की नोकर्मवर्गणाओं का जो ग्रहण होता है उसे आहार कहते हैं।[3]

इस प्रकार इन चौदह मार्गणाओं के अन्तर्गत जीवों का अन्वेषण किया जाता है। यह जीव इनमें अनादिकाल से घूम रहा है।

मार्गणा-विवेचन के बाद यह जानना भी जरूरी है कि मार्गणा के द्वारा जीवों के भेदों का कथन किस प्रकार किया जाता है? काय मार्गणा की अपेक्षा से जीवों के त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं। योग, गति, वेद, कषाय और इन्द्रिय—इनकी दृष्टि से भी जीव के अनेक (बहुविध) भेद हैं। इन भेदों का कथन उन-उन मार्गणाओं के विवेचन में किया जा चुका है। ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार इन सबके भेद से भी जीव के बहुत

१. प्रकाशवृत्तिर्दर्शनं—मूलाचारवृत्ति १२।१५६.
२. आत्मप्रवृत्तिसंश्लेषकरी लेश्या कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिर्वा—मूलाचारवृत्ति १२।१५६.
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड ६६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद हैं। भव्य और अभव्य भेद से भी जीव के दो भेद माने गये हैं।[1]

मार्गणाओं में जीवसमास और गुणस्थानों को खोजना चाहिए। क्योंकि मार्गणा शब्द का अर्थ ही अन्वेषण है। जैसे गति मार्गणा के अन्तर्गत तिर्यञ्चगति में चौदह जीवसमास तथा शेष गतियों में पंचेन्द्रियसंज्ञी पर्याप्त तथा पंचेन्द्रियसंज्ञी अपर्याप्त—ये दो-दो जीवसमास है। इसमें तीसरा जीवसमास नहीं होता। इसी प्रकार मार्गणाओं में गुणस्थानों के अन्तर्गत देव और नारकों में चार, तिर्यञ्चगति में पाँच तथा मनुष्यगति में चौदह गुणस्थान होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न मार्गणाओं में जीवसमास और गुणस्थानों का विभिन्न प्रकार से विधान किया जाता है।

२. अजीव :

जीव पदार्थ से विपरीत अजीव पदार्थ होता है। इसे अचेतन या जड़ पदार्थ भी कहते हैं। इसका विवेचन छह द्रव्यों के अन्तर्गत किया गया है।

३-४. पुण्य और पाप :

नव पदार्थों में पुण्य तीसरा तथा पाप चौथा पदार्थ है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन्हें अलग से न मानकर आस्रव और बंध तत्त्व में इन दोनों का अन्तर्भाव किया है।[2] वस्तुतः मन, वचन और काय के शुभ कार्यों से आत्मा को सुख देने वाले पुण्य कर्म का आस्रव और बंध होता है। जो आत्मा को पवित्र करे अथवा जिससे आत्मा पवित्र बने उसे पुण्य कहते हैं तथा पुण्य से जो प्रतिकूल है अर्थात् जो आत्मा को शुभ परिणामों से बचाने वाला है उसे पाप कहते हैं।[4] तत्त्वार्थसूत्र में शुभ योग से पुण्यकर्म का और अशुभ योग से पापकर्म का आस्रव माना गया है।[5] बंधे हुए जो कर्म शुभ रूप से उदय में आते हैं उन पुद्गलों का नाम पुण्य है। पुण्य और पाप के भेद से कर्मबंध को दो प्रकार का बतलाते हुए वट्टकेर ने कहा है—सम्यक्त्व, श्रुत (श्रुतज्ञान), विरतिपरिणाम (पाँच महाव्रत तथा उत्तम-क्षमादि

---

१. तसथावरा य दुविहा जोगगइकसायइंदियविधीहिं।
बहुविध भव्वाभव्वा एस गदी जीवणिद्देसे॥ मूलाचार ५।३०.

२. मूलाचार १२।१५७-१५९.

३. तत्त्वार्थसूत्र—पं० फूलचन्द शास्त्री द्वारा संपादित १।४, पृष्ठ १०.

४. पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्, तत्प्रतिद्वन्दिरूपं पापं॥
'पाति रक्षत्यात्मानंशुभपरिणामात्' इति पापम्॥—तत्त्वार्थवार्तिक ६।३।४-५.

५. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य—तत्त्वार्थसूत्र ६।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुण धारण करना), कषायों एवं इन्द्रियों के निग्रह रूप गुणों या परिणामों से युक्त होना पुण्य है तथा इसके विपरीत पाप है।[1] अर्थात् सम्यक्त्वादि कारणों या शुभ प्रकृतियों से जो कर्मबंध होता है उसे पुण्यबंध तथा मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम एवं कषाययुक्त गुणों से परिणत पुद्गल निचय को पाप बंध कहा गया है। सार रूप में शुभ प्रकृतियाँ पुण्य हैं और अशुभ प्रकृतियाँ पाप हैं।[2]

पुण्य-पाप का यह लक्षण जैन सिद्धान्त में कहा गया है। वस्तुतः प्रत्येक कार्य में उपादान आदि कारणों की आवश्यकता होती है। पुण्य का उपादान कारण पुण्य के रूप में परिणत होने वाला पुद्गल समूह है। वट्टकेर ने अनुकंपा और शुद्धोपयोग को पुण्यास्रव का कारण माना है।[3] इनसे विपरीत अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार पापास्रव के कारण हैं।[4] इनमें अर्हन्तदेव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वार्थों में विमोह अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप दोष उत्पन्न होना मिथ्यात्व है तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापों से विरत न होना अविरति है।

पुण्य और पाप के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा की जितनी क्रियायें होती हैं उन्हें शुभ एवं अशुभ—इन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। शुभयोग की प्रवृत्ति से पुण्यबंध तथा अशुभ प्रवृत्ति से पापबंध होता है। पुद्गलों की यह विशिष्ट वर्गणा का नाम कर्म-वर्गणा है और बंधे हुए शुभ-अशुभ कर्म विपाकावस्था में सुख-दुःख फल देने की अपेक्षा से पुण्यकर्म और पापकर्म कहलाते हैं।

वस्तुतः पुण्य-पाप के उदय से यह जीव सुख-दुःख पाता है। फिर भी सामान्य कथन की अपेक्षा पाप और पुण्य दोनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों ही संसार के कारण हैं अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति में बाधक हैं। अतः जैसे लोहे और स्वर्ण (सोने) की बेड़ियाँ मनुष्य को बन्धन में डालकर उसकी स्वतंत्रता में बाधक होती हैं, उसी प्रकार पुण्य और पाप—ये दोनों भी आत्मा को संसार में रखकर उसको मुक्ति में बाधक हैं। फिर भी नीचे की अवस्था में

---

१. सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥ मूलाचार ५।३७.

२. .....शुभ प्रकृतयः पुण्यमशुभ प्रकृतयः पापमिति। मूलाचार वृत्ति ५।३७.

३. पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो।
विवरीदं पावस्स दु आसवहेउ वियाणाहि ॥ मूलाचार ५।३८.

४. मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति। वही, ५।४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप से पुण्य अच्छा है। और फिर जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं होती, तब तक शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग रूप पुण्य कर्मों में लगना चाहिए और अशुभ प्रवृत्तियों से बचना चाहिए। क्योंकि शुभ कर्मोदय से यदि जीव अच्छे साधन पा जाता है तो आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने में देर नहीं लगती है। अशुभ कर्मों के उदय से अच्छे साधन नहीं मिलते और जीव निरन्तर गिरता ही चला जाता है।

पाप की अपेक्षा पुण्य को व्यवहार नय की दृष्टि से उपादेय बतलाया है क्योंकि सम्यक्त्व सहित की जाने वाली क्रियाओं से उत्पन्न होनेवाला पुण्य परम्परा से आत्मस्वरूप की प्राप्ति में कारण बनता है। यद्यपि जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धानी हैं वे निज आत्मा को ही उपादेय समझकर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहते हैं; तथापि चारित्रमोह के उदय से शुद्धोपयोग की प्राप्ति में असमर्थ होकर परमात्मपद की प्राप्ति के लिए और विषय कषायों से बचने के लिए परमात्मस्वरूप अर्हंत तथा सिद्ध परमेष्ठी की और उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी की तथा उनके गुणों की स्तुति, पूजा आदि करके परमभक्ति करता है। यह उसकी भक्ति मोक्ष प्राप्ति के निमित्त ही होनी चाहिए[1] संसार सुख के लिए नहीं।

५. आस्रव :

आस्रव कर्मग्रहण करने वाली आत्मा की अवस्था है। पुण्य-पाप आदि रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे नदियों द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भरता रहता है वैसे ही मिथ्यादर्शनादि स्रोतों से आत्मा में कर्म आते रहते हैं।[2] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पाँच पाप आस्रवों के द्वार हैं। इनसे आत्मा में कर्मों का आगमन होता है। कर्मों के इन आगमन द्वारों को आस्रव कहा है। पाँच पापों से जीव का निश्चय ही विनाश होता है क्योंकि जैसे नाव में छेद होने से उसमें पानी का आगमन होता है और नौका समुद्र में डूब जाती है वैसे ही जीव कर्मास्रवों के कारण संसार समुद्र में डूबा रहता है।[3] क्रोध, मान, माया और लोभ—ये दुष्ट अभिप्राय धारण करनेवाले अर्थात् पापास्रव को उत्पन्न करने वाले कषायरूपी शत्रु हैं। इनसे जीवों में हजारों दोष उत्पन्न होते हैं जिनके

---

१. संयम प्रकाश : उत्तरार्द्ध द्वितीय किरण पृ० ६३-६४ का सार।
२. तत्त्वार्थवार्तिक १।४।१६-२६.
३. हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं।
तेहिंतो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥ मूलाचार ८।४६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण वह हजारों दुःख प्राप्त करता है।[1] राग, द्वेष, मोह, पाँच इन्द्रिय तथा आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये चार संज्ञायें, ऋद्धि, रस और—सात ये तीन गारव तथा कषायों के साथ मन, वचन और काय का योग होने पर आत्मा में कर्मों का आस्रव होता है।[2]

आस्रव के भेद :—आस्रव के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव।[3] जीव के द्वारा मन, वचन और काय से प्रतिक्षण होने वाली शुभ या अशुभ प्रवृत्ति को भाव-आस्रव तथा उसके निमित्त से कोई विशेष प्रकार की जड़-पुद्गल वर्गणा आकर्षित होकर उसके प्रदेशों में प्रवेश करती है उसे द्रव्यास्रव कहते हैं।

६. बंध :

कर्म प्रदेशों का आत्मा के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बंध है।[4] मूलाचारकार ने नव पदार्थों में बन्ध को आठवाँ पदार्थ माना है। अर्थात् मोक्ष के ठीक पूर्व बंध का विवेचन किया है। पञ्चास्तिकाय, स्थानांग आदि ग्रन्थों में भी यही क्रम मिलता है।[5] उत्तराध्ययन में जीव, अजीव के बाद ही तीसरा पदार्थ बंध माना है।[6] तत्त्वार्थसूत्र में इसे चतुर्थ स्थान पर रखा है। इसी में पुण्य-पाप को अलग न मानकर आस्रव और बंध तत्व के अन्तर्गत माना है।[7]

परिभाषा—कषाय सहित जीव योग के द्वारा कर्म के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करता है वह बंध है।[8] मूलाचारवृत्तिकार ने कहा है जिसके द्वारा कर्म बंधते हैं या बन्धनमात्र बंध है अथवा जीवों और कर्म प्रदेशों का परस्पर संश्लेषित होने या आपस में मिल जाने को बंध कहते हैं।[9] दूसरे शब्दों में आत्म-प्रदेशों के साथ

---

१. मूलाचार ८।४५.

२. रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥ वही, ८।३८.

३. नयचक्र १५२.

४. तत्त्वार्थवार्तिक १।४।१७।२६-२९.

५. मूलाचार ५।६, पंचास्तिकाय २।१०८

६. उत्तराध्ययन २८।२४.

७. तत्त्वार्थसूत्र : पं० फूलचन्द्रशास्त्री द्वारा सम्पादित १।४, पृष्ठ १०.

८. जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा।
गेण्हइ पुग्गलदव्वे बंधो सो होदि णादव्वो ॥ मूलाचार १२।१८३.

९. मूलाचार वृत्ति ५।६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म पुद्गलों का दूध-पानी की तरह मिल जाना, संबंधित हो जाना अथवा एकीभाव हो जाना बंध है। मूलाचारकार ने बंध के विषय में यह बताना अभीष्ट समझा है कि जीवतत्त्व नित्यानित्य रूप है। क्योंकि सर्वथा नित्य मानने पर योग और कषाय उत्पन्न न होने से संसार और मोक्ष तत्त्व की सिद्धि नहीं होगी और सर्वथा अनित्य मानने पर बंध की ही सिद्धि न होगी, तब मोक्ष किसे होगा ? अतः जीव को सर्वथा अपरिणत (नित्य) या सर्वथा उच्छिन्न (अनित्य) मानने पर तो बंध स्थिति का कारण ही समझ में नहीं आता।[1] अतः सर्वप्रथम जीवतत्त्व को नित्यानित्य रूप मानना चाहिए।

बंध के कारण—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार बंध के कारण आचार्य वट्टकेर ने बतलाये हैं।[2] तत्त्वार्थसूत्र में इन चारों के साथ प्रमाद को मिलाकर बंध के पांच हेतु बतलाये हैं।[3] किन्तु इसमें तात्त्विक दृष्टि से कोई मतभेद नहीं है क्योंकि अविरति और प्रमाद का अन्तर्भाव कषाय में ही हो जाता है। अतः मुख्य रूप में मिथ्यादर्शन, कषाय और योग—ये तीन ही बंध के कारण हैं। बंध के कारणों में—१. मिथ्यादर्शन का अर्थ है विपरीत श्रद्धान। २. हिंसा आदि पांच पापों को नहीं छोड़ना या पांच व्रतों का पालन न करना अविरति है। जिससे छह काय के जीवों की हिंसा से और इन्द्रियों के विषयों से निवृत्ति नहीं होती उसे भी अविरति कहते हैं। ३. अच्छे कर्मों में आदरभाव का न होना या कषाय सहित अवस्था और कुशल कार्यों में अनादर भाव प्रमाद कहलाता है। ४. चारित्ररूप आत्मपरिणामों में मलिनता को कषाय कहते हैं तथा ५. योग का अर्थ है आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द। यह मन, वचन और काय—इन तीनों के निमित्त से होता है। अतः योग के ये तीन भेद हैं। इस प्रकार ये बंध के पांच हेतु हैं।

बंध के भेद—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध—ये बंध के चार भेद हैं।[4] इनमें से जीव प्रकृति और प्रदेश बंध करता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध करता है।[5] ये ही कर्म की चार अवस्थायें हैं।

१. प्रकृतिबंध—कार्मण वर्गणा से आये हुए पुद्गल परमाणु ज्ञानावरणादि रूप से परिणत होते हैं अर्थात् कर्म पुद्गलों में जो ज्ञान को आवृत्त करने, दर्शन

---

१. अपरिणदुच्छिण्णेसु या बंधट्ठिदिकारणं णत्थि। मूलाचार ५।४७.
२. मूलाचार १२।१८२.
३. तत्त्वार्थसूत्र ८।१.
४. पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेशबंधो य चदुविहो होइ—मूलाचार १२।१८४.
५. जोगा पयदिपदेसा ठिदिअणुभागं कसायदो कुणदि—मूलाचार ५।४०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को रोकने और सुख-दुःख का अनुभव कराने का जो भाव बंधता है उस स्वभाव का निर्माण ही प्रकृतिबंध है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। जैसे नीम का स्वभाव कड़ुवा, गुड़ का स्वभाव मीठा होता है[1] इसी तरह जिस कर्म का जो स्वभाव है वह उसकी प्रकृति है। जैसे ज्ञानावरण कर्म का स्वभाव है ज्ञानगुण को ढ़कना।

इस प्रकृतिबंध के दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबंध और उत्तर-प्रकृतिबंध।[2] इनमें मूलप्रकृतिबंध के आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।[3] ये ही आठ मूल प्रकृतियाँ हैं जो कि उत्तरप्रकृतियों के लिए आधारभूत हैं।

२. स्थितिबंध—स्थिति अर्थात् काल मर्यादा। अतः कर्म परिणत पुद्गलों का जीव प्रदेशों के साथ निर्धारित कालावधि तक रहना स्थितिबंध है। अर्थात् कर्मबंधन की स्थिति से कुछ निर्धारित काल तक च्युत न होने की स्थिति रूप काल मर्यादा को स्थितिबंध कहते हैं। वस्तुतः प्रत्येक कर्म का बंध होते ही उसका सम्बन्ध आत्मा से कब तक रहेगा, इस काल मर्यादा का निश्चित होना ही स्थितिबन्ध है।

३. अनुभाग बंध—कर्म की इस अवस्था को अनुभव बन्ध[4] भी कहते हैं। इसका अर्थ है 'फलदान की शक्ति'। प्रत्येक कर्म में तीव्र या मन्द रूप में फल देने की शक्ति होती है अतः इसका निश्चय होना ही अनुभाग बंध है। इस तरह जीव प्रदेशों के साथ एकावगाह सम्बन्ध को प्राप्त हुए कर्म-प्रदेशों से जीव को विभिन्न प्रकार से सुख-दुःख रूप फल-प्राप्ति को अनुभाग बंध कहते हैं।

४. प्रदेश बंध—कर्म रूप से परिणत अनन्तानंत पुद्गल स्कन्धों का जीव के प्रदेशों के साथ गाढ़ सम्बन्ध होना प्रदेश बंध है। वस्तुतः प्रतिसमय बंधने वाले कर्म परमाणुओं की परिगणना प्रदेशबंध में की जाती है। जो कर्म आत्मा से बन्ध को प्राप्त होते हैं वे नियत ही रहते हैं। अतः एक काल में जितने कर्म परमाणु बन्ध को प्राप्त होते हैं उनका वैसा होना ही प्रदेशबंध है।

इस तरह जितने भी कर्म हैं वे सब इन चार भागों में विभाजित हैं। मूलाचारवृत्ति में कर्म की इन चार अवस्थाओं को इस प्रकार समझाया है—

---

१. प्रकृतिः स्वभावः निम्बस्य का प्रकृतिस्तिक्तता, गुडस्य का प्रकृतिर्मधुरता —मूलाचार वृत्ति १२।१८४.

२. दुविहो य पयदिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव—मूलाचार १२।१८४.

३. अट्ठविह कम्ममूलं····वही ९।११६.

४. प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः—तत्त्वार्थसूत्र २।३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिससे वह ही लक्षण रूप कार्य उत्पन्न होता है वह 'प्रकृति' कहलाती है। अपने स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध का नियतकाल तक अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत न होना उनकी स्थिति है। उनका रस विशेष अनुभव है। जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र, मन्द आदि भाव से रस विशेष या मधुरता होती है, वैसे ही कर्मपुद्गलों में अपने में होने वाली सामर्थ्य विशेष का नाम अनुभाग है। 'इयत्ता' अर्थात् 'इतना है'—ऐसा निश्चय होना प्रदेश है। इस तरह बंध के ये चार प्रकार हैं।[1]

कर्म की दस अवस्थायें

कर्म की विविध अवस्थायें होती हैं—जो बंध से लेकर उनकी निर्जरा होने तक यथासम्भव होती हैं। ये दस प्रकार की होती है। इन्हें कर्म प्रकृतियों के दस करण भी कहते हैं।[2]

१. बंधकरण—जिस समय कर्मों का आस्रव होता है उसी समय उनका बंध होता है। बंध होते समय प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग—ये चारों बातें एक साथ पैदा हो जाती हैं। अतः पुद्गल द्रव्य का कर्म रूप होकर आत्मप्रदेशों के साथ संश्लेष सम्बन्ध होना बंध है।

२. उत्कर्षण—कर्मों का जो स्थिति एवं अनुभाग पूर्व में था उसमें वृद्धि का होना उत्कर्षण है।

३. संक्रमण—एक कर्म प्रकृति के परमाणुओं का सजातीय दूसरी प्रकृति रूप हो जाना संक्रमण है। जैसे असाता कर्म परमाणुओं का साता रूप हो जाना। वैसे मूल कर्मों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। जैसे ज्ञानावरणकर्म दर्शनावरण रूप नहीं हो सकता।

४. अपकर्षण—कर्मों की स्थिति एवं उनका अनुभाग जो पूर्व में था उसको कम करना या घटाना अपकर्षण है।

५. उदीरणा—फलकाल के पहले कर्म के फल देने रूप अवस्था को उदीरणा कहते हैं।

६. सत्त्व—अस्तित्व अर्थात् पुद्गलों का कर्म रूप रहना सत्त्व है।

७. उदय—कर्मों का अपनी पूर्वबद्ध स्थितिबन्ध के अनुसार उदय को प्राप्त होना उदय है।

---

१. मूलाचार वृत्ति १२।१८४.

२. बंधुक्कट्टणकरणं, संकममोकट्टुदीरणा सत्तं।
उदयुवसामणिधत्ती, णिकाचणा होदि पडिपयडी ॥ गो० कर्मकाण्ड ४३७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८ उपशान्त—जो कर्म परमाणु उदीरणा को प्राप्त होने में समर्थ न हो उसे उपशान्तकरण कहते हैं।

९. निधत्ति—कर्म की वह अवस्था जो उदीरणा और संक्रमण इन दोनों के अयोग्य हो।

१०. निकाचित—कर्म की वह अवस्था जो उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा और सक्रम—इन चारों के अयोग्य हो वह निकाचित करण या निकाचना है।

अष्टविध कर्म :

मूल प्रकृतिबन्ध के जिन आठ भेदों का निर्देश किया है वे इस तरह हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इन्हें ही कर्म की मूलप्रकृतियाँ (स्वभाव) कहते हैं।

कर्म के इन आठ भेदों को दो भागों में विभाजित किया जाता है—घातिया कर्म और अघातिया कर्म। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातिया कर्म हैं तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार अघातिया कर्म कहलाते हैं। जिनसे अनुजीवी गुण (आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में न पाई जाने वाली शक्ति, जो आत्मा की विशेषता मानी जाती है वह शक्ति) रूप शक्तियों का घात करने वाले को घातिया कर्म कहते हैं तथा प्रतिजीवी शक्तियों (जो शक्तियाँ आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्य में भी सम्भव हैं) का घात करने वाले कर्म अघातिया कर्म कहे जाते हैं। वस्तुतः आत्मा में दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं—अनुजीवी और प्रतिजीवी। यद्यपि जीव के गुणों का घात दोनों कर्म करते हैं किन्तु घातिया कर्म अनुजीवी गुणों का और अघातिया कर्म प्रतिजीवी गुणों का घात करते हैं।

आठ प्रकार के कर्मों में प्रत्येक के प्रभेदों (उत्तर भेदों) को उत्तर-प्रकृतिबन्ध कहते हैं। ये उत्तरप्रकृतियों के भेद इस प्रकार हैं—ज्ञानावरण के पाँच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाइस, आयु के चार, नाम के बयालिस वथा प्रकारान्तर से तेरानबे, गोत्र के दो, अन्तराय के पाँच भेद। इस प्रकार ये सत्तानबे भेद हुए। इनमें नामकर्म के बयालिस भेदों के स्थान पर प्रभेदों सहित तिरानबे भेद करके जोड़ने पर इन आठ कर्मों के कुल एकसौ अड़तालीस भेद (उत्तरप्रकृतियाँ) होते हैं।[1]

---

१. पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चदुरो तहेव वादालं।
दोण्णि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव ॥ मूलाचार १२।१८६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलतः कर्म के दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। पुद्गल के पिण्ड को द्रव्यकर्म कहते हैं और उसमें जो फल देने की शक्ति है उसे भावकर्म कहते हैं।[1] द्रव्यकर्म के मूलतः भेद आठ हैं और उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस तथा उत्तरोत्तर भेद असंख्यात हैं। ये सब पुद्गल के परिणाम रूप हैं क्योंकि जीव की परतन्त्रता में निमित्त होते हैं। भावकर्म चैतन्य के परिणाम रूप क्रोधादि भाव हैं उनका तो प्रत्येक जीव को अनुभव होता है, क्योंकि जीव के साथ उनका कथंचित् अभेद है। इसी से भावकर्म पारतन्त्र्य स्वरूप हैं और द्रव्यकर्म परतन्त्रता में निमित्त होता है।[2]

कर्म स्वरूप विमर्श :—सामान्यतः जीव के द्वारा की जाने वाली अच्छी या बुरी क्रिया को कर्म कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार संसारी जीव प्रतिसमय मन, वचन और काय के योग (हलन-चलन रूप क्रिया) के द्वारा सूक्ष्म कर्म-परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते रहते हैं तथा राग-द्वेष एवं कषाय परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में आत्मा की शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट किये हुए पुद्गल चार प्रकार (प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश) से आत्मा के साथ सम्बन्ध करके जो शुभाशुभ फल के कारण बनते हैं, शुभाशुभ रूप से उदय में आते हैं, उन आत्म-ग्रहीत पुद्गलों को कर्म कहते हैं। जो जीव को परतन्त्र करते हैं अथवा जीव जिनके द्वारा परतन्त्र किया जाता है उन्हें कर्म कहते हैं।[3] जीव और पुद्गल इन दोनों का सम्बन्ध अनादि है। अतः संसारी जीव और पुद्गल में परिस्पन्द (हलन-चलन) रूप जो क्रिया होती है उसे कर्म कहते हैं।

कर्म पुद्गल जिस रूप में आत्मा की विभिन्न शक्तियों को प्रगट होने से रोकते हैं उनके ज्ञानावरण आदि आठ भेद किये। जो पदार्थ को ढकता है अथवा पदार्थ जिससे छिपाया जाता है उसे आवरण कहते हैं। यहाँ आवरण शब्द ज्ञान और दर्शन इन दो के साथ ही संबंधित है। आश्रव के द्रव्याश्रव और भावास्रव—इन दो भेदों में भी रागद्वेषादि परिणामों का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों के आत्म प्रदेश में खिचकर आने को द्रव्यास्रव तथा ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म आत्म प्रदेश की ओर खिचकर आने के निमित्त से जीव के रागादि विकल्प परिणामों

---

१. पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्तो भावकम्मं तु। गो० कर्मकाण्ड ६.
२. गो० कर्मकाण्ड भाग १—प्रस्तावना पृष्ठ १८. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
३. जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, स परतन्त्री क्रियते वा यस्तानि कर्माणि—आप्तपरीक्षा टीका पृ० ११३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भावास्रव कहा है। यद्यपि ये कर्म पुद्गल एकरूप हैं तो भी जिस-जिस आत्म-गुण को आच्छादित करते हैं तदनुसार ही उन कर्म पुद्गलों का वैसा नाम है। इस तरह विविध स्वभाववाले सभी कर्मों को आठ भागों में विभाजित किया गया है।

कर्मबंध की प्रक्रिया :--प्रश्न उठता है कि अमूर्तिक जीव (आत्म)--प्रदेश के साथ मूर्तिक कर्म पुद्गलों का संबंध होता कैसे है? इसका उत्तर यह है कि--जैसे घी, तेल आदि के स्नेह गुण से युक्त शरीर पर धूल चिपक जाती है वैसे ही राग-द्वेष रूप स्नेह से लिप्त जीव-प्रदेश में कर्म पुद्गल चिपक जाते हैं।[1] क्योंकि तैजस् और कार्माण शरीर के संबंध से प्रतिसमय जीव को कर्मरूप रेणुओं का बंध होता रहता है।

वस्तुतः कार्माण वर्गणाओं का आत्मा से संश्लेष रूप सम्बन्ध को प्राप्त होना बन्ध है। यद्यपि बन्ध 'कर्म और आत्मा' के एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध का नाम है तथापि यह सभी आत्माओं के नहीं पाया जाता है किन्तु जो आत्मा कषायवान् है वही कर्मों को ग्रहण कर उससे बँधता है। यदि लोहे का गोला गरम न हो तो पानी को ग्रहण नहीं करता किन्तु गरम होने पर वह जैसे अपनी ओर पानी को खींचता है वैसे ही शुद्ध आत्मा कर्मों को ग्रहण करने में असमर्थ है किन्तु जब तक वह कषाय सहित रहता है तब तक प्रत्येक समय में बराबर कर्मों को ग्रहण करता रहता है और इस प्रकार कर्मों को ग्रहण करके उनसे संश्लेष को प्राप्त हो जाना ही बन्ध है। इस बन्ध के मुख्य हेतु योग और कषाय हैं।[2]

उदाहरण के लिए योग को वायु की, कषाय को गोंद की, आत्मा को दीवाल की और कर्म परमाणुओं को धूलि की उपमा दी जा सकती है। यदि दीवाल में गोंद या तेल का लेप हो तो वायु के द्वारा उड़ने वाली धूलि दीवाल पर आकर चिपक जाती है तथा दीवाल के लेप रहित सूखी होने पर धूलि लगकर तुरन्त झड़ जाती है। यहाँ धूलि का हीनाधिक परिमाण में उड़कर आना वायु के वेग पर निर्भर है। वेग के तीव्र होने से अधिक धूलि और मन्द होने से कम धूलि उड़कर आती है। तेल या गोंद के लगे रहने से दीवाल पर धूलि अधिक समय तक रहती है। इसी प्रकार योग के तीव्र या मन्द होने से कर्म-परमाणु हीनाधिक रूप में आते हैं और कषाय—राग-द्वेष भावों के तीव्र या मन्द होने से कर्म आत्मा के साथ अधिक समय या कम समय तक रहते हैं।[3] जब यह जीव कर्म को बाँधता

---

१. णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणवो लग्गदे जधा अंगे।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वो ॥ मूलाचार ५।३९

२. तत्त्वार्थसूत्र ८।२-३. पृष्ठ ३७२. (पं० फूलचंद शास्त्री द्वारा सम्पादित)

३. गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ—पृष्ठ ३९२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तब उसकी मुख्यतः प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—ये पूर्वोक्त चार अवस्थायें होती हैं।

आत्मा का बहिर्जगत् के साथ जो संबंध है उसका माध्यम शरीर है और शरीर पुद्गल परमाणुओं का संगठित पुञ्ज है। शरीर और आत्मा दोनों के संयोग से उत्पन्न क्रियात्मक शक्तिरूप सामर्थ्य जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म परमाणुओं का संयोग (आस्रव) होता है और आत्मा के साथ संयुक्त होकर कर्म-योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को ही कर्मबंध की प्रक्रिया कहते हैं।

वस्तुतः रागद्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य (कर्म) आत्मा की ओर आकृष्ट होता है और उसके रागद्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है और दूध-पानी की तरह उसके साथ घुल-मिल जाता है। कालान्तर में वही द्रव्य आत्मा को अच्छा या बुरा फल मिलने में निमित्त होता है। इस तरह जीव को अपने शुभाशुभ कर्मों के उदय के कारण ही विभिन्न प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैनदर्शन में कर्म केवल एक संस्कार मात्र नहीं है अपितु वह एक वस्तुभूत पदार्थ है, जो जीव की राग-द्वेष रूप क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ मिल जाता है। यद्यपि यह एक भौतिक पदार्थ है किन्तु वह जीव के कर्म अर्थात् क्रिया के द्वारा आकृष्ट होकर जीव से बंधता है अतः वह कर्म कहलाता है।

कर्म के आठ भेदों का स्वरूप :

१. ज्ञानावरण—जो कर्मवर्गणा आत्मा के ज्ञान गुण के सहज स्वरूप को ढकते हैं। सूर्य के प्रकाश को ढकनेवाले बादल की तरह ज्ञानावरण कर्म होता है। यह बड़ा ही शक्तिशाली कर्म है जो आत्मा को जानने में आवरण का कार्य करता है। पाँच प्रकार के ज्ञानों को ढकने के कारण इसके पाँच भेद हैं[1]—(१) आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म। (२) श्रुतज्ञानावरण—शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान का आवरण बनने वाला कर्म। (३) अवधिज्ञानावरण—मर्यादा से युक्त ज्ञान का आवरण बनने वाला कर्म। (४) मनःपर्यय—दूसरे के मन की पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म। (५) केवल-ज्ञानावरण—त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों से युक्त समस्त जीवादि वस्तुओं को जानने वाले ज्ञान

---

१. आभिणिबोहियसुदओहीमणपज्जयकेवलाणं च।
आवरणं णाणाणं णादव्वं सव्वभेदाणं॥ मूलाचार १२।१८७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को आवृत करने वाला कर्म ।[1]

२. दर्शनावरण—पदार्थ का सामान्य अवलोकन भी जिससे नहीं होता[2] अर्थात् आत्मा के दर्शन गुण को आवृत करने वाला दर्शनावरण कर्म है । अतः जब कर्म वर्गणायें आत्मा की दर्शन शक्ति में बाधा डालती हैं तब दर्शनावरणी कर्म का उदय समझना चाहिए । इसके नौ भेद हैं[3]—इनमें निद्रा के निम्नलिखित भेद हैं। (१) निद्रा—सामान्य नींद अर्थात् श्रमादि दूर करनेके लिए सोना निद्रा है । (२) निद्रा-निद्रा—इस कर्मोदय से कहीं भी निद्रा में सशब्द (बड़बड़ाते हुए) सोना। (३) प्रचला—खड़े या बैठे हुए भी नींद लग जाना । (४) प्रचला प्रचला—चलते-फिरते हुए भी गहरी नींद आना । इसके तीव्र उदय से बैठे या उठे हुए व्यक्ति के मुख से लार निकलती है । शरीर और मस्तक कांपता रहता है । (५) स्त्यानगृद्धि—इसके उदय से जीव निद्रा में कुछ भी रौद्रकार्य कर सकता है । सोता हुआ भी कहीं भी चलकर जा सकता है फिर भी खबर नहीं रहती अर्थात् संकल्प किये हुए कार्य को नींद में कर डाले वैसी प्रगाढ़तम नींद । दर्शनावरणी कर्म के उदय से ये पाँच प्रकार की निद्रा होती है । (६) चक्षुदर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण । (७) अचक्षुदर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले दर्शन का आवरण । (८) अवधिदर्शनावरण—मूर्त द्रव्यों के साक्षात् दर्शन का आवरण । (९) केवल दर्शनावरण—सर्व-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात् दर्शन का आवरण ।[4]

३. वेदनीय—जिसके कारण जीव सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव (संवेदन) करता है वह वेदनीय कर्म है । सातावेदनीय और असातावेदनीय ये इसके दो भेद हैं ।[5] इन दोनों का स्वभाव जीवों को क्रमशः सुख और दुःख का अनुभव कराना है ।

४. मोहनीय—जो आत्मा को मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा आत्मा मोहित होता है वह मोहनीय कर्म है । यह आत्मा के दर्शन और चारित्र गुण का हनन करने वाला कर्म है । यह कर्म मदिरा (शराब) के समान है । जैसे मद्यपान से विवेक शक्ति कुंठित हो जाती है वैसी ही इसके कर्म पुद्गलों से आत्मा की विवेक-

१. मूलाचार वृत्ति १२।१८७.
२. दर्शनावरणस्यार्थानालोकनं—वही, १२।१८४.
३. णिद्दाणिद्दा पयलापयला तह थीणगिद्धि णिद्दा य ।
पयला चक्खू अचक्खू ओहीणं केवलस्सेदं ॥ वही १२।१८८.
४. मूलाचार वृत्ति १२।१८८.
५. सादमसादं दुविहं वेदणियं—मूलाचार १२।१८९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्ति कुंठित हो जाती है। वस्तुतः यह कर्म राग-द्वेष और मोह का जनक है। इसे सभी कर्मों में प्रधान माना जाता है। क्योंकि इस कर्म का जब तक पूरा प्रभाव रहता है, तब तक आत्मा विवेक शून्य बनी रहती है। क्रोधादि चारों कषायें इसी के उदय से होती हैं। इसके दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्र मोह।[1] दर्शनमोह जीव को अपने स्वरूप का यथार्थ दर्शन नहीं होने देता अर्थात् यह सम्यक् दृष्टि को विकृत करने वाला होता है तथा चारित्र मोह के उदय से जीव सांसारिक वस्तुओं में से किसी को अपने अनुकूल जानकर उसमें राग करता है और किसी को बुरा जानकर उससे द्वेष करता है।

५, आयुकर्म—जीवन (प्राण) को टिकाये रखने वाला कर्म। (जिस भव में गति में जन्म लिया है उसमें) कुछ काल प्राणधारण किये रखना आयुकर्म का स्वभाव है। आत्मा को किस शरीर में कितनी कालावधि तक रहना है यह निश्चय करना इसका कार्य है। चार गतियों की दृष्टि से इसके चार भेद हैं[2]—(१) नरकायु—जिस कर्मोदय से जीव नरकों में दीर्घकाल तक रहता है उसे नरकायु कहते हैं। (२) तिर्यञ्चायु—तिर्यञ्चगति में टिके रहने के निमित्त कर्म पुद्गल। (३) मनुष्यायु—मनुष्यगति में टिके रहने के निमित्तभूत कर्म पुद्गल। (४) देवायु—देवगति में टिके रहने के निमित्तभूत कर्म पुद्गल।

६. नामकर्म—नारकी, पशु, मनुष्य, देव आदि रूप नाम रखना नामकर्म का स्वभाव होता है। आत्मा को विभिन्न शरीरावयव रूप उत्पन्न करने वाले कर्म को भी नामकर्म कहते हैं। जैसे कोई चित्रकार विभिन्न रंगों से विभिन्न चित्र बनाता है ठीक वैसे ही नामकर्म विभिन्न परमाणुओं से जीवों के शरीर की रचना करता है। शुभ नामकर्म से अच्छी गति, सुन्दर शरीर आदि प्राप्त होते हैं तथा अशुभ नाम कर्म से नीचगति, कुरूप शरीर आदि प्राप्त होते हैं। इसकी बयालिस पिण्ड प्रकृतियाँ हैं। गति, जाति, शरीर, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, आंगोपांग, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, विहायोगति, स्थावर, त्रस, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्तक, साधारण, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, सुस्वर, दुःस्वर, यशःकीर्ति, अयशःकीर्ति, निर्माण (निमान) और तीर्थंकर।[3] इन बयालिस भेदों में एक-एक की अपेक्षा से नामकर्म के तिरानवें भेद होते हैं।

---

१. मोहणीयं च। दंसणचरित्तमोहं—मूलाचार १२।१८९.

२. णिरयाऊ तिरियाऊ माणुसदेवाण होंति आउणी। मूलाचार १२।१९३.

३. वही, १२।१९३–१९६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. गोत्र—जिसके कारण उच्च तथा नीच कुल में जन्म होता है वह गोत्र कर्म है। इसके दो भेद हैं : उच्च तथा नीच।[1] शुभ गोत्र कर्म के उदय से उच्च गोत्र मिलता है तथा अशुभ गोत्र कर्म के उदय से नीच गोत्र मिलता है।

८. अन्तराय—दानादि कार्य में विघ्न उपस्थित करने वाले कर्म को अर्थात् अभीष्ट की उपलब्धि में बाधा पहुँचाने वाले कर्म को अन्तराय कहते हैं। यह कर्म राजा के भण्डारी की तरह होता है। अर्थात् यदि किसी राजा की दान देने की इच्छा होते हुए भी भण्डारी किसी न किसी बहाने से दान नहीं देने देता वैसे ही यह कर्म शुभ कार्यों में विघ्न उपस्थित करता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य—इन पांचों में अन्तराय उपस्थित करने से इसके पाँच भेद होते हैं—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।[2]

वस्तुतः आत्मा के आठ गुण माने जाते हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख, क्षायिक-सम्यक्त्व, अटल अवगाहन, अमूर्तिकता, अगुरूलघुता एवं लब्धि—इन आठ गुणों को क्रमशः ज्ञानावरणादि आठ कर्म आवृत करते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—ये चार **घातियाकर्म** आत्मा के ज्ञान, दर्शन और शक्ति गुणों को आवृत करते हैं तथा आत्मा की सहजता को प्रकट नहीं होते देते। इन चारों में मोहनीय कर्म सबसे प्रबल है जब तक यह समाप्त नहीं होता तब तक इससे कर्मबन्धन का प्रवाह सतत् चलता रहता है। यही कर्म संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण होने से सब कर्मों में प्रधान है। इसकी प्रबलता को वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—ये चार **अघातिया कर्म** आत्मा की सहजता और निर्मलता की उपलब्धि में बाधक नहीं बनते अतः समय की परिपक्वता के साथ ही ये अपना फल देकर सहज ही अलग हो जाते हैं। ये भुने हुए चने की तरह हैं जिनमें नये कर्मों की उत्पादन क्षमता नहीं होती। अतः ये कर्म परम्परा का प्रवाह बनाये रखने में असमर्थ होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि जो जीव संसार में स्थित हैं उनके राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। परिणामों से नये कर्म बँधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है, जन्म लेने से शरीर होता है, शरीर से इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। इस

---

१. उच्चाणिच्चागोदं—मूलाचार १२।१९७.

२. ....दाणं लाभंतराय भोगो य। परिभोगो विरियं चेव अंतरायं च पंचविहं॥
—वही, १२।१९७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार संसाररूपी चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्म और कर्म के भाव होते रहते हैं। यह प्रवाह अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा सादि मात्र है।[1]

कर्म सिद्धान्त और सृष्टि प्रक्रिया

इस प्रकार जीव की क्रिया के साथ पौद्गलिक कर्मबन्धन के इस सिद्धान्त की मान्यता जैन धर्म की अपनी अद्वितीय देन है जो अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः जैनधर्म सृष्टि के कर्तृत्व सिद्धान्त को नहीं मानता। उसकी अपनी मान्यता है कि यह विश्व अनादि और अनन्त है। इसे किसी ने न तो बनाया है और न इसका कोई संहारक ही है। यह तो स्वाभाविक प्रक्रिया है। जीव, पुद्गल (अजीव) धर्म, अधर्म, आकाश और काल— इन छह द्रव्यों में से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों का संयोग-वियोग हमेशा होता ही रहता है। इसी का नाम संसार है। जैन धर्म की यह मान्यता विज्ञान-सम्मत भी है।

७. संवर :

कर्मागमन रूप द्वार जिससे रोका जाय अर्थात् जिन परिणामों से कर्मों का आगमन रुक जाता है उसे संवर कहते हैं।[2] वस्तुतः संवर काहेतु निरोध है और यह संवर आस्रव का प्रतिपक्षी है। आस्रव कर्म ग्राहक अवस्था है तथा संवर कर्म निरोधक अवस्था। इसीलिए कर्म का निरोध करने वाली, कर्म का प्रवेश रोकने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है।

अयत्नाचारी प्रमादी जीव क्रोधादि के द्वारा कर्मों का आस्रव करता रहता है किन्तु अप्रमादी विद्वान् क्रोधादि के प्रतिपक्षी क्षमादि गुणों के द्वारा आस्रव रूप कर्मागमन को रोक देता है। वे मिथ्यात्व रूप आस्रव के द्वार को सम्यक्त्व रूपी दृढ़ कपाटों तथा हिंसादि रूप कर्मागमन के द्वार को अहिंसादि दृढ़ महाव्रत रूप फलकों से बंद कर देते हैं।[3] मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—ये चार कर्मागमन के कारण हैं किन्तु इन्हीं से जिन कर्मों का आस्रव होता है उन कर्मों का आगमन सम्यग्दर्शन, विरति परिणाम, कषाय-निग्रह और योग-निरोध से नहीं होता है।[4] इस

---

१. पंचास्तिकाय गाथा १२८-१३०.

२. कर्मागमनद्वारं संवृणोतीति संवरणमात्रं वा संवरोऽपूर्वकर्मागमन निरोधः— मूलाचार वृत्ति ५।६.

३. मूलाचार ५।४३,४२.

४. मिच्छत्ताविरदीहि य कसायजोगेहिं जं च आसवदि।
दंसणविरमणणिग्गह णिरोधणेहिं णेतु णासवदि ।। वही ५।४४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार आस्रव से नये-नये कर्म प्रविष्ट होते रहते हैं किन्तु संवर से नवीन कर्मों का प्रवेश रुक जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी कहा है आस्रवद्वार का निरोध करना संवर है।[1]

८. निर्जरा :

जिससे पूर्वबद्ध कर्मप्रदेश निर्जरित होते हैं वह निर्जरा है। कर्मों का झड़ना (खिरना) अर्थात् जीव (आत्मा) से संबद्ध कर्म प्रदेशों की हानि का नाम निर्जरा है।[2] पूर्वकृत कर्मों का थोड़ा-थोड़ा अलग होना भी निर्जरा है।[3] इस प्रकार शुभ योग की प्रवृत्ति से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता का नाम निर्जरा है।

निर्जरा के दो भेद हैं—विपाक निर्जरा तथा अविपाक निर्जरा।[4] जैसे वनस्पतिफल योग्यकाल में पककर गिर जाते हैं वैसे ही योग्य काल में कर्म का उदय होकर जो निर्जरा होती है वह **विपाकजा** निर्जरा कहलाती है तथा जैसे पुरुष प्रयत्न के द्वारा समय से पहले ही फल को पका लेता है वैसे ही तपश्चरणादिक उपायों से अपक्व कर्मों को भी पकाकर उसका एकदेश नष्ट होना अविपाक **निर्जरा** है। इसे औपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं।

९. मोक्ष :

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग माना गया है। इन तीनों की पूर्णता होने पर आत्मा कर्मों से मुक्त होकर पूर्ण विशुद्ध होता है। अतः जीव की स्वाभाविक शुद्ध अवस्था के प्रकट होने को ही मोक्ष कहते हैं। इसलिए कर्मबंधन से सदा के लिए मुक्ति को मोक्ष कहा है। सम्पूर्ण रूप से कर्मबन्ध के कारणों का अभाव तथा कर्मक्षय होने रूप निर्जरा के कारण पूर्णरूप से कर्मों का क्षय होना मोक्ष है। रागी जीव (राग-द्वेष द्वारा) कर्मों को बाँधता है और जब वह सकल कर्मों से रहित अर्थात् वीतरागता से

---

१. आस्रवनिरोधः संवरः—तत्वार्थ सूत्र ९।१.

२. (क) निर्जरणं निर्जरयत्यनया वा निर्जरा जीवलग्नकर्मप्रदेशहानि :
—मूलाचार वृत्ति ५।६.
(ख) पुव्वकदकम्मसडणं तु णिज्जरा—भ० आ० १८४७.

३-४. मूलाचार ५।४८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पन्न हो जाता है तब उसे मोक्ष प्राप्त होता है।[1] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन कर्म-बन्ध के कारणों का अभाव हो जाने से तथा संचित कर्मों की निर्जरा से समस्त कर्मों का आत्यन्तिक अभाव (क्षय) होना ही मोक्ष है।[2] आचार्य पूज्यपाद के अनुसार जब आत्मा कर्ममल-कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुण रूप और अव्याबाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।[3] अकलंकदेव ने कहा है कि सम्यग्दर्शनादि कारणों से सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक मूलोच्छेद होना मोक्ष है। जिस प्रकार बन्धन में पड़ा हुआ प्राणी जंजीर आदि से छूटकर स्वतन्त्रता पूर्वक यथेच्छ गमन करते हुए सुखी होता है, उसी प्रकार समस्त कर्म बंधनों से मुक्त होकर आत्मा स्वाधीन हो अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।[4]

वस्तुतः मोक्ष साध्य है और संवर-निर्जरा साधन हैं क्योंकि संवर हो जाने पर जो पूर्व संचित कर्म हैं वे अपना रस देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म आते नहीं, ऐसी अवस्था में मुक्ति प्राप्ति स्वाभाविक है। एक बार कर्म बंधन से आत्मा अलग हो पाता है तो फिर सदा के लिए वह कर्मबंधन से मुक्त रहता है। इसीलिए मुक्ति को आत्मा का चरम पुरुषार्थ कहा है। वस्तुतः मुक्ति का प्रारम्भ तो होता है पर अन्त नहीं होता इसीलिए वह अनन्त है।

उपसंहार : इस प्रकार नव तत्वों (पदार्थों) में जीव और अजीव ये दो मुख्य तत्व हैं। इन्हीं दो के विस्तार से नव तत्त्वों की गणना होती है। क्योंकि मोक्ष साधन के रहस्य को बतलाने के लिए इन नव पदार्थों का भेद आवश्यक है। इनमें प्रथम जीव और अन्तिम मोक्ष तत्व है। इन दोनों तत्त्वों के साथ ही अन्य तत्त्वों के भेदों में तो मोक्ष की साधक तथा बाधक अवस्थाओं का विवेचन है। साधक तत्व तो स्पष्ट हैं किन्तु बाधक तत्व

---

१. रागी बंधइ कम्मं मुच्चइ जीवो विराग संपण्णो।
एसो जिणोवएसो समासदो बंधमोक्खाणं ॥ मूलाचार ५।५०.

२. (क) बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः—तत्त्वार्थसूत्र १०।२.
(ख) अभावाद्बन्धहेतूनां बद्धनिर्जरया तथा।
कृत्स्नकर्मप्रमोक्षो हि मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ तत्वार्थसार ८।२.

३. निरवशेषनिराकृतकर्ममल-कलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादि-गुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। सर्वार्थसिद्धि १।१. उत्थानिका पृष्ठ १.

४. कृत्स्नकर्मवियोग लक्षणोमोक्षः—तत्त्वार्थवार्तिक १।४।२० पृष्ठ २७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुख्यतः अचैतन्य स्वरूप वाला अजीव तत्व है। यह जीव का विरोधी है। पुण्य, पाप एवं बन्ध—ये तीनों जीव के द्वारा होने वाली अजीव की अवस्थायें हैं, जो आत्मा के मुक्त होने में बाधक हैं। आस्रव तत्व भी मुक्ति में बाधक है। संवर और निर्जरा तत्त्व आत्मा की अवस्था है और साधक भी हैं। मोक्ष आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। खान से निकले हुए स्वर्ण पाषाण में जैसे स्वर्ण के अतिरिक्त मिट्टी आदि विजातीय वस्तुएँ होती हैं। उसे अग्नि के द्वारा दग्ध किया जाता है, तब वह शुद्ध स्वर्ण रूप धारण कर लेता है। उसी प्रकार कर्मों की अशुद्धता को दूर करने के लिए आत्मा को तपादि से तप्त करते हैं, तब आत्मा विशुद्ध होकर मुक्ति प्राप्त करता है।[1] कहा भी है—सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत् रक्षा करनी चाहिए। अरक्षित आत्मा जाति-पथ(जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[2] इस तरह विजातीय द्रव्य से सम्बन्ध छूटकर आत्मा के निर्मल आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाना ही मोक्ष है। निर्वाण, परमपद, शिव, सिद्धगति,[3] पंचमगति आदि मोक्ष पर्याय के ही अन्यान्य नाम हैं।

●

---

१. मूलाचार ५।४६.

२. अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहि एहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥
—दशवैकालिक चूलिका २।१६.

३. मूलाचार ९।१०५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अंगसुत्ताणि—भाग १, २, ३, सं०—मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं, वि० सं० २०३१.

अध्यात्म अमृत-कलश—पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, श्री चंद्रप्रभ दि० जैन मंदिर, कटनी (म० प्र०) १९८१.

अनगार धर्मामृत—पं० आशाधर, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई १९१९.

अनगार धर्मामृत— ,, अनु० पं० खूबचन्द्र जैन, श्रुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन, वी० सं० २४८१.

अनगार धर्मामृत—ज्ञानप्रदीपिका स्वोपज्ञ टीका, संपा० एवं अनु०—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७७.

अनुयोगद्वार सूत्र—आर्यरक्षित, आगमोदय समिति, बम्बई, १९२४.

अन्तकृद्दशांग सूत्र—व्या० आत्मारामजी, आत्माराम जैन प्रकाशन समिति लुधियाना, वी० सं० २४९६.

अभिधान राजेन्द्र कोश—विजयराजेन्द्र सूरीश्वर, जैन श्वे० संघ, रतलाम १९१३-१४.

अमितगति श्रावकाचार—दि० जैन पुस्तकालय, सूरत, वी० सं० २४८४.

अष्टक प्रकरण—हरिभद्रसूरि.

अष्ट प्राभृत—आ० कुन्दकुन्द (इसके अन्तर्गत—दंसण, सुत्त, चारित्त, बोध, भाव, मोक्ख, लिंग, सील—ये आठ पाहुड हैं) प्रका०—परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास, १९६९.

अष्ट पाहुड—अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१६.

अष्टांग-हृदयम्—वाग्भट, व्या० पं० लालचन्द वैद्य, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९६३.

आउर पच्चक्खाण पइण्णा—(आराधनासार के अन्तर्गत संकलित) वीरभद्र महर्षि प्रका०—विजयसिद्धिसूरि ग्रन्थमाला, बीलीमोरा (गुजरात) वी० सं० २४६७.

आगम शब्दकोश—सं० युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं १९८०.

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार—डॉ० लालबहादुर शास्त्री, चाँदमल सरावगी ट्रस्ट, गौहाटी, १९७६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य धर्मसागर अभिवन्दन ग्रन्थ—सं० धर्मचन्द्र शास्त्री, श्री दि० जैन नवयुवक मण्डल, कलकत्ता, १९८१.

आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ—जैन श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता, १९६२.

आचारसार—वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई वि० सं० १९७४.

आचारांग चूर्णि—जिनदास गणि, ऋषभदास केशरीमल संस्था, रतलाम, १९४१.

आचारांग सूत्र—व्या० आत्मारामजी, आत्माराम जैन प्र० समिति, लुधियाना, १९६३.

आचारांग टीका—शीलांकाचार्य, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, १९३५.

आचारांग—हिन्दी छायानुवाद, सं० गोपालदास जीवाभाई पटेल, श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेन्स, बम्बई, १९३८.

आत्मानुशासन—आ० गुणभद्र, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, वि० सं० २०१८.

आदिपुराण—जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६३.

आप्तपरीक्षा (सटीक)—आचार्य विद्यानन्द, सं०-पं० दरबारी लाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९४९.

आप्तमीमांसा (देवागम)—समन्तभद्राचार्य, अनु० पं० जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, १९६७.

आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका—अनु० प्रो० उदयचन्द जैन, गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी, वी० नि० सं० २५०१.

आयारो—वाचना-प्रमुख आचार्य तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं, १९७४.

आयारो तह आयारचूला ,, जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता १९६७.

आराधनासार—देवसेनाचार्य, सं० टी०-रत्नकीर्तिदेव, जैनधर्मशाला, प्रयाग, १९६७.

आराधनासार—वीरभद्र महर्षि, श्रीविजयसिद्धिसूरि ग्रन्थमाला, बीलीमोरा (गुजरात) वी० सं० २४६७.

आवश्यकचूर्णि—(भाग १-२) जिनदासगणि, ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, १९२८.

आवश्यक निर्युक्ति—आ० भद्रबाहु, मलयगिरिवृत्ति सहित, आगमोदय समिति, बम्बई १९२८.

आवश्यकनिर्युक्ति—हारिभद्रीयवृत्ति, ,, ,, १९१६.

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका—(१-२ विभाग) निर्युक्तियुत, भाष्यकलित—श्रीविजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, १९३९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकसूत्र—व्या० अमोलकऋषि, हैदराबाद सिकन्दराबाद जैन संघ, २४४६.

औपपातिक सूत्र—प्रका०-भूरामल कालिदास, सूरत वि० सं० १९९४.

औपपातिक सूत्र—अभयदेव सूरी वृत्ति, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारक फण्ड, सूरत, १९३७.

ओघनिर्युक्ति—द्रोणाचार्य वृत्ति सहित, आगमोदय समिति, मेहसाना, १९१९.

उत्तरज्झयणाणि—भाग १-२, सं० मुनि नथमल, जैन श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता १९६७.

उत्तराध्ययन वृत्ति—नेमिचन्द्रकृत सुखबोधावृत्ति, आत्मबल्लभ ग्रन्थावली बलाद्, अहमदाबाद, १९३७.

उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति—भद्रबाहुकृत नियुक्ति, शान्तिसूरिकृत शिष्यहिता बृहद्-वृत्ति सहित, प्रका०-देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई १९१६-१७.

उत्तराध्ययन सूत्र—जैन पुस्तकोद्धार समिति, सूरत, १९१६.

उत्तराध्ययन सूत्र : एक परिशीलन—डॉ० सुदर्शनलाल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी—१९७७.

उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास—डॉ० नलिनाक्ष दत्त, के० डी० बाजपेयी, उत्तर प्रदेश सरकार प्रकाशन ब्यूरो, लखनऊ १९५६.

उपासकदसांग सूत्र—सं० व अनु० (अंग्रेजी में) एन० ए० गोरे, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना १९५३.

उववाईसुत्त—अनु०-मुनि उमेशचन्द अणु, अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ शैलाना (म० प्र०) १९६३.

उववाईसुत्त—अनु० अमोलक ऋषि, जैन शास्त्रोद्धार, सिकंदरावाद, २४४६.

उवासकदसाओ—सं० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८० ई०

एकादशोपनिषद्—सं० सत्यव्रत विद्यालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी, देहरादून.

एथिकल डॉक्ट्रिन्स इन जैनिज्म—डॉ० के० सी० सोगानी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर १९६७.

ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर (भाग २)—डा० मोरीस विन्टरनिट्ज, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३३.

ए हिस्ट्री आफ द कनानिकल लिट्रेचर आफ द जैन्स—ही० र० कापड़िया, ही० रा० संकड़ीसेरी, गोपीपुरा, सूरत, १९४१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कल्पसमर्थनम्—पूर्वतनाचार्य, ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम, वी० सं० २४६४.

कल्पसूत्र—प्रका० साराभाई मणिलाल नबाब, अहमदाबाद, १९४१.

कल्पसूत्र-कल्पलता व्याख्या—प्रका०-वेलजी शिवजी कम्पनी, दाणाबन्दर, बम्बई, १९१८.

कल्पसूत्र टीका—पूज्य घासीलाल जी महाराज कृत कल्पमंजरी टीका, प्रका०-अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९५८

कषाय पाहुड : जयधवला टीका सहित—प्रका० भा० दि० जैन संघ ग्रन्थमाला, मथुरा, १९४४.

कसाय-पाहुडसुत्त—भ० गुणधराचार्य, वीरशासन संघ, कलकत्ता, १९५५.

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—प्रका०-श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, वी० सं० २४८६.

कार्तिकेयानुप्रेक्षा—अनु० पं० महेन्द्रकुमार पाटनी, वीतराग विज्ञान प्रकाशिनी, ग्रन्थमाला, खण्डवा १९७४.

कुन्दकुन्द प्राभृतसंग्रह—सं० पं० कैलाशचन्द शास्त्री, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९६०.

कुन्दकुन्द भारती—सं०-पं० पन्नालाल सा० आचार्य, श्रुतभण्डार व ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटन, १९७०.

कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्—रामतेज शास्त्री, काशी, सं० २०००.

गच्छाचार पयन्ना—पूर्वाचार्य, श्री भूपेन्द्रसूरि जैन सा० समिति आहौर, १९४५.

गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ—सं०-पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४.

गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ—अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९६७.

गोम्मटसार कर्मकाण्ड—पं० मनोहरलाल कृत वृत्ति—परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९१३.

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) अनु०-पं० खूबचन्द जैन, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास १९५९.

गोम्मटसार—(जीवकाण्ड)—भा० जैन सि० प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता.

गोम्मटसार—जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड, (चार भागों में) जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका—सं०-पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चंदगविज्झं पइण्णयं—श्री केसरवाई ज्ञानमंदिर C/o नगीनभाई हाल पाटण (उ० गु०) १९४१.

चतुःशरण सूत्र—आगमोदय समिति, बम्बई, वि० सं० १९८३.

चन्दाबाई (ब्र० पं०) अभिनन्दन ग्रन्थ—अ० भा० दि० जैन महिला परिषद, आरा १९५४.

चन्द्रसागर स्मृतिग्रन्थ—प्र० सं०-आर्यिका सुपार्श्वमती, प्र०—मिश्रीलाल बाकलीवाल, गौहाटी, वी० नि० सं० २५०२.

चरणानुयोग-प्रवेशिका—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, १९७४.

चारित्र चक्रवर्ती—पं० सुमेरचन्द दिवाकर, देशभूषण ग्रन्थमाला, कोथली, १९७२.

चारित्रपाहुड—माणिक चन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७.

चारित्रप्रकाश—धनमुनि (प्रथम), श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, बालोतरा (राजस्थान) वि० सं० २०२३.

चारित्रभक्ति—(कुन्दकुन्द भारती के अन्तर्गत "भक्ति संग्रह")

चारित्रसार—चामुण्डराय, मा० च० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७४.

छान्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१३.

जयधवला सहितं कसायपाहुडं—(भाग १)सं०-पं० फूलचन्द जी शास्त्री, भा० दि० जैनसंघ, चौरासी, मथुरा, १९४४,

जिनरत्नकोश—हरिदामोदर वेलणकर, प्रका० भण्डारकर प्राच्य विद्या व शोध मंदिर, पूना १९४४ ई०

जिनसहस्रनाम—श्रुत सागरीयटीका, सं०—पं० हीरालाल सि० शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४.

जीतकल्पसूत्र—जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, जैन साहित्य सं० समिति अहमदाबाद, १५३६.

जीतकल्पभाष्य—स्वोपज्ञ भाष्यसहित-जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, प्रका० श्री बालचंद्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद वी० नि० सं० २४६४.

जीव-अजीव—मुनि नथमल जी; प्र०-जैन श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता, २४७५.

जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—डा० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५.

जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी, १९६६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनागम निर्देशिका—मुनि कन्हैयालाल, आगम अनुयोग प्रकाशन, दिल्ली, १९६६.

जैन तत्त्वमीमांसा—पं० फूलचन्द्रशास्त्री, अशोक प्रकाशन मंदिर भदैनी, वाराणसी।

जैन थ्योरीज आफ रियलिटी एण्ड नॉलेज—वाई० जे० पद्मराजिह, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई १९६३.

जैनदर्शन—पं० महेन्द्रकुमार, ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी, १९५५.

जैनदर्शन मनन और मीमांसा—मुनि नथमल, सं० मुनि दुलहराज, आदर्श साहित्य संघ, चुरु, १९७३.

जैनधर्म—पं० कैलाशचन्द शास्त्री, भा० दि० जैन संघ मथुरा, १९५५.

जैनधर्म में तप—मिश्रीमल जी महाराज, प्र०—मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति.

जैनधर्मामृत—सं०-पं० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६५.

जैनधर्मसार—सर्वसेवासंघ, वाराणसी १९७४.

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास—भाग १, पं० बलभद्र जैन, प्र०—केशरीचन्द श्रीचन्द्र चावलवाले, दिल्ली वी० नि० सं० २५००.

जैनधर्म का प्राचीन इतिहास—भाग २, पं० परमानन्द जैन, प्रका०-रमेशचन्द जैन मोटर वाले, दिल्ली, वी० नि० सं० २५००.

जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन—भाग १-२. ले०-डॉ० सागरमल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर–१९८२.

जैनिज्म इन नॉर्थ इण्डिया—सी० जे० शाह, लॉगमैन ग्रीन एण्ड कं० लंदन, १९३२.

जैनिज्म दि ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन—डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, जैन कल्चर सोसाइटी, वाराणसी १९५१.

जैन लक्षणावली—भाग १, २, ३, सं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९७२-७३-७९.

जैन व्यू आफ लाइफ—टी० जी कलघटगी, जैन सं० संरक्षक संघ, सोलापुर १९६९.

जैन साइकोलॉजी—डा० मोहनलाल मेहता, जैनधर्म प्रचारक समिति बनारस १९५५.

जैन साहित्य और इतिहास—पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश -प्रथम खण्ड, जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मंदिर, दिल्ली, १९५६.

जैन साहित्य का इतिहास—(पूर्वपीठिका)—पं० कैलाशचन्द शास्त्री, वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० नि० सं० २४८९.

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—(भाग १,२,३,४,५ एवं ६) प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी,

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—(भाग १-४)-क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७०-७२.

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (भाग १-८)—सं० भैरवदान सेठिया, जैन पारमार्थिक संस्था बीकानेर, वी० सं० २४७१-७५ ।

ज्ञान-कोश—सं० बाबू धनकुमारचन्द्र जैन, प्र० रोशनलाल जैन बुकसेलर, सरस्वती सदन, आरा, वि० सं० १९९३.

ज्ञाताधर्मकथा—त्रिलोकरत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, १९६४.

ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि—भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९६९.

ज्ञानसार—पद्मसिंह मुनि, भा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७५.

ज्ञानार्णव—शुभचन्द्राचार्य, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९२७.

ठाणं—वाचना प्रमुख आ० श्री तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९७६.

ठाणांग सुत्त—व्याख्या-अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, २४४६.

तत्त्वसमुच्चय—सं० डॉ० हीरालाल जैन, प्र० जमनालाल जैन, भा० जैन महामंडल, वर्धा, १९५५.

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य—उमास्वाति, दे० ला० जैन पुस्तकोद्धारक फंड, बम्बई, वि० सं० १९८२-८६.

तत्त्वार्थवार्तिक—भाग १-२, अकलंकदेव, सं० पं० महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९४४.

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—सं०-पं० मनोहरलाल, गांधी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१८.

तत्त्वार्थसार—अमृतचन्द्राचार्य, ग० वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी, १९७०.

तत्त्वार्थसूत्र—पं० सुखलाल संघवीकृत विवेचना, जैन संस्कृति सं० मण्डल, वाराणसी, १९५२.

तत्त्वार्थसूत्र—सं०-पं० फूलचन्द्र शास्त्री, ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, २४७६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र—सं०-पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री भा० दि० जैन संघ, मथुरा।

तिलोयपण्णत्ति (भाग १-२)—यतिवृषभाचार्य, सं०—डॉ० ए० एन० उपाध्ये, डा० हीरालाल जैन, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९४३.

तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा—भाग १-२-३ डा० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर, १९७४.

तुरीयातीतोपनिषद्.

तैत्तरीय उपनिषद्—(१०८ उपनिषद्) सं० वा० ल० शास्त्री. प्र० पाण्डरंग जावजी, बम्बई १९३२.

त्रिलोकसार—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, मा० दि० जै० ग्रंथमाला, बम्बई, वी० सं०२४४४.

दंसण पाहुड—अष्ट पाहुड के अन्तर्गत.

दत्तात्रेय सहस्रनाम.

दर्शन और चिन्तन—खण्ड दो, पं० सुखलाल संघवी, मुख्य सं०-पं० दलसुखभाई मालवणिया, प्रका० पं० सुखलालजी सम्मान समिति अहमदाबाद, १९५७.

दशवैआलियं—सं०-मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूं १९७४.

दशवैकालिक—अगत्स्यसिंह चूर्णि (दसवेआलियं, प्रका० जैन विश्वभारती, लाडनूं से साभार उद्धृत).

दशवे कालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन—आ० तुलसी, जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, वि० सं० २०२३.

दशवैकालिकचूर्णि—जिनदासगणि, दे० ला० जवेरी, सूरत; १९३३.

दशवैकालिकनियुक्ति—भद्रबाहु द्वितीय कृत, दे० ला० जैन पुस्तकोद्धारक भण्डार, बंबई, १९१८.

दशवैकालिक सूत्र—अनु० घेवरचन्द बांठिया, अ० भा० साधुमार्गी संघ, सैलाना, १९६४.

दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति—जैन पुस्तकोद्धार फंड, बंबई, १९१८.

दशाश्रुतस्कन्ध—सं० अनु०—आत्माराम महाराज, जैन शास्त्रमाला, लाहौर, १९३६.

दिगम्बर मुनि—आर्यिका ज्ञानमती, दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर वी० नि० सं० २५०७.

दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि—बाबू कामताप्रसाद जैन, दि० जैन समाज, अमीरगंज, १९७०.

दीघनिकाय पालि—(१ सीलक्खन्धवग्गो) प्रधान संपा०—भिक्खु जगदीश कश्यप, विहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नालन्दा १९५८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीघनिकाय—अनुवाद–राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६.
दौलतराम क्रियाकोश—जैन साहित्य प्रकाशन कार्यालय, बंबई, १९१८.
द्रव्यसंग्रह—नेमिचन्द्र सि० चक्र०, जैन हितैषी पुस्तकालय, बंबई, १९०८.
द्वादशानुप्रेक्षा (बारसअणुवेक्खा)—आ० कुन्दकुन्द, मा० च० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि० सं० १९७७.
धम्मपद—धर्मरक्षित, मा० खेलाड़ीलाल एन्ड संस, बनारस, १९५३.
धर्मरसिक (त्रैवर्णिककाचार)—सोमसेन भट्टारक, अनु० पं० पन्नालाल सोनी, जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय गिरगाँव बम्बई, वी० सं० २४९१.
धर्मसंग्रह (श्रावकाचार)—मेधावी पण्डित, (श्रावकाचार संग्रह-भाग २ के अन्तर्गत) शान्तिसागर जिनवाणी संस्था, फलटन १९७६.
धर्मसंग्रहणी—हरिभद्रसूरि, ऋ० के० श्वे० संस्था, रतलाम, १९२८.
धवला—(षट्खण्डागम की टीका) भाग १-६-आ० वीरसेन, सं० हीरालाल जैन, प्र०–सितावराय लखमीचन्द जैन सा० फण्ड अमरावती, १९३९-५८.
ध्यानशतक—जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, वृत्तिकार–हरिभद्रसूरी, प्र०–विनयभक्ति सुन्दर चरण ग्रन्थमाला, जामनगर १९४०.
नन्दिसूत्रम्—व्या० घासीलाल महाराज, अ० भा० श्वे० स्था० समिति, राजकोट १९५८.
नवपदार्थ—आ० भिक्खु, अनु० श्रीचन्द्र रामपुरिया, जै० श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता, १९६१.
नयचक्र—सं० पं० कैलाशचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७१.
नारद शिक्षा—
नारद–परिव्राजकोपनिषद् ।
नाटचशास्त्र—भरत मुनि, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस १९२९.
नियमसार—आ० कुन्दकुन्द, सं०-पं० अजितप्रसाद, अजिताश्रम लखनऊ, १९३१.
नियमसार वृत्ति—जैन ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, १९२६.
निशीथ एक अध्ययन—पं० दलसुखभाई मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा.
निशीथ सूत्र—व्या०–अमोलक ऋषि, है० सि० जैन संघ, वी० सं० २४४६.
निशीथ भाष्य-चूर्णि—जिनदास गणि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९५७-६०.
नीतिसार—इन्द्रनन्दि भट्टारक, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि० सं० १९७५.
नीतिवाक्यामृत—सोमदेवसूरि, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि० सं० १९७९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचसंग्रह (संस्कृत)—अमितगति सूरि, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, १९२७.
पंचसंग्रह (प्राकृत)—अज्ञात, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६७.
पंचाध्यायी—कवि राजमल्ल, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० सं० २४७६.
पंचाशकादि संग्रह—हरिभद्रसूरि, श्री ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वे० संस्था, रतलाम, १९२८.
पंचास्तिकाय—कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास १९६९.
पंचवस्तुक—आ० हरिभद्रसूरि, दे० ला० जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, १९२७.
पद्मनन्दि पंचविंशतिका—जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९३२.
पद्मपुराण—रविषेणाचार्य, भाग १-३, अनु० पं० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१६.
परमात्मप्रकाश—योगेन्दु देव, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास, वि० सं० २०१७.
पिंगलसूत्र—पिंगलाचार्य, कलकत्ता, १९२८.
पिच्छि-कमण्डलु—मुनि विद्यानन्द, सेठ छदामीलाल विमलकुमार फिरोजाबाद, १९६७.
पिण्डनिर्युक्ति—भद्रबाहु, मलयाचार्य वृत्ति, दे० ला० जैन पु० संस्था, बम्बई, १९१८.
पाइअ सद्दमहण्णवो—पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, १९६३.
पातञ्जल योगदर्शन—सं० श्रीनारायण मिश्र, भा० विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७२.
पालि साहित्य का इतिहास—भरतसिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६३.
पासणाह चरियं—देवभद्रसूरि, मणिविजयगणिवर ग्रन्थमाला (संख्या १०) अहमदाबाद, १९४५.
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय—आ० अमृतचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई, वी० नि० सं० २४३१.
पुरातन जैन वाक्य सूची—सं० पं० जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, सं० २००७.
प्रज्ञापना सूत्र—आगमोदय समिति, बम्बई, १९१८-१९१९.
प्रकाशित जैन साहित्य—जैन मित्र मंडल, धर्मपुरा, दिल्ली, १९५८.
प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्राचार्य, सं०-पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, निर्णय-सागर प्रेस, १९४१. ई०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमेयकमल मार्तण्ड—भाग १, अनु०-आर्यिका जिनमती, लाला मुसद्दीलाल चेरीटेबल ट्रस्ट, दिल्ली, २५०४.

प्रवचन निर्देशिका—आर्यिका ज्ञानमती, दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, १९७७.

प्रवचनसार—तत्त्वप्रदीपिका टीका सहित सं०-डॉ० ए० एन० उपाध्ये, श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला अगास, १९६४.

प्रवचनसार—अनु० आचार्य श्री ज्ञानसागर जी प्रका०-महावीर प्रसाद सांगाका पाटनी, किशनगढ रैनवाल १९७१.

प्रवचनसार—हिन्दी अनु०-पं० परमेष्ठीदास, प्रका०-वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, चतुर्थावृत्ति वि० सं० २०३५.

प्रवचनसार—टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत एवं जयसेनाचार्य कृत वृत्ति, सं० अनु०—अजितकुमार शास्त्री एवं पं० रतनचन्द्र जी मुख्तार प्रका०-शान्तिवीरनगर दि० जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी (राजस्थान), वीर नि० सं० २४९५.

प्रश्नव्याकरण—आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९.

प्रशमरति प्रकरण—उमास्वाति, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९५०.

प्राकृत साहित्य का इतिहास—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६१.

प्रायश्चित्त संग्रह—सं०-पं० पन्नालाल सोनी, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला, बम्बई, २४४७.

प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशंस वाराणसी, १९६६.

बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ—कलकत्ता १९६७.

बुद्ध और बौद्ध धर्म—आ० चतुरसेन शास्त्री,

बुद्धचरित—धर्मानन्द कौसाम्बी, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, १९३७.

बौधायन श्रौतसूत्र—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९३४.

बृहत्कल्पसूत्र—व्या० अमोलक ऋषि, है० सि० जैन संघ, वी० सं० १९४६.

बौद्धधर्म के पच्चीस सौ वर्ष—(आजकल का वार्षिक अंक) पब्लिकेशन्स डिवीजन ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली, १९६०.

बौद्धधर्म-दर्शन—आ० नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५६.

बृहदारण्यक—गीता प्रेस गोरखपुर.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहत् कल्पसूत्र (भाग १-४)—आ० भद्रबाहु, सं०-मुनि चतुर्विजय व पुण्यविजय, आत्मानंद जैन ग्रंथ रत्नाकर, भावनगर, १९३६.

बृहद् द्रव्यसंग्रह—ब्रह्मदेव कृत वृत्ति, अनु० पं० मनोहरलाल शास्त्री, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९६६.

भगवद् गीता—सं० कृष्णपंत शास्त्री, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी वि० सं० १९९८.

भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन—सं० आचार्य श्री देशभूषण जी.

भगवती आराधना—आचार्य शिवार्य, अपराजितसूरि कृत विजयोदया टीका, पं० आशाधरकृत मूलाराधना दर्पण और अमितगति कृत संस्कृत श्लोक सहित, हिन्दी अनु०-पं० जिनदास पार्श्वनाथ फड़कुले, प्रका०-स्वामी देवेन्द्र कीर्ति जैन ग्रन्थमाला, बलात्कारगण जैन पब्लिकेशन सोसायटी कारंजा, १९३५.

भगवती आराधना—संपा०-सखाराम दोषी, सोलापुर, १९३५.

भगवती आराधना—भाग १-२, सं०-अनु०-पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९७८.

भगवती सूत्र (भाग १-७)—व्याख्या-घासीलाल जी महाराज, अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६१-६४.

भगवतीसूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति)—अभयदेवसूरि वृत्ति सहित, ऋ० के० जैन श्वे० संस्था, रतलाम, १९३७.

भगवई—जैन विश्व भारती, लाडनूं, १९७४.

भद्रबाहु क्रियाकोश—भद्रबाहु,

भारतीय संस्कृति के विकास में जैन-वाङ्मय का अवदान—डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रका०—अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्, सागर, १९८२.

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—डा० हीरालाल जैन, म० प्र० शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२.

भाव पाहुड—टीका सहित, षट् प्राभृत के अन्तर्गत.

भावसंग्रह—देवसेन सूरि, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७८.

भिक्षु स्मृति ग्रंथ—जैन श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता, १९६२.

भिक्षुकोपनिषद्—

मनुस्मृति—टीका-पं० जनार्दन झा, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता, वि० सं० १९८३.

महापुराण—जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५१.

महावग्ग—सं० भिक्षु जगदीश कश्यप, विहार राजकीय प्रकाशन मण्डल, १९५६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभारत—वेदव्यास, गीता प्रेस गोरखपुर।

मुण्डकोपनिषद्—गीता प्रेस गोरखपुर।

मूलसूत्राणि—सं० मुनिश्री कन्हैया लाल कमल, ब्यावर।

मूलाचार—आ० वट्टकेर, (प्रथम भाग १-७ अधिकार, आ० वसुनन्दि विरचित आचारवृत्ति सहित), पं० पन्नालाल सोनी न्यायकाव्यतीर्थ तथा पं० गजाधर लाल द्वारा सम्पादित, प्रका०-मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई, वि० सं० १९७७.

मूलाचार—(द्वितीय भाग ८-१२ अधिकार), वही, वि० सं० १९८०.

मूलाचार—आ० वट्टकेर, अनु०-सं०-पं० मनोहरलाल शास्त्री, मुनि अनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रंथमाला, गिरगाँव, बम्बई, वी० नि० सं० २४४६.

मूलाचार—भाग १-२, हिन्दी अनुवाद—आर्यिकारत्न ज्ञानमती जी, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८४-८६.

मूलाचार—आ० कुन्दकुन्द (कृत माना जाने वाला), अनु० पं० जिनदास पार्श्वनाथ फड़कुले, आ० शान्तिसागर जैन ग्रन्थ प्रका० समिति फलटन, २४८४.

मूलाचार प्रदीप—आ० सकलकीर्ति, अनु० पं० लालाराम शास्त्री चावली, प्रका० आ० विमलसागर संघ, बनारसी प्रेस, जलेसर (एटा) उ० प्र०, वि० सं० २०१८.

मोक्ष पंचाशक—पंचाशकादि के अन्तर्गत।

मोक्ख (मोक्ष)पाहुड—कुन्दकुन्दाचार्य, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, वि० सं० १९७७.

मोक्षमार्ग—रतनलाल दोशी, अ० भा० साधुमार्गी जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सैलाना, २४८८.

मोक्षशास्त्र—अर्थात् तत्वार्थसूत्र सटीक, सं० रामजी माणेकचन्द दोशी, अनु०-पं० परमेष्ठीदास जैन, श्री ब्र० दुलीचन्द जैन ग्रन्थ० सोनगढ़ २४९८.

यतिक्रिया संग्रह—सं०-ब्र० मैनाबाई जैन, प्रका०-दि० जैन सेनगण मन्दिर, नागपुर, १९८२.

यशस्तिलक चम्पू—सोमदेवसूरि, अनु०, सम्पादक पं० सुन्दरलाल शास्त्री।

यशस्तिलक चम्पू का सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९६७.

याज्ञवल्क्य स्मृति—निर्णय सागर प्रेस १९३६.

योगशास्त्र—आ० हेमचन्द्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९२६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योगशास्त्र—हेमचन्द्राचार्य, ऋषभचन्द जोहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, १९६३.

योगसार—(परसात्मप्रकाश के अन्तर्गत) योगीन्दुदेव, सं०–डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्रका०–परमश्रुत प्रभावक मण्डल, २०१७.

रत्नकरण्ड श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र, मा० दि० जैन ग्रंथमाला, बम्बई वि० सं० १९८२.

रत्नकरण्ड श्रावकाचार—(प्रभाचन्द्राचार्य टीका सहित) अनु०–पं० पन्नालाल जैन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी, १९७२.

रयणसार—आ० कुन्दकुन्द, संपा० डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर, वी० नि० सं० २५००।

रयणसार—सं० पं० बलभद्र जैन, प्र० मैनादेवी जैन, जयपुर, १९७९.

रियल्स इन द जैन मेटाफिजिक्स—एच० एस० भट्टाचार्य, सेठ शांतिदास खेतसी चैरिटेवल ट्रस्ट, बम्बई १९६६,

लब्धिसार—जैन सिद्धान्त प्रकाशन, कलकत्ता।

लाटी संहिता—राजमल्ल कवि, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९८४.

लिंगपाहुड—मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७.

लोकप्रकाश—सं० पं० हीरालाल हंसराज, जैन भास्करोदय प्रेस, जामनगर.

वरांगचरित—जटासिंहनन्दि, मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वी० सं० २४७६.

वसुनन्दि श्रावकाचार—सं०–पं० हीरालाल शास्त्री, भा० ज्ञान० काशी, १९५२.

विनयपिटक—अनु०–राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३५.

विपाकसूत्र—जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लुधियाना, वि० सं० २०१०,

विशुद्धिमग्ग—आ० बुद्धघोष, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६.

वैराग्यशतक—(भर्तृहरिशतकत्रयम्) भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४६.

विशेषावश्यकभाष्य—सं०–डॉ० नथमल टाटिया, प्राकृत शोधसंस्थान. वैशाली, १९७२.

विशेषावश्यकभाष्य—स्वोपज्ञवृत्ति, सं०–पं० दलसुखभाई मालवणिया, प्रका० लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद.

विशेषावश्यक भाष्य सटीक—कोट्याचार्यवृत्ति, ऋ० के० जैन श्वे० संस्था रतलाम, १९३६-३७.

विष्णुपुराण—अनुवाद–मुनिलाल गुप्ता, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०२४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीरनिर्वाण सम्वत् जैन कालगणना—मुनि कल्याणविजय, प्रका०—कल्याणविजय शास्त्रसमिति, जालौर (मारवाड़), १९२०.

वीर निर्वाण स्मारिका—जयपुर १९७५.

वीरशासन के प्रभावक आचार्य—डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर एवं डॉ० कस्तूर चंद कासलीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९७५.

व्यवहारसूत्र (सभाष्य)—मलयगिरिवृत्ति, प्रका०—वकील त्रिकमलाल अगरचन्द, अहमदाबाद, १९२८.

व्यवहारसूत्र—व्या०—अमोलक ऋषि, है० सि० जैन संघ, वी० सं० २४४६.

व्याख्या प्रज्ञप्ति—प्रका०—ऋ० के० जैन श्वे० संस्था, रतलाम, वि० सं० १९९६.

वैशाली इंस्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन नं० २—सं०—डा० जी० सी० चौधरी, प्रका०-प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली १९७४.

व्रत विधानसंग्रह,

शतपथ ब्राह्मण—काशी, वि० सं० १९९४.

शान्तिसागर आचार्य जन्म शताब्दि स्मृति ग्रन्थ—सं० बालचन्द देवचन्द शहा, आचार्य शांतिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटन, १९७३.

शास्त्रवार्ता समुच्चय—यशोविजय प्रणीत स्याद्वाद कल्पलता टीका सहित, प्रका० चौखम्भा ओरियन्टालिया, चौखम्भा, वाराणसी १९७७.

शिवसागर (आचार्य) स्मृति ग्रन्थ—सं० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका०-सौ० भंवरीदेवी पांड्या, सुजानगढ़, (राज०) वी० नि० सं० २४९९.

शीलपाहुड—मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७७.

श्लोकवार्तिक—आ० विद्यानन्द, कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, १९४९-१९५६.

श्रमण भगवान् महावीर—पं० कल्याणविजय गणि, प्रका०—कल्याणविजय शास्त्र समिति, जालौर, वी० सं० २४६८.

श्रमणसूत्र—उपाध्याय मुनि अमरचन्द जी, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, वि० सं० २००७.

श्रावकधर्म संहिता—स्व० दरयाव सिंह सोंधिया, वीरसेवा मंदिर दरियागंज, दिल्ली १९७५.

श्रावकाचार संग्रह—भाग १-५, सं० एवं अनु०—पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, श्रुतभण्डार और ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटन, १९७६-७८.

षट्खण्डागम (धवलाटीका सहित) भाग १—भ० पुष्पदन्त भूतबलि, धवला टीका-वीरसेनाचार्य, सं०-डा० हीरालाल जैन, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर १९७३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट् प्राभृत—श्रुतसागरीय वृत्ति सहित-अनु०-पं० पन्नालाल जैन, शान्तिवीर दि० जैन संस्थान, श्रीमहावीरजी १९६८.

सम्मइ सुत्तं—आ० सिद्धसेन, सं० अनु०—डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, ज्ञानोदय ग्रंथमाला, नीमच १९७८.

सन्मतिप्रकरण—सिद्धसेन दिवाकर: सं० पं० सुखलाल संघवी, ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३.

सन्यासोपनिषद्—(१०८ उपनिषद्) सं० पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान बरेली १९८२-८३.

संयम प्रकाश—आचार्य सूर्यसागर जी, सम्पा० पं० श्रीप्रकाश शास्त्री एवं पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ, प्रका०—आ० सूर्यसागर दि० जैन ग्रंथमाला समिति, मनिहारों का रास्ता जयपुर, वी० नि० सं० २४७०.

संयुक्तनिकाय—महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५४.

सद्धर्ममण्डनम्—मुनि जवाहरलाल, तनसुखदास फूसराज दूगड, सरदारशहर, २४५८.

समणसुत्तं—सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९७५.

समयसार—आ० कुन्दकुन्द, आत्मख्याति टीका सहित, अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली, १९५८.

समयसार—अनु० पं० परमेष्ठीदास, दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, वी० नि० सं० २५०१.

समयसार—अनु० सहजानन्द वर्णी, सहजानन्द ग्रन्थमाला, मेरठ १९७७.

समयसार—संपा० बलभद्र जैन, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली १९७८.

समवाओ —वाचना आचार्यश्री तुलसी, जैन विश्वभारती लाडनूं, १९८६.

समवायांगसूत्र—अभयदेवसूरिवृत्ति, सेठ माणेखलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, १९३८.

समाधितंत्र—आ० पूज्यपाद, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, १९३९

समीचीन धर्मशास्त्र—समन्तभद्राचार्य, वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५.

सर्वार्थसिद्धि—आ० पूज्यपाद, अनु० पं० फूलचन्द शास्त्री, भा० ज्ञानपीठ काशी, १९५५.

सागार धर्मामृत—पं० आशाधर, सं० एवं अनु०-पं० कैलाशचन्द शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९७८.

साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स—जिल्द ७.

सामायिक प्रतिक्रमणनुं रहस्य—पं० सुखलालजी संघवी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग—प्रका०-अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार, समिति, राजकोट, १९६९.

सूर्यप्रज्ञप्ति—मलयगिरिवृत्ति, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९.

सूयगडो—भाग १, सं० युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती लाडनूं, १९८४

स्टेडीज इन जैन फिलासफी—डॉ० नथमल टाटिया, जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस १९५१.

स्टेडीज इन जैनिज्म—मुनि जिनविजय, जैन साहित्य संशोधक स्टेडीज, अहमदाबाद, १९५१.

स्थानांग (ठाणांग) सूत्र—व्या० अमोलक ऋषि, है० सि० जैनसंघ, २४४६ ।

स्थानांग-समवायांग—गुजराती अनु० पं० दलसुखभाई मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९५५.

स्थानांग वृत्ति—प्रका०-सेठ मणिकचन्द चुन्नीलाल अहमदावाद, सं० १९९४.

स्थानांगसूत्र—अभयदेव सूरिवृत्ति, आगमोदय समिति, सूरत, १९२०.

स्थानांगसूत्र—सं० मुनि कन्हैयालाल कमल, आगम अनुयोग प्रकाशन, साडेराव, १९७२.

स्याद्वादमञ्जरी—मल्लिषेण, सं० डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, परमश्रुत प्रभावक मंडल अगास, १९७०, तृतीय आवृत्ति ।

हजारीमल (मुनि श्री) स्मृति ग्रंथ—मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९६५.

हरिवंश पुराण—जिनसेनाचार्य, अनु० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६२.

हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म—सान्ताराम, बालचन्द देव, डकन कालेज, पी० एच० डी० एण्ड रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९५६.

पत्र-पत्रिकाएँ :

अनेकान्त—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, वर्ष २ किरण १-१२, वर्ष १२-१३ ।

अनेकान्त में प्रकाशित लेख, जिनसे विशेष सहायता ली गई—

१. अनेकान्त वर्ष २, किरण ३

२. ,, ,, २, किरण ५

३. ,, ,, १२, किरण ११

४. ,, ,, १२, किरण १२, मई १९५४.

अमरभारती—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ।

जिनवाणी—सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन ऐंटीक्वरी—देवकुमार जैन ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टी० आरा।

जैन जर्नल—जैनभवन, कलकत्ता।

जैन सन्देश—भा० दि० जैन संघ, मथुरा।

जैन सिद्धान्त भास्कर—भाग १२, किरण १, जुलाई १९४५—जैन सिद्धान्त भवन, आरा।

तीर्थंकर—हीराभैया प्रकाशन, इन्दौर।

तुलसीप्रज्ञा—जैन विश्व भारती, लाडनूं।

वर्धमान—(१९७४-७५ का महावीर विशेषांक) वर्धमान कालेज, बिजनौर।

विजयानन्द—आत्मानन्द जैन महासभा, पंजाब (अम्बाला)।

वीर निर्वाण स्मारिका—१९७५—सं० भंवरलाल पोल्याका, राजस्थान प्रान्तीय भ० महावीर २५०० वां निर्वाण महोत्सव महासमिति, जयपुर।

श्रमण—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

श्रमणोपासक—बीकानेर, राजस्थान।

श्री जैन सत्यप्रकाश—जैन धर्म सत्य प्रकाशक समिति, अहमदाबाद, वर्ष ६ अंक १–४, १९४०।

सन्मति सन्देश—५१५ गांधी नगर, दिल्ली।

श्रमणविद्या (संकाय पत्रिका)—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८३.

स्याद्वाद पत्रिका (हस्तलिखित)—प्र० सं०–फूलचन्द जैन प्रेमी, स्याद्वाद प्रचारिणी सभा, श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी, वाराणसी, १९६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्मति

प्रो० डॉ० जगदीश चन्द जैन, बम्बई

दिगम्बर परम्परा में मूलाचार और भगवती आराधना इन दोनों ग्रन्थों का बहुत महत्त्व है। इनमें दिगम्बर मुनियों के आचार-विचार, व्यवहार, गमनागमन, वर्षावास, विहार चर्या, वसति स्थान, श्रमण संघ का स्वरूप और आर्यिकाओं की आचार-पद्धति का जैसा सांगोपांग वर्णन उपलब्ध है, वैसा अन्य दिगम्बरीय शास्त्रों में दिखाई नहीं देता, इस दृष्टि से 'डा० फूलचन्द जैन प्रेमी की कृति 'मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन' स्वागत योग्य समझी जायेगी।...इसमें श्रमणाचार से सम्बन्धित विविध विषयों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। निश्चय ही यह सामग्री भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ परम्परा का समाजशास्त्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। प्रस्तुत कृति के लेखक ने मूल विषय का विवेचन करते हुए बीच-बीच में महत्त्वपूर्ण श्वेताम्बरीय ग्रन्थों के तुलनात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। जिससे ग्रंथ की प्रामाणिकता बढ़ जाती हैं। आशा है वे भविष्य में इस प्रकार की अन्य समीक्षात्मक रचनाओं को प्रस्तुत कर जैन धर्म के प्राचीन इतिहास को उजागर करेंगे।

सिद्धान्ताचार्य पं० जगन्मोहन लाल शास्त्री, कटनी

दिगम्बर जैन श्रमणचर्या के मूलग्रन्थ मूलाचार पर डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी का यह शोध प्रबन्ध पढ़कर हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसमें प्रतिपादित सभी विषयों पर डॉ० प्रेमी ने अपनी पैनी दृष्टि से समीक्षात्मक व तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह जैन परम्पराओं में प्रतिपादित श्रमणचर्या के भेद-प्रभेदों की विभिन्न धाराओं का निष्कर्ष है। विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ के छह अध्यायों में श्रमण के मूलगुण, उत्तरगुण आदि का सुन्दर विवेचन करते हुए श्रमण के आन्तरिक एवं व्यावहारिक आचार-विचार, साधना, आहारचर्या, व्यवहार, श्रमण संघ एवं जैन धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों का अच्छा प्रतिपादन किया है। इस श्रेष्ठ कृति के लिए विद्वान् लेखक साधुवादार्ह हैं। मेरा उन्हें शुभाशीष है कि वे जीवन के सभी क्षेत्रों में बढ़ें और स्व-पर कल्याण करने में समर्थ हों।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org